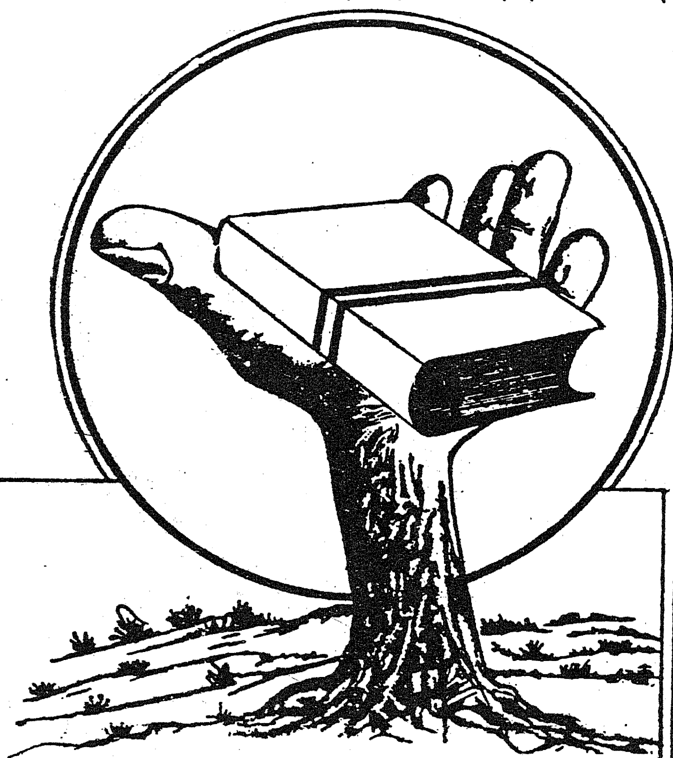
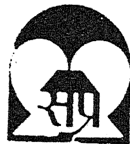
हिन्दी की आत्मा



डा. धर्मवीर



समता प्रकाशन

30/64, गली नम्बर 8, विश्वास नगर,

शाहदरा, दिल्ली-110032

प्रकाशक : समता प्रकाशन
30/64, गली नं० 8, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली–110 032

मूल्य : रु. 400.00

आवरण : शान्ति स्वरूप

संस्करण : 2002

पुस्तक बंध : गौतम बुक बाइंडर्स

मुद्रक हिन्दुस्तान आफसैट प्रिंटर्स, दिल्ली -32
दिल्ली–110 032

HINDI KI ATMA written by Dr. DHARAM VEER
Price Rs. 400.00 Only

भारत के संविधान के अनुच्छेद 351 की सेवा में
जिसमें हमारे संविधान के महान निर्माताओं ने लिखा है कि

यह संघ का काम होगा कि वह
हिन्दी भाषा के प्रसार को बढ़ावा दे
और इसे इस प्रकार विकसित करे ताकि यह
भारत की सामासिक संस्कृति की सारी बातों को
व्यक्त कर सके;

और इसकी समृद्धि को
इसके ठेठ हिन्दी के ठाठ से छेड़छाड़ किए बिना
हिन्दुस्तानी और आठवी अनुसूची में दी गई
अन्य भारतीय भाषाओं के रूपों, शैलियों और पदों को
इसमें आत्म सात कराते हुए तय करे;

और जहाँ कहीं जरूरी या ठीक लगे
इसके लिए शब्दों को मुख्य रूप में संस्कृत से
और दूसरे विकल्प में अन्य भाषाओं से ग्रहण करे।

बुद्ध पूर्णिमा,

20 मई,1989 धर्मवीर

हिन्दी की आत्मा

प्रस्तावना

संस्कृत के पुराण पंथियों के अपवाद को छोड़ कर अन्य कोई भी मनुष्य अपनी भाषा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया करता है। वह चाहता है कि उसकी भाषा को अन्य भाषा भाषी लोग भी सीखें। हिन्दी इस मामले में अपने जन्म से ही एक मिशनरी दृष्टि कोण की भाषा रही है।

लेकिन यह पुस्तक इस उद्देश्य को ले कर नहीं लिखी गई है कि हिन्दी को अन्य भाषा भाषी लोग सीखेंगे। इसमें आज के हिन्दुस्तान की उस बहु चर्चित समस्या की कोई चर्चा नहीं है कि हिन्दी किसी पर थोपी जाएगी या हिन्दी किसी पर नहीं थोपी जाएगी। इस पुस्तक का सीधा सम्बन्ध हिन्दी की पहचान, उसकी अस्मिता और आत्मा से है।

हमारे संविधान के अनुच्छेद 351 में हिन्दी के सम्बन्ध में कई महत्व पूर्ण बातें एक साथ कही गई हैं। वही अनुच्छेद इस पुस्तक की शक्ति और प्रेरणा है। वास्तव में, उस अनुच्छेद द्वारा हिन्दी भाषियों को राज्य द्वारा एक गारन्टी दी गई है कि हिन्दी का प्रसार और विकास इस प्रकार किया जाएगा कि उसकी जीनियस कुंठित न होने पाए। इस पुस्तक में हिन्दी की इसी जीनियस का खुलासा करने की कोशिश की गई है।

हिन्दी की जीनियस की व्याख्या करने के लिए इस पुस्तक का आधार आचार्य किशोरी दास वाजपेयी द्वारा लिखा गया व्याकरण ग्रन्थ हिन्दी शब्दानुशासन' है। इस बात को पुन: पुष्ट करने के लिए मैंने इस भाषा की एक सामाजिक व्याख्या देनी चाही है। इसमें कोई मुझसे भिन्न मत रख सकता है। यदि किसी का मत छल और छद्म से रहित हो तो मैं एक विद्यार्थी के नाते उसे जानना चाहूँगा। यहाँ छल और छद्म से मेरा मतलब किसी वर्ग विशेष के सांस्कृतिक स्वार्थ से भी है। यह बात इस लिए कही जा रही है क्योंकि डा० रामेश्वर प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'राज भाषा हिन्दी : प्रचलन और प्रसार' में इस सम्बन्ध में 'इन्डियन कन्स्टिट्यूशनल डोक्यूमेन्टस : मुन्शी पेपर्स, खण्ड एक,' से डा० बी० आर० अम्बेडकर के शब्द उद्धृत किए हैं—"हिन्दू लेखकों द्वारा हिन्दुस्तानी के संस्कृती करण और मुसलमान लेखकों द्वारा उसके अरबी करण का बड़ा खतरा है। यदि यह हो जाता है तो हिन्दुस्तानी राष्ट्र भाषा न रह कर वर्ग भाषा बन जाएगी।"

मुझे अपने भारत के उप राष्ट्र पति महा महिम डा० शंकर दयाल शर्मा से कई बार उनके विचार सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं नई दिल्ली में उप राष्ट्र पति निवास में भी कई वैचारिक और साहित्यिक संगोष्ठियों में सम्मिलित हुआ हूँ। अपनी उम्र को देख कर मुझे उनकी हर बात ऐसी लगती है मानो मेरे दादा मुझे इस देश की गहरी समझ दारी की बातें समझा रहे हों। इस बार उन्होंने अपने निवास पर एक भेंट में समझाया कि प्राचीन काल से इस देश की जो कमजोरियाँ चली आ रही हैं उन्हें समाज के सामने रखने में कोई हर्ज नहीं है। उन्होंने कहा कि इसमें कोई दो राय नहीं हैं कि पुराने जाति वादी ब्राह्मणों ने पिछले हजारों वर्षों से शूद्रों और आम जनता के साथ बुरा किया है। आज के विद्वानों और साहित्य कारों को अपना नैतिक दायित्व मान कर यह बात प्रभावी ढंग से सबके सामने रखनी चाहिए। तभी मुझे याद आया कि हमारे संविधान ने सिद्धांत और कानून के रूप में अपने 17 वे अनुच्छेद के द्वारा अस्पृश्यता का नाश कर दिया है। अब समय आ गया है कि अस्पृश्यता के भाषाई कारणों को भी, यदि वे कोई हों, दफनाने की रस्म पूरी कर ली जाए। संस्कृत का नाम लेते ही शूद्र समुदाय का डर सच्चा हो जाता है। मैं दिल से चाहता हूँ कि कोई भाषा विद मेरे लिए यह सिद्ध कर दे कि अपनी बनावट में संस्कृत शूद्र विरोधी भाषा नहीं है।

इस देश में किसी भी लोभ के कारण या मजबूरी से दो तरह की हिन्दी विकसित नहीं की जानी है। संविधान की आठवी अनुसूची के हिन्दी भाषी लोग अपनी हिन्दी संविधान के अनुच्छेद 351 की हिन्दी से भिन्न नहीं रखेंगे। हिन्दी सर्वत्र एक रहेगी। ऐसा नहीं होगा कि आठवी अनुसूची की हिन्दी एक दिशा में चलेगी और अनुच्छेद 351 की हिन्दी दूसरी दिशा में चलेगी।

कई लोगों को यह महसूस हुआ है कि उन्होंने वर्षों तक राज काज में हिन्दी के नाम पर कोरी संस्कृत सी लिख कर हिन्दी के साथ अन्याय किया है। उन्होंने यह भी माना है कि अंग्रेजी से हिन्दी के अनुवाद ने हिन्दी के स्वभाव को बिगाड़ कर रख दिया है। अब संविधान के लागू होने के चौथे दशक में यह उपयुक्त समय है कि राज भाषा हिन्दी में अब तक जो कुछ किया जा चुका है, हिन्दी भाषा की जीनियस के संदर्भ में उसका एक सम्यक पुनर्मूल्यांकन किया जाए।

इस पुस्तक में हिन्दी को ले कर अंग्रेजी और फारसी की तुलना में संस्कृत की कुछ अधिक चर्चा हो गई है। ऐसा जान बूझ कर नहीं किया गया है बल्कि यह चर्चा समस्या के अनुरूप अपने आप हो गई है। मेरा विचार है, जब हिन्दी को अंग्रेजी भाषा से छुटकारा मिल रहा है, लगे हाथों इसे फारसी की अतिशय दासता से और संस्कृत की अतिशय उदारता से भी छुटकारा प्राप्त कर लेना चाहिए। हिन्दी एक स्वतंत्र और आत्म निर्भर भाषा के रूप में सम्मान पूर्वक विकसित की जानी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि सबसे पहले हिन्दी की जीनियस को जाना और माना जाए।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, मैंने इस पुस्तक में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी के मत को ही आगे बढ़ाया है। ओंकार चन्द्र शर्मा ने अपनी पुस्तक 'खड़ी बोली का स्वरूप' में लिखा है—"किशोरी दास वाजपेयी खड़ी बोली हिन्दी को शोरसैनी बोली से उत्पन्न न मान कर एक नई बोली की कल्पना करते हैं पर उनके पास कोई ठोस भाषा शास्त्रीय प्रमाण नहीं है।" मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि अपनी ओर से इस प्रमाण की कमी स्वयं आचार्य वाजपेयी भी महसूस करते थे। मेरे मत में भाषाओं के व्यतिरेकी विश्लेषण के आधार पर उनका अनुमान प्रमाण किसी प्रत्यक्ष प्रमाण का मोहताज नहीं था। लेकिन मैं इसमें कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण भी जोड़ रहा हूँ। इसके लिए मैंने भाषा शास्त्रीय आधार ढूंढना चाहा है, लेकिन जिस आधार पर मुझे सबसे अधिक भरोसा है वह मेरे समाज शास्त्र का है। इसमें भूगोल भी हमारी काफी सहायता करता है।

मैंने यह पुस्तक लिख डाली है लेकिन इसे पाठकों के हाथ में देते हुए मुझे यह महसूस हो रहा है कि मैंने यह पुस्तक पूरी लिख कर समाप्त नहीं कर दी है। नए तथ्य मिलने पर मैं अपनी दृष्टि में परिवर्तन करने के लिए तैयार रहूँगा। यह भी सही है कि मैंने इस पुस्तक को किसी दूसरे रूप में देखना चाहा था लेकिन मेरी दृष्टि में भी अब यह एक शोध पुस्तक अधिक हो गई है।

मैं मानता हूँ कि मेरे इस मत में कई कमियाँ रह सकी होंगी लेकिन मैं इन कमियों को इस प्रकार देखूंगा कि वे मेरी सहायता के लिए हैं। इस क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों के लिए मेरी ओर से यह पुस्तक एक मसौदा भर है। यह मसौदा इस पुस्तक का आरम्भ है और अन्त नहीं है। इस पुस्तक के आधार पर किया जाने वाला अगला काम सरकार या कोई अन्य संस्था कर सकती है।

मैं साफ साफ बता दूँ कि मैं क्या कहना चाहता हूँ। मेरा कहना है कि मैंने हिन्दी के बारे में अब तक जो सबसे महत्त्व पूर्ण पुस्तक पढ़ी है वह आचार्य किशोरी दास वाजपेयी की 'हिन्दी शब्दानुशासन' है। इस क्रम में 'हिन्दी की आत्मा' लिखने के बाद मैं एक तीसरी किताब की कल्पना और करता हूँ। वह तीसरी पुस्तक 'हिन्दी शब्द कोश' की है। मेरे विचार में उसे तैयार करने के लिए हिन्दी में किसी डा० जानसन की जरूरत है।

धर्मवीर
एफ-115, प्रगति विहार,
लोदी रोड, नई दिल्ली-110 003

बुद्ध पूर्णिमा,
20 मई, 1989

हिन्दी की आत्मा

पहला भाग

हिन्दी की आत्मा

अध्याय—1

हिन्दी की प्राचीनता

1

यह एक भ्रम फैलाया गया है कि उत्तर भारत की सभी आर्य भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं। निश्चित रूप से ये सभी भाषाएँ संस्कृत से प्रभावित हुई हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि संस्कृत उनकी जननी है। इस बात की ओर भाषा वैज्ञानिकों का ध्यान जाना चाहिए कि संस्कृत ने अपने आरंभ काल में अनेक शब्द इन भाषाओं से लिए हैं। इन भाषाओं में अभी तक देशज शब्दों की बड़ी भरमार है। इन भाषाओं ने जो शब्द संस्कृत से नहीं लिए थे उन्हें आज भी अलग श्रेणी में रखा जाता है। उल्टी बात यह हुई है कि इन भाषाओं के जो शब्द संस्कृत में ले लिए गए थे वे संस्कृत के ही मान लिए गए हैं। अब उन शब्दों की व्याख्या यहाँ तक की जाती है कि मूल भाषाओं ने वे शब्द संस्कृत से लिए हैं। लोग संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में हुए आदान प्रदान को भूल जाते हैं। विद्वानों को कभी इस साधारण बुद्धि से भी काम लेना चाहिए कि संस्कृत ने भी अन्य भाषाओं से शब्द या धातुएँ ली होंगी।

हिन्दी की उत्पत्ति के संबंध में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने कहा है कि हिन्दी की उत्पत्ति उस संस्कृत भाषा से नहीं हुई है जो हमें वेदों में, उपनिषदों में तथा वाल्मीकि या कालिदास आदि के काव्य ग्रन्थों में मिलती है। यह बात आचार्य वाजपेयी ने इसलिए कही थी क्योंकि उनकी दृष्टि में हिन्दी का व्याकरण संस्कृत के व्याकरण से मेल नहीं खाता है। वे संस्कृत के आचार्य थे, उन्होंने संस्कृत का गहन अध्ययन किया था और वे संस्कृत के स्वभाव को जानते थे। साथ ही, उन्होंने यह दावा भी किया है कि वे हिन्दी के स्वभाव को भी जानते हैं। इसी विश्वास को ले कर उन्होंने हिन्दी भाषा के प्रथम व्याकरण के रूप में हिन्दी जगत का महान ग्रन्थ 'हिन्दी शब्दानुशासन' लिखा है।

कुछ दूसरे विद्वान भी ऐसे मिल सकते हैं जिन्हें संस्कृत और हिन्दी का एक साथ ज्ञान प्राप्त है। यदि ऐसे दूसरे विद्वान यह कहने लगें कि हिन्दी की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है तो हम किसकी बात को सच मानेंगे? क्या तब हम आचार्य किशोरी दास वाजपेयी की बात को झूठी मानेंगे, या क्या तब हम दूसरे विद्वानों की बात को झूठी मानेंगे? तब हमारे लिए सच और झूठ की कसौटी क्या रहेगी? हम किस कसौटी को आधार मान कर चलें कि दो परस्पर विरोधी कथनों में से एक सही कथन को जान सकें?

हम देखते हैं कि भाषा विज्ञान, भाषा का ध्वनि विज्ञान तथा भाषा के अन्य पक्षों पर विचार करने वाले विद्वान, आपस में परस्पर विरोधी विचार रखते हैं। वे अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं और अपनी बात पर अडिग रहते हैं। वे दूसरे पक्ष की बात मानने को तैयार नहीं हैं। वे अपनी बात एक दायरे में कह कर रह जाते हैं। यह हो सकता है कि उनमें से एक पक्ष सच हो पर समस्या यह है कि भाषा शास्त्र से बाहर के लोग उस बात को कैसे जानें। उनमें से अवश्य ही दूसरा पक्ष झूठ बोल रहा होगा लेकिन साधारण लोग उस छल को कैसे पहचानेंगे? झूठे भाषा शास्त्री ने सच्चे भाषा शास्त्री का गला घोट रखा होगा पर इसका पता कैसे चले कि उनमें से सच्चा कौन है जिसका बचाव किया जाए और जिससे कुछ सीखा जाए।

इसका उत्तर यह है कि इस कार्य के लिए हमें केवल भाषा शास्त्र पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। हमें भाषा शास्त्र को दूसरे शास्त्रों से जोड़ कर देखना चाहिए। ये दूसरे शास्त्र क्या-क्या हैं? इसके उत्तर में यह कहा जाए कि व्यक्ति को धर्म, दर्शन और संस्कृति की कसौटी पर कस कर अच्छा या बुरा कहा जाता है, पर अन्त में इन सारे विज्ञानों और शास्त्रों की कसौटी भी मनुष्य और समाज ठहरते हैं। हम यहाँ समाज की कसौटी को ही ले कर चलें जिसमें इतिहास और राजनीति भी समाहित रहते हैं।

जो विद्वान केवल यह मानते हैं कि हिन्दी संस्कृत में से निकली है या संस्कृत में से नहीं निकली है, क्या हमने उन विद्वानों की सामाजिक नीयत की ईमानदारी की जाँच कर ली है? हो सकता है कि उनमें से किसी का भाषा शास्त्रीय दृष्टि कोण उसके सामाजिक दृष्टि कोण से प्रभावित हो। डा० राम विलास शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'भाषा और समाज' में लिखा है—"विचारक का सामाजिक दृष्टि कोण हर विज्ञान की तरह भाषा विज्ञान के क्षेत्र में भी उसके विवेचन को प्रभावित करता है।" इसमें कोई बुरी बात नहीं है कि किसी विद्वान मनुष्य का सामाजिक दृष्टि कोण उसके भाषा शास्त्र पर छाया हुआ है, पर हो न हो वह सामाजिक दृष्टि कोण उसका सामाजिक स्वार्थ भी हो। इससे भी आगे तब क्या किया जाए जब वह स्वार्थ उसका निहित स्वार्थ हो गया हो? इसमें कोई शक नहीं कि दृष्टि की ऐसी गिरावट मानव वंश की हत्या तक भी जा सकती है।

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी के मत के विपरीत डा० रघुवीर यह मानते हैं कि हिन्दी संस्कृत में से निकली है। यदि हम ऐसे सभी विद्वानों की सामाजिक विचार धारा का विश्लेषण करने लगें जिन्होंने भूल में नहीं बल्कि सोच समझ कर हिन्दी का संस्कृत में से निकलना बताया है तो पता चलेगा कि ये सभी विद्वान आम जनता की बात नहीं करते हैं। इन सभी विद्वानों को हिन्दी से नहीं बल्कि संस्कृत से प्यार है। उनकी ऐसी विचार धारा के साथ उनका वर्गीय अहम् जुड़ा हुआ है। ये

लोग इस बहाने या उस बहाने हिन्दी को संस्कृत बनाने की चिन्ता में भी रहते हैं। आचार्य किशोरी दास वाजपेयी और डा० रघुवीर के सामाजिक दृष्टिकोणों की इस पुस्तक के अध्याय 9 और अध्याय 10 में विस्तृत चर्चा की जाएगी।

2

किसी भाषा की प्राचीनता को जानने में भाषा शास्त्री से एक भूल तब भी हो जाती है जब वह साहित्य शास्त्री बनने की मजबूरी पर उतर आता है। यह कहना कि कोई भाषा उसी दिन से अस्तित्व में आती है जिस दिन से उसका साहित्यिक रूप सामने आता है, एक भ्रामक धारणा है। यह सच है कि साहित्य किसी भाषा में ही लिखा जाता है लेकिन उस भाषा विशेष का साहित्य भी हो यह उसकी उत्पत्ति जानने के लिए अनिवार्य नहीं है। भाषा बिना किसी तथाकथित साहित्य और बिना किसी लिपि के भी हो सकती है। यह दुःख की बात है कि कुछ विद्वान भाषा के साहित्यिक और राज भाषा के रूप तक पहुंच कर ही अपने काम की इति समझ लेते हैं। अधिक से अधिक वे भाषा के धार्मिक पक्ष तक जा कर रुक जाते हैं। उन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि किसी भी समय में साहित्यकारों, राज कर्मचारियों और धार्मिक नेताओं की संख्या बहुत कम होती है। जनता का बड़ा हिस्सा मजदूरों और किसानों से मिल कर बनता है। उन मजदूरों और किसानों की भी एक भाषा हुआ करती है।

इससे आपत्ति नहीं की जा सकती कि किसी विद्वान को खड़ी बोली हिन्दी का साहित्यिक रूप इतिहास की किस शताब्दी में मिलता है। कोई यह कह सकता है कि उसे खड़ी बोली की हिन्दी उन्नीसवीं शताब्दी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से मिलती है, कोई इसे पन्द्रहवीं शताब्दी तक ले जा सकता है, कोई तीसरा खोजी विद्वान इसके लिए दसवीं शताब्दी तक के प्रमाण जुटा सकता है। हो सकता है कि इतिहासकार को कुछ ऐसे प्रमाण मिल जाएँ कि वह हिन्दी को और भी अधिक प्राचीन घोषित कर दे।

इसकी सीमा यह है कि मुगल बादशाह बाबर के कहने के समान बादशाह की भाषा भाषाओं की रानी होती है। जिस भाषा को राज भाषा का दर्जा मिलता है उसी भाषा के शिला लेख और अन्य साहित्यिक प्रमाण मिल पाते हैं। राजा की भाषा से भिन्न जनता जिस भाषा को बोलती है उसे लिपि बद्ध करके भावी इतिहास के लिए सुरक्षित रखने का कोई कारण नहीं ठहरता है। जो गरीब आदमी बरसात के बाद

छान पर फूँस चढ़ाने के लिए काँस के पूले भी नहीं जुटा पाता है वह अपने लोक गीतों को लिपि बद्ध या शिला बद्ध नहीं कर सकता। लेकिन यह तो नहीं कहा जा सकता कि उस गरीब आदमी की कोई भाषा नहीं होती है।

हमारे देश के विद्वान सदा दुभाषिए रहते हैं। वे राजा और प्रजा की दोनों भाषाओं को जानते हैं। आचार्य केशव दास ने यह अवश्य कहा है कि—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कविता करी, जड़मति केशव दास।

लेकिन यह दोहा उनकी विनम्रता ही प्रदर्शित करता है, सच्चाई नहीं। यहाँ आचार्य केशव दास ने कहा है कि उन्हें भाषा नहीं आती है क्योंकि उनके दास भी संस्कृत ही बोलते हैं लेकिन सच्चाई यही है कि उन्हें और उनके कुल के सभी दासों को भाषा अच्छी तरह आती थी। इस प्रकार अलग अलग भौगोलिक क्षेत्रों में अलग अलग जन भाषाएँ बोली जाती हैं। एक राज भाषा का अधिकार कई भौगोलिक जन भाषाओं तक रह सकता है।

प्राचीन काल के संस्कृत नाटकों में स्त्री और शूद्र संस्कृत नहीं बोलते हैं। वे केवल प्राकृत बोलते हैं। प्राचीन भाषाओं के विद्वान बताते हैं कि संस्कृत नाटकों में जिस प्राकृत का प्रयोग हुआ है वह रूढ़ प्राकृत है। प्राकृत एक नहीं रही होगी बल्कि हर भौगोलिक क्षेत्र में अलग अलग प्राकृतें रही होंगी। हम प्राकृत के कई प्रकार सुनते भी हैं। लेकिन संस्कृत के नाटकों में एक ही प्राकृत का प्रयोग मिलता है। यह ऐसी रूढ़ प्राकृत है कि यह भी निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह किस क्षेत्र की प्राकृत रही होगी।

संस्कृत नाटकों में जिस प्राकृत का पहली बार प्रयोग किया गया है वह किसी क्षेत्र विशेष की प्राकृत रही होगी। उसका एक विस्तृत जनाधार रहा होगा। इस बात की पूरी पूरी सम्भावना है कि राजधानी के क्षेत्र की आम जनता उसे बोलती रही होगी। बाद में राजधानी से दूर के क्षेत्रों की विभिन्न जन भाषाओं पर भी वही प्राकृत आरोपित कर ली गई होगी।

यहाँ मैं अपने समय का उदाहरण रख सकता हूँ। प्रेमचन्द का उपन्यास 'कर्मभूमि' दूरदर्शन पर सीरियलाइज किया गया है। उसके एक सीरियल में 1936 के हरिद्वार की कहानी है। हरिद्वार में उपन्यास के नायक की एक बुढ़िया से बातचीत होती है। बुढ़िया अपने को 'सलोनी काकी' कहलवाना चाहती है। मुख्य बात यह है कि यह उपन्यास खड़ी बोली का है लेकिन हरिद्वार की 'सलोनी काकी' खड़ी बोली नहीं बोलती है। उसमें इस बुढ़िया को ब्रज भाषा या अन्य कोई पूर्वी बोली जिसका मैं निर्णय करने में अक्षम हूँ, बोलते हुए दिखाया गया है। मैं यह कहना चाह रहा हूँ

कि दूरदर्शन के चित्र पर 'सलोनी काकी' खड़ी बोली के मुकाबले में जिस भाषा को बोलते हुए दिखाई गई है वह हरिद्वार की जन भाषा नहीं है। हरिद्वार खुद खड़ी बोली का क्षेत्र है। लेकिन साहित्य में वहाँ की अनपढ़ बुढ़िया भी ब्रज भाषा बोलती हुई दिखाई गई है जो एक दम गलत है। हरिद्वार क्षेत्र की कोई अनपढ़ बुढ़िया उस भाषा को नहीं बोलेगी जो उसे बोलती हुई दिखाया गया है।

आज खड़ी बोली की साहित्यिक रचनाओं में अवधी, ब्रज और भोजपुरी को प्राकृत के रूप में प्रयोग किया जाता है। मैं अपनी साहित्यिक रचनाओं में यदि कानपुर क्षेत्र की जन भाषा का प्रयोग करना चाहूँगा तो वहाँ की जन भाषा का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर पाऊँगा। मैं अब भी ब्रज, मैथिली और भोजपुरी का अपनी कल्पना से ऐसा मिश्रण बनाऊँगा जो उनमें से किसी का भी प्रतिनिधित्व न कर पाता हो।

सच बात यह है कि मुझे खड़ी बोली क्षेत्र से बाहर की इन पूर्वी भाषाओं के आपसी अन्तर का कुछ भी पता नहीं है। मेरे सामने लेखक का नाम बिना बताए यदि ब्रज भाषा और अवधी की दो साहित्यिक रचनाएँ एक साथ रख दी जाएँ तो मैं यह तय नहीं कर पाऊँगा कि उनमें से कौन सी ब्रज भाषा की है और कौन सी अवधी की है। फिर उनके अर्थ निकाल पाना और न निकाल पाना तो और भी बाद की बात है। पुरानी उपलब्ध प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के बारे में भी यही सच है। जब संस्कृत, प्राकृत, पाली और अपभ्रंश के रहते हुए हमें 8 भाषाओं, 6 विभाषाओं, 11 पिशाच भाषाओं, 27 अपभ्रंशों और 65 लिपियों की जानकारी मिलती है तो एक रूढ़ प्राकृत की बात बेमानी हो जाती है। खड़ी बोली के पुराने रूप को भी इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। जैसे आज के हरिद्वार की 'सलोनी काकी' ब्रज भाषा नहीं जानती है परन्तु वह ब्रज भाषा बोलती हुई दिखाई गई है वैसे ही पुराने समय के हरिद्वार की आम जनता भी उस समय की उपलब्ध प्राकृत नहीं बोलती थी। यह हो सकता है कि प्रेमचन्द के उपन्यास की हरिद्वार में रहने वाली यह अनपढ़ बुढ़िया ब्रज क्षेत्र से यहाँ आ कर बसी होने के कारण ब्रज भाषा बोलती हो परन्तु यह हरिद्वार की आम जनता की भाषा की परिचायक नहीं हो सकती।

प्रश्न उठता है—क्या खड़ी बोली वाली हिन्दी उतनी ही प्राचीन है जितना प्राचीन इसका साहित्य है या जितना इस संबंध में शिला लेख प्रमाण दे सकते हैं? शायद इस प्रश्न का सीधा उत्तर देना उचित नहीं होगा। इससे अगला एक और प्रश्न बनता है जिसका उत्तर पहले दिया जाना चाहिए कि कोई भाषा राज भाषा या साहित्यिक भाषा कब बनती है। इस प्रश्न का भी उत्तर पूरी तरह देना संभव न हो तो इतना सोचना असंभव नहीं है कि हर भाषा की किस्मत में राज भाषा और साहित्यिक भाषा के पद को प्राप्त करना संभव नहीं होता है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि हर भाषा इस इन्तजार और यत्न में रहती है कि उसे राज भाषा और साहित्यिक भाषा का स्थान प्राप्त हो जाए। इसमें यह कहा जा सकता है कि यदि खड़ी बोली का

छान पर फूँस चढ़ाने के लिए काँस के पूले भी नहीं जुटा पाता है वह अपने लोक गीतों को लिपि बद्ध या शिला बद्ध नहीं कर सकता । लेकिन यह तो नहीं कहा जा सकता कि उस गरीब आदमी की कोई भाषा नहीं होती है ।

हमारे देश के विद्वान सदा दुभाषिए रहते हैं । वे राजा और प्रजा की दोनों भाषाओं को जानते हैं । आचार्य केशव दास ने यह अवश्य कहा है कि—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास ।
तिन भाषा कविता करी, जड़मति केशव दास ।

लेकिन यह दोहा उनकी विनम्रता ही प्रदर्शित करता है, सच्चाई नहीं । यहाँ आचार्य केशव दास ने कहा है कि उन्हें भाषा नहीं आती है क्योंकि उनके दास भी संस्कृत ही बोलते हैं लेकिन सच्चाई यही है कि उन्हें और उनके कुल के सभी दासों को भाषा अच्छी तरह आती थी । इस प्रकार अलग अलग भौगोलिक क्षेत्रों में अलग अलग जन भाषाएँ बोली जाती हैं । एक राज भाषा का अधिकार कई भौगोलिक जन भाषाओं तक रह सकता है ।

प्राचीन काल के संस्कृत नाटकों में स्त्री और शूद्र संस्कृत नहीं बोलते हैं । वे केवल प्राकृत बोलते हैं । प्राचीन भाषाओं के विद्वान बताते हैं कि संस्कृत नाटकों में जिस प्राकृत का प्रयोग हुआ है वह रूढ़ प्राकृत है । प्राकृत एक नहीं रही होगी बल्कि हर भौगोलिक क्षेत्र में अलग अलग प्राकृतें रही होंगी । हम प्राकृत के कई प्रकार सुनते भी हैं । लेकिन संस्कृत के नाटकों में एक ही प्राकृत का प्रयोग मिलता है । यह ऐसी रूढ़ प्राकृत है कि यह भी निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह किस क्षेत्र की प्राकृत रही होगी ।

संस्कृत नाटकों में जिस प्राकृत का पहली बार प्रयोग किया गया है वह किसी क्षेत्र विशेष की प्राकृत रही होगी । उसका एक विस्तृत जनाधार रहा होगा । इस बात की पूरी पूरी सम्भावना है कि राजधानी के क्षेत्र की आम जनता उसे बोलती रही होगी । बाद में राजधानी से दूर के क्षेत्रों की विभिन्न जन भाषाओं पर भी वही प्राकृत आरोपित कर ली गई होगी ।

यहाँ मैं अपने समय का उदाहरण रख सकता हूँ । प्रेमचन्द का उपन्यास 'कर्मभूमि' दूरदर्शन पर सीरियलाइज किया गया है । उसके एक सीरियल में 1936 के हरिद्वार की कहानी है । हरिद्वार में उपन्यास के नायक की एक बुढ़िया से बातचीत होती है । बुढ़िया अपने को 'सलोनी काकी' कहलवाना चाहती है । मुख्य बात यह है कि यह उपन्यास खड़ी बोली का है लेकिन हरिद्वार की 'सलोनी काकी' खड़ी बोली नहीं बोलती है । उसमें इस बुढ़िया को ब्रज भाषा या अन्य कोई पूर्वी बोली जिसका मैं निर्णय करने में अक्षम हूँ, बोलते हुए दिखाया गया है । मैं यह कहना चाह रहा हूँ

कि दूरदर्शन के चित्र पर 'सलोनी काकी' खड़ी बोली के मुकाबले में जिस भाषा को बोलते हुए दिखाई गई है वह हरिद्वार की जन भाषा नहीं है। हरिद्वार खुद खड़ी बोली का क्षेत्र है। लेकिन साहित्य में वहाँ की अनपढ़ बुढ़िया भी ब्रज भाषा बोलती हुई दिखाई गई है जो एक दम गलत है। हरिद्वार क्षेत्र की कोई अनपढ़ बुढ़िया उस भाषा को नहीं बोलेगी जो उसे बोलती हुई दिखाया गया है।

आज खड़ी बोली की साहित्यिक रचनाओं में अवधी, ब्रज और भोजपुरी को प्राकृत के रूप में प्रयोग किया जाता है। मैं अपनी साहित्यिक रचनाओं में यदि कानपुर क्षेत्र की जन भाषा का प्रयोग करना चाहूँगा तो वहाँ की जन भाषा का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर पाऊँगा। मैं अब भी ब्रज, मैथिली और भोजपुरी का अपनी कल्पना से ऐसा मिश्रण बनाऊँगा जो उनमें से किसी का भी प्रतिनिधित्व न कर पाता हो।

सच बात यह है कि मुझे खड़ी बोली क्षेत्र से बाहर की इन पूर्वी भाषाओं के आपसी अन्तर का कुछ भी पता नहीं है। मेरे सामने लेखक का नाम बिना बताए यदि ब्रज भाषा और अवधी की दो साहित्यिक रचनाएँ एक साथ रख दी जाएँ तो मैं यह तय नहीं कर पाऊँगा कि उनमें से कौन सी ब्रज भाषा की है और कौन सी अवधी की है। फिर उनके अर्थ निकाल पाना और न निकाल पाना तो और भी बाद की बात है। पुरानी उपलब्ध प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के बारे में भी यही सच है। जब संस्कृत, प्राकृत, पाली और अपभ्रंश के रहते हुए हमें 8 भाषाओं, 6 विभाषाओं, 11 पिशाच भाषाओं, 27 अपभ्रंशों और 65 लिपियों की जानकारी मिलती है तो एक रूढ़ प्राकृत की बात बेमानी हो जाती है। खड़ी बोली के पुराने रूप को भी इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। जैसे आज के हरिद्वार की 'सलोनी काकी' ब्रज भाषा नहीं जानती है परन्तु वह ब्रज भाषा बोलती हुई दिखाई गई है वैसे ही पुराने समय के हरिद्वार की आम जनता भी उस समय की उपलब्ध प्राकृत नहीं बोलती थी। यह हो सकता है कि प्रेमचन्द के उपन्यास की हरिद्वार में रहने वाली यह अनपढ़ बुढ़िया ब्रज क्षेत्र से यहाँ आ कर बसी होने के कारण ब्रज भाषा बोलती हो परन्तु यह हरिद्वार की आम जनता की भाषा की परिचायक नहीं हो सकती।

प्रश्न उठता है—क्या खड़ी बोली वाली हिन्दी उतनी ही प्राचीन है जितना प्राचीन इसका साहित्य है या जितना इस संबंध में शिला लेख प्रमाण दे सकते हैं? शायद इस प्रश्न का सीधा उत्तर देना उचित नहीं होगा। इससे अगला एक और प्रश्न बनता है जिसका उत्तर पहले दिया जाना चाहिए कि कोई भाषा राज भाषा या साहित्यिक भाषा कब बनती है। इस प्रश्न का भी उत्तर पूरी तरह देना संभव न हो तो इतना सोचना असंभव नहीं है कि हर भाषा की किस्मत में राज भाषा और साहित्यिक भाषा के पद को प्राप्त करना संभव नहीं होता है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि हर भाषा इस इन्तजार और यत्न में रहती है कि उसे राज भाषा और साहित्यिक भाषा का स्थान प्राप्त हो जाए। इसमें यह कहा जा सकता है कि यदि खड़ी बोली का

भौगोलिक क्षेत्र एक विशाल भारत का हिस्सा न होता और स्वतंत्र राष्ट्र होता, यह भाषा हजारों वर्ष पूर्व अपने भौगोलिक क्षेत्र की राज भाषा और साहित्यिक भाषा बन गई होती। चूँकि खड़ी बोली का भाग्य पूरे भारत के साथ जुड़ा हुआ रहा है, इसलिए यह छोटे से स्वतंत्र राष्ट्र की राज भाषा या साहित्यिक भाषा नहीं बन सकी थी। फिर, पूरे भारत के भाग्य से जुड़ कर पिछले समय में इसे कितना भी नुकसान रहा हो, आज इसे उस नुकसान से कई गुना अधिक लाभ मिला है। अब यह समूचे भारत संघ की राज भाषा बनी है। इतना ही नहीं, यदि पिछली शताब्दियों में केरल के राजा ने ब्रज भाषा में कविता लिखी थी तो आज केरल के साधारण हिन्दी पढ़े लिखे साहित्यकार खड़ी बोली में कविता रचते हैं।

यह खड़ी बोली क्षेत्र का दुर्भाग्य रहा है कि इस पर सदा बाहर के आक्रमण-कारियों की गिद्ध दृष्टि लगी रही है। गंगा यमुना के बीच का मेरठ मंडल और यमुना के किनारे बसी दिल्ली पांडवों के समय से ही केन्द्रीय भारत के शासकों के स्वार्थ साधन का शिकार बनी रही हैं। प्राचीन आर्य पंजाब में बस कर ही संतुष्ट नहीं रह गए थे, उन्होंने इतनी दूर उत्तर प्रदेश में आ कर गंगा नदी को अपनी पवित्रतम नदी कहा था। अरब के तुर्क और मुगल सरदार गुजरात और सिन्ध की लूट से तृप्त नहीं हुए थे, दिल्ली में राज्य स्थापित करके ही उनके लोभ की पूर्ति हुई थी। अंग्रेज अच्छे भले कलकत्ते को अपनी राजधानी बनाए हुए थे लेकिन उन्होंने भी अपने बड़े लोभ के लिए अपनी राजधानी बदल कर दिल्ली कर दी थी। देखा जा सकता है कि राजपूत हों या मराठे, पिछले इतिहास में सब के सब 'दिल्ली चलो' का नारा लगाते रहे हैं। मोहम्मद तुगलक ने राजधानी के रूप में दिल्ली को अवश्य छोड़ दिया था लेकिन दिल्ली वासियों को नहीं छोड़ा था। वह अपनी राजधानी को फिर दिल्ली ले आया था, पर हाँ, सारे दिल्ली वासियों को वापिस नहीं ला सका था। फलतः, वहाँ दक्षिण भारत में दिल्ली वासियों के रह जाने के कारण 'दक्खिनी हिन्दी' का प्रचलन हो गया था जो इतिहास की एक भारी घटना है। अकबर ने ब्रज भाषा क्षेत्र के आगरे में फतेहपुर सीकरी बसाई थी पर शाहजहाँ के रूप में मुगल राजाओं का दिल दिल्ली में लाल किला बना कर ही चैन पा सका था।

इन लगातार आक्रमणों से मेरठ और दिल्ली की खड़ी बोली का बहुत नुकसान हुआ था। शासक लोग खड़ी बोली क्षेत्र के नहीं हुआ करते थे, इसलिए वे यहाँ की खड़ी बोली को राज भाषा नहीं बनाते थे। वे बारी बारी से संस्कृत को, फारसी को और अंग्रेजी को राज भाषा घोषित करते रहे। इन राजशाहियों में कभी लोक तंत्र का नाम नहीं रहा था, इसलिए राज काज में खड़ी बोली क्षेत्र में ऊपर से भाषाएँ थोपी जाती रही थीं। राज भाषा के साथ साथ संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी शासक वर्ग की साहित्यिक भाषाएँ भी बनने को उन्मुख रही थीं।

यह इतिहास का सच है कि जब संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी के कारण खड़ी बोली का नामोनिशान मिट जाना चाहिए था, यह उलटे इन भाषाओं के सम्मुख सिर तान कर खड़ी हो गई है। खड़ी बोली हिन्दी चुप चुप इन तीनों भाषाओं के कारण समृद्ध होती चली गई थी। इसने तीनों भाषाओं के शब्द ग्रहण करने आरम्भ कर दिए थे। संयोग से देश में लोक तंत्र का समय आ गया और भारत के नए संविधान ने हिन्दी को राज भाषा का स्थान दे दिया है।

यहाँ केवल यह कहना शेष रह जाता है कि खड़ी बोली अपने खड़ी बोली क्षेत्र में बोली के रूप में तब भी जीवित रही जब संस्कृत राज भाषा और साहित्यिक भाषा थी और तब भी जब फारसी और अंग्रेजी राज भाषाएँ बनी रहीं। इस तर्क से खड़ी बोली पाणिनि द्वारा व्याकरण बद्ध की गई संस्कृत से भी पुरानी बोली सिद्ध होनी चाहिए।

3

भाषा शास्त्र के क्षेत्र में कुछ तय करने के लिए समाज दर्शन भी बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। इस देश के प्राचीन समय में समाज दर्शन के किसी भी मौलिक और स्वतन्त्र चिन्तन को जबरन दबाया गया था लेकिन डाक्टर अम्बेडकर और एम० एन० राय सरीखे महापुरुषों के आने से यह कार्य अब आरम्भ हो सका है। संयोग से, डाक्टर इन्द्र चन्द्र शास्त्री ने समाज दर्शन और भाषा शास्त्र के इस मिले जुले क्षेत्र में कुछ काम किया है। उनकी एक पुस्तक 'भारतीय आर्य भाषाएँ' है। यह कुल 105 पृष्ठों की पुस्तक है लेकिन इस क्षेत्र में बहुत प्रकाश डालती है।

आगे कुछ भी कहने से पहले हमें सबसे पहले यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि जब कोई एक बोली भाषा के रूप में पनप कर राष्ट्र के अधिकांश भाग में राज भाषा या साहित्यिक भाषा के रूप में छा जाती है, तब उस देश में अन्य बोलियाँ या प्रांतीय भाषाएँ मिट नहीं जाती हैं, विशेषकर उस समय जब समाज में शिक्षा का प्रसार कम होता है। संस्कृत के पंडितों ने यह कभी नहीं चाहा कि संस्कृत को शूद्र और नारियाँ सीखें और पढ़ें। 'हाथ कंगन को आरसी क्या, पढ़े लिखे को फारसी क्या'—से भी यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि मुगल काल में आम जनता फारसी का ज्ञान रखती होगी। इसके विपरीत, आम जनता की सामाजिक स्थिति का इस लोकोक्ति से अधिक पता चलता है कि 'पढ़े फारसी बेचे तेल, ये देखो कुदरत के खेल।' इससे साफ जाहिर होता है कि आम जनता फारसी नहीं पढ़ती थी। तब फारसी पढ़े लिखे मनुष्य से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह साधारण मजदूरी

के काम करेगा। अंग्रेजी के बारे में सभी लोग जानते हैं कि हिन्दुस्तान में यह कितने कम लोगों की दफ्तरी भाषा है। भारत की आम जनता का अंग्रेजी से कुछ लेना देना नहीं है।

जब कोई चिन्तक किसी देश की केवल भाषा, धर्म और संस्कृति को बचाने की बात करता है, इसका मतलब है कि उसकी सोच में कहीं न कहीं जरूर कुछ गड़बड़ है। ऐसे चिन्तक अमूर्त भावों को बचाने की चिन्ता करते हैं और मूर्त मनुष्यों को बचाने की चिन्ता नहीं करते हैं। ऊपरी तौर से सोचा जा सकता है कि जब किसी राष्ट्र के नेताओं को उस राष्ट्र के पशु विशेषों को बचाने की चिन्ता सताती है तो उस देश के मनुष्यों को वचने की गारंटी मिल गई होगी। लेकिन ऐसा नहीं होता है। वर्ण विद्वेष में ऐसा सम्भव है कि कोई एक वर्ण दूसरे वर्ण के घरों में आग लगा रहा हो, साथ ही पशुओं को बचाने में जीव हत्या न करने के धार्मिक प्रमाण पत्र भी लेता हो। इसलिए जो लोग भाषा, धर्म और संस्कृति को बचाने की बात करते हैं उनसे पूछा जाना चाहिए कि उनकी भाषा, धर्म और संस्कृति कहीं मनुष्य से जुड़ती हैं या नहीं। भाषा, धर्म और संस्कृति के गैर जिम्मेदार नारों से समाज के सच्चे लोगों को डर लगा रहता है। इस लिए, भाषा, धर्म और संस्कृति से पहले मनुष्य की बात करके लोगों के मन का भय निकाला जाना चाहिए तभी कोई बात आगे की जा सकती है।

डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री का संस्कृत भाषा के जन्म के बारे में यह विचार है कि इसका आगमन वैदिक परम्पराओं की रक्षा एवं अध्ययन अध्यापन के लिए हुआ था? यह वेदों तथा ब्राह्मणों की भाषा से काफी मिलती जुलती थी। यह आर्यों का अपनी श्रेष्ठता और शुद्धता को बचाए रखने का प्रयत्न था।

प्रश्न यह है कि हम वेदों और ब्राह्मणों की भाषा से सन्तुष्ट क्यों नहीं रह सके थे। उस भाषा से अलग एक संस्कृत भाषा के जन्म की आवश्यकता क्यों पड़ी थी? इसके उत्तर में यह प्रश्न नहीं बनना चाहिए कि संस्कृत वैदिक भाषा से कितनी भिन्न है। तथ्य केवल यह है कि कम या अधिक, संस्कृत वेद की भाषा से भिन्न है। हमें संस्कृत के विद्वान यह बताते हैं कि संस्कृत का व्याकरण सीखने से वेदों के अर्थ नहीं निकाले जा सकते। वेद की भाषा की गहराई में पहुँचे हुए लोग हमें बताते हैं कि स्वयं वेद की भाषा में कई अन्तर हैं। हम अपने सीमित उद्देश्य के लिए यह मान कर चल सकते हैं कि वेद की भाषा लगभग एक जैसी है, लेकिन डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री ने यह बात अपनी बौद्धिक ईमानदारी का परिचय देते हुए ही कही होगी—"ऋग्वेद संहिता एक संग्रह ग्रन्थ है। यह समय विशेष में की गई किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है। इसके अनेक सूक्त अत्यन्त प्राचीन हैं। उनमें आए हुए बहुत से शब्दों को समझना भी कठिन है। बहुत से अर्वाचीन हैं, उनकी भाषा संस्कृत के बहुत समीप है। द्वितीय से ले कर अष्टम तक सात मंडल और प्रथम मंडल का कुछ भाग प्राचीन माना जाता है। नवम मंडल अन्य मंडलों में सोम के लिए प्रयुक्त सूक्तों का संग्रह मात्र है। भाषा की

दृष्टि से बीच में सात मंडलों के पश्चात प्रथम मंडल का शेष भाग आता है। दशम मंडल बहुत बाद में जोड़ा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद की भाषा एक सरीखी नहीं है।"

डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री ने अपनी पुस्तक में आगे लिखा है—"संस्कृत तथा प्राकृत में बहुत से ऐसे रूप विद्यमान हैं जिनसे पता चलता है कि वैदिक काल में ऋग्वेद की आधार भूत बोली के अतिरिक्त दूसरी अनेक बोलियाँ प्रचलित थीं।" उन्होंने लिखा है—"उन्हीं बोलियों के प्रभाव के कारण ऋग्वेद की मूल भाषा को फैलने का अवसर नहीं मिला।" लेकिन उन्होंने यह भी बताया है कि वे बोलियाँ साहित्यिक रूप नहीं अपना सकी थीं। उन्होंने लिखा है—"वैदिक काल में वे रूप उन बोलियों में प्रचलित थे जिन्हें वेद अथवा संस्कृत के रूप में साहित्यिक भाषा बनने का अवसर नहीं मिला।"

हम वैदिक भाषा से इसलिए सन्तुष्ट नहीं रह सके होंगे क्योंकि वह किसी एक क्षेत्र की भाषा रही होगी। जब वेद परम्परा का क्षेत्र बड़ा होगा उसमें कुछ राजनैतिक परिवर्तन अवश्य हुए होंगे। फिर कोई एक विशेष क्षेत्र प्रभाव शाली हो गया होगा। उसी क्षेत्र की बोली को आधार मान कर संस्कृत का जन्म हुआ होगा। संस्कृत का जन्म किसी भी क्षेत्र में हुआ हो लेकिन इसके जन्म के बारे में कई सम्भावनाएँ बनती हैं। पाणिनि को गांधार का निवासी बताया गया है, इसलिए हो सकता है कि उन्होंने अपनी क्षेत्रीय बोली के आधार पर संस्कृत का व्याकरण लिखा हो। डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री के अनुसार पाणिनि ने "अपने व्याकरण में वैदिक भाषा का छन्द और वैदिकेतर भाषा का लौकिक या भाषा शब्द से निर्देश किया है। यह लौकिक या भाषा उत्तर की तत्कालीन बोली से मिलती जुलती थी।"

इतनी बात जरूर है कि संस्कृत भाषा में संस्कृत से पहले की किसी भाषा का संस्कार किया गया है। संस्कृत से पहले कोई अपरिपक्व और अपरिनिष्ठित भाषा रही थी जिसे संस्कृत में एक शुद्ध रूप देने का प्रयास किया गया है। यह भी हो सकता है कि संस्कृत से पहले कोई एक भाषा न रह कर अनेक बोलियाँ रही हों। इतिहास में ऐसा कई बार हुआ है कि चक्रवती सम्राट ने किसी एक शक्ति शाली राजा को जीत कर नहीं बल्कि छोटे छोटे अनेक राजाओं को जीत कर अपना बड़ा साम्राज्य खड़ा किया है। प्राचीन साहित्य से यह पता भी चलता है कि पाणिनि से पहले और भी कई व्याकरण लिखे गए थे। इससे भी यह सम्भावना बनती है कि पाणिनि से पूर्व कई बोलियाँ रही होंगी।

इतिहास में ऐसा होता रहा है जब विजेता राजा अपनी मातृ भाषा को राज भाषा या साहित्यिक भाषा नहीं बना पाए हैं। अचरज यह भी रहा है कि उन्होंने विजित राजाओं की राज भाषा को भी स्वीकार नहीं किया है। दिल्ली में उन राजाओं ने राज किया है जिनकी मातृ भाषा तुर्की थी लेकिन वे तुर्की को दिल्ली में राज भाषा

नहीं बना पाए। दिल्ली की अपनी भाषा हिन्दी थी लेकिन हिन्दी भी उनकी राज भाषा नहीं बन सकी। उन्हें फारसी को राज भाषा बनाना पड़ा था। मध्य कालीन भारत के इतिहास से यह जाना जा सकता है कि वह कौन सी धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का दबाव रहा था जिनके कारण दिल्ली में फारसी राज भाषा बनी थी। यहाँ कहा जा सकता है कि फारसी की तरह संस्कृत के सम्बन्ध में भी परिस्थितियों के ऐसे विकल्प ढूँढे जा सकते हैं जिनके कारण संस्कृत को राज भाषा बनने का गौरव प्राप्त हुआ था। सच कुछ भी हो सकता है लेकिन स्पष्ट सच के अभाव में विचार करते समय सच के एक भी विकल्प को छोड़ नहीं देना चाहिए।

स्थान परिवर्तन के कारण भी बोलियों में अन्तर रहता है। यह बात गले से नीचे नहीं उतर सकती कि जब इस देश के अधिकांश भाग की राज भाषा संस्कृत रही थी तो यहाँ क्षेत्र वार बोलियाँ नहीं रह गई थीं। ऐसा नहीं हो सका है कि जब राज भाषा संस्कृत रही हो तो जन भाषा संस्कृत हो गई और जब संस्कृत राज भाषा नहीं रही तो जन भाषा भिन्न हो गई। राज भाषाएँ अपने गणित के हिसाब से बदलती रही हैं और जन भाषाएँ अपने अलग हिसाब से विकसित होती रही हैं।

प्रादेशिक बोलियों की प्राचीनता के सम्बन्ध में जिसमें खड़ी बोली हिन्दी की प्राचीनता भी सम्मिलित है डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री ने लिखा है—"साहित्यिक भाषा के रूप में संस्कृत का प्रसार भारत में सर्वत्र हो गया। पेशावर से लेकर बंगाल एवं मद्रास तक संस्कृत में साहित्य रचा जाने लगा। किन्तु इसके साथ साथ प्रत्येक प्रदेश की स्थानीय बोली भी चलती रही और वह उत्तरोत्तर बदलती गई। परिणामस्वरूप संस्कृत प्रादेशिक भाषाओं से उत्तरोत्तर दूर होती गई और स्वाभाविक व्यवहार की भाषा न रह कर कृत्रिम भाषा बन गई।" डा० शास्त्री ने इस क्रम में आगे कहा है कि "संस्कृत व्याकरण इतना परिनिष्ठित हो गया कि भाषा का विकास रुक गया। संस्कृत को यह रूप जन्म के पश्चात शीघ्र ही मिल गया जो अभी तक अखंडित है।" इतना ही नहीं कि संस्कृत के साहित्यिक काल में प्रादेशिक भाषाएँ चलती रही थीं बल्कि डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री ने बहुत स्पष्टता के साथ यह लिखा है—"संस्कृत साहित्य उन विद्वानों की देन है जो अपने दैनिक व्यवहार में विविध प्रादेशिक बोलियां बोलते थे। उत्तर, पश्चिम, मध्य देश, पूर्वी भारत और दक्षिण सभी प्रदेशों के विद्वान संस्कृत लिखते थे।" डा० शास्त्री ने इसे और भी स्पष्ट किया है—"प्राचीन रूपकों में उच्च वर्गीय क्षत्रीय एवं ब्राह्मण संस्कृत बोलते हैं निम्न वर्ग एवं स्त्रियाँ प्राकृत बोलती हैं। इससे एक ऐसी स्थिति का पता लगता है जो मध्य काल के प्रारम्भ तक विद्यमान थी।" लेकिन बाद में यह प्राकृत भी रूढ़ हो गई थी। डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री ने बहुत सही लिखा है—"कालान्तर में इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि व्यक्ति अपने प्रदेश की बोली का वास्तविक प्रतिनिधित्व करे। लाक्षणिक ग्रन्थों में पात्र के अनुसार बोली रूढ़ होती चली गई और उस बोली का रूप भी कृत्रिम बन गया। परिणामस्वरूप नाटकों

के आधार पर किसी बोली के वास्तविक रूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। सबसे पहला प्राकृत व्याकरण वर रुचि (ई० पू० 500) का है। उसके सामने भी यही लक्ष्य है कि नाटक में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची कैसी होनी चाहिए। उसे इस बात का ध्यान नहीं है कि इन भाषाओं का वास्तविक रूप क्या था। उत्तर कालीन व्याकरण भी इन्हीं सिद्धान्तों पर चले हैं। और उत्तर कालीन नाटक कार व्याकरण में प्रतिपादित रूपों को ही आदर्श मानते चले गए। उनके सामने और कोई आधार नहीं था।'' आज हिन्दी साहित्य के उपन्यासों या नाटकों में अंग्रेज पात्रों द्वारा जिस प्रकार की हिन्दी का प्रयोग किया जाता है वह भी एक रूढ़ हिन्दी ही है।

यह बात अच्छी है या बुरी है, इस पर बाद में विचार किया जाए, लेकिन यह सत्य है कि हर संस्कृतज्ञ भारत की एक अन्य भाषा अवश्य जानता रहा है। यह बात दावे से कही जा सकती है कि संस्कृत का जानने वाला कोई भी व्यक्ति केवल संस्कृत जान कर नहीं रह जाता है। भारत में संस्कृत जानने से किसी मनुष्य को धन और सम्मान भले ही मिलता रहा हो लेकिन सामाजिक व्यवहार के लिए उसे संस्कृत से बाहर आना ही पड़ता है। बात एकदम स्पष्ट है। वह शूद्रों और अपने दासों से संस्कृत में बात नहीं कर सकता था। वह अपनी पत्नी से भी संस्कृत में बातचीत नहीं कर सकता था, इसलिए हर हालत में द्विज संस्कृतज्ञ को द्विभाषी होना पड़ता था।

यहाँ यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि स्त्रियों और शूद्रों को संस्कृत नहीं पढ़ाई जाती थी। विरोधी विचार के विद्वान कुछ भी कह सकते हैं। वे इतिहास की हर प्राप्ति का अपने पक्ष में लाभ उठाना चाहते हैं। वे नारियों और शूद्रो की हर मुसीबत को नजर अन्दाज करने की कला में निपुण लोग हैं। वे ठीक तर्क को समझना नहीं चाहते हैं। वे यह कह देंगे कि प्राचीन काल में गार्गी संस्कृत में शास्त्रार्थ करती थी। सुनीति कुमार चटर्जी द्वारा सम्पादित 'द कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया' के पाँचवें खण्ड में विज्जिका, शीला भट्टारिका, विकट, नितम्बा, मारुला, मोरिका, इन्दु लेखा, प्रभु देवी, सुभद्रा, अवन्ती, सुन्दरी नामक स्त्रियों के नाम गिनाए गए हैं। दक्षिण भारत की रानी गंगा देवी, तिरुमलाम्बा और रामभद्राम्बा के नाम गिनाए गए हैं। वे अपने पक्ष में ऐसे शूद्रों के नाम भी गिना सकते हैं जिनका प्राचीन काल में संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार था।

यह केवल समय समय का अन्तर है कि स्त्रियाँ और शूद्र किस समय शिक्षित रहे थे और किस समय नहीं। डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री इस विषय में लिखते हैं—"पाणिनि के मतानुसार 'मातुल' का स्त्रीलिंग केवल 'मातुलानी' होता है किन्तु कात्यायन के मतानुसार 'मातुली' और 'मातुलानी' दोनों होते हैं। पाणिनि ने उपाध्याय शब्द को छोड़ दिया है। कात्यायन ने उसके 'उपाध्यायानी' और 'उपाध्यायी' दो रूप बताए हैं। ये दोनों रूप 'उपाध्याय' की स्त्री के अर्थ में होते

हैं। यदि स्त्री स्वयं अध्यापन करती हो तो उसके 'उपाध्याया' और 'उपाध्यायी' दो रूप कात्यायन ने बताए हैं।" इस अन्तर की समाज और इतिहास के संदर्भ में व्याख्या करते हुए डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री आगे लिखते हैं—"इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि पाणिनि के समय स्त्रियाँ अध्यापन नहीं करती थीं। किन्तु कात्यायन के समय में करने लगी थीं। इसी लिए कात्यायन को उनका भेद बताने की आवश्यकता पड़ी। इसी प्रकार स्वयं व्याख्यात्री के लिए 'आचार्या' शब्द प्रयुक्त हुआ और आचार्य की स्त्री के लिए 'आचार्याणी'। पाणिनि के अनुसार क्षत्रिय जाति की स्त्री के लिए 'क्षत्रिय' होगा किन्तु कात्यायन ने 'क्षत्रियाणी' और 'क्षत्रिया' दो रूप माने हैं।"

हिन्दुस्तान का सामाजिक इतिहास ब्राह्मणी वर्ण व्यवस्था द्वारा तौले गए हर दबाव के बावजूद सदा एक सा नहीं रहा है। यह प्रयत्न किया गया है कि शूद्र शिक्षित न हो सके और शूद्र राजा न बन सके लेकिन फिर भी समय समय पर शूद्र लोग विद्वान होते रहे हैं तथा शूद्रों के राज्य स्थापित होते रहे हैं। बात यह है कि जब इस देश में ब्राह्मणी परम्परा की वर्ण व्यवस्था ढीली पड़ी है, शूद्र और नारियों का समाज आगे आया है। लेकिन शूद्र और नारियों के उत्थान का यह श्रेय तत्कालीन ब्राह्मणी समाज व्यवस्था को नहीं मिलना चाहिए। बौद्ध काल में शूद्रों और नारियों का समाज आगे आया है। इसके लिए हमें उस बौद्ध दृष्टि को श्रेय देना चाहिए जो शूद्रों और नारियों को आगे बढ़ा कर अपनी मिशनरी शान्ति पाया करती थी। उदाहरण के रूप में इस शताब्दी में डा० भीम राव अम्बेडकर अछूतों में से एक महान विद्वान हो गए हैं। उन्होंने एम० ए०, पी-एच० डी०, एम० एस-सी, डी० एस-सी०, बार-एट-ला, एल-एल० डी०, और डी० लिट० की बीसवीं शताब्दी के शिक्षा जगत की धरती पर सर्वोच्च डिग्रियाँ प्राप्त की हैं। उन्होंने इतिहास, दर्शन, धर्म, राजनीति, समाज, कानून और अन्य क्षेत्रों में अपनी विद्वत्ता और महानता दर्शाई है। लेकिन उनकी इस पढ़ाई लिखाई का श्रेय किसी भी प्रकार उनके समय की ब्राह्मणी समाज व्यवस्था को नहीं दिया जा सकता। उल्टे, उन्हें अपनी शिक्षा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणी वर्ण व्यवस्था से लड़ना पड़ा था। गार्गी आदि प्राचीन महान विदुषी महिलाओं का उदाहरण रखते समय भी हमें ठीक इसी प्रकार सोचना चाहिए कि जाने वे राजनैतिक परिस्थितियाँ किस प्रकार की रही होंगी जब नारियाँ शिक्षा ग्रहण कर सकी थीं। हर अन्तर्भुक्ति के समय इस देश में ब्राह्मणी वर्ण व्यवस्था की पकड़ ढीली पड़ती गई है। यवनों, मुसलमानों और अंग्रेजों के आक्रमण के समय भी लोगों की ब्राह्मणी वर्ण व्यवस्था के प्रति शंकाएँ उभरी थीं।

4

जहाँ तक पाली भाषा का सम्बन्ध है, डा० भरत सिंह उपाध्याय ने अपनी

पुस्तक 'पाली साहित्य का इतिहास' में कहा है कि पाली और संस्कृत दो सहोदरा भाषाएँ हैं। उन्होंने यह नहीं माना है कि संस्कृत में से पाली भाषा निकली है। उनके अनुसार, एक ही वैदिक भाषा के आधार पर, एक ही मध्य कालिक आर्य भाषा युग में, संस्कृत और पाली का विकास भिन्न-भिन्न ढंगों से हुआ। उन्होंने यह भी कहा है कि "वैदिक भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अनेक रूपता की है। स्वभावतः वैदिक भाषा की इस अनेक रूपता का उत्तराधिकार संस्कृत की अपेक्षा पाली को ही अधिक मिला है।" उन्होंने इसके कुछ उदाहरण दिए हैं—"अकारान्त शब्दों के तृतीया बहु वचन में वैदिक भाषा में 'देवेभिः कर्णेभिः' जैसे रूप मिलते हैं। संस्कृत ने इन रूपों को छोड़ दिया है। किन्तु पाली में ये 'देवेभि', 'देवेहि', 'कण्णेभि' 'कण्णेहि' आदि के रूप में सुरक्षित हैं। वैदिक भाषा में 'विश्वन्', 'च्यवन्' जैसे नपुंसक लिग शब्दों के प्रथमा और सम्बोधन के बहु वचन के रूप 'विश्वा', 'च्यवना' जैसे अकारान्त होते हैं। पाली में यह प्रवृत्ति 'चित्ता' 'रूपा' जैसे प्रयोगों में दिखाई पड़ती है, किन्तु संस्कृत में नहीं पाई जाती। उत्तम पुरुष बहु वचन का वैदिक प्रत्यय 'मसि' पालि में 'मसे' (मयमेत्थ यमामसे) के रूप में सुरक्षित है। इसी प्रकार प्रथम पुरुष बहु वचन में वैदिक भाषा में 'रे' प्रत्यय लगता है। संस्कृत में यह नहीं पाया जाता। किन्तु पाली में यह 'पच्चरे', 'भासरे' जैसे प्रयोगों में सुरक्षित है। वेद में निमित्तार्थक 'तवे' प्रत्यय का बहुत प्रयोग होता है। पाली में भी 'कातवे', 'गन्तवे' जैसे रूपों में यह सुरक्षित है। संस्कृत ने इस प्रयोग को छोड़ दिया है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों में हम यह प्रवृत्ति देखते हैं। संस्कृत 'आम्र' शब्द का वैदिक रूप 'आम्ब्र' है। पाली में यह 'अम्ब' है। पाली ने 'ब्' को रख लिया है। वैदिक अकारान्त पुल्लिग शब्दों में प्रथमा बहु वचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय लग कर 'देवासः' जैसे रूप बनते थे। पाली में भी यह 'देवासे', 'धम्मासे', 'बुद्धासे', जैसे रूपों में सुरक्षित है। संस्कृत ने इन रूपों को ग्रहण नहीं किया है।"

संस्कृत किस प्रकार प्राचीन काल में कई भारतीय भाषाओं को समाज से दूर करके उन्हें खा गई है इसके उदाहरण डा० इन्द्र चन्द शास्त्री ने अपनी पुस्तक में दिए हैं। उन्होंने इसका कारण बताते हुए लिखा है—"मध्य काल में आर्य भारती पूर्णतया प्राकृत के समान हो गई। प्राचीन आर्य भाषा का प्रभाव केवल ध्वनि एवं प्रत्ययों तक सीमित रह गया। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत ब्राह्मण परम्परा तथा पंजाब एवं मध्य देश केउच्च वर्गीय क्षत्रियों तक सीमित थी। ब्राह्मण प्रभाव की वृद्धि के साथ साथ उसे भी पूर्व में प्रतिष्ठा मिलने लगी। किन्तु बौद्ध और जैन धर्मों ने अपने प्रचार के लिए जिस भाषा का उपयोग किया वह पूर्वी बोलियों पर आश्रित थी। पश्चिमी और उत्तरी प्रदेशों में भी उन्होंने अपने धर्म प्रचार के लिए तत्त स्थानीय बोलियों को ही मुख्य आधार बनाया। उन्होंने राजन्य तथा ब्राह्मणों की चिन्ता न करके साधारण जनता में अपना प्रचार किया और इसके लिए इन्हीं की भाषा को अपनाया। परिणामस्वरूप,

संस्कृत का अप्रतिहृत प्रसार एक बार रुक गया। पाली और अर्द्ध मागधी के रूप में दो साहित्यिक भाषाएँ संस्कृत के समक्ष खड़ी हो गईं।" इस प्रकार, यहाँ तक केवल एक बात पूरी हुई। इससे आगे की कहानी दूसरी है। डा० इन्द्र चन्द शास्त्री भाषाओं के युद्ध की इस लड़ाई को आगे बताते हुए लिखते हैं—"किन्तु वे संस्कृत के सामने अधिक दिन नहीं ठहर सकीं। बोलियों के आधार पर निर्मित भाषाएँ बोलियों के बदल जाने पर अपना सम्पर्क जनता के साथ नहीं रख सकीं। दूसरी ओर, संस्कृत उच्च वर्ग की भाषा बनी रही। राजनीतिक परिवर्तनों के कारण भी ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ। परिणामवस्रूप, संस्कृत द्विगुणित वेग के साथ फिर उच्च आसन पर आरूढ़ हो गई।" इस कहानी में इतना ही नहीं हुआ, डा० इन्द्र चन्द शास्त्री लिखते हैं—"जैन और बौद्ध साहित्यिकों ने भी अपने साहित्यिक स्तर को ऊँचा करने के लिए संस्कृत को अपना लिया। ई० पू० 200 से ले कर ई० पू० 300 तक बौद्ध साहित्यिकों ने पाली के साथ संस्कृत को भी अपनाया। वे प्राकृत से सुपरिचित थे और उसी का संस्कृत में रूपान्तर करने लगे। उस विचित्र भाषा को गाथा शब्द से कहा गया है। कृत्रिम मिश्रण से बनी हुई इस भाषा को मिश्रित संस्कृत या बौद्ध संस्कृत भी कहते हैं। इसमें प्राकृत शब्द संस्कृत में रूपान्तरित किए गए हैं। 'ललित विस्तर' 'दिव्यावदान' और 'कथा वस्तु' में यही भाषा है। राज दरबारों तथा घटनाओं के लेख बद्ध करने में भी यही भाषा अपनाई गई। तत्कालीन शिला लेखों से इसकी पुष्टि होती है।" अन्त में पाली और संस्कृत के इस नाटक को पूर्ण रूप से दुखान्त बताते हुए डा० इन्द्र चन्द शास्त्री लिखते हैं—"किन्तु क्रमशः मौलिक संस्कृत का पूर्णाधिपत्य हो गया।"

5

डा० राम विलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भाषा और समाज' में भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण विचार दिए हैं। उनकी पहली मान्यता है कि एक आदि भारतीय आर्य भाषा नाम की कोई भाषा नहीं है। उनके अनुसार, भारत के भौगोलिक क्षेत्रों में विभिन्न लोक भाषाएँ प्रचलित रही हैं। जब इस देश में धर्म पनपे तो डा० राम विलास शर्मा के अनुसार, "बहुत से बहुत धर्म प्रचारकों ने लोक भाषाओं को अपना माध्यम बनाया, उन्होंने उन्हें जन्म नहीं दिया।" स्वयं संस्कृत के बारे में उन्होंने कहा है कि संस्कृत किसी आर्य नाम की नस्ल की भाषा नहीं है। उसके निर्माण में अनेक भाषा परिवारों का योग रहा है। उसमें अध्यात्म वाद से ले कर भौतिक वाद तक

विभिन्न दृष्टिकोण रखने वाले विचारकों ने साहित्य रचा है। उनके अनुसार, "भारतीय संस्कृति संस्कृत और संस्कृत से भिन्न शेष सभी भारतीय भाषाओं में प्राप्त उपकरणों से रची गई है। भाषा के सिलसिले में धर्म और नस्ल की दुहाई देना समाज की परम प्रतिक्रियावादी शक्तियों का काम रहा है।"

डा० राम विलास शर्मा ने अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए कुछ अनुमानात्मक प्रमाण जुटाए हैं। उन्होंने लिखा है—"जिन्हें हम तद्भव रूप कहते हैं उनमें दो स्रोतों से आए हुए शब्द होने चाहिए—एक तो संस्कृत से, दूसरे संस्कृत के साथ की जनपदीय बोलियों से। जिस तरह बोलचाल में व्यवहृत धन, जन, वन जैसे तत्सम रूपों को हम सदा संस्कृत से आया हुआ नहीं मान सकते, उन्हें संस्कृत के साथ की अन्य जनपदीय भाषाओं की सामान्य सम्पत्ति मानना ज्यादा उचित होगा, उसी प्रकार तद्भव रूप भी इस सामान्य सम्पत्ति से बने होंगे, यह अनुमान तर्क संगत है। इन तद्भव रूपों में विशेष रूप से ऐसे शब्द जिनका किसान जीवन से संबंध है या जो अशिक्षित जन साधारण के व्यवहार में बराबर आते रहे हैं उसी सामान्य सम्पत्ति के अन्तर्गत माने जाएँगे।" उन्होंने तथ्यों की व्याख्या करते हुए बताया है कि "आधुनिक भाषाओं में अक्सर एक ही शब्द तद्भव और तत्सम रूपों में मिलता है। ऐसे भिन्न रूप पहले भी प्रचलित रहे होंगे। इसका कारण समाज में वर्ग भेद, शिक्षा में भिन्नता, पंडितों और जन साधारण में उच्चारण भेद है। यह भेद सामन्ती युग में बराबर रहा, इसलिए एक ही शब्द के दो दो रूप भाषा में स्वीकृत हो गए।"

डा० राम विलास शर्मा ने हिन्दी के साथ साथ सभी भारतीय भाषाओं को संस्कृत से भिन्न माना है। वे एक तरह से संस्कृत से तुलना करने में भारतीय भाषाओं के नाम से गैर संस्कृत भाषाओं की ओर चले गए हैं। उन्होंने लिखा है—"हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की अपनी व्याकरण व्यवस्था है, उनका अपना शब्द भंडार है। उन्हें हम संस्कृत की पुत्रियाँ या देव वाणी का आधुनिक परिवर्तित रूप नहीं कह सकते। प्राचीन काल में संस्कृत यहाँ की एक मात्र भाषा नहीं रही। उसके साथ यहाँ अन्य भाषाएँ बोली जाती थीं जो संस्कृत से मिलती जुलती थीं, फिर भी उससे भिन्न थीं, जैसे हिन्दी की साथी बोलियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं।" उन्होंने इसके हल में बताया है कि "सही पद्धति यह है कि हम आधुनिक भाषाओं में प्राचीन तत्वों की स्थिति स्वीकार करें, उनकी हर विशेषता को संस्कृत से उत्पन्न सिद्ध करने का आग्रह न करें, एक क्षेत्र—यथा हिन्द प्रदेश—की बोलियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती रही हैं, उनके रूप एक दूसरे में मिलते रहे हैं और कुछ तत्व ऐसे हैं जो संस्कृत में भी नहीं हैं किन्तु जिनका प्राचीनतम रूप हिन्दी आदि भाषाओं में सुरक्षित है यह सिद्धांत मानें।"

डा० राम विलास शर्मा ने अपनी इस पुस्तक में हिन्दी और संस्कृत में प्रयुक्त कुछ शब्दों की सूची दी है। ये शब्द दो या तीन या चार मात्राओं के हैं। इनमें दो शब्द

ही—पाताल और भगवान—पाँच मात्राओं के हैं। इन शब्दों के बारे में उन्होंने लिखा है—"आधुनिक भाषाओं ने इन शब्दों को उधार नहीं लिया, वे उनके मूल शब्द भंडार का अंश हैं। संस्कृत से उधार लेने का प्रश्न नहीं था, संस्कृत स्वयं विभिन्न जनपदीय भाषाओं के शब्दों से समृद्ध बनी थी। इस कारण संस्कृत में दिन-अहन्, निशा-रात्रि, अद्-खाद, धरा-भूमि, उदक-जल—एक ही अर्थ के वाचक अनेक शब्द मिलते हैं। साथ ही वे सभी शब्द जिन्हें हम तद्‌भव कहते हैं, संस्कृत से हिन्दी आदि भाषाओं में नहीं आए। अनेक हिन्दी धातुएँ सो, खा, रो, पी, मर, कर, जी, दे, आदि हिन्दी की अपनी धातुएँ हैं या उनके पूर्व रूप संस्कृत के साथ बोली जाने वाली अन्य जनपदीय भाषाओं में प्राप्त थे।" जब विद्वान इस सत्य को न मान कर दूसरी बात की जिद ठाने रहते हैं तो डा० शर्मा कहते हैं—"हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की सम्पत्ति को अस्वीकार करके अनेक भाषा शास्त्री इन भाषाओं को दिवालिया घोषित करते हैं। उनका दावा है कि इन भाषाओं में जो कुछ महत्वपूर्ण है वह संस्कृत की देन है और भविष्य में भी उन्हें महान बनाने का एक ही ढंग है कि उन्हें अधिकाधिक संस्कृत गर्भित किया जाए।"

भगवान सिंह ने इस बात को अपनी पुस्तक 'आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता' में बहुत साफ शब्दों में रखा है। उन्होंने लिखा है—"क्लासिकी भाषाओं को अधिक महत्व देने का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि सामान्यतः यह मान लिया गया कि शेष भाषाएँ इन क्लासिकी भाषाओं—ग्रीक, लातिन, संस्कृत आदि—से निकली हैं और इनमें पाए जाने वाले शब्द व रूप अपने क्लासिकी प्रतिरूपों के अपदूषण से उत्पन्न हुए हैं जब कि वास्तविकता यह थी कि जिन बोलियों को प्रधानता मिली और वे अपने क्लासिकी सार तक पहुँचीं, वे अपने उत्थान से पूर्व तक अपने आस पास की दर्जनों बोलियों में से एक थीं और उनसे किसी भी दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं थीं। सबसे बड़ी बात यह कि ये स्वयं अपनी बोलियों के कृत्रिमीकरण से उत्पन्न हुई थीं न कि बोलियाँ इनके ह्रास से।"

संस्कृत एक निस्संतान भाषा है। इसने किसी भी भाषा को जन्म नहीं दिया है। इस प्रकृति की कोई भी भाषा अन्य भाषाओं को जन्म नहीं दे सकती थी। ऐसी भाषा दूसरी भाषाओं को खा तो सकती थी परन्तु किसी को जन्म नहीं दे सकती थी। डा० सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण' ने अपनी पुस्तक 'आर्य भाषाओं के विकास क्रम में अपभ्रंश तथा अन्य निबन्ध' में लिखा है कि "व्याकरण के बँधन में बँधी हुई संस्कृत भाषा अजर अमर हो गई किन्तु उसका वंश नहीं चला।" सही बात है, जिस भाषा का वंश चला है वह प्राकृत भाषा है। वह प्राकृत भिन्न भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में भिन्न भिन्न रूपों में फैल रही है।

असल में भाषाओं का यह प्राकृत नाम भी भ्रामक है। 'प्राकृत' शब्द 'संस्कृत' की तुलना में प्रयोग होता है । इस तुलना में यह मान लिया जाता है कि जैसे संस्कृत एक भाषा है वैसे ही प्राकृत भी एक भाषा है। यह ठीक है कि जिस क्षेत्र से संस्कृत निकली थी उस क्षेत्र में उसकी विरोधी लोक भाषा प्राकृत ही रही थी, परन्तु उस संस्कृत तथा उस प्राकृत दोनों के भौगोलिक क्षेत्र से निकल कर नए क्षेत्रों की भाषाएँ संस्कृत और संस्कृत क्षेत्र की प्राकृत दोनों से ही दूर की भाषाएँ थीं । यहाँ तक कि वे भाषाएँ एक दूसरी से अलग और एक दूसरी के लिए प्राकृत थीं । यह बात सच होनी चाहिए कि वे अपने क्षेत्रों में प्राकृत ही रही हैं परन्तु उनके आपसी भेद को जाने बिना उन सब को संस्कृत से तुलना वाली प्राकृत नाम भी दे दिया गया है । प्राकृतों का सामूहिक नाम 'प्राकृत' रख दिया गया है । सीधी सी बात है, संस्कृत एक ही है पर प्राकृत पचास भी हो सकी होंगी ।

संस्कृत और प्राकृत में एक समानता इन दोनों शब्दों में 'कृत' की मौजूदगी है । यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों शब्दों में पहला 'कृत' कौन सा है । एक में 'सं' और दूसरे में 'प्रा' उपसर्ग जोड़ा गया है । दोनों में विद्यमान 'कृत' के कारण इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये शब्द समकालीन हो सकते हैं। संस्कृत और प्राकृत एक दूसरे की तुलना में रचे गए शब्द हैं। यदि संस्कृत संस्कार की हुई भाषा है तो प्राकृत में भी 'कृत' का कुछ न कुछ अवश्य हुआ है।

संस्कृत सन्तान पैदा तब करती जब यह लोगों से सम्पर्क बना कर रखती। संस्कृत को अपने घमंड में किसी की बात सुननी नहीं थी, इसे केवल अपनी श्रेष्ठता का राग आलाप करना था। अपनी श्रेष्ठता की सिद्धि के लिए इसे अन्य भाषाओं से बच कर रहना था। डाक्टर सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण' ने अपनी इसी पुस्तक में लिखा है— ''संस्कृत साहित्य की रक्षा के लिए प्राचीन युग में जो युक्तियाँ काम में लाई गईं वे सभ्य संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। श्रुति की रक्षा के लिए पद पाठ, क्रम पाठ, जटा पाठ आदि कृत्रिम उपायों का सहारा लिया गया । भाव गरिमा की रक्षा सूत्र शैली से की गई।''

श्री देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'लोकायत' में इस बारे में थिबो के विचार दिए हैं । ब्राह्मण दार्शनिक अपनी बात को अपने तक और अपने वर्ग तक सीमित रखना चाहते थे । संस्कृत और संस्कृत में सूत्र शैली और सूत्रों में भी 'ब्रह्म सूत्र' इसी बात के परिचायक हैं । सूत्रों पर भाष्य करने की तभी आवश्यकता पड़ती थी जब उसे स्वयं ब्राह्मण भी न समझ पाते हों । 'ब्रह्म सूत्र' के बारे में थिबो के ये विचार दिए गए हैं—''इनका एक भी सूत्र ऐसा नहीं है जो टीका के बिना समझ में आ सके । इनमें विभिन्न स्थानों पर अत्यन्त आवश्यक शब्द भी नहीं हैं । उदाहरण के

लिए, ज्यादातर वाक्यों में कर्त्ता और विधेय वाची शब्दों को छोड़ ही दिया गया है। और जब कोई ऐसा सूत्र आ जाता है जिसके विन्यास में कोई कमी नहीं है तो वाक्य विन्यास ऐसा अस्पष्ट और दुर्बोध होता है कि भाष्य की सहायता के बिना हमें यह भी पता नहीं पाता कि सूत्र में किस विषय का उल्लेख हो रहा है।''

संस्कृत की रक्षा इस रूप में भी की गई है कि यदि शूद्र इसे पढ़ ले तो उसका शरीर टुकड़े टुकड़ें कर दिया जाए। भला ऐसी भाषा की भी कोई सन्तान हो सकती थी ! विद्वानों की यह बिलकुल बेतुकी बात है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं की माँ संस्कृत है। मैंने अपने गाँव में ऐसी मादा पशु देखी हैं जो अपने बच्चों को जन्म दे कर उन्हें खा जाती थीं। गाँव में वे कुतिएँ दूसरी थीं जिनके वंश फलते थे। बाबू श्याम सुन्दर दास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में इसे इस प्रकार रखा है—''वेदों की भाषा कुछ कुछ व्यवस्थित होने पर भी उतनी स्थिर और अपरिवर्तनशील न थी जितनी उसकी कन्या संस्कृत पूर्वोक्त कारणों के अनुसार बन गई। अपनी योग्यता से उसने अमर वाणी का पद तो पाया पर आगे कोई हक न होने के कारण उसकी वह अमरता एक प्रकार का भार बन गई। उधर उसकी दूसरी बहिन जो रानी न बन कर प्रजा पक्ष के हित चिन्तन में निरत थी, जो केवल आर्यो के अवरोध में न रह कर अन्य अनार्य रमणियों से भी स्वतन्त्रतापूर्वक मिलती जुलती थी, सन्तानवती हुई। उसका वंश बराबर चलता आ रहा है। संतानवती होने के कारण उसने अपनी माता से समय समय पर जो सम्पत्ति प्राप्त की वह निःसन्तान संस्कृत को न मिल सकी।''

डा० राम विलास शर्मा ने संस्कृत के साथ साथ प्राकृत की बात भी कही है। उनके अनुसार, जैसे हिन्दी संस्कृत से नहीं निकली है, वैसे ही यह प्राकृत से भी नहीं निकली है। इसके लिए उन्होंने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की नसैनी छोड़ देने को कहा है। उन्होंने बताया है कि प्राकृतों को भी आधुनिक भाषाओं की माता न माना जाए। डा० शर्मा ने इसका कारण देते हुए कहा है कि संस्कृत-प्राकृत का मुख्य भेद ध्वनि संबंधी है जबकि संस्कृत और आधुनिक भाषाओं का भेद ध्वनि के अलावा रूप गठन और मूल शब्द भंडार से सम्बन्धित है। उनके मत में, संस्कृत से भिन्न प्राकृतें जन साधारण की स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं थीं क्योंकि प्राकृतों की संस्कृत से भिन्न अपनी व्याकरण व्यवस्था और अपना मूल शब्द भंडार नहीं था। वे इसे यह कह कर अधिक स्पष्ट कर देते हैं कि यह कहना ज्यादा सही है कि प्राकृत और अपभ्रंश में हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं के कुछ तत्व आ गए हैं: यह कहना गलत है कि प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। उन्होंने माना है कि ''खड़ी बोली, ब्रज, अवधी आदि कम से कम उतनी पुरानी भाषाएँ हैं जितने पुराने शूरसेन, कोसल आदि जनपद हैं। दसवीं, ग्यारहवीं या इसके बाद की शताब्दियों में इन

भाषाओं का निर्माण नहीं हुआ। तुर्क या मुगल शासन में इनका व्यवहार साहित्य में होने लगा तो यह उनका आदिकाल या अभ्युदय काल नहीं हो जाता है।''

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने यह ठीक कहा है कि खड़ी बोली वाली हिन्दी का प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरणों से संबंध नहीं बनता है। उन्होंने खड़ी बोली के आधार को संस्कृत से मिलान करके अधिक देखा है। वास्तव में खड़ी बोली के प्राकृत या अपभ्रंश से निकलने की बात सोचना ऐसा है जैसे ब्रज भाषा से बंगाली या राजस्थानी से मैथिली के निकलने की बात है। भला जब खड़ी बोली ब्रज भाषा से निकली हुई भी नहीं मानी जानी चाहिए, फिर यह अपने से पाँच पाँच सौ मील दूरी की राज भाषाओं या साहित्यिक भाषाओं से निकली हुई कैसे मानी जा सकती है? खड़ी बोली प्राकृत या अपभ्रंश से निकली हुई मानी जा सकती थी यदि किसी ऐसी ऐतिहासिक घटना का पता चलता कि प्राकृत और अपभ्रंश देशों की जनता, वहाँ के शासक नहीं, खड़ी बोली क्षेत्र में आ कर एक साथ बस गई थी। साथ ही, यह सच है कि सारी आधुनिक भारतीय भाषाएँ संस्कृत से अपमानित रही हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं निकाला जा सकता कि सारी आधुनिक भारतीय भाषाएँ संस्कृत से अपने अपने स्थान लेने में आपस में किसी एक व्याकरण के अधीन रही हैं।

जो हमारी मजबूरी है वह हमारा आधार नहीं बन जाना चाहिए। वास्तव में, किसी जाति को उसके राज्य द्वारा, किसी भाषा को उसके साहित्य के द्वारा तथा किसी विश्वास को उसके धर्म के द्वारा जानने की परिपाटी बहुत छोटी है। इसके विपरीत, हम यह मानें कि बिना राज्यों के भी जातियाँ रही हैं, बिना लिखित और साहित्यिक भाषा बने भी भाषाएँ रही हैं, तथा बिना धर्म का रूप अख्तियार किए भी विश्वास अस्तित्व में रहे हैं। हमें यह युक्ति चलानी चाहिए कि यदि कोई जाति अस्तित्व में है तो कभी उसका राज्य भी रहा होगा, उसकी कोई लोक रंजक भाषा भी होगी और उसका कोई मत भी होता होगा। जो कुछ हमारे पास है हमें उसी से अनुमान करके आगे बढ़ना चाहिए। यह तरीका ठीक नहीं है कि किसी भाषा का साहित्य न मिलने पर उस भाषा के अस्तित्व को नकार दिया जाए या किसी अन्य ज्ञात भाषा के इतिहास से उसका इतिहास जोड़ दिया जाए।

6

जब हिन्दी का संस्कृत से संबंध तय किया जा रहा है, इसमें पाली, प्राकृत और अपभ्रंश की चर्चा होनी स्वाभाविक थी। पाली और प्राकृत की बात हम कर

चुके हैं, अब हम अपभ्रंश पर आ सकते हैं। इस कार्य के लिए हम एक विशेष पुस्तक पर निर्भर रह सकते हैं। यह पुस्तक डा० नाम वर सिंह की 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' है। अपभ्रंश की यात्रा के बारे में डा० नाम वर सिंह ने लिखा है—"जो अपभ्रंश शब्द ईसा से दो शताब्दी पूर्व अपाणिनीय अपशब्द के लिए प्रयुक्त होता था वही ईसा की छठी शताब्दी तक आते आते एक साहित्यिक भाषा की संज्ञा बन गया।" असल में हुआ यह था कि अपभ्रंश एक भाषा विशेष के साथ साथ भाषा समूहों को भी कहा गया है। जब अपभ्रंश एक भाषा विशेष है तब वह एक विशेष बोली से निकली हुई भाषा है लेकिन जब अपभ्रंश एक भाषा समूह है तब वह अनेक बोलियों की बात है। हमें भाषा वैज्ञानिक बताते हैं कि अपभ्रंश से पहले प्राकृत को 'देसी' कहने की प्रथा थी। प्राकृत से भी पहले पाली को 'देश भाषा' कहा गया बताया जाता है। किसी समय में वैदिक छान्दम की तुलना में संस्कृत को भी 'भाषा' कहा गया है।

यह सत्य है कि अपभ्रंश के साथ भी वही हुआ है जो पाली के साथ हो चुका था। यह भाषा महाकवि स्वयंभू की 'गामेल्ल भास' से आरम्भ हो कर डा० नाम वर सिंह के अनुसार ग्यारहवीं शताब्दी के वैयाकरण पुरुषोत्तम की शिष्ट लोगों द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा बन गई थी। डा० नाम वर सिंह ने 'प्राकृत पैंगलम' नाम के ग्रंथ के टीका कार रविकर का पिशेल के माध्यम से एक उदाहरण दिया है। वह इस प्रकार है—"अपभ्रंश के दो प्रकार हैं—एक तो वह अपभ्रंश जो प्राकृत से उत्पन्न हुई है और जो शब्द रचना तथा रूप रचना में प्राकृत की लीक से नहीं हटती, दूसरी अपभ्रंश वह है जो 'देश भाषा' है। आगे इस क्रम में ब्लाख का कथन रखा गया है कि "अपने आरम्भिक रूप में अपभ्रंश एक क्षेत्र की वास्तविक देश भाषा से ही उत्पन्न हुई थी किन्तु शीघ्र ही प्राकृत से अत्यधिक प्रभावित हो गई और काल क्रम से उसका एक परिनिष्ठित रूप स्थिर हो गया।" यहाँ दूसरे विद्वानों के मत भी रखे गए हैं जो अपभ्रंश को इसलिए देश भाषा नहीं मानना चाहते क्योंकि अभी तक अपभ्रंश का कोई गद्य ग्रंथ नहीं मिला है।

कई विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अपभ्रंश का मूल स्रोत पुरानी गुजराती भाषा रहा है। कुछ विद्वानों ने माना है कि नागर अपभ्रंश महाराष्ट्री और शौरसेनी पर प्रतिष्ठित है। इस प्रकार के विभिन्न मतों के समाधान में डा० नाम वर सिंह ने कहा है—"अपनी पूर्ववर्ती भाषा से प्रत्येक भाषा का प्रायः वही संबंध होता है, कुछ दूर तक तो वह पूर्ववर्ती भाषा पर ही आधारित होती है परन्तु भाषा विकास के अपने नियमों के अनुसार वह पूर्ववर्ती भाषा का विकसित अथवा परिष्कृत

और परिवर्तित रूप भी होती है । इस प्रकार, प्रत्येक भाषा अपनी प्रकृति से कुछ विशिष्ट और विभिन्न हो जाती है ।" उन्होंने अपभ्रंश भाषा के एक छोटे से क्षेत्र की छोटी सी जाति की बोली से विकसित हो कर समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा बनने के इतिहास को बहुत मनोरंजक रूप में रखा है । इस संदर्भ में उन्होंने अपभ्रंश के उत्थान का ऐतिहासिक कारण खोजना चाहा है कि पश्चिमी भारत की बोली को संपूर्ण उत्तर भारत की साहित्यक भाषा होने का गौरव किस प्रकार प्राप्त हुआ था ।

असल में यह भी सच नहीं है कि हिन्दी अपभ्रंश में से निकली है । डा० नाम वर सिंह की पुस्तक का शीर्षक 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' बिलकुल सही है लेकिन इस पुस्तक में अन्दर अध्यायों के नाम ठीक नहीं हैं । दूसरे अध्याय को 'परवर्ती अपभ्रंश और उसमें हिन्दी के बीज' तथा तीसरे अध्याय को 'अपभ्रंश से हिन्दी का उद्भव और विकास' नाम दिया गया है । इन दोनों अध्यायों के शीर्षक पुस्तक के मूल शीर्षक से भिन्न दिशा में चलने लगते हैं ।

इस संबंध में डा० शिति कंठ मिश्र ने अपनी पुस्तक 'खड़ी बोली का आंदोलन' में महत्वपूर्ण बातें लिखी हैं । वे लिखते हैं—"यह बात भाषा क्रम विकास के बिलकुल विरुद्ध है कि चरण भाषा से ब्रज भाषा और ब्रज भाषा से खड़ी बोली का विकास हुआ । पुरानी पुस्तकों में हिन्दी के जो भिन्न भिन्न रूप दिखाई पड़ते हैं वे इस विचार के सर्वथा विपरीत प्रमाण हैं । राजस्थानी के प्रथम कवि चन्द और खुसरो के कार्य काल में केवल 64-65 वर्ष का छोटा सा अन्तर है किन्तु खुसरो और चन्द की भाषा में इतना भारी अंतर है कि कदापि खड़ी बोली राजस्थानी भाषा से विकसित नहीं मानी जा सकती ।" इस अन्तर को ब्रज भाषा के संबंध से अधिक स्पष्ट करते हुए डा० शिति कंठ मिश्र आगे लिखते हैं—"साथ ही यह भी नहीं जान पड़ता कि खड़ी बोली ब्रज भाषा से ही सीधी निकली है क्योंकि यदि ऐसा होता तो ब्रज भाषा के केन्द्र में जन साधारण की भाषा आज खड़ी बोली होती । परन्तु खड़ी बोली का प्रचार केवल बोली की भाँति दूसरे ही क्षेत्र में है ।"

हो सकता है इस संबंध में डा० नाम वर सिंह ने जो तथ्य और आँकड़े रखे हैं वे बिलकुल सही हों, बल्कि वे सही ही होने चाहिए, अंतर केवल उन आँकड़ों की व्याख्या का है । उन आँकड़ों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, जैसा डा० नाम वर सिंह ने प्रयत्न भी किया है कि अपभ्रंश परवर्ती अपभ्रंश के रूप में हिन्दी को जन्म दे गई है । लेकिन उन आँकड़ों का यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि हिन्दी अपना स्थान अपभ्रंश से छीनने लगी थी । फिर यहाँ हिन्दी से मतलब हिन्दी समूह की सभी बोलियों से है । अवधी ने अपने क्षेत्र में तथा ब्रज ने अपने क्षेत्र में अपभ्रंश को हटाना शुरू कर दिया था । कहने का मतलब यह है कि जब मेरठ और दिल्ली के क्षेत्र में अपभ्रंश राज भाषा और साहित्यिक भाषा रही थी तब इस क्षेत्र

में खड़ी बोली जनता के बीच की आपसी भाषा थी। मेरठ और दिल्ली के क्षेत्रों में अपभ्रंश जन भाषा नहीं थी। यह सोच लेना एकदम निराधार है कि जब कोई एक भाषा राज भाषा या साहित्यिक भाषा बन जाती है तो वह अपने आप जन भाषा भी बन जाती है। कम से कम खड़ी बोली पर ऐसा आक्रमण स्वयं ब्रज भाषा भी नहीं कर सकी है जो खड़ी बोली क्षेत्र के साथ बहुत सटी हुई रही है तथा साहित्य जगत में कई सौ वर्षों तक एक छत्र साम्राज्ञी बन कर रही है। इसलिए यह मानना उचित रहेगा कि जैसे मेरठ और दिल्ली की खड़ी बोली वाली हिन्दी संस्कृत, पाली और प्राकृत में किसी में से नहीं निकली है वैसे ही यह अपभ्रंश में से भी नहीं निकली है। यदि यह ऐसे अन्य भाषाओं में से निकलती रहती तो अब तक इसके कितने ही पुनर्जन्म हो गए होते। इस क्षेत्र में अपनी कलम चलाने वाले हर विद्वान को इस उन्माद या बहाव या परंपरा से बच निकलना चाहिए कि हिन्दी हिन्दी के सिवा किसी अन्य भाषा से निकली है। हाँ, यह कहने का हर किसी को अधिकार है कि हिन्दी इन सब भाषाओं से प्रभावित भाषा रही है। प्राचीन काल में जबकि शिक्षा प्राप्त करनी बहुत महंगी थी, ऐसा नहीं समझा जा सकता कि किसी भाषा ने राज भाषा या साहित्यिक भाषा का पद प्राप्त करके किसी जन बोली को मिटा दिया हो। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि जब शूद्र और स्त्रियों को संस्कृत सीखने की मनाही थी तो यह मात्र संस्कृत सीखने की मनाही नहीं थी बल्कि इसका अर्थ यह निकला था कि उन्हें गैर संस्कृत भाषाएँ सीखने की भी मनाही थी। ऐसा नहीं था कि शूद्र और स्त्रियाँ संस्कृत नहीं पढ़ सकते थे, परन्तु, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश पढ़ सकते थे। उन्हें देव नागरी वर्ण माला तक नहीं सिखाई जाती थी। जब उन्हें देवताओं की देव नागरी लिपि नहीं सिखाई जा सकती थी तो हिन्दी क्षेत्र के शूद्रों और स्त्रियों ने किस लिपि में संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और लिखित रूप में स्वयं हिन्दी सीखी होगी, यह इतिहास पर प्रश्न चिह्न लग कर रह जाता है। मेरठ क्षेत्र के कुछ साधुओं ने नई नई लिपियाँ बनाने के कुछ प्रयत्न किए थे पर उन लिपियों का शूद्रों और स्त्रियों की सामान्य शिक्षा और समस्या से कोई मेल नहीं बैठता है।

आज के संबंध में ऐसा अवश्य कहा जा सकता है कि एक भाषा दूसरी बोलियों को आत्मसात कर सकती है। अब भारत में लोक तंत्र है। लोक तंत्र में सभी लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार मिला है। इसके कारण, जबकि शूद्रों और स्त्रियों को अपनी अपनी बोलियों की कुमाउँनी, अवधी, ब्रज या भोजपुरी भी पढ़ने लिखने के अवसर प्राप्त नहीं थे अब उन बोलियों से पहले उन्हें खड़ी बोली वाली हिन्दी सिखाई जा रही है।। इसका भारत में वैसा प्रभाव पड़ सकता है जैसा इस देश ने शूद्रों और स्त्रियों पर रोक के कारण पहले कभी नहीं देखा था। यह हमारे लिये नई बात होगी। राजनीतिक परिवर्तनों की बात से हमारा अधिक सरोकार नहीं, अब कुल मिला कर अपना देश है, अपनी सरकार है, अपना प्रशासन है, अपनी जनता है। आपस में लड़ते भिड़ते भी हमें एक ही रहना है। कोई गैर भारतीय भाषा हिन्दुस्तान पर नहीं थोपी

जा सकती। सरकार के द्वारा शूद्रों और स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार निरन्तर बढ़ाया जा रहा है।

डा० नाम वर सिंह ने भाषा के विकास संबंधी नियमों की एक बात बहुत अच्छी कही है। उन्होंने लिखा है—"समाज के स्थिर होते हुए भी भाषा बदल सकती है और समाज के जल्द जल्द बदलते रहने पर भी भाषा अपेक्षाकृत स्थिर रह सकती है। सामाजिक परिवर्तन धीरे धीरे भाषा को प्रभावित करते चलते हैं लेकिन सामाजिक क्रान्ति भाषा में सहसा प्रगति नहीं ला सकती। परंपरा निर्वाह संभवतः भाषा में सबसे अधिक दिखाई पड़ता है।" मुझे भगवान सिंह ने बताया कि यह विचार मूलतः स्टालिन का है।

हम खड़ी बोली क्षेत्र की हिन्दी को ले कर इस तर्क से किस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं? क्या हिन्दी भाषा धीरे धीरे बदली है? यदि यह धीरे धीरे बदली है तो फिर यह किसी अन्य भाषा से निकली हुई नहीं मानी जानी चाहिए। जिस प्रकार डा० नाम वर सिंह ने माना है कि प्राकृत भाषाओं में अपभ्रंश की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करना अवैज्ञानिक नहीं है, वैसा ही तर्क हिन्दी समूह की भाषाओं में खड़ी बोली वाली हिन्दी के बारे में दिया जा सकता है कि यह अपभ्रंश से स्वतंत्र तथा अवधी और ब्रज से भी स्वतंत्र एक अलग भाषा है। उन्होंने जो यह बात कही है कि भारतीय समाज के ग्राम संगठन के मूल ढाँचे में पिछले दो हजार वर्षों तक किसी प्रकार के मौलिक परिवर्तन के बिना दीखते भी उत्तर भारत की सोलहवीं शती की भाषा में पहली शती की भाषा से मौलिक अन्तर है, वह ठीक इसी ऐतिहासिक क्रम में नहीं रखा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए उन्होंने कहा है—"तुलसी दास की भाषा वाल्मीकि की भाषा से बहुत भिन्न है, शब्दकोष में थोड़ा बहुत साम्य भले ही मिल जाए लेकिन दोनों के वाक्य गठन में महान अंतर है, दोनों के व्याकरण दो हैं। एक हिन्दी और दूसरी संस्कृत।"

डा० नाम वर सिंह की इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इनमें एक हिन्दी है और दूसरी संस्कृत है, लेकिन मूल बात यह है कि हिन्दी और संस्कृत की तुलना क्यों की जा रही है? यदि किसी ठीक दिशा में पहुँचना है तो हिन्दी और संस्कृत की ऐसी तुलना नहीं की जानी चाहिए।

यह बात दूसरी है कि इस देश में, विशेष रूप से उत्तर भारत में, कब कौन सी भाषा राज भाषा या साहित्यिक भाषा रही है। इससे किसी जाति विशेष या क्षेत्र विशेष के आगे बढ़ने का पता चलता है। लेकिन जो तुलना हिन्दी और संस्कृत में की जाती है, वह भाषाओं के संबंध में भेड़ों की बकरियों से और बकरियों की भेड़ों से तुलना करने के बराबर है। भेड़ों की तुलना भेड़ों से की जानी चाहिए और बकरियों

की तुलना बकरियों से की जानी चाहिए। संस्कृत की तुलना संस्कृत से की जानी चाहिए तथा हिन्दी की तुलना हिन्दी से की जानी चाहिए। पाणिनि के बाद वाल्मीकि रामायण लिखी गई होगी। विद्वानों ने उसके रचना काल का समय निर्धारित कर रखा है। वह संस्कृत भाषा में लिखी हुई है। आज ईसा की हमारी बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भी संस्कृत भाषा में काव्य ग्रन्थों की रचना की जा रही है। तब से अब तक लगभग हर शती में संस्कृत में काव्य ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। उन संस्कृत ग्रन्थों की भाषा की आपस में तुलना की जानी चाहिए। तब पता चल पाएगा कि वास्तव में पिछले ढाई हजार वर्षों में संस्कृत भाषा में कितना परिवर्तन हुआ है। इसके विपरीत, तुलसी दास की भाषा अवधी रही है। अब ऐसा नहीं है कि वाल्मीकि रामायण लिखे जाने के समय अवध प्रान्त की जनता संस्कृत के माध्यम से अपने ढोर डंगर पालती थी और अपनी खेती वाड़ी का काम करती थी। तब भी अवध प्रान्त की भाषा संस्कृत से भिन्न रही होगी। वाल्मीकि रामायण के समय अवध प्रान्त की जो देशी भाषा रही होगी उसी से तुलसी दास की राम चरित मानस में प्रयुक्त अवधी भाषा से तुलना की जानी चाहिए। आज हमारे पास उस समय की अवधी भाषा सुरक्षित नहीं है। लेकिन इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि तब यह अन्तर संस्कृत और अवधी की दो भाषाओं का नहीं रह जाएगा जिनके वाक्य गठन और व्याकरण भिन्न हैं। फिर नई अवधी और पुरानी अवधी का अंतर किसी भी दशा में दो भाषाओं का अन्तर नहीं रह जाएगा। मुझे भगवान सिंह ने बताया कि भाषाओं का अन्तर भूगोल में ज्यादा होता है, इतिहास में कम। एक ही क्षेत्र के लोग पाँच सौ वर्ष में धरती और आसमान के अन्तर की भाषा नहीं बोलने लगते हैं। ऐसा ही खड़ी बोली वाली हिन्दी के बारे में सच है।

7

अधिक स्पष्टता के लिए यह प्रश्न पुन: पूछा जा सकता है कि खड़ी बोली का पाली, प्राकृत और अपभ्रंश से क्या सम्बन्ध बनता है। इसका एक सही उत्तर दिया जा सकता है कि उस समय भी खड़ी बोली का अलग और स्वतन्त्र अस्तित्व रहा है। कहने का मतलब यह है कि जैसे खड़ी बोली संस्कृत में से नहीं निकली है, वैसे ही यह पाली, प्राकृत और अपभ्रंश में भी किसी में से नहीं निकली है।

ऊपर दिया गया यह निष्कर्ष समझ में आ सकता है, यदि हम यह जान लें कि पाली, प्राकृत और अपभ्रंश क्या है। वास्तव में, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के संबंध में केवल यह बात सच होनी चाहिए कि उनके रूपों में किन्हीं क्षेत्र विशेषों की

बोलियाँ अपने अपने समय में राज भाषा, साहित्यिक भाषा या धार्मिक भाषा का रूप अख्तियार कर गई थीं। उस क्षेत्र के निवासी या उनके प्रति श्रद्धा या निष्ठा रखने वाले लोग देश के केन्द्र पर या अधिकांश भाग पर अपना प्रभुत्व जमा चुके थे। जब तक या जहाँ जहाँ वे लोग अपना प्रभुत्व कायम रख सके तब तक और वहाँ ये भाषाएँ चलती रही थीं। प्रभुत्व समाप्त होने पर ये भाषाएँ भी चलन से हट गई थीं। चूँकि, पाली और प्राकृत में क्रमश: बौद्ध और जैन मतों का धार्मिक साहित्य लिखा गया था, इस लिए उनकी ऐतिहासिक महत्ता अधिक हो गई है। बौद्ध भिक्षु आज भी पाली का अध्ययन करते हैं तथा जैन श्रमणों को प्राकृत पढ़नी पड़ती है।

हम फिर यह कह सकते हैं कि पाली, प्राकृत और अपभ्रंश संपर्क भाषा या साहित्यिक भाषाएँ रही थीं। इनके महत्व के सामने अन्य जन भाषाएँ कुछ समय के लिए उपेक्षित रह गई थीं। इनकी प्रमुख भूमिका विभिन्न बोली क्षेत्रों के बीच सेतु के रूप में ही थी। कहा जाए कि ये भी शिक्षित व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त केवल ऊपरी भाषाएँ थीं। अपने घरों में लोग अपनी अपनी भाषाएँ बोलते रहे होंगे।

पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के विद्यार्थी बताते हैं कि ये भाषाएँ बहुत कृत्रिम हो गई थीं। यह बात सच हो सकती है कि अपने आरम्भ काल में ये भाषाएँ सरल रही होंगी। ये भाषाएँ किन्हीं बोलियों से निकली होंगी, इसलिए उन उन क्षेत्र वासियों के लिए बिलकुल सरल रही होंगी। ये उन्हीं की भाषाएँ थीं। लेकिन, जब ये भाषाएँ राज भाषा के रूप में, भारत देश के एक बड़े राष्ट्र होने के कारण, अन्य बोलियों के क्षेत्र में गई होंगी तो उन बोलियों के लोगों को कठिन लगी होंगी। उदाहरण के रूप में यदि पाली भाषा प्राचीन कोसल जनपद से चली होगी तो यह खड़ी बोली के क्षेत्र वासियों के लिए सहज भाषा नहीं रही होगी। यह उन्हें परिश्रम से सीखनी पड़ती होगी। जब आम आदमी की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं रहा होगा, खड़ी बोली क्षेत्र के कुछ भिक्षु ही पाली सीख पाते होंगे। खड़ी बोली क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए सीधे पाली नहीं बोली जाती होगी बल्कि उसका खड़ी बोली के प्राचीन रूप में अनुवाद करके समझाया जाता होगा। यह सोचना एकदम गलत है कि संस्कृत के समय में खड़ी बोली क्षेत्र के लोग अपने घरों में संस्कृत बोलते थे, पाली के समय में पाली, प्राकृत के समय में प्राकृत, अपभ्रंश के समय में अपभ्रंश, फ़ारसी के समय में फ़ारसी, ब्रज के समय में ब्रज और अंग्रेजी के समय में अंग्रेजी। इतना जरूर है कि हर समय में खड़ी बोली क्षेत्र के कुछ विद्वान या उच्च पदाधिकारी संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी, ब्रज सीखते रहे होंगे जैसे आज अंग्रेजी सीखते हैं। सामान्य जनता अपने दैनिक जीवन में खेतों में और गाँवों में केवल खड़ी बोली बोलती थी। वह अन्य भाषाओं से केवल कुछ नई शब्दावली ग्रहण करती थी।

पाली, प्राकृत और अपभ्रंश क्यों मर गईं? इसका एक उत्तर तो यही है कि उनको मिलने वाले राज्य संरक्षण खत्म हो गए थे। जैसे राज बदलते गए या क्षेत्र बँटते

गए, वैसे ही राज भाषा में परिवर्तन होता गया। लेकिन इसका एक दूसरा कारण यह भी है कि ये भाषाएँ कृत्रिम होती चली गई थीं। इन भाषाओं का विकास जिस ग़ैर जिम्मेदार ढंग से हुआ है उनके कारण ये उन लोगों से भी दूर जा पड़ीं जो इनके मूल स्रोत थे। यदि पाली कोसल जनपद से निकली थी तो राज भाषा बना कर जो पाली कोसल जनपद के लोगों को वापिस दी गई उसे वे अपना नहीं पाए होंगे। फिर पाली भाषा कोसल वालों के हाथ में न रह कर भिक्षुओं, राज कर्मचारियों और साहित्य कारों के हाथ में आ गई होगी। यह हम जानते ही हैं कि अधिसंख्य बौद्ध भिक्षु और बौद्ध दार्शनिक ब्राह्मण रहे थे। वे बौद्ध साहित्य को संस्कृत और पाली की दोनों भाषाओं में लिखते थे। उन्होंने बजाय संस्कृत को नीचे जन भाषा तक लाने के उलटे पाली को ही जन भाषा से काट कर संस्कृत से मिला दिया होगा। अब पाली अपने मूल से कट कर किसी भी क्षेत्र की जन भाषा न रह गई होगी। जीवित रहने के लिए उसके साथ भिक्षुओं की धार्मिक पवित्रता जुड़ गई थी।

यह बिल्कुल सम्भव है कि पाली भाषियों से पाली ले कर उन्हें इस प्रकार की पाली लौटाई गई हो कि वे उसे पहचान न सके हों। प्राचीन पाली के लिए हम आधुनिक हिन्दी भाषा का उदाहरण ले सकते हैं। आधुनिक हिन्दी के पीछे तीन भाषा वाले—अंग्रेजी, फारसी और संस्कृत—के लोग इस तरह पड़े हुए हैं कि यदि हिन्दी वाले अपना हाथ तनिक ढीला छोड़ दें तो उनके हाथ से हिन्दी की आत्मा चिड़िया की तरह फुर से उड़ जाएगी। हिन्दी के साथ अंग्रेजी वालों की ज्यादती आजकल जग जाहिर है, लेकिन फारसी वालों ने भी हिन्दी की कम हानि नहीं करनी चाही थी।

डा० राम विलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भाषा और समाज' में पद्म सिंह शर्मा के माध्यम से सैयद इंशा का एक वाक्य उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है—"इब्तदाय सिन सबासे ता अवायले,—रीआन और अवायले रीआव से अलल—आन इश्तियाके—मिलई ताक तकबील उतबए—आलिये न बहद्द था कि सिलक—तहरीरो—तकरीर में मुन्तजिम हो सके, लिहाजा बेवास्ता ओ तसीला हाजिर हुआ हूँ।" इसमें पद्म सिंह शर्मा ने बताया है कि "क्रिया और कारक के दो एक शब्दों को छोड़ कर हमारी तो समझ में कुछ आया ही नहीं।" बात भी सच है—समझ में कैसे आता? इसे उर्दू वाला भी शायद कोई समझ पाए। इसी प्रकार संस्कृत के कुप्रभाव को रोकने के लिए हिन्दी की 'सरिता' पत्रिका ने हिन्दी भाषियों में लगातार एक जागरूकता पैदा की है।

बाबू श्याम सुन्दर दास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में अयोध्या सिंह उपाध्याय की खड़ी बोली कविता का एक पद्य दिया है। यह पद इस प्रकार है—

रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेंदुबिंबानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ाकलापुत्तली।

शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी—
श्री राधा मृदुहासिनी मृगदृगी माधुर्य्य सन्मूर्ति थी ।

ऐसी कविता को देख कर बाबू श्याम सुन्दर दास ने कहा था कि ऐसी 'खड़ी बोली की कविता एक प्रकार से संस्कृतमयी हो गई है।'' उन्होंने आगे लिखा है— "केवल कोई संयोजक शब्द, कोई विभक्ति या कोई क्रिया जो यहाँ वहाँ मिल जाती है, इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट कर देती है कि यह कविता संस्कृत की नहीं, हिन्दी की है ।''

हिन्दी में उर्दू और संस्कृत के इस कुप्रभाव को रोकने के लिए प्रोफेसर अमर नाथ झा का लेख 'हिन्दी के कुछ भूले हुए शब्द' पढ़ा जा सकता । यह लेख 'हिन्दुस्तानी' में छपा है ।

8

हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में मेरी संस्कृत और द्रविड़ भाषाओं पर काम करने वाले विद्वान भगवान सिंह से व्यक्तिगत बातें हुई हैं। उन्होंने बताया कि यदि आज उर्दू भाषा अपनी लोकप्रियता खो रही है तो यह चिन्ता की बात है परन्तु यह अरबी-फारसी बोझिल उर्दू की स्वाभाविक मौत है। इसे कोई दूसरा मार नहां रहा है बल्कि यह अपने आप मर रही है। उन्होंने इस बात को जोर दे कर कहा कि गरिष्ठ उर्दू को सच में मर जाना चाहिए । जिस भाषा में कोई वाक्य सुनने या पढ़ने पर हर तीसरे शब्द का अर्थ ढूंढ़ने के लिए शब्द कोश की तलाश करनी पड़े उसे सभी व्यक्तियों के लिए अनिवार्य शिक्षा का अंग बना कर ही जिन्दा रखा जा सकता है और यह भी केवल उन लोगों के बीच जिन्हें यह शिक्षा प्राप्त है ।

जब शिक्षा किन्हीं विशद प्रयोजनों से होती है तो उन प्रयोजनों से जुड़े लोगों के बीच उसका एक जनाधार होता है। इसके विपरीत, सीमित प्रयोजनों से दी जाने वाली शिक्षा, प्रयुक्त की जाने वाली भाषा या लिपि अपने सीमित और शेष समाज से विच्छिन्न होने के कारण गूढ़ भाषा, गूढ़ लिपि और गुह्य ज्ञान का रूप लेती चली जाती है और यह गुह्यता उसे चाहे अनचाहे इससे हितबद्ध लोगों के स्वार्थ साधन का माध्यम बना देती है। जब तक जिन भी कारणों से फारसी और फारसी-अरबी बहुल उर्दू अदालतों में प्रचलित थी छोटी नौकरियों के लिए अनिवार्य और उच्च पदों के लिए उपयोगी थी। इसी अरबी लिपि में लिखी यही भाषा तब तक गूढ़ भाषा और गूढ़ लिपि नहीं कही जा सकती थी। अब जब शिक्षा का माध्यम बदल गया है, अरबी लिपि और क्लिष्ट अरबी-फारसी से लदी हुई जबान की मांग उन लोगों की है जो

समझते हैं कि नागरी लिपि में ढलते ही या हिन्दी भाषी बहुजन के लिए सहज बोध गम्य होते ही उनकी कविता की पवित्रता नष्ट हो जाएगी। वे जान बूझ कर इसे गूढ़ (ऐसोटेरिक) बनाए रखना चाहते हैं— एक सशक्त काव्य भाषा को रहस्य भाषा और सीमित संचार की भाषा बनाना चाहते हैं और इस रूप में यह शुभ नहीं है। उन्होंने उर्दू के विकास के बारे में बताया कि यह एक अच्छी शुरुआत थी। उर्दू के जन्म दाता अपनी अपनी जबान और अरबी लिपि से और साथ ही फारसी भाषा से परिचय ले कर आए हुए वे आक्रमण कारी थे जिन्होंने इस देश को ही स्थायी निवास बना लिया था। वे स्थानीय जनता से उसकी भाषा में सम्पर्क कर रहे थे। उनकी लाचारी थी कि वे जिन शब्दों या भावों के लिए स्थानीय भाषा के शब्द नहीं सीख पाए थे उन्हें उनके लिए फारसी या अरबी के शब्दों का प्रयोग करना पड़ता था। अरबी-फारसी से बोझिल अदालती और दरबारी जबान को सीखना इनमें काम करने या इनमें फरियाद ले कर जाने वालों की अपनी लाचारी थी। इसने स्थानीय आबादी में से एक ऐसी जमात तैयार की जो गरिष्ठ अरबी फारसी शब्दों को भी समझ सकती थी।

इससे अब एक ऐसा बड़ा शिक्षित समुदाय तैयार हो गया जिसके बीच यह अरबी-फारसी की शब्दावली वाली हिन्दी भी समझी जा सकती थी। इससे बोलचाल के स्तर पर स्थानीय जनता की भाषा को अपनाने का सिलसिला तो जारी रहा पर साहित्यिक भाषा में उस चरण पर ही ठहराव आ गया जहाँ यह जबान पढ़े लिखे— अदालती मुसाहिबी दायरे में या उर्दू की शिक्षा पाने वालों के बीच समझी जाने लगी। पाँच सात प्रतिशत शिक्षितों के बीच प्रचलित होने के कारण और आम जनता की पहुँच से दूर रहने के कारण इस भाषा को ही सभ्य लोगों की भाषा करार दे दिया गया। इस तरह आम लोगों की छाया से दूर रखने की इस जन विरोधी प्रवृत्ति का एक रूप अरबी बहुल भाषा और वह भी अरबी लिपि में लिखी भाषा का वर्तमान आग्रह है। जब सांस्कृतिक सुरक्षा के नाम पर इस भाषा को इसी रूप में जिलाने और इसको ऐसी लिपि में जिलाने की मांग की जाती है जो केवल स्वल्प और मोहाच्छन्न सुविधा जीवी लोगों द्वारा ही सीखी जा सकती है तो इसके पीछे जन द्रोही आशय को समझना कठिन नहीं रह जाता है।

भगवान सिंह ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा कि जहाँ तक उर्दू सरल है उसे कोई मार नहीं पाएगा। भगवान सिंह का यह विचार बहुत युक्ति संगत लगता है कि उर्दू प्रेमी ही उर्दू के सबसे बड़े शत्रु हैं, उर्दू ने ही उर्दू की जड़ काटी है, उर्दू ने ही उर्दू को मारा है।

भगवान सिंह ने उर्दू के सम्बन्ध में जो बात कही है—उसे ही संस्कृत के संबंध से भी खतरनाक बताया। हिन्दी क्षेत्र के संस्कृत वाले हिन्दी भाषा को पहले से ही जानते हैं लेकिन अब उनके लिए समय आया है कि वे हिन्दी भाषा का सम्मान करना सीखें। हिन्दी का सम्मान करते में उन्हें संस्कृत के शब्दों का मोह त्याग देना चाहिए।

उन्हें हिन्दी केवल इसी रूप में सीखने की जरूरत है जिसमें अधिक से अधिक हिन्दी के शब्दों का प्रयोग हो और जिन भावों, विचारों या वस्तुओं के लिए सरल शब्द मिलते हैं उनके लिए संस्कृत के शब्दों का प्रयोग न किया जाए।

भगवान सिंह ने एक और अच्छी बात हिन्दी भाषा की अभिव्यक्ति की क्षमता के बारे में बताई। उन्होंने कहा कि हिन्दी के सामने संस्कृत एक बौनी सी भाषा लगती है। उन्होंनें बताया कि हिन्दी में कोई शब्द पर्याय वाची नहीं है बल्कि हर शब्द अलग और स्पष्ट है। इसके लिए वे किन्हीं विद्वानों के सामने नत मस्तक नहीं बल्कि उस हिन्दी जनता के बुद्धि चातुर्य के सामने खुशी से वारापार हैं जिसने हिन्दी के शब्द बनाए हैं। उन्होंने बताया कि हिन्दी में उसी स्रोत से सीधे और सहोदरा भाषाओं के माध्यम से आए शब्दों को अपनाने और नई व्यंजनाएँ पैदा करने की क्षमता है जिससे संस्कृत और फारसी ने अपने शब्द प्राप्त किए हैं। उदाहरण के लिए यह हिन्दी संस्कृत खाद्य का प्रयोग करने के अतिरिक्त खाद, खाना (सं०), खाना (क्रि०), खुराक—भोजन की मात्रा, दवा की मात्रा, खान-पान आदि का भी प्रयोग कर सकती है जिनके लिए संस्कृत के उसी धातु से गूढ़ प्रत्यय उपसर्ग लगा कर भी शब्द नही गढ़े जा सकते। हिन्दी संस्कृत की भाँति नीरज, जलज, पंकज जैसे रंगरूटी पर्याय वाची शब्दों के अम्बार खड़े नहीं करती है। इसका हर शब्द एक विशिष्ट पहचान का बना होता है।

भगवान सिंह ने एक अन्य बात बोलियों के उच्चारणों की विशिष्टता की बताई। उन्होंने मुझे बताया कि कोई गैर भोजपुरी क्षेत्र का आदमी भोजपुरी बोले तो एक मिनट में पकड़ा जाएगा। उनके अनुसार, किसी की हिम्मत नहीं है कि बिना भोजपुरी क्षेत्र में बचपन बिताए कोई भोजपुरी का सही उच्चारण कर दे। यह सभी भारतीय बोलियों की विशेषता है।

जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, भगवान सिंह के अनुसार, संस्कृत सहित भारत की सभी भाषाएँ उन बोलियों से विकसित हुई हैं जिनकी प्रकृति वर्तमान तमिल के अधिक निकट रही है। मैं इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना नहीं चाहता। उनसे मेरी विस्तृत चर्चा नहीं हुई। उन्होंने अपनी बात घोष, अघोष, महा प्राण और अल्प प्राण के भाषा वैज्ञानिक आधार पर सिद्ध की थी। लेकिन उनके पक्ष में मेरी कई बातें जाती हैं। एक ऐसी बात मेरे अपने गाँव के नाम की है।

मेरठ जिले में कई गाँवों के नाम 'नंगला' नाम से हैं। मैं इस शब्द का अर्थ जानने के लिए बहुत प्रयत्न शील था। हिन्दी के शब्द कोश कुछ सहायता नहीं कर रहे थे। मुझे इससे मिलता जुलता मेरठ जिले के गाँव के नाम के रूप में एक और प्रचलित शब्द 'नांगल' मिला। यहाँ के लोक साहित्य में 'नांगल' ग्राम का एक सांगी बहुत प्रसिद्ध रहा है। उसकी पुस्तकों पर 'नांगल निवासी' लिखा रहता था। दिल्ली के आस पास के अनेक गाँवों का नाम नांगल या नांगली है। इनका भी अर्थ मेरी समझ में

नहीं आ रहा था। जब मुझे दक्षिण भारत में जा कर मलयालम सीखने का अवसर प्राप्त हुआ, वहाँ 'नंगल' शब्द से परिचय हुआ। पता चला कि यह शब्द तमिल भाषा में भी है। उन भाषाओं में यह शब्द बहुत प्रचलित है। इसके बिना उन द्रविड़ भाषाओं का काम नहीं चल सकता। इसका अर्थ 'हम' होता है। उनमें 'हम' के लिए 'नंगल' के सिवा कोई दूसरा पर्याय वाची शब्द नहीं है।

मेरठ जिले में कोई भी 'नंगला' मात्र नंगला गाँव नहीं होता है। उसके आगे पीछे जरूर कोई शब्द जुड़ा रहता है, जैसे 'हरेरू का नंगला', 'नंगला हरेरू' 'नंगला ताशी', या 'सैनी का नंगला'। मलयालम भाषा में 'नंगल' का उच्चारण कुछ 'नांगल, की तरह होता है। मलयाली लिपि और शुद्ध उच्चारण की दृष्टि से यह शब्द वहाँ 'ञङ्ङल' होता है। भाषा शास्त्री बता सकते हैं कि द्रविड़ भाषाओं के सहारे मेरठ जिले के गाँवों के 'नंगला' नामों के लिए यह सही व्युत्पत्ति है कि नहीं। यदि यह सही व्युत्पत्ति है तो फिर 'नांगल निवासी', नंगला हरेरू' और 'नंगला ताशी' सार्थक शब्द ठहरते हैं। फिर मेरठ में छोटे 'नंगली' ग्राम भी हैं।

जब किसी समारोह में या युद्ध में या अन्य जमात में एक प्रकार के लोग अलग बैठते हैं वे अपने आप 'हम' होते हैं। यदि उनसे पूछा जाए कि वे कौन से 'हम' हैं तो उत्तर में बताया जाएगा—अमुक 'हम' अर्थात 'हरेरू' वाले हम या 'ताशी' वाले हम। फिर मलयालम में शब्दों के बहु वचन बनाने का एक तरीका उनमें 'कल' प्रत्यय जोड़ने का है। उसमें 'रोगी' का बहु वचन 'रोगीकल' होता है। 'नंगल' भी 'नान' का बहु वचन ही है। वहाँ 'कल' को उच्चारण में 'गल' ही बोला जाता है। ध्यान रहे, यहाँ मैं मलयालम लिपि की शुद्धता पर ध्यान नहीं दे रहा हूँ। साथ ही, मुझे यह की पता चला है कि बंगला में 'गुली' से बहु वचन बनता है जो कुछ समान ध्वनि वाला प्रत्यय है।

मुझे बौद्ध साहित्य में भी इस 'नंगल' शब्द का प्रयोग मिला है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक 'मध्य देश' में बौद्ध साहित्य से उद्धरण देते हुए लिखा है—"यह शाक्य कुल से प्रव्रजित श्रमण गौतम इच्छा नंगल के वन खंड में विहार करते हैं।" ऐसा एक अन्य शब्द कजंगल भी है। यह भी स्थान का नाम है। हो सकता है, इसी शब्द साम्य के आधार पर पुराना 'कुरू जांगल' शब्द बना हो। पंजाब का 'भाखड़ा नंगल बाँध' संसार प्रसिद्ध नाम है। पंजाब में ही एक दूसरा नाम 'उमरा नंगल' है। दक्षिण भारत में इसी समानता का एक शहर का नाम वरंगल है। यहाँ से मध्य कालीन भारत में काकतेय राजनैतिक वंश का आरम्भ हुआ बताया गया है।

मेरठ और दिल्ली में 'नंगला' नाम से बने हुए गाँवों का विवरण इस प्रकार है। इसमें यह ध्यान रहे कि यह कोई पूर्ण सर्वेक्षण नहीं हैं बल्कि केवल स्मृति के आधार पर दिया जा रहा है।

क्रम सं०	गाँव का नाम	जिला
1.	बड़ का नंगला	मेरठ
2.	सराय नंगला	,,
3.	नंगला हसनपुर	,,
4.	कुटिया नंगला	,,
5.	शेख नंगला	,,
6.	नंगला ताशी	,,
7.	नंगला हरेरू या हरेरू का नंगला	,,
8.	सैनी का नंगला	,,
9.	गंदू नंगला	,,
	दिल्ली में इनकी स्थिति इस प्रकार है :	
10.	नांगलोई	दिल्ली
11.	नांगल राया	,,
12.	पुरानी नांगल	,,

मुझे मेरे एक हिन्दी अधिकारी मित्र ने मेरे पूछने पर आगरा और एटा जिले में नंगला शब्द से बने हुए कुछ गाँवों के नाम बैठे बैठे बताए। वे नीचे लिखे अनुसार हैं :

क्रम सं०	गाँव का नाम	जिला
1.	बीच का नगला	आगरा
2.	सदा का नगला	,,
3.	करन सिंह का नगला	,,
4.	नगला सिकन्दर	,,
5.	छबीली का नगला	,,
6.	बरी का नगला	,,
7.	महा सींग का नगला	,,
8.	नगला छोकर	एटा
9.	गड़रिया का नगला	,,
10.	बालजीत का नगला	,,
11.	नगला तिकौना	अलीगढ़
12.	नगला प्रियतम	फरुखाबाद

उन्होंने यह भी बताया कि 'नगला' में न के ऊपर बोलते समय अनुनासिक का आभास होता है लेकिन लिखने में यह अनुनासिकता नहीं बरती जाती। उन्होंने अपनी स्मृति से एटा जिले में एक गाँव का नाम 'नगरा' भी बताया।

डा० कैलाश चन्द भाटिया ने अपनी पुस्तक 'शब्द श्री' में एक अध्याय 'स्थान नाम' तथा दूसरा अध्याय 'स्थान नामों की व्युत्पत्ति' का रखा है। किसी भी शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में संस्कृत के विद्वानों ने जो रास्ता अपनाया है वह भाषाओं की आपसी दृष्टि से भ्रम पैदा करने वाला हो गया है। हम मूल स्थान नामों को ही लें। उन्होंने गौंडा, प्रतापगढ़, फ़ैजाबाद, सुल्तानपुर, उन्नाव, बाराबंकी, राय बरेली के जिलों में 2,50,007 स्थान नामों में ऐसे सामान्य स्थान नामों की संख्या कुल 602 बताई है जो तत्सम हैं। तद्भव और देशज शब्दों के स्थान नामों की संख्या कुल स्थान नामों की संख्या का 73 प्रतिशत है। अरबी-फारसी शब्दावली के साथ देशी शब्दों के योग से संकर स्थान नामों का प्रतिशत 20 है। अंग्रेजी से प्रभावित कुल 100 स्थान नाम बताए गए हैं।

जो विद्वान यह कहते हैं कि भारतीय आर्य भाषाओं और यहाँ तक कि भारतीय गैर आर्य भाषाओं की शब्दावली पर संस्कृत भाषा का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा है उन्हें इस बात का विश्लेषण करना चाहिए कि भारतीय स्थान नामों के बारे में संस्कृत इतनी पीछे क्यों है? ऊपर से थोपा जाने वाला या ऊपर से दीखने वाला वास्तव में कोई प्रभाव नहीं होता है। यदि भारतीय संस्कृति ग्रामों में निवास करती है तो स्थान नामों के संबंध से यह कहा जा सकता है कि संस्कृत भाषा का ग्रामों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। कुछ लोग स्थान 'नंगल' की व्युत्पत्ति नगर से बता सकते हैं, ऐसी कोशिश भी की गई है लेकिन उनमें से कोई भी यह नहीं बता पाएगा कि 'नंगले' के 'न' के ऊपर उच्चारण में मेरठ से ले कर आगरा और एटा तक बिन्दी किस कारण है। 'नगर' में कोई बिन्दी नहीं है। 'र' का 'ल' प्राच्य प्रांतों की ओर जाते समय बन सकता था लेकिन इस तर्क से खुद कुरू लोक में इसकी संभावना नहीं हो सकती थी। मैं यहाँ अपने गाँव के चारों ओर के कुछ गाँवों के नाम दे रहा हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि भाषा की दृष्टि से उनमें से कौन सा गाँव संस्कृत से निकला है। ये नाम इस प्रकार हैं—जिजोखर. दबथुआ, मढियाई, दायम पुर, दांतल, जंगेठी, जेवरी, पाबली, बड़जेवरा, खलौदा, खरखौदा, ललसाना, ढोरली, जिटोली, ईकड़ी, रोहटा, नानू, छबड़िया।

अध्याय-2

हिंदी की सामाजिक भूमिका

1

भाषा किसी एक मनुष्य की नहीं हुआ करती है। वह सदा एक से अधिक लोगों की होती है। डा० राम विलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भाषा और समाज' में यहाँ तक कहा है कि 'भाषा समूचे समाज की सम्पत्ति होती है।'

डा० राम विलास शर्मा का यह कथन कुछ अतिवादी अवश्य लगता है लेकिन इतना कहने में उनकी नीयत गलत नहीं है। यदि दुर्भाग्य से किन्हीं लोगों में भाषा पूरे समाज की संपत्ति नहीं है तो कम से कम यह पूरे समाज की संपत्ति बनाई जानी चाहिए। ऐसे प्रयत्न करने में कोई हर्ज नहीं है।

भाषा अपने समाज के सारे सदस्यों की एक साथ सेवा करती है। वह अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के मनुष्यों का ध्यान रखती है। वह साहू लोगों के साथ साथ चोर और उचक्कों की भी सहायता करती है। ऐसा नहीं है कि भाषा के नाते चोरों की अलग जमात होती है। भाषा के नाते लोगों की अलग पहचान अवश्य बनती है पर वह पहचान इस प्रकार की नहीं होती कि ठगों को ईमानदार लोगों से अलग करा सके। सब तरह के लोग एक साथ रहा करते हैं। इससे अधिक डा० राम विलास शर्मा ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि "भाषा समग्र समाज की वस्तु है किन्तु उसके गठन और विकास में वर्गों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।" हिन्दुस्तान में पाली, प्राकृत और अपभ्रंश इसी रूप में विकसित हो कर फैली थीं।

लेकिन हमारे देश में एक संस्कृत भाषा भी रही है। उसके बारे में क्या कहा जाए? क्या वह भी समाज की संपत्ति है? क्या इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है?

इसका 'हाँ' में उत्तर देना कठिन है। संस्कृत भाषा के निर्माण में समाज के सब लोगों का योगदान नहीं रहा है। यह समाज के शूद्र, नारी और अछूत समुदाय को जानबूझ कर नहीं सिखाई गई है। ऐसा समाज विभक्त समाज बनता चला जाता है और उसमें दो भाषाएँ खड़ी हो जाती हैं। डा० राम विलास शर्मा ने भी माना है कि "किसी जाति को दबा कर रखा जाए, उसे सामाजिक प्रगति का मौका न दिया जाए, तो इसका प्रभाव भाषा पर अवश्य पड़ेगा।" आगे उन्होंने बिना वाक्य तोड़े इसी क्रम में यह भी कहा है कि "सामाजिक दमन और बाधाओं का विरोध करते हुए प्रतिकूल

परिस्थितियों में भी कोई जाति अपनी भाषा का विकास कर ले वह बात दूसरी है।"

डा० शर्मा अपनी यह बात एक पूरे भिन्न सन्दर्भ में कह रहे हैं कि "बाह्य विरोध का सामना होने पर समाज के उच्च वर्ग जल्दी कंधा डाल देते हैं, अपनी जातीय संपत्ति की रक्षा करती हैं स्त्रियाँ और निम्न वर्ग।" यह शूद्र और संस्कृत का संदर्भ नहीं है। यह संदर्भ वैसा है जब इस देश में फारसी शासकों के अधीन हिन्दू समाज के उच्च वर्गों ने फारसी सीख ली थी तथा अंग्रेजी शासकों के अधीन हिन्दू और मुसलमान समाज के धनी वर्गों ने अंग्रेजी सीख ली थी। डा० शर्मा के सन्दर्भ की पकड़ यह है कि फारसी के राज भाषा होने पर इस देश के शूद्र, अछूत और नारी समाज ने फारसी नहीं सीख ली थी तथा ऐसे ही अंग्रेजी के राज भाषा होने पर उसने अंग्रेजी नहीं सीख ली थी। ऐसा करना उनकी क्षमता के बाहर था। उनके लिए फारसी और अंग्रेजी बहुत महंगी भाषाएँ थीं। वे इन्हें खरीद नहीं सकते थे। लेकिन संस्कृत के लिए क्या कहा जाए जिसके पढ़ने और पढ़ाने पर उनके लिए पाबन्दी थी।

जब डा० राम विलास शर्मा कहते हैं कि स्त्रियाँ और समाज का निम्न वर्ग अपनी भाषा को अधिक सुरक्षित रखता है तो इसके कुछ सामाजिक कारण होते हैं। ऐसा नहीं कि वे शोक में या जानबूझ कर अपनी भाषा को सुरक्षित रखते हैं। यह उनकी मजबूरी भी हो सकती है। जब वे समाज के उच्च वर्ग की भाषा सीखनी चाहें, और उन्हें वह भाषा सीखने न दी जाए, तब यही कहा जाएगा कि उन्हें जबरन उच्च समाज से अलग रखा जा रहा है।

भाषा के मामले में संपत्ति का यह निजी अधिकार चलाया जाता है। यह बिलकुल वही बात थी कि यदि अछूत लोग सोने या चांदी के गहने पहनने लगेंगे तो धनी समाज सोने चांदी से बढ़ कर कौन सी धातु के आभूषण पहनेगा? रांगेय राघव ने अपनी पुस्तक 'महा यात्रा : गाथा—अंधेरा रास्ता' में यह सत्य उद्घाटित किया है कि जाटशाही में चमारिनें ब्राह्मणियों की भाँति बिछुआ और कड़े पहनने के लिए चेष्टा किया करती थीं।

हम एक अन्य समस्या उठा सकते हैं—आखिर इस देश की प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित संस्कृत साहित्य में शूद्र और नारी को एक साथ क्यों गिनाया जाता है? इसका मतलब है कि इनमें कुछ समानता भी होनी चाहिए। डा० मस्त राम कपूर ने अपनी पुस्तक "सम सामयिक प्रतिक्रियाएँ" में एक महत्वपूर्ण बात कही है। उन्होंने इसमें 'मनु का अभिशाप' नामक अपने लेख में लिखा है—"मनुस्मृति तथा बाद की स्मृतियों और शास्त्रों में स्त्री और शूद्र के प्रति अपनाई गई क्रूर अमानवीय दृष्टि को केवल एक आधार पर ही समझाया जा सकता है और वह यह है कि ये स्मृति शास्त्रकार ऋषि मुनि विदेशी हमलावरों के साथ इस देश में आए होंगे। हमलावर आर्य जाति जहाँ से भी और जैसे भी आई, उसने यहाँ के मूल निवासियों को शूद्र करार दे कर उन्हें दास वृत्ति के लिए बाध्य किया और इसी वर्ग की स्त्रियों से विवाह करके

अपने वंश को आगे बढ़ाया जिसके कारण उन्होंने सभी स्त्रियों को शूद्र के समान ही समझा।"

पर क्या ऐसा कहीं दुनिया में अन्यत्र संभव हुआ है? डा० मस्त राम कपूर की बात सच्ची होने की संभावना बढ़ सकती है यदि किसी अन्य समाज में कभी ऐसा संभव हुआ हो। क्या ऐसा कोई दूसरा उदाहरण भाषाविदों के पास है? डा० भोला नाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक 'भाषा और संस्कृति' में इसका उदाहरण दिया है। उन्होंने लिखा है—"ऐतिहासिक घटनाएँ कभी कभी विचित्र भाषिक परिस्थितियों को जन्म देती हैं। उदाहरण के लिए अमरीका में एक बार करीब भाषा भाषी लोगों ने अरवक भाषा भाषियों पर आक्रमण करके सभी पुरुषों को मार डाला तथा उनके घर की महिलाओं को पत्नियाँ बना लिया। परिणामत: वहाँ पुरुष तो अपनी करीब भाषा बोलते रहे तथा स्त्रियाँ अपनी अरवक भाषा। यही बात परम्परागत रूप से आगे बढ़ती रही और वहाँ के सारे पुरुष अभी तक एक भाषा (करीब) बोलते रहे हैं तो सारी स्त्रियाँ दूसरी भाषा (अरवक)। प्रारंभ में एक ही परिवार में स्त्री पुरुष के आधार पर भाषा का इस प्रकार का अन्तर भाषा शास्त्रियों को बहुत ही अजीबो गरीब लगा, किंतु बाद में इस ऐतिहासिक घटना का पता चला तो इस विचित्रता का समाधान हुआ।" सोचने की बात है—क्या भारत में भी ऐसी ही या इससे मिलती जुलती कोई ऐतिहासिक घटना हुई है? संस्कृत के इस आदेशात्मक नारे में बहुत कुछ छिपा होना चाहिए कि "स्त्री शूद्रो नाधीयताम्" अर्थात स्त्री और शूद्रों को शिक्षा मत दो।

डा० जार्ज ग्रियर्सन के 'लिग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' के वोल्यूम-1 के पार्ट-1 में ब्राहुई भाषा के बारे में यह विचित्र जानकारी दी गई है। इसमें ब्रे महोदय की पुस्तक 'द ब्राहुई लेंग्वेज' के माध्यम से लिखा गया है—"कलात का आधुनिक खान अपनी माता से ब्राहुई भाषा बोलता है तथा अपने पिता और भाई से बलूची भाषा बोलता है।" प्रश्न उठता है—क्या ब्राहुई भाषा में भी किसी विजित और विजेता जाति का कारण है? ब्राहुई द्रविड़ परिवार की भाषा बताई गई है। जब हम डा० ग्रियर्सन द्वारा दिए गए भारत के मान चित्र पर ब्राहुई और द्रविड़ परिवार की भाषाओं के बिखराव और प्रसार को देखते हैं तो आश्चर्य होता है कि ब्राहुई द्रविड़ परिवार की भाषाओं से इतनी दूर किस लिए है। इस पुस्तक में मैं इस विषय पर हल्की छेड़ छाड़ करनी नहीं चाहता कि आर्य जन और द्रविड़ जातियों का आपस में क्या सम्बन्ध है लेकिन इतना जरूर कहना चाहता हूँ कि बलूचिस्तान में ब्राहुई भाषा किसी विजित जाति की भाषा होनी चाहिए।

यह बात अवश्य सच होनी चाहिए कि शूद्रों की भाषा उच्च वर्गों की भाषा से भिन्न रही है। शूद्र कैसे बने, यह बात यहाँ नहीं उठाई जा रही है। उसके लिए कोई डाक्टर अम्बेडकर की पुस्तक 'हू वर शूद्राज' या अन्य विद्वानों की अन्य पुस्तकें पढ़ सकता है। यहाँ हम नवल वियोगी की पुस्तक 'सिन्धु घाटी की सभ्यता के सृजन कर्त्ता

शूद्र और वणिक' से कुछ सहायता प्राप्त कर सकते हैं। उन्होंने ऋग्वेद से प्रमाण दे कर बताया है कि आर्यों ने दस्युओं की भाषा को मृध्रवाच भाषा कहा है। उन्होंने बताया है कि सायण ने मृध्रवाच का अर्थ शत्रुतापूर्ण भद्दे बोल कहा है तथा गैल्डनर महोदय ने इसे 'अशुद्ध भाषा' कहा है। नवल वियोगी ने ठीक प्रश्न उठाया है कि "अशुद्ध भाषा का तथा भद्दे बोल तो आर्य भी (अनुजों के प्रति) करते होंगे मगर यहाँ तो मृध्रवाच शब्द का प्रयोग बार बार दस्यु तथा दास शत्रुओं के लिए या ऐसे व्यक्ति विशेष के लिए भी प्रयुक्त हुआ है जिन्हें वे दस्यु या दास कहते थे।" नवल वियोगी ने अपने पक्ष में ऋग्वेद के मन्त्र दिए हैं जिनमें से एक यहाँ दिया जा रहा है— "अनासो दस्यूं रमृणो वधेन निदुर्योणआवृगड़ मृध्रवाचः—अर्थात हे इन्द्र, तूने छोटी नाक वाले दस्युओं को मारा तथा संग्राम में मृध्रवाच बोलने वालों को मारा है।"

अपनी पुस्तक 'आर्य भाषाओं के विकास क्रम में अपभ्रंश तथा अन्य निबन्ध' में डा० सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण' ने भारत के भाषा इतिहास की एक पहेली खोजी है। वे पूछते हैं—"यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वेदों में मिलने वाली लौकिक भाषा को तो 'आर्य' कह कर पवित्र बतलाया जाए और लोक प्रचलित भाषाओं को भ्रष्ट कह कर तिरस्कृत किया जाए।" इस गुत्थी को सुलझाने से पहले हम डा० शर्मा 'अरुण' से एक उदाहरण और लें। वे लिखते हैं—"ब्राह्मणों ने केवल यही नहीं कहा कि लोक भाषा 'अपभ्रंश' है, वरन यह भी कहा कि जो शास्त्र इस लोक भाषा में रचित हैं, वे प्रमाणित नहीं हैं, चाहे उनमें अहिंसादि तत्वों की मीमांसा क्यों न की गई हो। जिस प्रकार कुत्ते के चमड़े की कोथली में भरा गाय का दूध भ्रष्ट होता है, वह ग्रहणीय नहीं होता, उसी प्रकार भ्रष्ट भाषा में निरूपित तत्व ज्ञान भी ग्राह्य नहीं है—"सन्मूलम्-अपि अहिंसादि श्वदृतिनिक्षिप्त क्षीरवत् अनुपयोगि अविश्रम्भणीय च।" डा० शर्मा 'अरुण' ने लोक भाषाओं के तिरस्कार की सारी जिम्मेदारी जातिवादी ब्राह्मणों को ठहराई है। उन्होंने लिखा है—"ब्राह्मणों ने ब्राह्मणेतर वर्णों की तथा सामान्य लोक में प्रचलित भाषा को अपभ्रंश नाम दे कर लोक भाषा का तिरस्कार ही किया है। इसका एक प्रमाण यह है कि जिस वर्ग या वर्ण ने संस्कृत को देव भाषा संज्ञा प्रदान की उसी ने लोक भाषा को 'प्राकृत' और 'अपभ्रंश' संज्ञा प्रदान की और यह काम ब्राह्मणों के सिवा दूसरों का नहीं है।" डा० शर्मा 'अरुण' ने माना है कि कई कारणों से संस्कृत ब्राह्मणों की साम्प्रदायिक भाषा थी।

अब डा० शर्मा 'अरुण' की उठाई हुई मूल बात पर आया जाए। एक तरफ वेद के रूप में लौकिक भाषा को पवित्र तथा दूसरी ओर अपभ्रंश के रूप में लोक भाषा का तिरस्कार क्यों है? पहली बात यह है कि वेद की भाषा विजेता आर्यों की लोक भाषा रही होगी और उस क्षेत्र के हारे हुए दस्युओं की लोक भाषा भिन्न रही होगी। उसे 'मृध्रवाच' कहा भी गया है। इस प्रकार वेद की लोक भाषा का उसी भौगोलिक वेद क्षेत्र में दस्युओं की लोक भाषा से टकराव रहा है। फिर वेद क्षेत्र से बाहर निकलने

तक वैदिक भाषा के सामने संस्कृत ने जन्म ले लिया था। इन नए क्षेत्रों में जितनी भी भाषाएँ थीं वे वैदिक परम्परा की भाषाएँ नहीं थीं। इसलिए जातिवादी ब्राह्मणों ने उन सब भाषाओं का तिरस्कार किया है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि इस सन्दर्भ में अपभ्रंश भी एक भाषा नहीं परन्तु भाषाओं का समूह होना चाहिए।

जब फारसी और अंग्रेजी भाषाओं का जनता से अलग विकास किया जाएगा तो समझा जा सकता है कि इन भाषाओं का विकास कैसा होगा। इसके उत्तर में इतना कह देना पर्याप्त होना चाहिए कि ऐसा विकास जनता से निरन्तर दूर होता चला जाएगा। हिन्दुस्तानी समाज के निम्न वर्ग के लिए फारसी और अंग्रेजी कठिन ही नहीं बल्कि उसकी पहुँच में असम्भव भी रही हैं। इसलिए हमें अपनी बात समझने के लिए भाषा को कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी कहना चाहिए। एक नया वर्गीकरण बनाया जा सकता है—कठिन भाषा और असंभव भाषा।

जब राज काज की भाषा को कोई नहीं समझ पाता है तो वह उस मनुष्य के लिए कठिन भाषा बन जाती है। ऐसी राज भाषा में कोई भी शब्द प्रयोग किया जाए, वह न जानने वालों के लिए कठिन ही होगा। लेकिन यदि कोई मनुष्य उस राज काज की भाषा को सीखना चाहे तो वह इसके लिए स्वतन्त्र हो सकता है। लेकिन जब मनुष्य अपने मन में एक जिज्ञासु की प्रबल इच्छा ले कर धन खर्च करके तथा समय दे कर भी राजाज्ञा के कारण उस भाषा को न सीख पाए तब क्या स्थिति होगा? तब उस भाषा को क्या कहा जाएगा? इस देश में संस्कृत का फारसी और अंग्रेजी से यही अन्तर है कि समाज का निम्न वर्ग धनवान होने पर फारसी और अंग्रेजी भाषाओं को तो सीख सकता था लेकिन वह संस्कृत को किसी भी दशा में सीख नहीं सकता था।

डा० राम विलास शर्मा ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि यस्पर्सन ने कठिन शब्दों के प्रयोग को जन तन्त्र विरोधी कहा है। यस्पर्सन के शब्द उद्धृत किए गए हैं—"जिन शब्दों की हम चर्चा कर रहे हैं उनके बारे में सबसे खराब बात यह कही जा सकती है कि वे कठिन हैं। इस कठिनता से उनकी जन तन्त्र विरोधी विशेषता उत्पन्न होती है। इनमें बहुत से शब्द न व्यवहार में आएँगे, न समझे जाएँगे; उनका व्यवहार करेंगे तो वही लोग जिन्हें क्लासिक भाषाओं की शिक्षा मिली है। साधारण शब्द भंडार और इन शब्दों में आमतौर से कोई विचार संसर्ग नहीं रहता, न स्मृति की सहायता करने के लिए धातु प्रत्ययों आदि में कोई समानता होती है। यहाँ वे अदृश्य सूत्र नहीं है जिनसे विभिन्न शब्द मानव मन में गूँथ दिए जाते हैं। भाषा में इन शब्दों की बड़ी संख्या होने से वर्ग भेद उत्पन्न होते हैं।" इस पहलू को डा० राम विलास शर्मा ने अपने शब्दों में इस प्रकार कहा है—"पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में पूंजी वादी वर्ग जनता की सुविधा का ध्यान कम रखता है; वह कठिन और अस्वाभाविक शब्दावली भी गढ़ डालता है। देश की जनता के हितों का ध्यान रखने वाले विचारक इससे भिन्न नीति

पर चलते हैं।" डा० शर्मा के इस कथन में संस्कृत की शूद्र विरोधी मनोवृत्ति का भा स्पष्टीकरण हो जाता है।

2

विद्वानों ने भाषा विज्ञान में वर्णनात्मक दृष्टि से कुछ काम किया है। समग्रता की दृष्टि से यह काम उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। भाषा विज्ञान में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी काम करने की जरूरत है। यह काम इतिहास के विद्यार्थियों का है लेकिन जब तक ऐतिहासिक दृष्टि कोण का यह काम वर्णनात्मक दृष्टि से किए गए काम से जोड़ कर नहीं किया जाता तब तक क्या समाज शास्त्र का विद्यार्थी बिल्कुल गूंगा और बहरा बना रहेगा? क्या वह तब तक अपनी ओर से भाषा वैज्ञानिकों और भाषा विज्ञान के इतिहासकारों की कुछ सहायता नहीं कर सकता?

यह माना जाता है कि भाषा विज्ञान के विद्यार्थी को विवेच्य भाषा के साथ साथ अन्य भाषाओं का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि इस बात को सही माना जाए तो क्या हिन्दी भाषा के संबंध में कुछ कहने के लिए यदि पंजाबी और ब्रज भाषा का जानना जरूरी है तो क्या संस्कृत का भी जानना उतना ही जरूरी हो जाता है? क्या खड़ी बोली वाली हिन्दी के लिए संस्कृत उतनी ही नजदीक की भाषा रही है जितनी कि पंजाबी भाषा? क्या सदा ही शासक की भाषा शासितों पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा करती है?

संस्कृत से हिन्दी के संबंध को जानने के बदले यदि हम इस समय हिन्दी के अंग्रेजी से संबंध को जानें तो अधिक सुविधा रहेगी। संस्कृत राज भाषा के रूप में हिन्दी से बहुत ही दूर की भाषा है। आज हिन्दी की एकदम नजदीक की भाषा अंग्रेजी है। यह पिछली डेढ़ शताब्दी से हिन्दी भाषियों के लिए राज भाषा रही है। पूछा जाना चाहिए कि डेढ़ सौ वर्षों के लम्बे समय में भी क्या अंग्रेजी अनपढ़ हिन्दी भाषियों पर कोई गहरा भाषागत प्रभाव छोड़ सकी है? यहाँ अनपढ़ लोगों की बात इसलिए कही गई है क्योंकि संस्कृत ने राज भाषा रहते हुए स्वयं को देव वाणी कहला कर साधारण जनता से खुद को दूर रखा था। जैसे अंग्रेजी अनपढ़ हिन्दी भाषियों के लिए अज्ञात भाषा रही थी ऐसे ही संस्कृत भी पुराने अनपढ़ हिन्दी भाषियों के लिए अज्ञात भाषा रही थी। पुरानी खड़ी बोली का संबंध अपने साथ के प्रदेशों में बोली जाने वाली पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज और भोजपुरी से तो रहा है क्योंकि ये भाषाएँ भी उन लोगों की अनपढ़ जनता की रोजमर्रे की भाषाएँ थी परन्तु संस्कृत से नहीं। इसलिए यह कहना कि हिन्दी के ज्ञान के लिए संस्कृत का ज्ञान जरूरी है एक हेत्वाभास ही है। संस्कृत के

ज्ञान से, हिन्दी भाषा के ज्ञान के लिए कुछ लाभ नहीं है। यह समय की व्यर्थ बर्बादी होगी। इससे कुछ भी परिणाम नहीं निकलने वाला है। यह भाषा विज्ञान के वैज्ञानिक आधार से दूर केवल मानसिक लोभ की कथा बन कर रह जाएगी।

भाषा विज्ञान के सामाजिक अध्ययन से एक बात पूरी तरह से स्पष्ट है कि आज के हिन्दी बोलने वाले शूद्रों के पुरखों ने कभी भी संस्कृत नहीं बोली है। यदि वे कोई प्रयास भी करते थे तो वर्ण व्यवस्था का विधान रच कर संस्कृत उनसे प्रयत्न करके अलग रखी गई थी। समाज शास्त्र का ज्ञान हमारे इस अध्ययन को पूर्ण वैज्ञानिक बना देता है। फिर प्राचीन भारत में एक ओर संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी और अंग्रेजी बारी बारी से राज भाषाएँ रही हैं तथा दूसरी ओर जो आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं वे गैर राज भाषाएँ रही हैं। आधुनिक भारतीय भाषाओं में जो साम्य दीखता है वह राज भाषाओं के प्रभाव के कारण कम और इनके आपसी मेल मिलाप के कारण अधिक है। जब किसी एक क्षेत्र के लोग किसी भौगोलिक आपदा या राजनैतिक मजबूरी के कारण दूसरे क्षेत्रों में गए हैं तो वे वहाँ अपनी भाषाएँ भी ले गए हैं। हिन्दुस्तान में बस्तियों और जातियों के ऐसे उठाईगीर चूल्हे हमेशा से रहे हैं, विशेषकर गरीबों को गाँव से जब चाहा खदेड़ दिया जाता रहा है। भारतीय भाषाओं की एकता का यही कारण है। इसलिए विद्वानों को संस्कृत भाषा के अतिशय आलाप में न पड़ कर सीधे सीधे भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक और व्यतिरेकी विश्लेषण करने की ओर अग्रसर होना चाहिए। आधुनिक भारतीय भाषाओं की परस्पर अन्तर्भुक्ति के लिए संस्कृत की बिचौलगिरी को मोल लेना आवश्यक नहीं है। ऐसी मध्यस्थता का लाभ उठा कर संस्कृत भाषा इनकी सहायता करने के बजाय इन्हें खाने लगती है। संस्कृत ऐसे अवसरों पर केवल बन्दर बाँट करती है।

भाषा के संबंध में दो प्रकार की विचार धाराएँ होती हैं—एक गरीब आदमी की और दूसरी अमीर आदमी की। लेकिन कोई आदमी गरीब और कोई आदमी अमीर कैसे बनता है? एक तरीका यह है कि यदि कोई आदमी ज्यादा मेहनत से और मन लगा कर काम करेगा वह धनी हो जाएगा। यदि कोई दूसरा आदमी आलस्य में रहेगा तथा अपना काम मूर्खों की भाँति करेगा वह निर्धन हो जाएगा। इसमें दो राय नहीं कि इस प्रकार आदमी गरीब या अमीर बनते हैं। एक आदमी एक दिन में पाँच सौ ईंटों की चिनाई करता है, दूसरा आदमी सात सौ ईंटों की चिनाई करता है, इससे स्पष्ट अन्तर हो जाता है कि दूसरे की सामर्थ्य पहले से अधिक है। यह एक बात रही।

गरीब और अमीर बनने का एक दूसरा तरीका भी है। जो आदमी ज्यादा काम करता है, उसके घर में जा कर चोरी कर ली जाए, या उसे जबरन लूट लिया जाए। इस प्रक्रिया को कार्ल मार्क्स ने शोषण कहा है लेकिन यह शोषण वगैरह न हो कर सीधी भाषा में चोरी और लूट है। इसके लिए इसे पूँजी वगैरह के नाम दे कर सभ्यता के अन्तर्गत नहीं रखा जाना चाहिए। लूट विकास की शर्त नहीं है। इसमें कुछ लोगों के

व्यक्तिगत जीवन का विकास होता है परन्तु दूसरों का मरण होता है ।

वह लूट की संस्कृति है जब एक के फायदे में दूसरे का नुकसान होता है। समाज में सब लोगों को मिल जुल कर रहना होता है। सब सामूहिक रूप से कोई काम करते हैं। सबको अपने अपने हिस्से का काम और पैसा मिलना चाहिए। आपस के हितों में किसी क्लेश की जरूरत नहीं है। जो काम मिल कर किया जाता है वह क्लेश को जन्म नहीं देता है। यदि कहीं हितों में क्लेश है तो इसका मतलब है कि व्यवस्था ठीक नहीं है।

यदि ब्राह्मण का बेटा इसलिए मर जाता है कि एक शूद्र मनुष्य तपस्या करने लगता है तो यह व्यवस्था की गलती है। शूद्र के लाभ से ब्राह्मण का नुकसान क्यों माना गया है? शम्बूक तपस्या करे, इससे राम राज्य के ब्राह्मण को परेशानी नहीं होनी चाहिए थी। ऐसे ही अच्छे भले धनुर्धर एकलव्य को गुरु द्रोण द्वारा अपना प्रिय शिष्य न बनाना लूट की संस्कृति है। इसमें गुरु द्रोण को धरती पर अपने पेशे से प्यार नहीं रह जाता है। उसे एकलव्य जैसे शिष्य को देख कर बहुत खुश होना चाहिए था। लेकिन एकलव्य को प्यार करने में अर्जुन के प्रति उसका प्यार घट जाता, यह अर्जुन की स्वार्थ वाली सोच थी।

जब आदमी ज्यादा मेहनत करने से अमीर होता है, और जब आदमी दूसरों के कमाए हुए धन को छीनने से अमीर होता है, इन दोनों प्रकार की अमीरी में भारी अन्तर है। यहाँ मैं भाषा की दृष्टि से यह निर्णय निकालना चाहता हूँ कि ऐसे दो अमीरों की भाषा में अन्तर होता है। भाषा एक व्यवहार है, साधन है, हथियार भी है। वह आदमी जो ज्यादा मेहनत करके अमीर बनता है उसकी भाषा में विकास होता है, लेकिन वह भाषा का स्वाभाविक विकास होता है। जो आदमी दूसरों के कमाए हुए धन को छीनने से अमीर बनता है उसकी भाषा का विकास दूसरी तरह से होता है। जब उसकी नीयत दूसरे आदमियों को लूटने की है, वह तरह तरह से लोगों को लूटता भी है, वह उन्हें भाषा के द्वारा भी लूटना चाहेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई सच में दूसरे लोगों को लूटना चाहे और वह भाषा का सरल प्रयोग करेगा। लूटने वाले के हाथ में भाषा एक हथियार है। जब वह दूसरों को तलवार चला कर लूट रहा है, अवसर मिलने पर वह भाषा का भी तलवार के रूप में इस्तेमाल करेगा। उसकी भाषा निश्चित रूप में वही होगी जो उसके लूट के काम में सहायता करेगी।

अब मैं विधि की भाषा पर आना चाहता हूँ। इस भाषा के बारे में यह तर्क दिया जाता है कि यह निश्चित रूप से कठिन और दुरूह अर्थात आम फहम भाषा से अलग होनी चाहिए। लेकिन सच में क्या होता है? एक अनपढ़ खेतिहर मजदूर अपनी बेटी के साथ बुरा किए जाने पर जमींदार को जान से मार देता है। हत्या की यह सारी प्रक्रिया गाँव के वातावरण में होती है। यह हत्या अनपढ़ लोग करते हैं।

यह पढ़े लिखे लोगों की बात ही नहीं है। लेकिन जब पढ़े लिखे लोग वकील और जज के रूप में इसे मुकदमा बना कर इस पर बहस करते हैं तो जाने कितनी कठिन भाषा का प्रयोग करते हैं।

यदि अपराधी सच बोले और अपने अपराध को कबूल कर ले तो विधि की सारी शब्दावली धराशायी हो जाए। फिर किसी विशेष विधि शब्दावली की आवश्यता नहीं रह जाती है। पर चूँकि अपराधी अपराध करने के बाद यह सिद्ध करना चाहता है कि उसने अपराध नहीं किया है तो वह इसमें भाषा का अधिक से अधिक अपने हित में प्रयोग करना चाहता है। वह भारी भरकम पैसों में वकील करेगा, जजों को खरीदना चाहेगा और बेगुनाह लोगों को लगातार धमकियाँ देता रहेगा। भला, ऐसे समय क्या वह सरल भाषा का प्रयोग करना चाहेगा ? वकीलगिरी एक पेशा है, क्या वकील अपने पेशे के खिलाफ सच को सरल रहने देगा ? यदि उसके हाथ में बाइ चांस निरपराध का मुकदमा है तो भी वह उस सच को लम्बा अवश्य करना चाहेगा। जज बेचारा स्कूलों में पढ़ा लिखा विद्यार्थी होता है। वह किसी बुद्ध या महावीर का ज्ञान प्राप्त किया हुआ मनुष्य नहीं है। सोचा जा सकता है, यदि खुदा न खास्ता, अपराधी, वकील और जज तीनों एक मेल में हो जाएँ तो भाषा के किस चमत्कार से अपराधी दण्ड भोगने से बच जाएगा। कुल मिला कर बात यह है कि भाषा के दुरूह बनने में अपराधी का हित साधन होता है।

यह भी कहा जाता है कि तकनीकी भाषा अनिवार्य रूप से दुरूह हो जाती है। मुझे पता नहीं चलता कि इसमें दुरूहता की कौन सी नई बात खड़ी हो जाती है। तकनीकी भाषा में कारीगर को केवल पुर्जों के नाम सीखने होते हैं। वह हर कारीगर के लिए अनिवार्य है। इन कलपुर्जों के नाम याद रखने में दुरूहता कैसी ? एक साइकिल की आल हाइरिंग करने वाले दो दर्जे तक पढ़े हुए साधारण कारीगर के लिए साइकिल की भाषा दुरूह नहीं रहती है। मुझे खूब याद है, ऐसा ही 'अ आ' तक पढ़ा हुआ मेरे गाँव का एक साधारण कारीगर साइकिल की चेन, घन्टी, गद्दी, रिम, स्पोक, पैंडल, मरगाड, हैंडिल, ब्रेक, टायर, ट्यूब, फीता, कोण, गोलियाँ, सलोचन, स्प्रिंग, ग्रीस, रेग माल, रबड़ आदि साइकिल का एक एक सामान बाजार से खुद खरीद कर लाता था। उसका कभी किसी विशेष शब्दावली निर्माण से कोई वास्ता नहीं पड़ा था।

वास्तव में, राज भाषा का नाम ले कर संस्कृत के विद्वानों ने हिन्दी के सामने कठिन भाषा का एक हौवा खड़ा कर दिया है। केवल बात का बतंगड़ बनाया गया है। जो काम मजदूर और किसान आसानी से करते हैं उसमें विद्वानों ने अपनी टाँग अड़ाई है। उत्तर प्रदेश का धनी किसान पिछले तीस पैंतीस वर्षों से अपने खेत के कोने पर 'टुवैल' लगाता आ रहा है। वह कभी कभी 'टुवैल' पर ही सो भी जाता है। लेकिन उत्तर प्रदेश शासन के रिकार्डों में उसे 'नल कूप' दर्ज किया जाता है। ऐसे ही, किसान 'हेरो' खरीदता है, परन्तु पता नहीं, शासन की भाषा में उसे क्या

कहा जाता है।

भाषा की ऐसी सबसे बड़ी दुरूहता जिसे दुरूहताओं की रानी कहा जा सकता है, दर्शन शास्त्र में बहुत पहले प्रयोग की जा चुकी है। खुद हमारे देश में कर्म काण्ड, भक्ति काण्ड और ज्ञान काण्ड के नाम से और मनुष्य के जीवनसे काट कर अनावश्यक रूप से हजारों शब्दों की शब्दावली का निर्माण किया गया था। जिस बात का दर्शन से कोई संबंध नहीं वह दर्शन की प्राण वस्तु बताई गई थी।

3

मैंने संस्कृत को शूद्र विरोधी भाषा क्यों कहा है? साधारणतया यही माना जाता है कि भाषा समूचे समाज की सम्पत्ति होती है। यदि संस्कृत भी समाज के सभी लोगों की सम्पत्ति होती तो इसमें समाज के सभी वर्णों के चिन्तन का प्रतिनिधित्व होना चाहिए था। पर क्या हमें संस्कृत भाषा में ऐसा मिलता है? यह स्वाभाविक हो सकता है कि जब ब्राह्मण संस्कृत भाषा में श्लोकों की रचना करेंगे तो उसमें ब्राह्मणों की प्रशंसा हो जाएगी। लेकिन यह उतना ही स्वाभाविक होना चाहिए जिसमें यह अपेक्षा की गई है कि जब शूद्र संस्कृत भाषा में श्लोकों की रचना करेंगे तो उसमें शूद्रों की प्रशंसा हो जाएगी। क्या हमें संस्कृत भाषा में शूद्रों और चांडालों की प्रशंसा मिलती है? संस्कृत साहित्य में एकबार नारियों की प्रशंसा कर दी गई है लेकिन शूद्र की प्रशंसा भूल कर भी नहीं की गई है। वास्तव में यदि यह भाषा समाज के सारे तबकों की भाषा होती तो इसमें शूद्रों और चाण्डालों की प्रशंसा में थोड़े से श्लोक अवश्य मिलते। यदि कहीं शूद्रों के बारे में किसी ऐतिहासिक दबाव के कारण कुछ नरमी बरती भी गई है तो वे श्लोक भी ब्राह्मणों द्वारा लिखे गए हैं। क्या कोई बता सकता है कि वे कौन कौन शूद्र हैं जिन्होंने संस्कृत साहित्य में अपने पक्ष में गौरव ग्रन्थ लिखे हैं? राज तरंगिणी में जिस मतंग नाम के शूद्र महा कवि का नाम गिनाया गया है उस कवि का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वह कल्हण के अनुसार शूद्र होते हुए भी—शूद्रोऽपि—महाकवि था। ऐसा नहीं था कि महाकवि होने के बाद उसे ब्राह्मण कहा गया था। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मतंग नाम के इस शूद्र महाकवि ने संस्कृत भाषा में काव्य रचना की थी या किसी गैर संस्कृत भाषा में।

शायद मुझसे मेरी थीसिस के बारे में यह पूछा जाएगा कि मैं यह कैसे कह रहा हूँ कि स्त्री और शूद्रों को संस्कृत भाषा की शिक्षा की मनाही थी। यह बात सही है कि मेरी थीसिस इसी आधार पर टिकी हुई है। यदि कोई यह सिद्ध कर सका कि संस्कृत शूद्र समाज की कभी मातृ भाषा रही है तो वह मेरी इस पुस्तक को नदी में

फेंक देने का अधिकारी हो जाएगा । मैं यहाँ तक कहना चाह रहा हूँ कि संस्कृत ब्राह्मण पुरुषों की मातृ भाषा भी नहीं रही है क्योंकि वे अपनी ब्राह्मणी माताओं से भी संस्कृत में बात नहीं कर सकते थे । डा० सरनाम सिंह 'अरुण' ने अपनी पुस्तक 'आर्य भाषाओं के विकास क्रम में अपभ्रंश तथा अन्य निबन्ध' में बाबू श्याम सुन्दर दास के माध्यम से डा० धीरेन्द्र वर्मा को उद्धृत किया है । डा० धीरेन्द्र वर्मा का कथन है—"पतंजलि के समय में व्याकरण शास्त्र जानने वाले केवल विद्वान ब्राह्मण शुद्ध संस्कृत बोल सकते थे । अन्य ब्राह्मण अशुद्ध संस्कृत बोलते थे ।" आधुनिक युग के प्रमाण के लिए 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' के पहले वोल्यूम के पहले पार्ट में जार्ज ग्रियर्सन ने भारत में बोली जाने वाली भाषाओं का वर्गीकरण किया है । इसमें संस्कृत के बारे में बताया गया है कि 1921 की जन गणना के आधार पर भारत में इसे कुल 356 लोग बोलते थे लेकिन लिंग्विस्टिक सर्वे के अनुसार एक भी व्यक्ति का नाम संस्कृत बोलने वालों में नहीं है । यदि यह सर्वे न किया जाता या यदि यह सर्वे अगले समय में अप्राप्य हो जाए तो बाद की शताब्दियों में संस्कृत को ब्राह्मण परिवारों में बीसवीं शताब्दी की बोल चाल की भाषा बताया जा सकता है ।

मनुस्मृति के तीसरे अध्याय के 156 वे श्लोक में शूद्र के शिष्य या शूद्र के गुरु-शूद्राशिष्यो गुरुश्चैव—दोनों प्रकार के ब्राह्मणों को भोजन कराने से वर्जित ठहराया गया है । चौथे अध्याय के 99 वें श्लोक में लिखा गया है—शूद्र के समीप—शूद्रजन सन्निधौ—बैठ कर वेद का पाठ न करें । स्त्रियों के संबंध में मनुस्मृति के दूसरे अध्याय के 66 वें श्लोक में कहा गया है कि स्त्रियों के सब संस्कार बिना मंत्र के करने चाहिए । आगे 9 वें अध्याय के 18 वें श्लोक में भी कहा गया है कि स्त्रियों के संस्कार मंत्रों के बिना होने चाहिए क्योंकि स्त्रियों के लिए मंत्र का अधिकार नहीं है ।

अवन्तिका प्रसाद मरमट की 'शूद्र : एक प्राचीन नाग जाति' पुस्तक देखी जा सकती है । इसमें गौतम धर्म सूत्र के बीसवें अध्याय के चार से छह तक के श्लोकों का हिन्दी अनुवाद दिया गया है । गौतम स्मृति के अध्याय 12 के चौथे श्लोक में मनु-स्मृति की भावना का पूरा विकास हो गया है । उसमें लिखा है—"यदि शूद्र वेद को सुनने की कोशिश करता है तो उसके कानों में पिघला हुआ गर्म सीसा या लाक भर देना चाहिए, यदि वह वेद का उच्चारण करता है तो उसकी जबान काट ली जानी चाहिए और यदि वह वेद का अध्ययन कर ले तो उसका शरीर टुकड़े टुकड़े कर देना चाहिए ।" ऐसा ही आगे कात्यायन स्मृति में है ।

यहाँ महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रकाशित डा० अम्बेडकर की राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज' के तीसरे वोल्यूम से कुछ उद्धरण दिए जा सकते हैं । इसमें डा० अम्बेडकर की एक पुस्तक 'फिलासफी आफ हिन्दुइज्म' संकलित है । उसके एक अंश का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—"पुराना जमाना इस बात के लिए दोषी ठहराया जा सकता है कि उसने सामान्य जनता को शिक्षित करने की जिम्मेदारी नहीं निभाई है । लेकिन

उनमें कोई भी समाज अपनी जनता के लिए धर्म पुस्तकों के अध्ययन को मना करने का दोषी नहीं रहा है। कोई भी पुराना समाज अपनी सामान्य जनता के लिए ज्ञान प्राप्त करने या पाबन्दी लगाने का दोषी नहीं रहा है। किसी भी समाज ने ऐसी घोषणा करने का दुष्प्रयत्न नहीं किया है कि सामान्य लोगों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का कोई प्रयास अपराध मान कर दंडनीय होगा। संसार में ऐसा केवल एक मनु ही दिव्य विधान रचने वाला रहा है जिसने सामान्य लोगों के ज्ञान प्राप्त करने के अधिकार को छीना था।" डा० अम्बेडकर आगे लिखते हैं—"यह महसूस किया जाना चाहिए कि लिखने और पढ़ने का वेदों के अध्ययन से सीधा संबंध है। लिखना और पढ़ना स्वतन्त्र और विशेष अधिकार प्राप्त लोगों के लिए आवश्यक था। वेद न पढ़ने वालों के लिए लिखना और पढ़ना आवश्यक नहीं था। इस प्रकार लिखना और पढ़ना वेदों से जुड़ गया था। इसका नतीजा यह निकला कि वेदों के पढ़ने और पढ़ाने के लिए दिए गए कुछ लोगों को अधिकार और अधिकांश लोगों के लिए वेदों को पढ़ने की मनाहियों का मनु का सिद्धान्त लिखने और पढ़ने की कला से जुड़ कर रह गया था। जिन लोगों को वेदों के अध्ययन का अधिकार मिला था उन्हें ही लिखने और पढ़ने का अधिकार मिला था। जिन्हें वेद के अध्ययन का अधिकार नहीं था उनके लिखने और पढ़ने का अधिकार छीन लिया गया था। इसलिए कहा जा सकता है कि मनु के विधान के अनुसार लिखना और पढ़ना थोड़े से उच्च वर्गों का अधिकार बन गया था तथा अधिकांश निम्न वर्गों का भाग्य निरक्षरता के अंधकार से बंध कर रह गया था।" यहाँ मुझे डा० अम्बेडकर के इस कथन में केवल इतना और जोड़ना है कि जब शूद्रों से वेद का पढ़ना छीना गया था, साथ ही जब इस कुचक्र में उनसे अक्षर ज्ञान और लिपि का ज्ञान भी छीना गया था तब भी उनसे उनकी जबान नहीं छीनी जा सकी थी। यदि सारे शूद्र मार दिए जाते तो उनकी जबान छीनी गई कही जा सकती थी पर चूँकि वे सारे के सारे मारे नहीं जा सके थे इसलिए उनकी अपनी भाषा उनके व्यवहार और प्रचलन में थी। हमें किसी ऐसी ऐतिहासिक घटना का भी पता नहीं चलता है कि किसी राज्य व्यवस्था में सारे शूद्रों को सिर मूँडने के समान जबान और कान काट कर गूंगे और बहरे बनाया गया हो। फिर ऐसा भी नहीं है कि शूद्र समुदाय ब्राह्मण समुदाय से अलग देश बना कर रहा हो। समाज का काम बिना शूद्र के नहीं चल सकता था। शूद्र को चौबीस घंटे ब्राह्मणों की सेवा करनी थी। इसलिए ब्राह्मण और शूद्र में पूरे इतिहास के दौरान लगातार पारस्परिक भाषाई संपर्क अनिवार्य था। शूद्र समुदाय ब्राह्मणों से या आपस में भी केवल इशारों की भाषा से बात नहीं करता था। वह कान और जिह्वा की दोनों इन्द्रियों का भरपूर उपयोग करता था। वह ब्राह्मण से लड़ता था।

डा० बी० आर० अम्बेडकर की पुस्तकों की इस सिरीज का चौथा वोल्यूम 'अनपब्लिस्ड राईटिंग्स : रिडल्स इन हिन्दुइज्म' है। इस पुस्तक में डा० अम्बेडकर

ने मेगस्थनीज का रिकार्ड उपस्थित किया है। मेगस्थनीज ने रिकार्ड किया है कि प्राचीन ब्राह्मण अपनी पत्नियों का विश्वास नहीं करते थे। वे अपनी पत्नियों को अपने परातात्विक सिद्धान्त इसलिए नहीं बताते थे क्योंकि वे बहुत बातूनी होती थीं। उन ब्राह्मणों को भय था कि उनकी पत्नियाँ उनके ज्ञान को उन पर खोल देंगी जो उस ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं। ज्ञान में अनधिकारियों से उनका मतलब शूद्र से था। यदि मेगस्थनीज की यह बात थोड़ी भी सही है तो इसमें वह संभावना ज्यों की त्यों बनी रहती है कि शूद्र और नारियाँ एक ही मूल के रहे हों।

मेरे गुरुवत डा० प्रभाकर माचवे ने मुझे एक आश्चर्य की बात बताई। उन्होंने बताया कि हमारे युग की कवियत्री महादेवी वर्मा को संस्कृत पढ़ने की अनुमति नहीं मिली थी। वे एक नारी थीं। उन्हें विश्व विद्यालय के नियमानुसार संस्कृत पढ़ने की अनुमति नहीं थी। उन्हें संस्कृत में प्रवेश देने के लिए विश्व विद्यालय ने विशेष अनुमति दी थी। इसमें जो मुख्य प्रश्न विचारणीय है वह यह है कि वह कौन सी परम्परा थी कि नारी संस्कृत नहीं पढ़ सकती थी। स्पष्ट है, किसी नारी ने ऐसा कानून नहीं बनाया होगा। ऐसा कानून संस्कृत के विद्वानों ने ही बनाया होगा। किसी ने भी बनाया हो, या नारी को संस्कृत पढ़ने की छूट किसी भी समय बन्द हुई हो, जिस दिन से नारी के संस्कृत पढ़ने पर पाबन्दी लगी है उस दिन से नारी की भाषा संस्कृत नहीं रही है। नारी की भाषा संस्कृत से भिन्न कोई भी भारतीय भाषा रही है। इसमें इतना ही नहीं है कि संस्कृत के ब्राह्मणों ने ही नारियों पर ऐसी पाबन्दी लगाई हो। बताया जाता है कि महादेवी वर्मा नैनीताल में किन्हीं बौद्ध भिक्षु के सामने बौद्ध भिक्षुणी बनने भी गई थीं। लेकिन उन बौद्ध भिक्षु ने उन्हें न देखने के लिए अपने मुँह पर लगी प्राकृतिक आँखों के सामने पंखे की औलट कर ली थी। सच्ची बात है, अपने अन्तिम समय में पाली भाषा भी मिश्रित संस्कृत या बौद्ध संस्कृत हो गई थी। यह एक दूसरी बात है कि महादेवी वर्मा स्वयं संस्कृत और बौद्ध मत की बन कर रह गई थीं। वे मूल्यों से टकराव की मनःस्थिति में नहीं थीं। हर किसी में जीवन की सारी लड़ाइयाँ लड़ने की हिम्मत नहीं होती है—हर कोई ऐसा नहीं हो सकता।

अब यह बताने वाले साहित्यकार सामने आ रहे हैं कि भाषा की दृष्टि से गरीबों और अमीरों में क्या अन्तर होता है। मराठी दलित साहित्य में दया पवार का एक उपन्यास 'बलुतं' है। इसका दामोदर खडसे ने हिन्दी में 'अछूत' नाम से अनुवाद किया है। इसमें भाषा की जातीयता पर एक सही बात कही गई है। उपन्यास का नायक अपने बारे में बताता हुआ कहता है—"मैं शहर में आ गया था। इसलिए मेरे साथ कुछ शब्द भी शहर आ गए। मेरे बोलने में अक्सर 'सबर' शब्द आता। विशेष कर कबड्डी खेलते समय 'रुको' के अर्थ में मैं उसका उपयोग करता। मराठों के लड़कों को यह शब्द समझ में न आता। उनको यह गई गुजरी भाषा लगती। वैसे देखा जाए तो देहात के लड़कों से मैं अच्छी मराठी बोल लेता था। फिर भी मेरी हँसी

उड़ाई जाती। धीरे धीरे उनके साथ मेरा खेलना बन्द हो गया।"

उपन्यास के नायक के इस आत्म कथन से समझा जा सकता है कि गरीबों और अमीरों की भाषा के अन्तर से बालकों का एक साथ खेलना कूदना बन्द हो जाता है। उपन्यास का नायक आगे कहता है—"भाषा के कारण एक बात याद आई। तालुके के स्कूल में भी इसके लिए 'महारों' की भाषा कह कर तिरस्कार किया जाता। मर्मान्तिक घाव लगता। जोश में आ कर मैं लड़कों से झगड़ा कर लेता। हमारी भाषा कैसी शुद्ध है, यह बात उनके गले उतारता।"

4

यदि किसी को संस्कृत की सामाजिक भूमिका देखनी हो तो वह करपात्री की 'मार्क्सवाद और रामराज्य' नामक पुस्तक पढ़ सकता है। इस पुस्तक में संस्कृत के सम्बन्ध में गर्वोक्ति है—"जब संस्कृत भाषा एवं वेद से पुरानी पुस्तक संसार में उपलब्ध नहीं है, इसकी अति प्राचीनता तर्कों से भी सिद्ध होती है, तब मनु आदि के अनुसार उसे ही अनादि भाषा मानना युक्त है। उसके व्यापक धातुओं से संसार की सभी भाषाएँ निष्पन्न भी हो ही जाती हैं।" यहाँ ध्यान रहे कि करपात्री के अनुसार, केवल हिन्दी, बंगाली, गुजराती आदि नहीं बल्कि संसार की सारी भाषाएँ संस्कृत से निकली हुई हैं। आगे उन्होंने स्पष्ट कहा है—"प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा ही आदिम भाषा है और उसका अपभ्रंश अन्यान्य भाषाएँ हैं।" जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है उन्होंने लिखा है—"सर्व साधारण के व्यवहार में आने वाली राष्ट्र की भाषा हिन्दी होनी चाहिए। पर विशिष्ट विवरणों में संस्कृत का उपयोग आवश्यक है।"

यदि बात केवल संस्कृत को आदिम भाषा मानने तक सीमित रहती तो कोई विशेष बात नहीं थी। यह लेखक हमें सामाजिक और राजनैतिक आदेश भी तुरन्त देने लगते हैं। उन्हें राज व्यवस्था की दृष्टि से इस बात का बहुत दुःख है कि "आजकल एक सबसे बड़ा विभाग व्यवस्थापन का अर्थात कानून बनाने का है जिसके लिए धारा सभाओं का निर्वाचन होता है।" उनके अनुसार, "अपने यहाँ तो इसकी आवश्यता ही नहीं। केवल विशिष्ट विद्वानों की एक निर्णेत्री परिषद होनी चाहिए, जो मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, नारद, अंगिरा, पराशर, आदि के मतानुसार ठीक ठीक व्यवस्था दे सके।" आज के लोक तंत्र शासन के आधार को वे मुण्ड गणना बताते हैं। उनका सीधा तर्क है—"नाई, धोबी आदि अपना काम करें जिसके बदले में उन्हें अन्न मिले। यथा सम्भव नकद क्रय विक्रय के स्थान पर वस्तु विनिमय होना चाहिए और जिसका जो परम्परागत व्यवसाय

है उसे वही करना चाहिए।'' उनके अनुसार, ''कर्मों के अनुसार जैसे हिरणी से हरिण उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ब्राह्मण ब्राह्मणी से ब्राह्मण उत्पन्न होता है। जन्म मूलक वर्ण व्यवस्था और तन्मूलक कर्म धर्म व्यवस्था होती है। जन्मना वर्ण और कर्मणा उत्कर्ष यही व्यावहारिक स्थिति है।'' करपात्री चाहते हैं कि राजा विशुद्ध क्षत्रिय वंश का होना चाहिए तथा पुरोहित, महामात्य, न्यायाध्यक्ष तथा अध्यापक का काम शुद्ध विद्वान् ब्राह्मण को मिलना चाहिए। शूद्र को सेवाध्यक्ष बनाया जाना चाहिए। इस क्रम में शुचिता विभाग का अध्यक्ष अन्त्यज को बनाया जाना चाहिए। विश्व नाथ मन्दिर में हरिजनों का प्रवेश नहीं होना चाहिए। समाज को हिन्दू कोड बिल के खिलाफ लड़ना चाहिए।

जहाँ तक स्त्री का सम्बन्ध है उसमें भी करपात्री ने संस्कृत भाषा के अनुकूल व्यवस्था दी है—''पुरुष और समाज के हाथ में जितने भी ऐसे साधन धर्म, नीति, रिवाज आदि के रूप में थे, उन सबसे स्त्री को पुरुष के अधीन हो कर चलने की शिक्षा दी गई। उसे समझाया गया, यहाँ चाहे वह पुरुष का मुकाबला भले ही कर ले, परन्तु बाद में उसे पछताना पड़ेगा क्योंकि उसकी स्वतंत्रता से भगवान और धर्म नाराज होते हैं।'' जिस बात की आज समाज मनाही कर रहा है अपनी इस पुस्तक में करपात्री उसी सती प्रथा की प्रशंसा कर रहे हैं—''भारत में अभी अभी हाल ही में 50 वर्षों के भीतर सैकड़ों सतियाँ हुई हैं। वे हँसती हँसती चिता पर अपने पति के साथ परलोक चली गईं। उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में तो कई सतियाँ बिना अग्नि के ही अपने शरीर से दिव्याग्नि प्रकट करके सती हुई हैं।'' करपात्री अपने राम राज्य की कल्पना करते हुए कानून के एकदम विरुद्ध प्रचार करते हैं —''राम राज्य प्रणाली में बाल्यावस्था में ही लड़कियों की शादी हो जाएगी।'' तब नारी जीवन के सारे दुःख मिट जाएँगे। यह उनका हिन्दू विवाह ऐक्ट के विरुद्ध खुला दुष्प्रचार है।

यहाँ देखा जा सकता है कि संस्कृत के विद्वानों की जातिवादी ओछी मनोवृत्ति उनकी प्रत्येक बात में मुखर हो जाती है। वे भारत के संविधान की बात मानने को तैयार नहीं हैं। उन्हें आज भी इस बात का दुःख सताए जा रहा है कि हिन्दी राज भाषा क्यों बनाई गई है। अन्य प्रादेशिक भाषाओं के लोग ऐसा बिल्कुल नहीं सोचते हैं लेकिन संस्कृतज्ञों को यह पीड़ा रह रह कर सताती रहती है कि भारत की राज भाषा संस्कृत क्यों नहीं बनाई गई है। वे संविधान निर्माताओं के निर्णय में शंका प्रकट करते हैं। आचार्य वरद राज की संस्कृत की एक पुस्तक 'लघु सिद्धान्त कौमदी' है। पंडित राम चन्द्र झा इसकी प्रस्तावना में लिखते हैं—''स्वतन्त्र भारत की विधान सभा यदि विवेक से विचार करती तो भारत का राज मुकुट 'सुरभारती' को ही बनाना चाहिए था क्योंकि इस देश की समूची संस्कृति, सारा इतिहास और समस्त ज्ञान विज्ञान सब संस्कृत में ही भरे पड़े हैं।...... पर यहाँ के लोग अंग्रेजों के शासन काल में इसे मृत् भाषा कहने लगे थे और आज भी अंग्रेजी रंग से रँगे मस्तिष्क वाले उसी दृष्टि से देखते हैं। वे यह तो सोचते हैं कि भारत की शासन व्यवस्था संस्कृत राष्ट्र भाषा

होने से नहीं चल सकती किन्तु इस बात पर विचार नहीं करते कि विदेशियों ने अपने अपने शासन काल में उर्दू और अंग्रेजी को बलात भारत की राष्ट्र भाषा घोषित करके ही शासन को संभाला और आज भी पाकिस्तान उसी रूप में सम्भाले हुए है। तात्पर्य यह है कि संस्कृत की संस्कृति में पहले भारत का शासन सूत्र संस्कृत के राष्ट्र भाषा होने से जितना अक्षुण्ण बना रह सकता हैं उतना किसी अन्य भाषा के राष्ट्र भाषा होने से नहीं।" ये टीका कार यहीं नहीं रुकते है। ये आगे लिखते हैं —"भारत में आज अपनी अपनी प्रान्तीय भाषाओं को राज भाषा बनाने में जो लोग व्यस्त हो रहे हैं. उसका एकमात्र निदान हिन्दी (प्रादेशिक भाषा) का राष्ट्र भाषा होना ही है। निष्पक्ष भाव से विचार किया जाए तो उत्तर प्रदेश या पश्चिम बिहार के कुछ ही अंश को छोड़ कर बंगाल, मिथिला, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों को राष्ट्र भाषा हिन्दी ने जितनी कठिनाई की संभावना है उतनी संस्कृत से नहीं, क्योंकि बंगला, मैथिली, गुजराती भाषाओं में नब्बे प्रतिशत संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग होता है तथा हिन्दी को भी धन धाम और सौन्दर्य संस्कृत से मिल रहा है। ऐसी स्थिति में भारत की राष्ट्र भाषा यदि संस्कृत होती तो भारत माता की तरह गीर्वाण वाणी भगवती सुरभारती के मुख में शताब्दियों से लगा हुआ ताला टूट जाता और एक स्वर से सम्पूर्ण भारत उस राष्ट्र भाषा का अभिनन्दन करने लगता।"

संस्कृत के कई पक्षधर प्राय: यह कहते सुने जाते हैं कि कोई भाषा न अपने आप में सरल है और न अपने आप में कठिन है। उनके अनुसार किसी भी रूप में शब्द निर्माण कर दिया जाए उसका उच्चारण किया जा सकता है। वे यह मान कर नहीं देते हैं कि संस्कृत का कोई भी शब्द दुरूह है। उनका तर्क होता है कि अंग्रेजी और फारसी इस देश की राज भाषा बनाई गई थीं इसलिए संस्कृत भी राज भाषा बनाई जा सकती है। उन्हें यह मालूम नहीं कि अंग्रेजी और फारसी के राज भाषा बनने से इस देश के साधारण लोग खुश नहीं थे। यदि एक या दो प्रतिशत लोगों की राज भाषा बनी रहनी होती तो अंग्रेजी और फारसी के समान संस्कृत को भी राज भाषा बनाया जा सकता था। फिर उन्हें यह भी मालूम होना चाहिए कि अंग्रेजी और फारसी विदेशों में कई करोड़ लोगों की मातृ भाषाएँ रही थीं लेकिन संस्कृत इस देश में कभी किसी की भी मातृ भाषा नहीं रही है। इसलिए संस्कृत भाषा को राज भाषा बनाने से वह अंग्रेजी और फारसी के समान दो प्रतिशत लोगों की भी मातृ भाषा नहीं होती। सच तो यह है कि संस्कृत की दुरूहता की बात आज की नहीं है। इस पर प्राचीन काल से चर्चा होती आ रही है। योगीन्दु देव के 'परमात्म प्रकाश: योगसारश्च" की प्रस्तावना में 778 ईस्वी के उद्योतन सूरि के संस्कृत के बारे में विचार उद्धृत किए गए हैं—"लम्बे समास, अव्यय, उपसर्ग, विभक्ति, वचन और लिंग का काठिन्य से पूर्ण संस्कृत भाषा दुर्जन के हृदय की तरह दुरूह है।"

यहाँ मैं कहना चाहता हूँ कि कई लोग संस्कृत की प्रशंसा भूल में या सदा-

शयता में करते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि शूद्रों और नारियों के लिए संस्कृत का अर्थ क्या है। वे बिना अधिक सोचे समझे सीधे स्वभाव संस्कृत का पक्ष लेते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि उनके इस भोलेपन का देश के लिए कितना दुष्परिणाम निकल सकता है। एक जातिवादी ब्राह्मण वर्ग का निजी लोभ होने में देश पुनः कमजोर हो कर गुलाम हो सकता है। साथ ही, जो विद्वान यह विचार रखते हैं कि अब संस्कृत वैसा नहीं करेगी उन्हें यह सलाह दी जानी बहुत जरूरी है कि वे इस भुलावे में न रहें कि संस्कृत भाषा उससे अधिक हमारा भला करेगी जितना संविधान ने इससे चाहा है। इससे बढ़ कर, यदि एक हजार वर्ष तक भी शूद्र और नारियों के पक्ष में संस्कृत में श्लोक लिखे जाते रहेंगे तब भी इन वर्गों से सम्बन्धित संस्कृत के पापों का प्रायश्चित नहीं हो सकेगा। यदि आज कोई विद्वान यह सोचता है कि संस्कृत में समता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्वता, लोक तंत्र, समाज वाद तथा धर्म निरपेक्षता के सिद्धांतों का पोषण किया जाएगा, उसे यह याद रखना चाहिए कि एक बार किसी भी बहाने से संस्कृत का प्रचलन बढ़ने से इस देश में संस्कृत को पुनः मनुस्मृति से जोड़ने में कोई शक्ति बाधक नहीं हो पाएगी।

यूरोप में भी इस प्रकार का भाषाई परिवर्तन हुआ था। ब्रिटेन में यह लैटिन और अंग्रेजी के सम्बन्ध से समझा जा सकता है। वहाँ एक समय में धर्म के अधिकारियों द्वारा पुस्तकों के मुद्रण के लिए- अनुमति पत्र जारी किए जाते थे। यह पोप और पादरियों की तानाशाही थी। इस पर व्यंग्य करते हुए जान मिल्टन ने अपनी पुस्तक 'एरियापेजिटिका' में लिखा था—"आदेश के शब्द लैटिन में ही लिखे जाते थे मानो विद्वान और वैयाकरण की लेखनी से स्याही लैटिन बन कर ही निकल सकती हो, या शायद वे सोचते रहे हों कि अनुमति पत्र के पुण्य विचार व्यक्त करने के लिए कोई भी लौकिक भाषा उपयुक्त नहीं है। पर मैं समझता हूँ कि वास्तविक कारण वह नहीं वरन यह रहा होगा कि हमारी अंग्रेजी भाषा जो उन नर पुंगवों की भाषा रही है जो मुक्ति की उपलब्धियों के इतिहास के प्रमुख और अग्रणी रहे हैं, ऐसे धृष्ठता पूर्ण और ताना शाहीं वाले आदेश के लिए उपयुक्त शब्द नहीं दे सकती।"

आज हिन्दी और संस्कृत के सम्बन्ध को मिल्टन के अंग्रेजी और लैटिन के सम्बन्ध से तुलना करने की आवश्यकता है। यदि बाद में अंग्रेजी भाषा भी हिन्दुस्तान और अन्य देशों में तानाशाही वाले आदेश के लिए उपयुक्त शब्द दे सकी है तो इसी कारण कि इसका लैटिन से सम्बन्ध पूरी तरह छूट नहीं सका था। यदि हिन्दी भी संस्कृत के प्रभाव से नहीं बच सकी तो इसमें भी एक दिन पुनः स्त्री और शूद्र के खिलाफ जहर उगल दिया जाएगा।

सामाजिक दृष्टि से संस्कृत में संस्कृत की परम्परा के विरोध में कुछ भी नहीं मिलता है। संस्कृत की परम्परा के विरोध में केवल लोक भाषाओं में साहित्य मिलता

है। खड़ी बोली क्षेत्र के डा० कृष्ण चन्द्र शर्मा द्वारा संग्रहीत पुस्तक 'गामेल्ल भास' से कुछ दोहे नीचे दिए जा रहे हैं। ये इस प्रकार हैं:

नदी किनारे रूखड़ा उस पै बैठा भूत:
भूत विचारा क्या करे बाह्मनों में वज र्‌या जूत।
इन दोनों से बच रहो जो चाहो निज खैर:
एक बनिए की दोस्ती एक बाम्हन का बैर।
ढीली धोती बानिया उल्टी मूँछ सुनार;
बिना तिलक का ब्राह्मण पत्थर दे के मार।
बाम्हण हो चोरी करे विधवा पान चबाय;
छतरी हो रण से भगे जन्म अकारथ जाय।
खतरी दाता लाख में कायथ सौ में सूम;
बनिया बूम हजार में बाम्हण बूमा बूम।
गंगा जी का तैरना विप्रन सो व्यापार;
पार गए तो पार है डूब गए तो पार।
सक्कर पूरी कोस दुकोसी बूरा पूरी बारह;
सुन लेवें जो माल पुआ की पहुँचे कोस अठारह।
तगा ततइया बीजली इनको मत पतयाय।
घात करें अनजान में पल की सारा नाय।

खड़ी बोली ज्ञान को वर्ण व्यवस्था के जन्मना कुल की सम्पत्ति से अलग करती है। इस सम्बन्ध से इस पुस्तक के कुछ दोहे इस प्रकार हैं:

चाहे कोई धरम हो चाहे कोई जात;
चाहे कोई बरन हो ज्ञान सभी एक भाँत।
धन, विद्या, तिय, बेलरी, नहि देखे कुल जात;
जो तुमसे लिपटे रहत तिन ते तुम लपटात।
बुरे भलों के होत हैं मत देखो कुल बंस;
हिरनाकुस के हरि भगत उग्रसेन के कंस।

मैं यहाँ यह कहना चाह रहा हूँ कि ब्राह्मण तथा जात पात के विरोध में 'गामेल्ल भास' के ये दोहे एक दम संस्कृत की परंपरा के विरोध में जाते हैं। यह चार्वाकों और लोकायतों की परम्परा है जो धर्म शास्त्रों के श्लोकों में नहीं बल्कि लोक भाषा की गाथाओं में मिलती है। संस्कृत ग्रन्थों को देख कर ऐसा लगता है कि भारत में ब्राह्मणों की जात पात के विरोध में कोई नहीं बोलता होगा। लेकिन लोक परम्परा में यह विरोध हमेशा उजागर रहा है।

इस अन्तर को अच्छी तरह से समझने के लिए हम कान्स्टिट्यूशनल असेम्बली की बहसों को देख सकते हैं। उनमें डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने कहा था कि उनका वश चले तो वे संस्कृत को इस देश की राज भाषा बनाना चाहेंगे। लेकिन उन्हें यह मालूम था कि उनकी इस बात को नहीं माना जाएगा। वे या उनके जैसे लोग विचार धारा के रूप में हिन्दुस्तान के तानाशाह नहीं बनाए गए थे। फिर भी उन्हें यह स्वतन्त्रता मिली थी कि वे अपना मत जाहिर कर सकें। यह उन्होंने किया भी। लेकिन उन्हें बहुमत के सामने अपने व्यक्तिगत मत को छोड़ना पड़ा था। अब यदि डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी को बहुमत के फैसले को लागू करने का काम मिलता है तो उन्हें नेक नीयती से काम करना चाहिए। उन्हें सच में ही अपने स्वार्थ का हित छोड़ कर बहुमत के स्वार्थ को साधने में लग जाना चाहिए। किसी बात पर फैसला लेने से पहले हजार विचार हो सकते हैं लेकिन एक बार फैसला ले लेने के बाद हमें उसके अनुसार काम करना चाहिए। जन तन्त्र तभी सफल हो सकता है जब जनता 'हजार विचार और काम एक' के सिद्धान्त पर चलेगी।

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने भाषा के सम्बन्ध से अपने वर्ण के हित की बात कही थी। उन्हें अपनी बात कहने का अवसर दिया गया था। इसमें उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिए था कि डा० अम्बेडकर उस ड्राफ्ट कमेटी के चेयर मैन थे। डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी के विरोध में डा० अम्बेडकर दूसरी अति पर जा कर कह सकते थे—मेरा वश चले तो मैं हिन्दुस्तान में संस्कृत का खातमा कर दूँ।

सम्पूर्ण बात दो वर्गों के हितों की नहीं है बल्कि समूचे देश के हित की है। डर यह है कि कहीं यह देश पुनः विदेशी शक्तियों का गुलाम न हो जाए। ब्राह्मणों का हित साधन हो, इसमें कुछ भी बुरा नहीं है। सभी को इस देश में भर पेट भोजन मिलना चाहिए। लेकिन भय उस व्यवस्था का है जिसमें ब्राह्मण का हित तभी सधता है जब उसमें शूद्र का अहित होता है। इस चिन्तन और सामाजिक व्यवस्था पर अवश्य रोक लगानी चाहिए। ब्राह्मण अपने आप कमा कर खाएँ, इसमें उन्हें कौन रोकने जा रहा है? रोक केवल उस बात की है जिस व्यवस्था में ब्राह्मण कमाएगा नहीं, केवल शूद्र कमाएगा, तथा शूद्र खाएगा नहीं, केवल ब्राह्मण खाएगा। यह मानवीय और सामाजिक न्याय की हर दृष्टि से गलत है। इसमें सबसे बड़ी गलती देश के भविष्य से जुड़ी हुई है। जाति वादी ब्राह्मणों की ऐसी आपाधापी वाली गलत सामाजिक व्यवस्था से यह शक्ति शाली देश पुनः गुलाम हो सकता है।

वास्तव में, यदि संस्कृत भाषा को हिन्दी भाषा से तनिक भी प्यार है, यदि संस्कृत कभी भी ऐसा महसूस करती है कि वह हिन्दी की माँ है और हिन्दी उसकी बेटी है तो उसे एक अच्छी माँ के समान हिन्दी के राज भाषा बनने के बाद हिन्दी को यह शिक्षा देनी चाहिए—"बेटी, जिन रास्तों पर मैं चली थी, इस देश के हित में तू उन रास्तों पर मत चलना। कहीं ऐसा न हो कि तेरा भी मेरे जैसा बुरा हाल हो जाए।"

अब संस्कृत को लोक हित में वे सारे रहस्य उगल देने चाहिए कि वह केवल जाति वादी ब्राह्मण वर्ण के घर की रखैल बन कर रह गई थी। जाति वादी ब्राह्मणों ने किसी को उसका मुखड़ा भी देखने नहीं दिया था। वह किसानों और मजदूरों के घरों में नहीं जा सकी थी। संस्कृत इस देश की बड़ी बूढ़ी भाषा है। उसे अपने बड़े बूढ़ेपन का गौरव न रटते रह कर यह भी बताना चाहिए कि उसके इतिहास में कुछ गलतियाँ भी हुई हैं। तत्कालीन प्रधान मंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कान्स्टिट्यूशनल असेम्बली की बहसों में संस्कृति के संबंध में अपने विचार बहुत सोच समझ कर रखे थे। उन्होंने पूछा था—"क्या हम पीछे मुड़ कर उस संस्कृति को मन, वचन और कर्म से वापस लाना चाहते हैं जिसने हमें पहले गुलामी की ओर भेजा था?"

अध्याय—3

हिन्दी की श्रमिक संस्कृति

1

भारतीय जीवन के अनेक कोने ऐसे हैं जिन पर बोलते समय संस्कृत गूंगी और बहरी हो जाती है। यह मजदूरों और किसानों की भाषा के रूप में चुप्पी साध लेती है। इसके विपरीत, भारतीय जीवन के कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ यह वाचाल बन जाती है। मन्दिरों और पुरोहितों की भाषा के रूप में यह दूसरी भाषाओं को बोलने नहीं देती है। एक ओर यह मौन है और दूसरी ओर यह वाचाल है।

यह बात पुनः कही जाए कि संस्कृत भाषा कई दृष्टियों से बहुत ही कमजोर भाषा है। इसमें ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा तथा परलोक के लिए शब्दों और अर्थों के हजारों भेदोपभेद हों परन्तु अनेक सांसारिक विचारों और भावों के लिए लोकप्रिय और प्रचलित शब्द नहीं मिलते हैं। उदाहरण के लिए, इसमें मजदूर के लिए कोई शब्द नहीं है। श्रमिक' शब्द जबर्दस्ती का चलाया हुआ है। पुराने कोशों में इसका छोटा नाम नहीं मिलेगा। ऐसे ही, संस्कृत में बेलदार और मिस्तरी के लिए कोई पापुलर शब्द नहीं है। इसका कारण यह है कि जिन्होंने संस्कृत भाषा के साहित्य पर कब्जा बनाए रखा था वे कभी श्रमिक नहीं रहे थे। जो श्रमिक थे उन्हें संस्कृत भाषा को देव वाणी कह कर सुनने और पढ़ने का अवसर नहीं दिया गया था। इसी कारण संस्कृत लौकिक बातों में बहुत पीछे रह गई है।

'द कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, लेंग्वेजेज एण्ड लिटरेचर' वोल्यूम-5 के सम्पादक को एक समस्या का सामना करना पड़ा है। इस वोल्यूम के पार्ट-II में 23वाँ अध्याय एस. के. मित्रा का 'पोलिटिकल एण्ड इकोनोमिक लिटरेचर इन संस्कृत' है। इस विषय को आरम्भ करते ही इसके सम्पादक को फुट नोट में यह लिखना पड़ा है—"संस्कृत को सामान्यता प्राचीन भारतीय ऋषियों के पराभौतिकी और अमूर्त्त विषयों पर विद्वता का साहित्य समझा जाता है। इसके कारण यह माना जाता है कि संस्कृत जो उपनिषदों के विचारों को अच्छी प्रकार अभिव्यक्त करती है, आर्थिक और राजनैतिक विषयों को अभिव्यक्ति देने के लिए प्रभावी भाषा नहीं है।"

मैं खुद इस बहस में नहीं पड़ना चाहता कि संस्कृत में भारतीय लोगों का राजनैतिक और आर्थिक चिन्तन कितना अभिव्यक्त हुआ है। मैं केवल इस वोल्यूम के सम्पादक के उस भय को महसूस करना चाहता हूँ जो उसे हुआ था। मैं यह भी कहना

चाहता हूँ कि यह भय अकारण नहीं है। संस्कृत के पक्ष धरों के मन में इस प्रश्न से उपजी खटास बनी रहती है। इस अध्याय के लेखक स्वयं एस. के. मित्रा ने इस लेख का आरम्भ यह लिख कर किया है कि प्राचीन भारतीय विचारकों के लिए विज्ञानों के समान राज्य शासन विधि और राजनैतिक अर्थ शास्त्र स्वतन्त्र विषय नहीं थे।

डा० सर नाम सिंह शर्मा 'अरुण' ने चन्द्र बली पाण्डेय के माध्यम से अपनी पुस्तक 'आर्य भाषाओं के विकास क्रम में अपभ्रंश तथा अन्य निबन्ध' में वाल्मीकि रामायण की बहु प्रचलित कहानी उद्धृत की है। यह उद्धरण इस प्रकार है—"हनुमान जब अशोक वाटिका में सीता जी के पास गए तो इस पशोपेश में पड़ गए कि 'द्विजी' भाषा में बोलूँ या 'मानुषी' भाषा में। 'द्विजी' भाषा विद्वानों की भाषा थी जिसे संस्कृत कहा जाता है और 'मानुषी' भाषा जन साधारण की थी जिसे प्राकृत कहा जाता है। अन्त में उन्होंने मानुषी भाषा में ही बातचीत की।" भाषाओं के इस अंतर को डा० शर्मा 'अरुण' डा० श्याम सुन्दर दास के माध्यम से इस तर्क तक ले आते हैं कि 'संस्कृत' ने केवल चुने हुए प्रचुर प्रयुक्त व्यवस्थित व्यापक शब्दों से ही अपना भंडार भरा पर औरों ने वैदिक भाषा की प्रकृति स्वच्छन्दता को भर पेट अपनाया। इससे भी इस मत की पुष्टि होती है कि संस्कृत कुछ मामलों में बड़बोली तथा दूसरे मामलों में एक दम चुप्पी साधी हुई भाषा है।

संस्कृत भाषा में कमाने के लिए शायद ही कोई शब्द मिलेगा। जो मिलेगा वह आम जनता का शब्द नहीं रहा है। रोजमर्रे के काम के लिए कोई सात मात्राओं के 'आजीविका' या नौ मात्राओं के 'जीविकोपार्जन' जैसे उच्चारण में जटिल शब्दों का प्रयोग नहीं करेगा। कारण यही है कि संस्कृत जिस वर्ग तक सीमित थी वह कमाता नहीं था। उसके पास श्रम की कोई महत्ता नहीं थी। हाँ, जिस आधार पर उस वर्ग की गुजर होती थी संस्कृत में वह शब्द बहुत छोटा और मुख सुविधा की दृष्टि से बेहद सरल बनाया गया है। यह शब्द 'दान' है। इसके उच्चारण में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। इस शब्द की संस्कृत साहित्य में इतनी भरमार है कि गीता प्रेस गोरखपुर से छपे बड़े साइज के 'महा भारत' के एक खण्ड में दान महिमा का वर्णन कई सौ पृष्ठों में समाया हुआ है। आज उसे पढ़ते पढ़ते हमें पचास बार ऊब आती है लेकिन दान लेने वाले एक बार भी नहीं थकते थे। यही कारण है कि 'दान' शब्द इतनी आवृत्ति के बाद भी पिष्ट पेषण न कहा जा कर साहित्यिक बना रहा जबकि कमा कर खाने के लिए संस्कृत कोई लोकप्रिय शब्द जनता को नहीं दे सकी। इसे जन सामान्य की भाषा में तब अर्थ मिलता है जब चरण दास के शिष्य जोगजीत अट्ठारहवीं शताब्दी में कहते हैं—'गुजर करूँ यों उमर बिताऊँ।'

फारसी के या अन्य विदेशी भाषाओं के जो शब्द हिन्दी में खप कर लोकप्रिय हुए हैं वे अधिकांश वे हैं जिनके लिए संस्कृत में कोई शब्द नहीं था या वे अनपढ़

रखे गए लोगों के लिए बोलने में कठिन थे। इसके उत्तर में या विरोध में किसी आधुनिक विद्वान के लिए यह बताने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए कि संस्कृत भाषा में आम जनता के शब्द नहीं ढूँढे जा सकते।

जोगजीत के दो सौ वर्ष पूर्व के लिखे एक हस्त लिखित ग्रन्थ 'जैमन' में हमें कामगार जातियों के लिए कुछ शब्द मिले हैं। ये शब्द—अजीवका, कारीगर, रुजगार, महंत मजूरी तथा धंध हैं। इनमें एक ही शब्द—अजीवका—संस्कृत से तद्भव रूप में लिया गया है—शेष सारे शब्द गैर संस्कृत हैं। धंध 'धंधा' ही है और खोज में प्राचीन बनता चला गया है।

2

साहित्य की कई कसौटियाँ होती हैं। इसमें अपने अपने माप दंड हो सकते हैं। बुराई तब उत्पन्न होती है जब दूसरों के माप दंडों को नकारा जाता है। मेरा मतलब है—जब किसी रचना का एक माप दंड यह हो कि वह हमें कितना पार लौकिक बनाती है तो इसका दूसरा माप दंड यह भी होना चाहिए कि वह उस पार लौकिकता को किस प्रकार व्यवहार में ला कर समाज के लिए लौकिक और उपयोगी बनाती है। हम लोगों में सबसे बड़ी कमी यह है कि हम आज तक लौकिक तथा पारलौकिता का संबंध निश्चित नहीं कर पाए हैं। हमारे दार्शनिक चिन्तन का मुख्य विषय यही है—और यहीं हम बुरी तरह असफल रहे हैं।

हमारा कुछ विशेष बुरा न भी हुआ होता यदि हम इस विषय में बड़बोले न बनते। एक ओर हमारे मन में संस्कृत भाषा को उच्च वर्ग में बटोर कर अपनी थाती कहने का जबर्दस्त लोभ रहा, दूसरी ओर हम सांस्कृतिक क्षेत्र में घमंडी बने रहे। 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' की घोषणा करके हमने क्या किया है? सारी उधेड़बुन और माथा पच्ची के बाद हम अधिक से अधिक वेदान्त के रूप में 'अनिर्वचनीयता' तक ही पहुँच पाए हैं। बुद्ध के रूप में जहाँ हमारी संस्कृति को मौन रह जाना चाहिए था, शंकर के रूप में वहाँ वह अनावश्यक रूप से घमंडी और बड़बोली बन गई है। जब शंकर को यही पता नहीं चल सका कि सत में से असत कैसे निकला है तो उन्हें यह अधिकार नहीं मिल गया था कि वे सत और असत की परिभाषाएँ देते। उनसे यही पूछा गया था कि वे पहले सत और असत का सम्बन्ध स्थापित करें—तभी इनका व्यतिरेकी विश्लेषण सामने रखें। लेकिन अपना सच्चा दार्शनिक काम छोड़ कर उन्होंने बाद के काम में एक अनधिकारी के समान चेष्टा की है।

तब भी कुछ ठीक रहता यदि हमारा दर्शन शास्त्र ब्रह्म और जगत के भेद या संबंध को समझ में न आने पर सामान्य लोगों के लिए ज्यों का त्यों बता कर छोड़ देना। लेकिन ऐसा नहीं हुआ और हमारे दर्शन शास्त्र ने हमारी जनता के साथ अन्याय किया है। उसे ब्रह्म और जगत के संबंध का पता नहीं—और फिर वह ब्रह्म को सत्य तथा जगत को मिथ्या कह कर हमें कहीं का नहीं छोड़ता। एक अच्छे दार्शनिक में यह साहस होना चाहिए कि वह नया सत्य पाने पर कह सके—जो कुछ मैंने आज से पहले पाया था वह सब गलत था। लेकिन इस देश में हम जिस लकीर पर चल पड़े थे— विना कुछ सोचे समझे आँख मूंद कर चलते रहे। हममें यह शक्ति नहीं आई कि हम अपनी लाइन बदल सकते। यह इसलिए हुआ क्योंकि हम जिज्ञासु न हो कर लोभी और स्वार्थी अधिक हो गए थे। यदि हम ज्ञान की खोज में नेक नीयती से लगे होते तो अनिर्वचनीयता पर न रुक कर अनिर्वचनीयता में संदेह करते। हम अनिर्वचनीयता तक पहुँच कर कितने सन्तुष्ट हो कर बैठ गए कि जैसे हमने संसार के सत्य का अंतिम सार प्राप्त कर लिया हो। जो शब्द ही 'अ' से आरम्भ हो कर निषेधात्मक था वह हमारे लिए विधेयात्मक हो कर तानाशाही आदेश देने वाला हो गया। शंकर का काम था कि जब वे दार्शनिक खोज में अनिर्वचनीयता तक पहुंचे थे— दूसरों से कह देते कि मैं असफल हो गया हूँ—इससे आगे कोई और खोज करे। तब सोचा जा सकता था कि हमारे आरम्भिक मूल्य ही गलत रहे होंगे। लेकिन अपनी खोज का अधूरा काम दूसरों को देने के बजाय शंकर स्वयं जगद गुरु बन बैठे। हमें अपने अज्ञान का ढोल इस प्रकार नहीं पीटना चाहिए था। सबसे शक्ति शाली भाषा देव वाणी संस्कृत—फिर सबसे कमजोर शब्द—अनिर्वचनीय —कुछ समझ में नहीं आता कि यह गोरख धंधा क्या है।

इसे हम शोर मचा कर 'पवित्रता' कहते आ रहे हैं—पर इसका विश्वास कौन करेगा—क्या केवल वे ही जिनके पक्ष में यह अनिर्वचनीयता का दंभ जाता है? ठीक है, पर यह जिनके विरोध में जाता है वे इसे क्या कहेंगे? उन्हें अधिकार मिलना चाहिए कि वे इसे हिप्पोक्रेसी कह सकें। हिन्दुस्तान का सारा दर्शन केवल अनिर्वचनीयता में सिमट कर नहीं रह जाना है—इसके विरोध को गाली न समझा जाए—हमें इससे आगे बढ़ना चाहिए और देश में सभी की भलाई की सोचनी चाहिए।

प्रश्न उठता है—हमारे देश को यह दार्शनिक झटका क्यों लगा? इसका उत्तर है- यह कमा कर खाने वालों तथा कमा कर न खाने वालों के भेद के कारण लगा है। होना यह चाहिए था कि जिस मनुष्य ने कमाया था—वही सोचता या जो मनुष्य सोचता था—उसकी सोच का परिणाम कमा कर खाने में होता। ऐसा न होने से हमें मात्र दार्शनिक झटका नहीं लगा बल्कि हमारे साथ दार्शनिक धोखा हुआ है। कमा कर न खाने वालों के हाथ में दर्शन की सबसे अधिक दुर्गति होती है। अमूर्त्त के नाम पर न

कमाने वाला शेख चिल्लियों की बात कर सकता है। यदि कोई कमा कमाया खाता है तो वह संसार को सरलता से माया कह सकता है। उसे क्या पता कि कमा कर खाने में क्या अनुभूति होती है। कमा कर खाने में मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है लेकिन इस अनुभूति को दुख की बना कर छोड़ दिया जाता है जब कमाने वाले को खाने को नहीं दिया जाता और उसकी कमाई न कमाने वालों के लिए छीन ली जाती है।

बताया जाता है, बल्कि यशोगान किया जाता है कि जो लोग कमाते नहीं हैं, परन्तु तप करते हैं, वे अपने शरीर पर अपार कष्ट भोगते हैं। यहाँ तक कि वे विवाह भी नहीं करते। संसार का सारा व्यापार छोड़े रहते हैं। पर यहाँ पूछा जा सकता है कि वे अपने शरीरों पर क्यों दुख भुगतते हैं? वे विवाह क्यों नहीं करते? उन्हें इससे क्या मिलता है? यही रोना है कि इस सन्यास से हमें कुछ नहीं मिलता है। भारत के बच्चे सन्यासी बने—इससे भारत को क्या मिलना है? न उन बच्चों को व्यक्तिगत रूप में कोई सुख मिल पाएगा और न उनका चिन्तन संसार के अनुरूप तथा कमा कर देने वालों की भलाई के लिए हो सकेगा। कमा कर खाएँ और स्वस्थ चिन्तन करें—हमें अपने बच्चों के लिए यही सीख देनी थी।

यह अच्छी बात है कि हमारे मध्य कालीन सन्तों में कई सन्त कमा कर खाने वालों में से हुए हैं। रैदास से यह परम्परा आरम्भ होती है। उन्होंने जूतियाँ बनाई थीं। कबीर ने जुलाहे का काम किया था। दादू धुने बताए जाते हैं। और भी कई पेशों के सन्त इस श्रेणी में आते हैं। इन सन्तों के चिन्तन का कमा कर न खाने वाले चिन्तकों से अन्तर स्पष्ट है। यह अन्तर विरोध की सीमा तक है। इनके विषय तक बदल गए हैं। और जिस ब्रह्म और जगत के भेद के चक्कर से ये बेचारे नहीं छूट पाए तथा राम भजन और लख चौरासी योनियों की बात करते रहे—वह इनके बूते से बाहर की बात थी। मूल्यों की समूची लड़ाई ये नहीं लड़ सके—ये उसे खोज भी नहीं सके थे। मेरे कहने का अर्थ है—ये अपने युगों में जिए भी हैं और इन्होंने लम्बी लम्बी आयु प्राप्त की हैं। इन्होंने देश में प्रचारित कुछ पुराने मूल्यों को स्वीकार कर लिया था। इस पुस्तक के अध्याय-6 में इस पहलू पर अधिक विस्तार से चर्चा की जाएगी।

जब तक हमें न्याय की परिभाषा करनी न आती हो, हमें किसी भी दंड विधान को क्रियान्वित नहीं करना चाहिए। दुर्भाग्य से हमने अपने देश के पिछले इतिहास में यही गलत काम किया है। हम ब्रह्म से जगत के संबंध को अनिर्वचनीय कहते रहे—अपने घमंड में इतने चूर रहे कि उसे अनिर्वचनीय के स्थान पर अज्ञात भी नहीं कह सके, और शूद्रों को मृत्यु का दण्ड देते रहे। यह दार्शनिक झटका भी नहीं, दार्शनिक धोखा भी नहीं, बल्कि दार्शनिक घात हुआ है। मानवता के खिलाफ किया

गया यह कोई छोटा मोटा अपराध नहीं है कि हमने अपने ही घरों में अपनी नारियों को अनपढ़ बनाए रखा था ।

3

यह प्रकरण बहुत लम्बा है। यहाँ इस सम्बन्ध में जोग जीत द्वारा सन 1779 में लिखे गए 'जैमन' पुराण की बात की जाए । यह काव्य ग्रन्थ मेरे पास हस्त लिखित रूप में है । इसमें से नीचे कामगार जातियों का शब्द कोश दिया जा रहा है । यह इस प्रकार है :

अस्किबाज	चुहर	धीवर	फोज
कंजर	चूने वारे	धुना	बंदीजन
कंदोई	छीपी	धुनिया	बक्सी
कलाल	छेरे	धोबी	बजाज
कलामत	चोबदार	नकलि	बढी
कसबी	चौकीदार	नकलिया	बधिक
कसेरे	जुलाहे-जुलहे	नक्कीब	बनिया-बनक
कहार	जोगी	नचिया-निर्तकार	बहुरूपी
काक्षी	ज्मादार	नट	बाजीगर
कुंजरे	टांट दोवरा बटै	नाई	बैद
कुम्हार	डोम	नायन	बिसाती
कुम्हारी	डोर बटै	नेगी	बेलदार
कोली	ढाठी	पंडत	बेस्या
कोठीवाल	तमाखू वारे	पटवा	भगतिया
कीमिया-खवासी	ताबोली	पबाडि	भठियारे
खिराही	तेली	परचूनी	भथिया
खोजे	दरजी	पडचूनी	भांग वारे
चबैनिया	दाई	पसारी	भांड
चमार	दिवान	पस्सारी	भाट
चर्मकार	दुजडिया	पाहन घडिया	भील
चारन	दूती	फरास	भोपे

मजूर	माली	सराफ	सूद
मधरा वारे	रंगरेज	सराप	स्याने
मन्यार	रजडिया	सट्टाकर	स्वांगी
मस्करा	रफूकार	सासी	हलकारा
मल्हा	राज	साह	हलवाय
महले	रास करिइया	सिकलिगर	हिजरे
मैल्ह	लुहार	सिरदार	हुंडीवाल
महाजन	व्यौहारी	सिलपकार	हेडी
मागद	संत्रास	सुनार	

ऊपर दी गई यह सूची जैमन पुराण की दृष्टि से पूर्ण नहीं है। गाँठ कटइया-ज्वारी-उच्चका-चोर-जार-ठग को इसमें जोड़ा जा सकता है।

कामगार जातियों की इस लम्बी सूची से हमें पता चलता है कि हिन्दी की संस्कृत की तुलना में क्या स्थिति है। हिन्दी में तद्भव, देशज, अरबी और फारसी के शब्द हैं। शब्द लेने में किसी भी भाषा से कोई परहेज नहीं रखा गया है। इस सूची का अधिक विश्लेपण किया जाए तो अधिक बातें सामने आएँगी। मूल रूप से यही अन्तर समझा जाए कि हिन्दी कमेरों की भाषा रही है तथा संस्कृत कमा कर खाने की दृष्टि से निठल्ले लोगों की भाषा रही है। गांधी जी ने लोगों के इस निटल्लेपन को देख कर ठीक ही सबके लिए, चाहे वे विद्वान हों या राज नेता, श्रम का महत्व बताया था। अधिक नहीं तो उन्होंने कम से कम हर किसी के लिए चर्खे पर सूत कात कर पूनियाँ बनाना अनिवार्य कर दिया था। लोगों के इस निठल्लेपन को आगे चेक करते हुए उन्होंने पूनियों का वजन तौलना आरम्भ कर दिया था। किसी को यह अधिकार नहीं दिया गया था कि वह अपने एवज का सूत दूसरों से कतवा ले। हर किसी को अपने हिस्से का सूत अपने हाथों से कातना पड़ता था। गांधी जी ने इससे भी बड़ा क्रांतिकारी पाठ—'अपने भंगी आप बनो'—के रूप में सब लोगों के लिए एक समान रखा था। वास्तव में, समाज के इस प्रकार बदलने से भाषा में भी महान परिवर्तन हो जाता है। यहाँ दर्शन शास्त्र के ज्ञान ध्यान को इस प्रकार विकसित किया गया था कि वह श्रम से भिन्न हो जाता था। 'गए थे हरि भजन को ओटन लगे कपास'—की कहावत में यही ध्वनि मुखर है कि हरि भजन हाथ से काम करने से भिन्न है। यही अन्तर दो प्रकार की भाषाओं को जन्म देता है। यह देव वाणी और जन वाणी का फर्क है। इसमें संस्कृत ब्राह्मण संस्कृति है और इसके विपरीत, हिन्दी श्रमिक संस्कृति है।

4

आधुनिक भारत में संस्कृत के अध्ययन के बारे में कई प्रकार के विचार बने

हैं। इस चिन्तन की शुरुआत भारत में पुनर्जागरण के पिता राजा राम मोहन राय ने की थी। उन्होंने सबसे पहले इस विषय पर मौलिक ढंग से सोचा था।

ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की शिक्षा में प्रगति लाने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में कलकत्ते में एक स्कूल खोला था। इससे राजा राम मोहन राय को बहुत प्रसन्नता हुई थी। वे इस आशा में उछल पड़े कि उस स्कूल के माध्यम से भारतीय लोगों को गणित शास्त्र, प्राकृतिक दर्शन शास्त्र, रसायन शास्त्र, शरीर शास्त्र और इसी प्रकार के अन्य लाभकारी विज्ञान पढ़ने के अवसर मिलेंगे। उनका विचार था कि लौकिक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके भारतीय लोग यूरोप के लोगों के समान शक्ति शाली और जागरूक हो जाएँगे।

आशा के विपरीत राजा राम मोहन राय को पता चला कि ब्रिटिश सरकार भारतीय लोगों को विज्ञान की शिक्षा देने नहीं जा रही है बल्कि हिन्दू पण्डितों के जरिए एक संस्कृत स्कूल खोल कर भारतीयों को वही शिक्षा दी जाएगी जिससे वे सदियों से परिचित रहे थे। सरकार की इस नीति के विरोध में राजा राम मोहन राय ने तत्कालीन गवर्नर जनरल एमहर्स्ट के लार्ड विलियम पिट को 11 दिसम्बर, 1823 के दिन एक पत्र लिखा था। इसमें उन्होंने लिखा था कि संस्कृत स्कूल की स्थापना से भारतीय युवकों के मस्तिष्कों को व्याकरण की वारीकियों तथा पराभौतिक विभेदों से भर दिया जाएगा जो व्यक्ति और समाज में से किसी के भी लाभ में नहीं है। शिक्षार्थी केवल वही जान सकेंगे जो भारतीय विद्वानों को दो हजार वर्षों से ज्ञात है। उस ज्ञान में बाद के लोगों द्वारा टीका टिप्पणियों के रूप में की गई माथा पच्ची भी जुड़वाई जाएगी। उन्होंने बताया कि संस्कृत भाषा इतनी कठिन भाषा है कि उसमें पारंगत होने के लिए किसी मनुष्य को लगभग अपना पूरा जीवन होम करना पड़ता है। तभी कुछ लोगों ने संस्कृत के अध्ययन को केवल अपने स्वार्थ के हित साधन के लिए अपनाया था। संस्कृत की इसी दुरूहता के कारण ज्ञान को सामान्य लोगों के लिए सुलभ नहीं कराया गया था। सामान्य जनता को अशिक्षित रखने के लिए संस्कृतज्ञों के पास भाषा की दुरूहता का एक अच्छा बहाना मिल गया था। भाषा को सरल करने से ज्ञान सर्व सुलभ हो सकता था, इसलिए उन्होंने भाषा की दुरूहता को सामान्य जनता के विरुद्ध एक हथियार के रूप में प्रयोग किया था। फिर इस दुरूह भाषा में जो कुछ संग्रहीत था उससे शिक्षार्थी द्वारा किए गए परिश्रम की तुलना में कुछ विशेष लाभ नहीं था।

राजा राम मोहन राय ने गवर्नर जनरल को लिखे अपने इस पत्र में अपना तर्क बहुत विनीत रूप में रखा था। उन्होंने लिखा था कि यदि ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारतीय लोगों के जीवन में सुधार लाने का है तो वह युवकों के कीमती समय में उनसे संस्कृत व्याकरण की पेचीदगियाँ रटवाने से पूरा होने नहीं जा रहा

है। उन्होंने उदाहरण दे कर समझाया था कि संस्कृत में खाद् धातु का अर्थ खाना है। लेकिन 'खादति' कहने से पुल्लिग वाले वह, या स्त्री लिंग वाले वह, या नपुंसक लिंग वाले वह का भास होता है संस्कृत भाषा में इसी पर चर्चा चलती रहती है। इससे आगे उन्होंने बताया कि वेदान्त के प्रश्नों के उत्तर से भी भारतीय लोगों के जीवन में कोई सुधार नहीं हो पाएगा। आत्मा ईश्वर में किस प्रकार लीन हो जाती है—आत्मा का ब्रह्म से क्या सम्बन्ध है—इस प्रकार की दार्शनिक उहापोह से भारतीय युवकों का कोई भला होने वाला नहीं है। वेदान्त दर्शन के इन सिद्धाँतों को जान लेने से मनुष्य का तनिक भी कल्याण नहीं होता है कि सारा दृश्यमान जगत असार है तथा हमारे माता पिता और हमारे भाई-बहन हमारे अपने नहीं हैं इसलिए उनसे किसी प्रकार का लगाव नहीं रखना चाहिए अर्थात जितनी जल्दी हो सके, उनसे सम्बन्धों को तोड़ लिया जाना चाहिए। उन्होंने अपनी वेदना यह कह कर प्रकट की थी कि मीमांसा दर्शन के विद्यार्थी द्वारा यह जान लेने से कि वह तत्व क्या है जिसके द्वारा वेद के कुछ मंत्र उच्चारण करने से वैदिक बलि के लिए बकरे की हत्या करने वाला मनुष्य पाप मुक्त हो जाता है या यह जान लेने से कि वेद मंत्रों का फल तथा उनका सच्चा अर्थ क्या है, कुछ भी वास्तविक लाभ नहीं होता। उन्होंने न्याय दर्शन पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि विद्यार्थी द्वारा यह जान लेने से कि ब्रह्माण्ड की वस्तुएँ कितने वर्गों में बाँटी जा सकती हैं, या आत्मा का शरीर से क्या शास्त्र सम्मत सम्बन्ध है, उसके जीवन के लिए लेश मात्र भी हितकारी नहीं है। उन्होंने निष्कर्ष के रूप में कहा था कि शिक्षा की संस्कृत भाषा की यह पद्धति इस देश को अंधकार में रखने के लिए सबसे सरल रास्ता है। उन्होंने 'वेदान्त' नाम की अपनी पुस्तिका में लिखा था कि वेदों का सारा ज्ञान संस्कृत के काले पर्दों में छिपा हुआ है। इस भाषा की व्याख्या करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों का है। दूसरे लोगों को संस्कृत की इन पवित्र पुस्तकों को छूने का भी अधिकार नहीं है। इसलिए जन सामान्य को इस दर्शन के बारे में कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं है।

5

राजा राम मोहन राय के बाद संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने भी काफी विचार किया है। लेकिन स्वामी विवेकानन्द के सोचने में राजा राम मोहन राय के सोचने से बहुत अन्तर है। भारत के इन दोनों महा पुरुषों का उद्देश्य एक ही है कि भारत के दलित और पीड़ित लोगों को ऊपर उठाया जाए लेकिन इस काम को करने की दोनों की कार्य प्रणालियाँ अलग अलग हैं। राजा राम मोहन राय

की कार्य प्रणाली हम समझ ही चुके हैं कि इस देश में संस्कृत भाषा की शिक्षा दीक्षा पर एक भी पैसा खर्च नहीं किया जाना चाहिए । अब हम स्वामी विवेकानन्द की कार्य प्रणाली के बारे में भी जान लें कि इस बारे में वे क्या कहते हैं ।

पण्डित सूर्य कान्त त्रिपाठी 'निराला' ने 'भारत में विवेकानन्द' नाम से एक पुस्तक लिखी है । यह पुस्तक स्वामी विवेकानन्द के अंग्रेजी भाषा में दिए गए कुछ व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद है । इसमें स्वामी विवेकानन्द द्वारा मद्रास में दिया गया एक महत्वपूर्ण व्याख्यान 'भारत का भविष्य' संग्रहीत है । इसमें स्वामी विवेकानन्द ने अपनी कार्य प्रणाली की चर्चा करते हुए बताया है—"मेरा विचार है, हमारे शास्त्र ग्रंथों में आध्यात्मिकता के जो रत्न मौजूद हैं और जो कुछ ही मनुष्यों के अधिकार में मठों और अरण्यों में छिपे हुए हैं, केवल वहीं से इस ज्ञान का उद्धार करने से काम न होगा, किन्तु उससे भी दुर्भेद्य पेटिका अर्थात जिस भाषा में ये सुरक्षित हैं उस शताब्दियों के संस्कृत शब्दों के जाल से उन्हें सबके लिए सुलभ कर देना चाहता हूँ । मैं इन तत्वों को निकाल कर सब की—भारत के प्रत्येक मनुष्य की—साधारण सम्पत्ति बनाना चाहता हूँ, चाहे वह संस्कृत जानता हो या नहीं । इस मार्ग की बहुत बड़ी कठिनाई तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक हमारी जाति के सभी मनुष्य—यदि संभव हो तो—संस्कृत के अच्छे विद्वान न हो जाएँ ।" आगे उन्होंने इस कठिनाई की वास्तविकता को मानते हुए कहा है—"यह कठिनाई तुम्हारी समझ में आ जाएगी जब मैं कहूँगा कि आजीवन इस संस्कृत भाषा का अध्ययन करने पर भी जब मैं इसकी कोई नई पुस्तक उठाता हूँ तब वह मुझे बिल्कुल नई जान पड़ती है । अब सोचो कि जिन लोगों ने कभी विशेष रूप से इस भाषा का अध्ययेन करने का समय नहीं पाया उनके लिए यह कितना अधिक क्लिष्ट होगा । अतएव मनुष्यों की बोल चाल की भाषा में उन विचारों की शिक्षा देनी होगी ।"

जन भाषा की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी स्वामी विवेकानन्द ने भारत में संस्कृत भाषा के ज्ञान को बहुत आवश्यक माना है । उन्होंने कहा है कि संस्कृत शब्दों का उच्चारण ही जाति को एक प्रकार का गौरव, शक्ति और बल देता है । उन्होंने संस्कृत के पक्ष में तर्क रखा है—"महानुभाव रामानुज, चैतन्य और कबीर ने भारत की नीची जातियों को उठाने का जो प्रयत्न किया था उसमें उन महान धर्माचार्यों को अपने ही जीवन काल में अद्भुत सफलता मिली थी; किन्तु फिर उनके बाद उस कार्य का जो शोचनीय परिणाम हुआ उसकी व्याख्या होनी चाहिए, और जिस कारण से उन बड़े बड़े धर्माचार्यों के तिरोभाव के प्रायः एक ही शताब्दी के भीतर वह उन्नति रुक गई, वह भी बतलाना चाहिए ।" उन्होंने स्वयं इस कारण को खोज कर इसका उत्तर दिया है । वे कहते हैं—"उन्होंने नीची जातियों को उठाया था, वे सब चाहते थे कि वे उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो जाएँ, परन्तु उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में शक्ति नहीं लगाई । यहाँ तक कि भगवान बुद्ध

ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत शिक्षा का विस्तार बंद कर दिया। वे आशुफल प्राप्ति के इच्छुक थे, इसीलिए उस समय की भाषा पाली में संस्कृत भाषा में निबद्ध भावों का अनुवाद कर उन्होंने उनका प्रचार किया। वह बहुत ही सुन्दर हुआ था—जनता उनका अभिप्राय समझ पाई क्योंकि वे जनता की बोलचाल की भाषा में बोले थे। यह बहुत ही अच्छा हुआ था, इससे उनके भाव बहुत शीघ्र फैले और बहुत दूर दूर तक पहुँचे, पर इसके साथ ही संस्कृत का भी प्रचार होना चाहिये था।"

स्वामी विवेकानन्द ने संस्कृत भाषा को भारतीय जन मानस के गौरव, बुद्धि और संस्कारों से जोड़ कर देखा है। उन्होंने नीची जातियों के लोगों को शिक्षा दी है—'ऐ नीची जातियों के लोगो, मैं तुम्हें बतलाता हूँ, तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी अपनी दशा को उन्नत करने का एक मात्र उपाय संस्कृत पढ़ना है, यह लड़ना झगड़ना और उच्च वर्णों के विरोध में लेख लिखना व्यर्थ है। इससे कोई उपकार न होगा, इससे लड़ाई झगड़े और बढ़ेंगे, और यह जाति, दुर्भाग्यवश पहले ही से जिसके टुकड़े टुकड़े हो चुके हैं, और भी टुकड़ों में बँटती रहेगी। जाति भेद हटाने तथा साम्य भाव लाने का एक मात्र उपाय उस संस्कार और शिक्षा का अर्जन करना है जो उच्च वर्णों का बल और गौरव है। यदि यह तुम कर सको तो जो कुछ तुम चाहते हो, तुम्हें मिल जाएगा।" अपने इस लेख में उन्होंने पुनः यही बात दोहराई है—"ब्राह्मणेतर जातियों से मैं कहता हूँ, ठहरो, जल्दी मत करो, ब्राह्मणों से लड़ने का मौका मिलते ही उसका उपयोग न करो, क्योंकि मैं पहले ही दिखा चुका हूँ, तुम अपने ही दोष से कष्ट पा रहे हो। तुम्हें आध्यात्मिकता का उपार्जन करने और संस्कृत सीखने के लिए किसने मना किया था? इतने दिनों तक तुम क्या करते रहे? क्यों तुम इतने दिनों तक उदासीन रहे? और दूसरों ने तुमसे बढ़ कर मस्तिष्क, वीर्य, साहस और क्रिया शक्ति का परिचय दिया, इस पर अब चिढ़ क्यों रहे हो? संवाद पत्रों में इन सब व्यर्थ वाद विवादों और झगड़ों में शक्ति का क्षय न करके, अपने ही घरों में इस तरह लड़ते झगड़ते न रह कर—जो पाप है—ब्राह्मणों के चरित्रोत्कर्ष को अपनाने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो। बस तभी तुम्हारा उद्देश्य सिद्ध होगा। तुम क्यों संस्कृत के पंडित नहीं होते? भारत की सभी जातियों में संस्कृत शिक्षा का प्रचार करने के लिए तुम क्यों नहीं करोड़ों रुपये खर्च करते? मेरा प्रश्न तो यही है। जिस समय तुम यह कार्य करोगे उसी क्षण तुम ब्राह्मणों के बराबर हो जाओगे। भारत में शक्ति लाभ का गूढ़ रहस्य यही है।"

राजा राम मोहन राय और स्वामी विवेकानन्द की कार्य प्रणालियों में जो अन्तर है उसकी एक सम्यक व्याख्या की जा सकती है। स्वामी विवेकानन्द ने संस्कृत को इस देश में महानता की कुंजी माना है। इसे उन्होंने भारतीय मानस के गौरव से जोड़ कर देखा है। जब किसी वस्तु को महत्व मिल जाता है, फिर उसको इस दृष्टि

से देखने की क्षमता लोगों में नहीं रह जाती कि विचार कर सकें कि वह सच में महत्व की है या नहीं है। अलग अलग संस्कृतियों के अलग अलग मूल्य होते हैं। भारत में संस्कृत के ज्ञान को ही सर्वोच्च मूल्य प्राप्त हो गया था। एक बार समाज में यह मूल्य स्थापित हो जाने से फिर यह खोजबीन करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी कि सच में संस्कृत सर्वोच्च मूल्य के योग्य है कि नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने अपनी कार्य प्रणाली इसी आधार पर निश्चित की थी कि भारत में जिसे सर्वोच्च मूल्य का स्थान प्राप्त हो गया है, उस मूल्य को निचली जातियाँ भी प्राप्त करें। यदि यह सर्वोच्चता संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने की है तो शूद्र जातियों को संस्कृत के ज्ञान की इस सर्वोच्चता को लूट लेना चाहिए।

राजा राम मोहन राय ने संस्कृत को उपादेयता की दृष्टि से देखा है। उन्हें ऐसा लगता है कि संस्कृत भाषा में जो ज्ञान ध्यान की बातें निहित हैं वे वेदान्त दर्शन में अपनी सर्वोच्चता को प्राप्त करके भी जीवन में सुधार की दृष्टि से किसी लाभ की नहीं हैं। लोग संस्कृत पढ़ने का इतना बड़ा श्रम भी करें और बाद में पता चले कि खोदा पहाड़ और निकली चुहिया वाली स्थिति बन कर रह जाती है तो इससे कुछ सधता नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने शूद्र जातियों को ऊँचा उठाने की यह रण नीति अपनाई थी कि समाज में जो सर्वोच्च मूल्य घोषित हो चुका है, उसे चुनौती दिए बिना, यह चुनौती स्वीकार की जाए कि उसे कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। लेकिन राजा राम मोहन राय का टकराव स्वयं मूल्यों से है। वे कहते हैं कि इस प्रकार के व्यर्थ के मूल्यों को अपनाने से व्यक्ति और समाज को कोई लाभ होने वाला नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के चौथे और पाँचवें दशकों में ऐसा एक दूसरा अन्तर डा० अम्बेडकर और गांधी जी के चिन्तनों में पैदा हो गया था। गांधी जी ने हरिजनों के लिए मन्दिर प्रवेश का आन्दोलन चलाया था। चूँकि सवर्ण समाज हरिजनों को मन्दिरों में आने नहीं देता था इसलिए गांधी जी ने समाज में परिवर्तन के लिए इसे ही एक चुनौती मान लिया था। इसमें गांधी जी ने समाज में खड़े किए गए मूल्य से टकराव नहीं लिया बल्कि निचले स्तर के टकराव का एक छोटा रास्ता अपना लिया था। इसके विपरीत, डा० अम्बेडकर ने हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के मूल्य को ही तिलांजलि दे दी थी। अब गांधी जी के कहने पर यदि सवर्ण समाज हरिजनों के लिए मन्दिरों के दरवाजे खोले भी, डा० अम्बेडकर अपने अछूतों को उन मन्दिरों में जाने नहीं देते थे। डा० अम्बेडकर का चिन्तन था कि सवर्ण समाज अपने मन्दिरों के दरवाजे बन्द रखें, अछूतों को उसमें प्रवेश करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस देश के इतिहास में ऐसा एक अन्य अन्तर तब पैदा हुआ था जब मध्य काल में शूद्रों और वर्णहीन जातियों में से अनेक लोग सन्त बने थे। प्राचीन ब्राह्मणी व्यवस्था के अनुसार, शूद्र तथा नारियों को ईश्वर की भक्ति करने का अधिकार नहीं था।

निचली जातियों के सन्तों ने, बिना ईश्वर भक्ति की उपयोगिता देखे, ईश्वर भक्ति को सवर्ण समाज का सर्वोच्च मूल्य मान कर उसे प्राप्त करने का साहस दिखाया था। ईश्वर की भक्ति से व्यक्ति मन को या सामाजिक संस्था को सच में क्या लाभ होता है, यह देखे बिना, तत्कालीन सन्तों ने समाज के श्रेष्ठतम मूल्य को प्राप्त किया था। उन्होंने एक बहुत बड़ी चुनौती स्वीकार की थी लेकिन यह चुनौती उतनी गहरी नहीं थी कि मूल्यों में परिवर्तन को स्वीकार करती। चाहे वे रैदास हों, या मीरा, या कबीर, उन्होंने केवल समाज में स्थापित मूल्यों को प्राप्त करने का ही साहस दिखाया था। उनमें से कोई यह नहीं कह सका—"सवर्ण समाज ईश्वर की भक्ति को अपने घर में धर कर नाचे, हमें इससे कुछ लेना देना नहीं है।" आधुनिक भारत में ऐसा राजा राम मोहन राय और डा० अम्बेडकर कह सके हैं।

6

अब तक भारत के दो महा पुरुषों—राजा राम मोहन राय और स्वामी विवेकानन्द के विचार जान लिए गए हैं। दोनों के उद्देश्य एक समान हैं लेकिन कार्य प्रणालियाँ भिन्न हैं। कार्य प्रणालियों को ले कर दोनों एक दूसरे के आमने सामने खड़े हो जाते हैं। जब उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ब्रिटिश सरकार भारतीय लोगों को संस्कृत सिखाने के लिए कालिज खोल कर धन खर्च करना चाहती है तो राजा राम मोहन राय इस धन के खर्च को व्यर्थ बता कर इसका विरोध करते हैं। दूसरी ओर, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में स्वामी विवेकानन्द हाथ उठा कर संस्कृत न जानने वाली जातियों से कह रहे हैं कि संस्कृत सीखने के लिए अपनी गाढ़ी कमाई के करोड़ों रुपए खर्च कर दो। इन दोनों कार्य प्रणालियों के टकराव को यहीं छोड़ कर समाधान में डा० अम्बेडकर की बात ली जा सकती है जो उन्होंने बीसवीं शताब्दी के मध्य में उठाई थी।

डाक्टर अम्बेडकर की अंग्रेजी में एक पुस्तक 'हू वर शूद्राज ?' है। उन्होंने इसकी एक जोरदार भूमिका लिखी थी। इस भूमिका में उन्होंने संस्कृत भाषा के ज्ञान की समस्या उठाई थी।

डाक्टर अम्बेडकर ने अपने विद्यार्थी जीवन में संस्कृत पढ़नी चाही थी। चूँकि वे अछूत थे, उनकी हर चाह के बावजूद, उन्हें स्कूल में संस्कृत नहीं पढ़ाई गई थी। फलतः, उन्हें संस्कृत के स्थान पर भाषा के पेपर में फारसी लेनी पड़ी थी। यूँ संस्कृत का ज्ञान न होना उनकी एक कमजोरी बन गई थी। अपने कार्य में उन्हें संस्कृत से ही अधिक वास्ता रहा था। वे जीवन भर संस्कृत ग्रन्थों को पढ़ते रहे थे। डाक्टर

अम्बेडकर ने कहा है— "मुझे संस्कृत भाषा पर अत्यन्त अभिमान है और मैं चाहता था कि संस्कृत का अच्छा विद्वान बनूँ परन्तु ब्राह्मण अध्यापक के संकुचित दृष्टि कोण से मुझे संस्कृत से वंचित रह जाना पड़ा।" यह बात विजय कुमार पुजारी ने अपनी पुस्तक 'डाक्टर बाबा साहेब अम्बेडकर : जीवन दर्शन' में उठाई है।

डाक्टर अम्बेडकर का संस्कृत ग्रन्थों के प्रति आदर भाव नहीं रहा था। संस्कृत की बात हम न भी कहें, उन्होंने ब्राह्मणी धर्म ग्रन्थों का पूरा निरादर किया था। उन्होंने मनुस्मृति को एक सामाजिक आन्दोलन और सामूहिक उत्सव बना कर फूँका था। लेकिन वे मनुस्मृति को फूँक कर ही सन्तुष्ट नहीं रह गए थे। उन्होंने इन जाति वादी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों के बारे में अपनी व्याख्याएँ भी दी थीं। इस व्याख्या करने पर समस्या ज्यादा बनी थी। उन्होंने वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणों, स्मृतियों और पुराणों के विशाल संस्कृत साहित्य को पढ़ कर शूद्रों की उत्पत्ति के बारे में अपनी नई खोज रखी थी। लेकिन संस्कृत के ब्राह्मण पंडितों ने उनसे कहा कि वे इस क्षेत्र में एक बात भी न कहे। उन्हें संस्कृतज्ञों ने धमकी दी थी कि वे संस्कृत भाषा में लिखित धार्मिक ग्रन्थों की सामाजिक व्याख्या देनी छोड़ दें। यह डाक्टर अम्बेडकर का क्षेत्र नहीं है। डाक्टर अम्बेडकर को संस्कृत नहीं आती है। इतिहास की खोज के इस क्षेत्र में डाक्टर अम्बेडकर को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। इसलिए वे ऐसे काम करने से बाज आएँ। डाक्टर अम्बेडकर लिखते हैं— "कुछ लोगों ने मुझे चेतावनी दी है कि मैं हिन्दुओं के इतिहास और विधान में दखल न दूँ। क्यों? यदि यह कहा जाए कि मैं संस्कृत का पंडित नहीं तो मैं मानने को तैयार हूँ, परन्तु संस्कृत का पंडित न होने से मैं इस विषय पर लिख क्यों नहीं सकता?"

तब डाक्टर अम्बेडकर ने कहा था—"ठीक है; मुझे संस्कृत अधिक नहीं आती, लेकिन मुझे अंग्रेजी भाषा आती है, और अंग्रेजी में संस्कृत का सारा महत्व पूर्ण वाङ्मय अनुवादित हो चुका है, इसलिए मैं अनुवाद का लाभ उठा सकता हूँ।" तब उन्होंने अनुवाद की सार्थकता बताई थी। सच भी है, यदि किसी भाषा में अनुवाद साहित्य का लाभ नहीं उठाया जा सकता तो फिर भाषाओं के पारस्परिक अनुवाद कार्य का कोई औचित्य नहीं रह जाता है। फिर डाक्टर अम्बेडकर ने संस्कृत भाषा के एक विद्वान को इस काम के लिए लगा रखा था कि वह यह बता सके कि संस्कृत के किसी श्लोक का ठीक वही अर्थ है जो अंग्रेजी में अनुवाद किया गया है। यदि अनुवाद में कहीं त्रुटि रह गई हो तो उसे सुधारा जा सकता था।

बात केवल संस्कृत भाषा की या अंग्रेजी में उसके अनुवाद की नहीं है। लोगों के प्राचीन सा‍हित्य से स्वार्थ जुड़े हुए हैं। पहली बात, संस्कृत भाषा को कुछ लोगों ने अपनी एकाधिकार वाली जीविका बना लिया था। दूसरी बात, संस्कृत भाषा में विषय वस्तु के रूप में जो चिन्तन चला था उसे भी उन लोगों ने अपने वर्ग हित में चलाया था। आज प्राचीन ब्राह्मणी संस्कृत ग्रन्थों के हिन्दी भाषा में अनुवाद किए जा

रहे हैं। ये अनुवाद कई लोगों द्वारा अलग अलग तरह से किए जाते हैं। इनके द्वारा किए गए अर्थ कई महत्व पूर्ण स्थलों पर भिन्न भिन्न हो जाते हैं। क्या अर्थों की यह विभिन्नता उनके संस्कृत ज्ञान की अपूर्णता के कारण है? क्या इसमें उनके स्वार्थी संस्कारों की कोई भूमिका नहीं होती है? गीता प्रेस, गोरखपुर ने अनुवाद के इस क्षेत्र में बहुत अधिक काम किया है। यह वास्तव में हिन्दी जनता की बहुत बड़ी सेवा हो गई है। लेकिन अनुवाद करते समय वे भी झिझक जाते हैं। स्वामी दयानन्द ने, जो बात अच्छी न लगी उसे क्षेपक कह कर काट देने का रास्ता अपना लिया था लेकिन गीता प्रेस, गोरखपुर ने अनुवाद का दूसरा रास्ता अपनाया है। जो श्लोक उनके मनोनुकूल नहीं होते हैं, उनका अर्थ बदलने की कोशिश की जाती है। 'मांस' शब्द संस्कृत में है। हिन्दी भाषा ने इसे ज्यों का त्यों अपना लिया है। हिन्दी ने इसे जितना तद्भव बनाया है उतना वह संस्कृत के प्रत्येक शब्द को बनाती रही है। इसके लिए हिन्दी में जो अन्य शब्द प्रचलित हैं वे गोश्त और मीट हैं। ये दोनों शब्द क्रमशः फारसी और अंग्रेजी के हैं। यूँ, इस समय हिन्दी भाषी के पास तीनों शब्द एक साथ प्रचलित हैं। गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा किए गए अनुवादों में जहाँ कहीं भी 'मांस' शब्द आता है, हिन्दी में ब्रेकट बना कर उसका अर्थ 'फलों का गूदा' लिख कर बताया जाता है। जब हिन्दी भाषियों ने अंग्रेजी भाषा के 'मीट' तथा अरबी फारसी के 'गोश्त' शब्दों के आने से पहले मांस खाया है तो शब्दों के ऐसे अर्थ करना ठीक नहीं हैं। लेकिन लोग अर्थ का ऐसा अनर्थ करने से बाज नहीं आते हैं। सच्ची बात यह है कि जो लोग संस्कृत के मांस शब्द का हिन्दी में 'अर्थात फलों का गूदा' अर्थ करते हैं वे बाकी संस्कृत में भी बहुत खींचतान करते होंगे। जब मनुष्य के निठल्ले और निकम्मेपन से स्वार्थ बहुत गहरे जुड़ जाते हैं तो अर्थों का ऐसा अनर्थ किया जाना स्वाभाविक हो जाता है।

डाक्टर अम्बेडकर संस्कृत पढ़ लेने के बाद भी उसी दिशा में जाते जिस दिशा में वे गए थे। वे संस्कृत भाषा के बहकाने में आने वाले नहीं थे। एक अछूत के नाते उनकी पीड़ा की सच्चाई का स्वार्थी वर्गों के हितों से टकराव अवश्य होना था। इसलिए स्वामी विवेकानन्द द्वारा बताए गए संस्कृत भाषा पर अधिकार करने के उपाय से भी डाक्टर अम्बेडकर के शूद्रों और नारियों को कोई लाभ नहीं होना था। शूद्र और नारी लिखे गए अपने अपमान को कभी भी सहन नहीं करेंगे। शूद्रों के हृदय में शूद्र विरोधी ग्रन्थों के प्रति आदर भाव नहीं पनप सकेगा। डाक्टर अम्बेडकर ने लिखा है—"यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तकों के प्रति मैंने वह आदर प्रकट नहीं किया है जो धार्मिक पुस्तकों के प्रति होना चाहिए।" आगे डाक्टर अम्बेडकर ने इसके दो कारणों में से एक यह गिनाया है "धार्मिक पुस्तकों के प्रति श्रद्धा कराई नहीं जा सकती। यह श्रद्धा तो सामाजिक स्थितियों से स्वयं उत्पन्न होती है अथवा हटती है। धर्म ग्रन्थों के प्रति ब्राह्मणों की श्रद्धा तो स्वाभाविक

है परन्तु अब्राह्मणों के लिए यह अस्वाभाविक है। यह भेद भाव सरलता से समझा जा सकता है।" फिर शूद्रों का विद्रोह क्या केवल इतना है कि वे ब्राह्मणी व्यवस्था द्वारा खड़े किए गए, पर उनके लिए मना किए गए आदर्शों और मूल्यों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करें ? डाक्टर अम्बेडकर के शूद्र की लड़ाई इस देश में स्वयं आदर्शों और मूल्यों से टकराव की है। डाक्टर अम्बेडकर के शूद्र नई समाज व्यवस्था तथा उसके अनुरूप नया मानव वादी दर्शन खड़ा करना चाहते हैं।

एक स्थान पर तुलसी दास की राम चरित मानस का पाठ हो रहा था। उस दिन केवल सुन्दर कांड का पाठ होना था। सद्भावना में उस घर स्त्रियों और शूद्रों को भी बुलाया गया था। हर बार दोहे से पहले चौपाई कथने के बाद राम धुन में राम को 'द्रवहि सु दशरथ अजर बिहारी' पुकारा जाता था। पढ़ते पढ़ते उसमें 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी' की चौपाई आ जाती है। उस समय शूद्र क्या सोचेगा—यह स्वामी विवेकानन्द के लिए सोचने की बात है। यह बात तुलसी दास की राम चरित मानस के बारे में है जो संस्कृत में न हो कर अवधी भाषा में है। सुनते हैं कि बनारस के कथा वाचकों ने राम चरित मानस के पाठ पर पाबन्दी लगा रखी थी। ब्राह्मण कथा वाचक काशी में संस्कृत भाषा की तुलना में किसी अन्य भारतीय भाषा में लिखे गए ग्रन्थ को वाचन के योग्य नहीं मानते थे। तब किन्हीं एक ब्राह्मण पण्डित ने अन्य ब्राह्मणों के लिए यह सिद्ध करके बताया था कि राम चरित मानस भले ही संस्कृत में न लिखी गई हो पर इसकी सारी मान्यताएँ वे ही हैं जो संस्कृत ग्रन्थों की हैं। तब कहीं जा कर काशी में राम चरित मानस को स्थान मिला था। उस ब्राह्मण पंडित ने सबको बताया होगा कि राम चरित मानस और वैदिक साहित्य में अन्तर नहीं है। उसने अवश्य कहा होगा कि राम चरित मानस की इन पंक्तियों

"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी : सकल ताड़ना के अधिकारी।"

की तुलना 'गर्ग संहिता' के इस श्लोक से की जानी चाहिए।

"दुर्जनाः शिल्पिनो दासा दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः।
ताड़िता मार्दवं यान्ति न ते सत्कार भाजनम् ॥"

तुलसी का यही बचाव आज के डाक्टर रतन चन्द्र शर्मा ने अपनी पुस्तक 'मुगल कालीन सगुण भक्ति का सांस्कृतिक विश्लेषण' में किया है।

सच्ची बात यह है कि संस्कृत के बारे में भारतीय समाज कभी एक मत नहीं हो सकता। ब्राह्मण इसके बारे में एक बात कहेगा तो शूद्र इसके बारे में दूसरी बात कहेगा। ब्राह्मण और शूद्र दोनों इसके एक साथ प्रशंसक नहीं हो सकते। जाति वादी ब्राह्मणों के बारे में हम जानते हैं कि वे इस भाषा की कितनी बढ़ चढ़ कर प्रशंसा करते हैं। लेकिन यह भी जरूरी है कि संस्कृत के बारे में शूद्र का दृष्टि कोण भी समझा जाए।

सुन्दर लाल सागर की एक पुस्तक 'रामायण और मनुस्मृति की होली क्यों?' है। इसमें संस्कृत भाषा के बारे में एक नए दृष्टि कोण से सोचा गया है। यह दृष्टि कोण संस्कृत के सताए हुए लोगों का है। वे लिखते हैं—"संस्कृत एक कठिन एवं दुरूह भाषा है। ब्राह्मण ने इसे देव भाषा की संज्ञा दी और इसी भाषा में अपने दुष्कर्मों एवं कलुषित भावनाओं की लिखा पढ़ी की तथा उसका पठन पाठन अपने वर्ग तक ही सीमित रखा। संस्कृत भाषा को देव भाषा कह कर इसे जन साधारण की भाषा नहीं बनने दिया।" यह केवल एक भाषा विशेष की बात नहीं है बल्कि पूरी शिक्षा पद्धति की बात है। शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृत ने ब्राह्मणों के अधिकारवाद का पूरा पोषण किया है। सुन्दर लाल सागर लिखते हैं—"मनुस्मृति के अनुसार शिक्षा का अधिकार ब्राह्मण को ही है। ब्राह्मण ने क्षत्री के पढ़ने पढ़ाने के अधिकारों को तलवार के भय से सम्मिलित कर लिया है। वैश्य लिख पढ़ नहीं सकता है अपितु सुन सकता है। शूद्र ऐसा उपेक्षित वर्ग है जिस के लिए पढ़ने लिखने और सुनने के अधिकार के द्वार बन्द कर दिए गए हैं।" ब्राह्मण की सन्तुष्टि इतने भर से नहीं हुई। सुन्दर लाल सागर लिखते हैं—"शिक्षा के क्षेत्र में ब्राह्मण को विशेष स्थान मिला ही है पर स्वार्थ से यह विधान भी रचा है कि ब्राह्मण जो लिख दें वह ब्रह्म वाक्य है, उस लिखे हुए के प्रति अविश्वास प्रकट करना पाप एवं दण्डनीय अपराध है—ब्राह्मण जो पढ़ाता था वही सत्य माना जाता था, उसके पाखंड पूर्ण बंधनों को तर्क पर उतारना या प्रश्न करना सर्व नाश हो जाने और सिर कट जाने का भय भी साथ में जोड़ दिया गया था। गार्गी द्वारा याज्ञवल्क्य से एक प्रश्न कर देने मात्र से ही याज्ञवल्क्य ने उसका सिर कट जाने का भय दिखा दिया था। मनुस्मृति में यह व्यवस्था यहाँ तक है कि ब्राह्मण की शिक्षा में तर्क करने वाले को कठोर दण्ड मिलेगा। पहले शिक्षा में प्रश्न उठाने पर सिर काटने तक की व्यवस्था थी।" सुन्दर लाल सागर के शब्दों में निष्कर्ष यह है—"इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में असमानता की गई जिसके लिए मनुस्मृति उत्तरदायी है। शिक्षा के अवरोध में ब्राह्मण की भाषा संस्कृति ने समाज में समानता एवं ज्ञान का अवरोध उत्पन्न किया है।"

भाषा भेद, जाति भेद और छुआछूत आपस में एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं। सुन्दर लाल सागर ने लिखा है—"क्षत्री क्षत्री से मिलते समय राम राम शब्दों से सम्बोधित करता है। शूद्र बनिया आपस में मिलते हैं तो राम राम करते हैं परन्तु शूद्र व वैश्य क्षत्री से मिलते हैं तो जुहार और ब्राह्मण से मिलते हैं तो पाँव लागन करते हैं।" उन्होंने आगे लिखा है—"क्षत्री ब्राह्मण को पाँव लागन से ही सम्बोधित करता है।...राम राम कह देने से वह अपना अपमान समझता है।...इस प्रकार पाँव लागन,

जुहार और राम राम के सम्बोधन से तुरन्त जाति का बोध होता है और सम्मान में अन्तर आ जाता है।"

7

नए भारत के संविधान ने राज भाषा के रूप में अंग्रेजी को हटाने का वचन भारत की जनता को दे रखा है। इस वचन की एक ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि है। इतिहास की उस पृष्ठ भूमि को देखते हुए अंग्रेजी के राज भाषा के रूप में प्रचलन पर पाबंदी लगाने की बहुत आवश्यकता थी। लेकिन इसमें यह भी ध्यान रखना है कि अंग्रेजी भाषा के स्थान पर जो भारतीय भाषा प्रतिष्ठित की गई है वह हिन्दी भाषा है। हिन्दी भाषा की अपनी प्रक्रिया और संरचना है। अपनी इस प्रकृति के अनुसार हिन्दी किसी भी भाषा से शब्द लेने में परहेज नहीं करती। लेकिन कुछ लोगों ने यह समझ लिया है कि अंग्रेजी के स्थान पर संस्कृत भाषा चलाई जानी है। संस्कृत भाषा की अपनी प्रकृति रही है। इसने भारत के इतिहास में जो भूमिका निभाई है वह अब सर्व विदित है। इसने भारत की भाषाओं की उन्नति को रोक रखा था। अब जब राज भाषा के रूप में अंग्रेजी पर रोक लगाई जा रही है तो संस्कृत के पक्ष धरों ने ऐसी रण नीति चलाई है जिससे लगे हाथों उर्दू पर भी रोक लग जाए। उनकी लड़ाई भाषा के मामले में भाषा की न हो कर कुछ और तरह की है।

संस्कृत के पक्ष धरों को यह ज्ञात नहीं है कि जन तन्त्र में कोई भाषा देव वाणी और किसी एक धर्म की नहीं हो सकती। हर भाषा का एक भौगोलिक क्षेत्र हुआ करता है। उस क्षेत्र में कई कई भाषाएँ जन भाषा के रूप में नहीं चला करती हैं। कम से कम हिन्दी किसी एक धर्म की, एक जाति की, या एक प्रान्त की भाषा नहीं है। इसको सभी धर्मों के मतावलम्बी बोलते हैं। हिन्दी के भौगोलिक क्षेत्र में किसी भी जाति का मनुष्य हिन्दी भाषा बोलता है। यह हिन्दी के बारे में ही नहीं बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं के बारे में भी सही है। उत्तर भारत में कुछ दिग्भ्रमित या साम्प्रदायिक लोगों द्वारा जो हिन्दी को हिन्दुओं की तथा उर्दू को मुसलमानों की भाषा कहा जाता है वह गलत ही है। हिन्दी भाषी जनता में मुसलमान भी, हिन्दू भी और ईसाई भी होते हैं।

उत्तर भारत का कोई मनुष्य केरल में जा कर यह जानता है कि उस प्रान्त में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई लोग रहते हैं। वह सोच सकता है कि मुसलमान लोग उर्दू जानते और बोलते होंगे। लेकिन धार्मिक आधार पर खड़ी की गई उसकी कल्पना

धराशायी हो जाती है जब उसे यह पता चलता है कि केरल का मुसलमान उर्दू नहीं जानता है। उसकी मातृ भाषा उर्दू न हो कर मलयालम होती है। वह मलयालम बोलता है और मलयालम भाषा में ही अपने इस्लाम धर्म का पालन करता है। ऐसे ही, वहाँ ईसाइयत से भी अंग्रेजी भाषा जुड़ नहीं गई है। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी को संस्कृत भाषा वाली धार्मिकता से हटा कर देखा जाए। हिन्दी का केवल हिन्दुओं की भाषा होने का भ्रम लोगों के मन से निकल जाना चाहिए।

यह कहना सही नहीं है कि संस्कृत इस देश की प्रिय भाषा रही है। किसी अनपढ़ देश के इतिहास पर ऐसी लीपा पोती नहीं की जानी चाहिए जो लोगों के दिमाग में भ्रम उत्पन्न कर दे। संस्कृत विश्व की भाषाओं में बिलकुल विचित्र स्वभाव की भाषा रही है। कुछ भाषाएँ महंगी होने के कारण जन सामान्य की पहुँच से परे की हो जाती हैं। लेकिन संस्कृत के विषय में यह अजीब स्थिति रही है कि लोगों को जबरन संस्कृत से दूर रखा गया है। इसे देव वाणी बता कर केवल ब्राह्मण की सम्पत्ति बना कर छोड़ दिया गया था। शेष समाज के लोगों को यह सीखने नहीं दी गई थी। इसीलिए कहा जा रहा है कि जब संस्कृत ने प्राचीन भारत के इतिहास में ऐसी मन मानी की थी; फिर ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि यह अनपढ़ लोगों की भाषा रही थी। जिन लोगों का संस्कृत से कभी परिचय नहीं रहा है इसे उनके भविष्य से जोड़ने की दुर्भावना छोड़ देनी चाहिए। यह जिद, घमण्ड और धौंस ठीक नहीं है। संस्कृत केवल पुराने ढर्रे के विप्रों को एकता के सूत्र में बाँधे रखती है, यह नए चिन्तन के विप्रों और जन सामान्य को एक रखने में समर्थ भाषा नहीं है। संस्कृत ने समाज को कुछ विशिष्ट लोगों के स्वार्थ के लिए तोड़ा ही है। इसे समाज को एक मुष्ट जोड़ना नहीं आता है। शूद्र और ब्राह्मण को एक समान समझना इसे कौन सिखा पाएगा? वास्तव में भारत के संविधान का संस्कृत में किया गया अनुवाद संस्कृत की परम्परा में अटपटा लगेगा कि भारत के सभी नागरिकों को आगे बढ़ने के अवसरों के लिए एक समान समझा जाएगा। संस्कृत में ब्राह्मण को यदि सर्व श्रेष्ठ घोषित नहीं किया गया तो वह संस्कृत सी नहीं लगेगी। यदि आर्य को अनार्य से अच्छा नहीं बताया गया तो संस्कृत की आत्मा मर जाएगी। ऐसे ही शूद्र और स्त्रियों द्वारा पढ़ लिए जाने पर संस्कृत का सौन्दर्य मिट जाएगा।

यदि संस्कृत केवल पुरोहितों की भाषा न होती और यदि होती भी तो इसमें पुरोहितों ने जन सामान्य को शूद्र और नीच कह कर न पुकारा होता तो देव वाणी के विरुद्ध जन वाणियों के रूप में भारत में चौदह पन्द्रह स्थानीय भाषाएँ जन्म न लेतीं। यदि यह सब लोगों को एक समान प्यार देती, अन्य भाषा भाषियों को अपनी अलग पहचान बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। चूँकि संस्कृत ने उन्हें म्लेच्छ और अनार्य भाषाएँ मान कर दुर दुर दुत्कारा है, वे बेचारी अपमानित इससे अलग हो गई हैं।

इस पर भी यदि कोई संस्कृत को अखिल भारतीय स्तर की भाषा कहे तो यह बात ईमानदारी की नहीं लगती।

आखिर यही देख लिया जाए कि संस्कृत की अखिल भारतीयता कितनी बड़ी है। इसकी बढ़ बढ़ कर बात की जाती है पर एक बार इसे लोगों के जीवन से जोड़ कर देख लिया जाना चाहिए। यह केवल मन्दिरों की ओर घरों में बने पूजा घरों की अखिल भारतीयता है। इसका सीधा पुरोहित वर्ग से सम्बन्ध बनता है। साहित्य के क्षेत्र में यह केवल सन्धियों, समासों ओर अनुप्रासों की अखिल भारतीयता है जिसका जन सामान्य से कुछ लेना देना नहीं है। यह वैसी ही अखिल भारतीयता है जैसी आजकल अंग्रेजी के पढ़े लिखे लोग अंग्रेजी के पक्ष में सिद्ध किया करते हैं। परन्तु नए जन तांत्रिक, धर्म निरपेक्ष और समाज वादी चिन्तन के कारण आज भारत वासियों को ऐसी अखिल भारतीयता से लड़ना पड़ रहा है। आज जिस अखिल भारतीयता की आवश्यकता है वह जन सामान्य के स्तर की है। लेकिन संस्कृत की अखिल भारतीयता या अंग्रेजी की अखिल भारतीयता, इस जन सामान्य की अखिल भारतीयता को आगे नहीं आने देती हैं। जो जन भाषाओं ने मिल कर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त की है, अंग्रेजी के हाथ से उसे संस्कृत उड़ा कर ले जाना चाहती है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि इस देश में कई प्रकार की अखिल भारतीयताओं का आपस में टकराव है। आजकल कुछ अखिल भारतीयताएँ किसी एक शहर में बना कर खड़ी कर ली जाती हैं। यह जबर्दस्ती झंडे गाड़ने वाली स्थिति है।

संस्कृत भाषा को किसी भी दृष्टि से देखा जाए यह हिन्दी की सहायता करने में समर्थ नहीं है। यह भाषा अपने बनावटीपन में अपने आरम्भ काल में ही जनता से बहुत दूर चली गई थी। एक बार राज रानी बनने के बाद इसने फिर धरती की ओर झुक कर देखना नहीं सीखा है। इसने जनता की बोली का आदर करना कभी नहीं जाना। यह विद्वानों में भी घमण्डी विद्वानों की कठिन काव्य की भूत भाषा बन गई थी। उससे नीचे उतरना इसके वश में नहीं है। आज जो हम सरल हिन्दी की बात कर हैं, उस तक संस्कृत कभी नहीं आ सकती। यह इतने ऊँचे आकाश में चढ़ी हुई है कि कितनी भी नीचे गिरे तो भी त्रिशंकु के समान धरती और आसमान के बीच में लटक कर रह जाएगी। एक प्रशिक्षण कार्य क्रम के अधिकारी अपने निचले स्तर के अधिकारियों को बता रहे थे कि दफ्तरों में सीधी सादी हिन्दी का प्रयोग किया जाना चाहिए। निचले अधिकारी ने बड़े अधिकारी से कहा—"जी, हम बिलकुल सरल, सुबोध और सुगम हिन्दी भाषा का प्रयोग करते हैं।" बड़े अधिकारी ने अपनी समस्या रखी— 'यही तो मुश्किल है कि हिन्दी वालों के लिए ये सरल, सुबोध और सुगम शब्द भी कठिन हैं। इसे सीधी सादी और आम भाषा कहा जाना चाहिए। यह उपसर्ग लगा कर शब्द बनाने का तरीका हिन्दी में दिक्कत पैदा करता है।" यही संस्कृत

वालों के साथ समस्या है कि वे धरती की भाषा से कहीं भी नहीं जुड़ पाते हैं ।

8

शब्द बहुत कुछ बताते हैं । ये इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझा सकते हैं । ये समाज शास्त्र की अटकलों को अनुमान में बदल सकते हैं । ये राज नीति विज्ञान की प्रक्रिया को नए आयाम दे सकते हैं । ये धर्म की खोज में हमारी सहायता कर सकते हैं । एक प्राचीन हस्त लिखित ग्रन्थ को पढ़ते समय मेरे सामने एक नाम 'मदन सेन' आया । मन में आया कि यह शब्द मदन सेना हो । मैं एक इंटर व्यू बोर्ड का सदस्य था । एक अभ्यर्थी का उप नाम सक्सेना था । यह नाम मेरे लिए अपरिचित नहीं था । मैं जानता था—सक्सेना कायस्थ होते हैं । लेकिन उन अभ्यर्थी को देख कर मैंने उनसे इसका शाब्दिक अर्थ जानना चाहा । अभ्यर्थी ने हिन्दी से स्नातकोत्तर की परीक्षा पास कर रखी थी । उसके सामने मेरा प्रश्न अनुचित नहीं था लेकिन वह उसका कोई उत्तर नहीं दे पाया । खैर, यह उसका काम नहीं था । मैं अपनी बात पर आऊँ । मैंने सक्सेना को 'शक सेना' बना लिया था । मेरा 'श' को 'स' मान लेना अनुचित नहीं था । स्वयं उस हस्त लिखित ग्रन्थ में मैंने एक दो अपवादों के सिवा 'श' को सर्वत्र 'स' लिखा देखा था । इतने से मेरा इतिहास का ज्ञान एक दिशा में हिल उठा था । कायस्थों की उत्पत्ति के विषय में जानने की हमारे समाज में काफी उत्सुकता है । सभी जानना चाहते हैं—ये कौन लोग हैं—वर्ण व्यवस्था में यह वर्ग कहाँ आता है—इस जाति का इतिहास क्या रहा होगा ? मैंने अनुमान का सहारा लिया कि इस देश के प्राचीन इतिहास में शकों की और शकारियों की लम्बी लड़ाई रही है । हमें यह भी पता चलता है कि शक बौद्ध थे । शकारियों का पक्ष ब्राह्मणी राज्य व्यवस्था का था ।

आज कायस्थों में दस से ऊपर उप जातियाँ हैं । ये इस देश में बंगाल तक फैली हुई हैं । ब्राह्मणी वर्ण व्यवस्था में इन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में से किसी में नहीं रखा जाता है । इन्हें शूद्र ही माना जाता है । यदि बौद्ध, शक सेना और कायस्थ में कोई तालमेल बैठता है तो डाक्टर अम्बेडकर का भारत के इतिहास की खोई हुई कड़ियों को जोड़ने का वह सामान्य सिद्धांत ठीक प्रतीत होने लगता है जो उन्होंने इतिहास के विद्यार्थियों को दिया है कि प्राचीन काल में बौद्ध शूद्र घोषित किए गए हैं ।

उस परीक्षा में एक अन्य अभ्यर्थी विर्मानी थे । मैंने उनसे इस शब्द की व्युत्पत्ति जाननी चाही । भाषा विज्ञान के विद्यार्थी होने पर भी उन्होंने अपने उपनाम

'बिर्मानी' का शाब्दिक अर्थ खोजने की कभी चेष्टा नहीं की थी। उन्होंने यही बताया कि यह उनका सिन्धी नाम है। फिर इस शब्द पर मैंने स्वयं सोचा। बिर्मानी से मेरे मन में 'वेरमणि' का ध्यान आया। वेरमणि बौद्ध शब्द है—और पंच शील में पाँच बार आता है 'वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।' प्राचीन काल में सारे सिन्ध प्रान्त में त्रिशरण और पंच शील के मन्त्र हजारों वर्ष तक गूँजते रहे हैं। जबकि आज के पंजाब में एक ही घर के सिखों और हिन्दुओं में अलग पहचान की बात चल रही है-- पिछले वर्ष के गण तन्त्र दिवस पर जालन्धर जिले में खुदाई से प्राप्त एक बौद्ध भवन की झाँकी दिखाई गई थी कि पंजाब वासियो, न तुम सिख हो, न हिन्दू हो, बल्कि तुम सब बौद्ध थे। वेरमणि का 'बिर्मानी' रूप बनाना मेरी अटकल के आधार पर था। चूँकि मैं सिन्धी नहीं जानता हूँ इसलिए इस अटकल को स्वीकार करने या स्वीकार न करने का काम मैंने भाषा शास्त्रियों पर ही छोड़ दिया है।

जब मैं इन उप नामों के विषय में सोच रहा था—मेरा ध्यान केरल के एक उप नाम 'मणि' की ओर आकर्षित हुआ। इस उप नाम को केरल में हिन्दू नायर और ईसाई दोनों धर्मों के लोग लगाते हैं। इससे हिन्दू नायर, जो ब्राह्मणी वर्ण व्यवस्था में शूद्र ही हैं, उनके और ईसाइयों के परस्पर सम्बन्ध की बात निश्चित है, लेकिन 'मणि' को पंच शील के 'वेरमणि' से जोड़ने की सम्भावना भी बढ़ती है। केरल बौद्ध भूमि रही है—क्योंकि आज भी वहाँ स्थानों के नाम 'शास्ता मंगलम' बचे हुए हैं। स्वयं शंकर बौद्धों के विरोध में वहीं से आगे आए थे।

शब्द व्युत्पत्ति शास्त्र का यही लाभ है। भाषा शास्त्र निश्चयात्मक रूप से इतिहास के संबंध में अपनी स्वतन्त्र खोज जारी रखने में असमर्थ हो सकता है पर यह इस खोज में एक महत्व पूर्ण सहायक तत्व अवश्य सिद्ध होता है। अकेले अकेले इतिहास की अपनी स्वतन्त्र खोज भी अधूरी है।

आज हिन्दी पर संस्कृत के माध्यम से देश के इतिहास पर पर्दा डाला जा रहा है। हिन्दी से अंग्रेजी के शब्द हटा कर यह प्रयत्न किया जा रहा है कि इससे अंग्रेजों के भारत में लगातार दो सौ वर्षों से अधिक समय तक के प्रभुत्व की याद को मिटा दिया जाएगा। यह इतिहास को चकमा दिए जाने की कोशिश है। ऐसा एक चकमा तब भी दिया गया था जब भारत से बौद्ध धर्म को समाप्त किया गया था। बौद्ध धर्म की हर पहचान या तो मिटा दी गई थी या बदल दी गई थी। लेकिन जब इस देश की खुदाई की जाती है—कहीं भी फावड़ा मारते दो फुट नीचे समता का पाठ पढ़ाती बुद्ध की मूर्ति मिल जाती है। हम अयोध्या में यह सोच कर पुरा तत्व की खुदाई करने चलते हैं कि वहाँ राम के स्मृति शेष मिलेंगे लेकिन वहाँ बुद्ध की मूर्ति मिल जाती है। हम

मथुरा में कृष्ण को खोजने की कोशिश करते हैं लेकिन वहाँ भी हमें शान्ति का सन्देश देते बौद्ध मत के अभि लेख मिल जाते हैं। हमसे हर बार राम और कृष्ण की आशा में बुद्ध की खोज हो कर रह जाती है।

शायद यह इसलिए किया जाता हो ताकि हमें गुलामी की याद न रहे। लेकिन इस देश को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए गुलामी की याद रखना बहुत जरूरी है। जितना हम प्राचीन गौरव को याद रखना चाहते हैं उससे अधिक हमें अंधकार को याद रखना है, अन्यथा अपनी मनमानी में हम फिर गुलाम होंगे—हम फिर समाज में असमानता और घृणा को आदर्श मान कर पूजने लगेंगे। अंग्रेजी के कई शब्द हिन्दी में इसी चेतावनी के रूप में सुरक्षित रखे जाने चाहिए।

दूसरा भाग

अध्याय—4

खड़ी बोली का नाम

1

खड़ी बोली का अर्थ वैसा नहीं होना चाहिए जैसा डाक्टर भोला नाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में विद्वानों के आठ मत दे कर अपनी केवल एक मत से सहमति प्रकट की है। उन्होंने लिखा है —"यदि हम अपनी ओर से कुछ न करें, और इस नाम के प्रारंभिक प्रयोक्ताओं — लल्लू लाल, सदल मिश्र, गिल क्राइस्ट के खड़ी बोली नाम से संबंधित वाक्यों को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तीनों ही ने खड़ी बोली के 'खरेपन', उसकी 'विशुद्धता' पर ही विशेष बल दिया है। इससे अनुमान लगता है कि पहला मत ही अधिक समीचीन है।" यहाँ डाक्टर भोला नाथ तिवारी अपनी ओर से कुछ कहना नहीं चाहते हैं बल्कि इसमें वे अपनी सीमा बता कर हमारी सहायता करते हैं।

प्रश्न कुछ अलग तरह के किए जाने चाहिए जिससे किसी ठीक अर्थ पर पहुँचा जाए। ऐसे दो प्रश्न इस प्रकार हैं—क्या खड़ी बोली का 'खड़ी बोली' नाम खड़ी बोली क्षेत्र के लोगों ने रखा है या यह नाम इसे गैर खड़ी बोली क्षेत्र के लोगों ने दिया है? यदि यह नाम खड़ी बोली क्षेत्र के लोगों ने दिया है तो इसका अर्थ 'खरी बोली' होने की कोई तुक नहीं है। मेरठ वासियों के पास खरे के अर्थ में 'खरे गुड़' और 'खरे सोने' के साथ 'खरा' और 'खरी' शब्द पहले से ही हैं। वे 'र' का 'र' तथा 'ड़' का 'ड़' उच्चारण करते आए हैं। उनके लिए 'र' को 'ड़' बनाने की आवश्यकता नहीं थी। यदि वे इसका अर्थ 'खरी' के रूप में मानते तो इसे 'खरी बोली' ही कहते। उनके सामने उच्चारण की कोई मजबूरी नहीं थी। यदि यह नाम गैर खड़ी बोली क्षेत्र के लोगों ने दिया है तो पड़ोस के ब्रज भाषियों द्वारा दिया हो सकता है। यदि ब्रज वासियों ने इसका नाम 'खरी' रखा हो तो भी मेरठ वासियों के लिए इसे उच्चारण की दृष्टि मे 'खरी बोली' के रूप में अपनाने में कोई कठिनाई नहीं थी।

हम जानते हैं कि ब्रज क्षेत्र में खड़ी बोली के 'ड़' को अधिकांशत: 'र' के रूप में उच्चारित किया जाता है। खड़ी बोली क्षेत्र के 'हापुड़' को ब्रज में 'हापुर' कहा जाता है। इस लिए इस बात की पूरी पूरी संभावना है कि खड़ी बोली क्षेत्र की खड़ी बोली को ब्रज वासियों ने उच्चारण की कठिनाई के कारण 'खरी बोली' कहा हो। फिर ब्रज से आगे पूर्वी भाषाओं के सभी लोग इसे 'खरी'

बोली कहते चले गए हैं। अंग्रेज जाति के लोगों की स्वयं अपनी समस्या थी कि वे 'ड़' का उच्चारण नहीं कर पाते थे। उन्होंने भी इसे 'र' ही कहा है। उन्होंने 'खड़ी बोली' की अंग्रेजी में स्पेलिंग 'के एच यू आर डबल ई' रखी है। यूँ ब्रज भाषी और अंग्रेज जाति के विद्वानों ने एक साथ मिल कर खड़ी बोली के मूल नाम को अपनी उच्चारण गत विवशताओं के कारण विकृत करके 'खरी बोली' बना दिया है। इस लिए सुधाकर द्विवेदी का अपनी पुस्तक 'सीधी बोली की राम कहानी' में यह कथन कि 'खरी बोली के स्थान पर खड़ी बोली हो गई' या बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन' का एक पुराने हिन्दी साहित्य सम्मेलन में सभा पति के पद से दिया गया यह भाषण कि 'खरी बोली को खड़ी बोली लिखते और कहते हैं,' खड़ी बोली की व्युत्पत्ति के संबंध में सही नहीं है। जो लोग खड़ी बोली को खड़ी बोली नहीं कह सके वे ही इसे 'खरी बोली' कहते हैं। लेकिन इससे यह नहीं माना जा सकता कि उच्चारण की इस कठिनाई के कारण इसका अर्थ बदल जाता है। गैर खड़ी बोली क्षेत्र के लोगों का यह कहना सर्वथा उचित है कि उनके द्वारा उच्चारित 'खरी बोली' को खड़ी बोली क्षेत्र में 'खड़ी बोली' कहा जाता है लेकिन खड़ी बोली क्षेत्र के लोग इसमें यही कहेंगे कि उनकी खड़ी बोली को दूसरे लोग 'खरी बोली' कहते हैं। इसमें यह सच होना चाहिए कि खड़ी बोली क्षेत्र के लोगों ने इसे कभी भी 'खरी बोली' नहीं कहा है।

भाषा वैज्ञानिक बताते हैं कि हिन्दुस्तान की भाषाओं में ड़, र, ल, के अक्षरों में कुछ आन्तरिक संबंध है। ड़, र, में तथा र, ल में परिवर्तित हो जाता है। यह अक्षरों की यात्रा अधिकतर पश्चिमोत्तर भारत से पूर्व दक्षिण की ओर गई है। अक्षरों से बनी शब्दों की इस यात्रा में गंगा नदी का बहुत महत्त्व है। जहाँ से गंगा मैदान में आई है और जहाँ यह समुद्र में गिरी है, इस बीच इसके किनारे बसी मानव बस्तियों की भाषाओं में कई परिवर्तन होते गए हैं। हिमालय से यह सीधे कुरु लोक के मैदान में उतरती है। इसके बाद उत्तर प्रदेश और बिहार में बहुत दूर तक बहती है। अंत में यह बंगाल की खाड़ी में मिल जाती है। कुरू लोक में जो ड़ है वह शेष उत्तर प्रदेश और बिहार में र हो जाता है। वही बंगाल में जा कर ल हो जाता है। मेरे एक मित्र इस बात को इस प्रकार समझाते हैं कि कुरु लोक में हिमालय से बहे आते हुए पत्थर बड़े बड़े होते हैं, इसलिए यहाँ लोगों के गले में 'ड़' की भरमार है। कुरू लोक से आगे पत्थर काफी घिस जाते हैं, इसलिए वहाँ 'ड़' का 'र' हो जाता है। बंगाल तक पहुँचते पहुँचते वे आपसी रगड़ से पूरी तरह महीन हो जाते हैं। इसलिए वहाँ 'ल' की भरमार हो जाती है। मैं अपने इन मित्र के इन सिद्धांत के बारे में कुछ नहीं कह सकता लेकिन हम एक शब्द 'खड़' को लें। कुरू लोक में 'खड़' की भरमार है। ब्रज क्षेत्र में 'ड़' को 'र' होने के कारण यह शब्द 'खर' बनता है। बंगाल में इसे 'खल' होना पड़ेगा। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि कुरू लोक का 'खड़' ही ब्रज और भोज पुरी क्षेत्र में 'खर' तथा

बंगाल में 'खल' बना है। मेरा केवल यह कहना है कि ऐसी संभावना हो सकती है। हम जानते हैं कि 'खल' एक बुरे अर्थ में प्रयोग होता है। खल से ही खल नायक बना है। 'खर' शब्द भी बुरे अर्थ में प्रयोग होता है। इसे संस्कृत में गधा कहा जाता है। मेरा मानना है कि 'खड़' शब्द भी इसी बुरे अर्थ में प्रयोग किया जाता रहा है। खड़ दिमाग, खर दिमाग और खल दिमाग, तीनों एक ही अर्थ की ओर जाते हुए शब्द हैं।

प्रश्न उठता है कि जब 'खड़' शब्द बुरे अर्थ का पर्याय रहा है तो एक महत्त्व पूर्ण बोली के लिए इसका व्यवहार कैसे हो सका है ? प्रश्न एकदम सही है लेकिन हमें इसके उत्तर इतिहास में मिलते रहे हैं। इतिहास में शब्द भी मनुष्यों की तरह लड़ते हैं। जो जीतता है वह जीवित रह जाता है। 'खड़' हमारे समाज में जीता हुआ शब्द है। यह कुरु लोक के लोगों के समान ही कुरु लोक का अपना शब्द है।

उत्तर भारत में ऐसा अवश्य रहा है कि भाषाओं के नाम प्राचीन जन पदों या प्रदेशों के नाम पर बने हैं। सिंधी सिंध देश की, कश्मीरी कश्मीर देश की, गुजराती गुजरात देश की, असमिया असम देश की, बंगाली बंगाल देश की, उड़िया उड़ीसा देश की भाषा है। मराठी भी महा राष्ट्र देश से संबंध रखती है। प्राचीन काल में मागधी और अर्द्ध मागधी नाम भी मगध देश के नाम पर रखे गए हैं। मैथिली मैथिल प्रदेश की, भोजपुरी भोजपुर क्षेत्र की, अवधी अवध की और ब्रज ब्रज प्रदेश की बोली है। स्वयं हिन्दी नाम भी हिन्दुस्तान से जुड़ा हुआ है। भाषाओं को केवल पाली, प्राकृत और अपभ्रंश नाम संस्कृत की तुलना में दिए गए हैं। वैसे पाली भी कई स्थानों का नाम है।

यदि हम मेरठ क्षेत्र की बोली के लिए इसके नाम के साथ जुड़ी हुई बोली की खोज करने चलें तो हमें क्या शब्द मिल सकता है ? आजकल एक नाम 'कौरवी' उभरा है। पर क्या यह नाम प्राचीन है ? क्या यह भाषा विज्ञान की प्राचीन पुस्तकों में कहीं भी उपलब्ध है ? क्या इसे किसी विद्वान ने एक बार भी भाषा के रूप में अभिव्यक्त किया है ? इसमें भाषा विज्ञान के विद्वानों को काम मिलता है कि वे खोज कर बताएँ कि सच क्या है। जहाँ तक कौरवी भाषा के बारे में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने खोज की है, उन्होंने कहा है कि "कुरु जन पद की प्राकृत का नाम 'कौरवी' होना चाहिए। परन्तु कोई नाम मिलता नहीं है।"

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने स्पष्ट कहा है कि "कुरु जन पद में प्राकृत का तीसरा रूप जो प्रचलित था उसका नाम रूप कुछ भी हमारे सामने नहीं है" तथा "प्राकृत के (दूसरी या तीसरी अवस्था के) जो भी रूप साहित्य में उपलब्ध हैं उनसे हिन्दी की पटरी बैठती नहीं है।" वे पुनः कहते है कि हिन्दी की विशेषता "किसी भी प्राप्त प्राकृत में दिखाई नहीं देती। जिस कुरु जन पद की प्राकृत में यह बात थी उसका कोई रूप हमारे सामने नहीं है। कई कड़ियाँ टूटी हैं।" इतिहास कारों का काम इन्हीं

टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने का है।

स्वर्ण लता प्रसाद की बिहार जन जातीय कल्याण शोध संस्थान राँची द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक 'कोरवा वार्तालाप निर्देशिका' है। इस पुस्तक के 'परिचय' में भाषा के बारे में लिखा गया है—"कोरवा भाषा में लिंग, वचन, कारक का प्रयोग खड़ी बोली हिन्दी की ही तरह होता है।...खड़ी बोली हिन्दी की तरह कर्ता का क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।" समानता को दर्शाते हुए यह भी लिखा गया है—"उसी तरह 'र' के स्थान पर 'ड़' का प्रयोग किया जाता है। जैसे हिन्दी धांगर के स्थान पर धाँगड़ शब्द का प्रयोग होता है।" जार्ज ग्रियर्सन के आधार पर इस भाषा की ऐतिहासिकता यह लिख कर दी गई है—"भारतीय जन संख्या 1/5 भाग आबादी जन जातीय भाषा के बोलने वाले हैं जिसमें मुण्डारी, खड़िया, कोरवा आदि भाषाएँ हैं।"

इस कोरवा भाषा की समीक्षा इस दृष्टि से की जा सकती है कि आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने कहा है कि हमें भाषा के इतिहास में 'कौरवी' नाम की कोई प्राचीन बोली नहीं मिलती है। यहाँ कहा जा सकता है कि 'कौरवी' नाम की भाषा भले न मिलती हो परन्तु 'कोरवा' नाम की भाषा मिल जाती है। इच्छित 'कौरवी' और प्राप्त 'कोरवा' में कितना अन्तर है, यह ऊपर 'परिचय' में से दिए गए उद्धरणों से ज्ञात हो जाता है। समस्या इस भाषा के मुख्यतः छोटा नागपुर के पलायु एवं मध्य प्रदेश के सुरगुज्जा एवं जसपुर जिले में प्राप्त होने की है जो बिहार और मध्य प्रदेश की सीमा को पार करते हुए एक ऐसे क्षेत्र में केन्द्रीभूत हैं जो जंगलों और पर्वत मालाओं से भरे हैं। इन जातियों को यह नाम कैसे प्राप्त हुआ? सही या गलत पर महा भारत के आधार पर इसका उत्तर दिया जा सकता है कि दुर्योधन ने कर्ण को अंग देश का राज्य दिया था जो बिहार में स्थित था। ये जन जातीय लोग दुर्योधन के पक्ष में लड़े हुए हो सकते हैं। कई जन जातियाँ पांडवों के पक्ष में भी लड़ी हुई हो सकती हैं। ये जन जातियाँ कुरु लोक से अंग देश में गई हुई भी हो सकती हैं।

उड़ीसा से सटी हुई इस 'कोरवा' भाषा की बात छोड़ कर मैंने एक दूसरी आश्चर्य जनक बात देखी है। मेरे एक मित्र का नाम 'दुर्योधन' है। दुर्योधन महा भारत का एक मुख्य पात्र है पर पांडवों से हार जाने के बाद इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती कि हमारे देश में कोई अपने बालक का नाम 'दुर्योधन' रखेगा। कम से कम कुरु लोक में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। लेकिन यह सच्ची बात है कि मेरे वे मित्र दुर्योधन नाम से हैं। वे इसी नाम से सरकारी बैंक में सेवा करते हैं। विशेष बात यह है कि वे उड़ीसा की जन जाति के हैं। आदिम जातियों में पुराणों के हारे हुए नामों को अपने बच्चों के नाम देने को एक दूसरी परम्परा का द्योतक कहा जा सकता है।

के० शिव राम कारन्त की कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक 'यक्ष गान' है। इसका वी० वी० कारन्त ने हिन्दी में अनुवाद किया है। इसमें हमें एक महत्त्व पूर्ण सूचना मिलती है। इसमें लेखक ने कई रागों के नाम संग्रहीत किए हैं जो उन्हें पुराने प्रसंगों में उपलब्ध हुए थे। इसमें एक राग का नाम 'कोरवी' बताया गया है। इसमें उन्होंने यह भी लिखा है कि "कोरे, कोरवी, मेचाली, गोपनिते, पंचागति जैसे नाम विशुद्ध कन्नड़ के लगते हैं।" उन्होंने अपनी पूरी बात इस प्रकार लिखी है—"कौरवी राग कर्नाटकी कुरंजी के निकट है। वस्तुतः कौरवी शब्द का अर्थ ही कोरवंजी है (कोर-वंजी का अर्थ है शकुन बताने वाली)। यक्ष गान से कई भागवत पुराने रागों को अच्छी तरह गा तो पाते हैं लेकिन उनके सही नाम नहीं बता पाते। यहीं से समस्या पैदा होती है।" उन्होंने यह भी लिखा है कि "ज्ञात हुआ है कि कोरे राग हिन्दुस्तानी मांड जैसा है।" इस राग का इस पुस्तक के परिशिष्ट 4 में शास्त्रीय विवरण दिया गया है।

मैं इस राग के बारे में विवेचन नहीं कर सकता। मैं केवल आचार्य किशोरी दास वाजपेयी के संदर्भ से कहना चाह रहा हूँ कि प्राचीन काल में हमें 'कौरवी' भाषा नहीं मिली लेकिन कौरवी राग मिला है।

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने 'खड़ी बोली' नाम के बारे में कहा है कि 'कुरु जन पद' उत्तर प्रदेश के मेरठ डिविजन की बोली को, 'खड़ी बोली' नाम भाषा शास्त्रियों ने नहीं, साधारण साहित्यिकों ने दिया है। इसलिए भाषा शास्त्र की कसौटी पर यह-नाम प्रामाणिक नहीं है। दूसरे, जिन साहित्य कारों ने यह नाम दिया है वे केवल दो शताब्दी पूर्व के ही हैं। वास्तव में उन साहित्य कारों ने भी इसको यह नाम दिया नहीं है बल्कि इसका उच्चारण भर किया है। यह उच्चारण खड़ी को खरी कहने में अशुद्ध और अवास्तविक भी हो गया है।

डाक्टर शिति कंठ मिश्र ने अपनी शोध पुस्तक 'खड़ी बोली का आन्दोलन' में 'खड़ी बोली' शब्द की महत्ता को दर्शाते हुए लिखा है—"वस्तुतः इन आरम्भिक प्रयोग कर्ताओं को यह शंका भी नहीं हुई होगी कि कभी उनके एक एक शब्द की इतनी व्याख्याएँ होंगी। अन्यथा वे इस शब्द के प्रयोग में अवश्य सतर्क रहते और सम्भवतः इतने विवाद के लिए अवकाश न छोड़ते। परन्तु आरम्भ में इस प्रकार का कोई प्रश्न ही नहीं था।" इस तथ्य से एक निष्कर्ष स्वयं डाक्टर शिति कंठ मिश्र ने निकाला है कि किसी प्रतिद्वन्द्वी भाषा के संघर्ष में आने पर ही किसी भाषा के नाम, उत्पत्ति, व्यवहार आदि के संबंध में विवाद उठते हैं, परन्तु इससे दूसरा निष्कर्ष यह भी निकलता है कि उन्होंने 'खड़ी बोली' शब्द को एक सामान्य, सहज और लोक प्रचलित शब्द के रूप में प्रयोग किया है। वे खड़ी बोली का अरबी, फारसी और ब्रज से अन्तर करके इसकी विशेषताएँ तो बताते हैं परन्तु यह नहीं कहते कि वे 'खड़ी बोली' का नया निर्माण कर रहे हैं। वे केवल खड़ी बोली का प्रयोग कर रहे हैं। इसका मतलब यह है

कि खड़ी बोली अपने नाम के रूप में उनसे पहले विद्यमान थी। यह उन्हें विरासत में मिली थी। उन्होंने इसे बनाया नहीं था।

यदि खड़ी बोली का कोई दूसरा गुणात्मक नाम हो सकता है तो वह सीधी बोली है। डाक्टर शिति कंठ मिश्र अपनी पुस्तक 'खड़ी बोली का आन्दोलन' में डाक्टर चन्द्र बली पांडेय के माध्यम से बताते हैं—"सीधी बोली के अर्थ में 'खड़ी बोली' का निम्न लिखित प्रयोग लल्लू जी लाल से पचास वर्ष पूर्व 'तारीख गरीबी' के लेखक ने किया है—'लिखा निपट कर सीधी बोली, जो कुछ गठरी थी सो खोली।'

2

डाक्टर भोला नाथ तिवारी का मत हिन्दी भाषा के खड़ी बोली के स्वरूप के बारे में सन्तोष जनक नहीं है। वे यह नहीं मानना चाहते कि खड़ी बोली वाली आधुनिक हिन्दी का मेरठ की भाषा से कोई गहरा सम्बन्ध है। इसके लिए उन्होंने मेरठ जिले की बोली का 'कौरवी' नाम स्वीकार करके खड़ी बोली और कौरवी में अन्तर बताने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्होंने मेरठ जिले की कौरवी बोली के जिस उदाहरण को रखा है उससे यही पता चलता है कि उन्हें मेरठ जिले की भाषा का वास्तविक ज्ञान नहीं है।

डाक्टर भोला नाथ तिवारी ने अपनी 'हिन्दी भाषा' नामक पुस्तक में कौरवी भाषा का एक टिपिकल उदाहरण रखा है। यदि डाक्टर भोला नाथ तिवारी मेरठ जिले की भाषा का अध्ययन करें तो उन्हें पता चलेगा कि मेरठ के गाँवों और शहरों में कितनी शुद्ध खड़ी बोली बोली जाती है। तब उन्हें यह भी पता चलेगा कि वहाँ के एक ही गाँव में एक जाति खड़ी बोली बोलती है तथा दूसरी जाति उस खड़ी बोली को कुछ अन्तर से बोलती है। यदि किसी गाँव में मेरठ जिले से बाहर के लोग आ कर बस गए हैं तो उनकी भाषा कुछ भिन्न तरह की हो गई है। लेकिन जो मेरठ की मूल जातियाँ हैं वे खड़ी बोली का ही उच्चारण करती हैं। स्वयं मेरठ शहर की भाषा को देखा जा सकता है। डाक्टर भोला नाथ तिवारी को मेरठ शहर के मोहल्लों में ढूँढने पर भी उस भाषा के दर्शन नहीं होंगे जिस भाषा का उदाहरण उन्होंने अपनी इस पुस्तक में रखा है।

यदि मेरठ जिले की लिखित भाषा का अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि यह कितनी शुद्ध बोली है। मेरठ जिले में बहुत दिनों से साँगों की, होली की, रागनियों की और ढोला की पुस्तकें छप रही हैं। वे लिखित रूप में उपलब्ध हैं। उस लोक

साहित्य का अध्ययन करके ठीक पता चल सकता है कि मेरठ की बोली की ठीक पहचान क्या है। वहाँ के सन्तों ने भी अपनी रचनाएँ लिखी हैं। वहाँ ऐसा साहित्य विपुल संख्या में उपलब्ध है।

विद्वानों को बोल चाल की भाषा का अध्ययन करते समय यह ध्यान रखने की बहुत आवश्यकता है कि मेरठ जिले में खड़ी बोली, जाने कब से, बेचारे अनपढ़ों और निरक्षरों के मुख से बोली जा रही है। कई निर्धन जातियों को सैकड़ों वर्षों से देव नागरी का एक अक्षर भी नहीं पढ़ने दिया गया था। यदि वे जातियाँ चोरी छिपे हिन्दी पढ़ना चाहती थीं तो उन्हें और उनके छुपे हुए मास्टर को गाँव से भगा दिया जाता था। उन्हें धनवान जातियों द्वारा मारा पीटा जाता था। दुर्भाग्य से, भारत के विद्वान हिन्दुस्तान के इस दर्द को महसूस नहीं करते और संस्कृत के पक्ष में एक से एक अनर्गल बातें कहते रहते हैं। यह अनपढ़ लोगों की भाषा की मजाक उड़ाने जैसी बात हो जाती है।

डाक्टर भोला नाथ तिवारी ने हिन्दी के मामले में अपना मत इस प्रकार अभिव्यक्त किया है —"इस सम्बन्ध में मेरी अपनी राय यह है कि अधिकांशत: यह भाषा कौरवी पर तो आधारित है किन्तु इसके सारे के सारे रूप कौरवी के ही नहीं हैं जैसा कि ग्रियर्सन या अन्य लोग मानते हैं। इसमें 'कौरवी' के साथ साथ पूर्वी पंजाबी, बांगडू एवं ब्रज के रूप एवं प्रभाव भी हैं। वस्तुत: खड़ी बोली, मेरे विचार में पूर्वी पंजाब, दिल्ली और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की बोलियों के मिश्रण का एक परिनिष्ठित रूप है।"

विदेशी विद्वानों को इससे कुछ लेना देना नहीं था कि खड़ी बोली वाली हिन्दी मेरठ से निकली है या आगरे से निकली है। लेकिन लगता है, भारतीय भाषा विदों ने इसमें अपनी पक्ष धरता खड़ी कर ली है। कई अहिन्दी भाषी प्रान्तों के विद्वान यह मानने को तैयार नहीं हैं कि खड़ी बोली वाली हिन्दी समूचे भारत संघ की काम काजी भाषा बननी चाहिए। वे मानते हैं कि संविधान के अनुसार जिस हिन्दी का प्रचार प्रसार होना है वह मेरठ और दिल्ली की भाषा नहीं होनी चाहिए। उनकी बात समझ में आती है कि वे नहीं चाहते कि हिन्दी एक प्रान्तीय बोली के रूप से उठ कर सारे देश की भाषा बन जाए। शायद इससे उनके अहम पर चोट पड़ती है। लेकिन ऐसी ही बात गैर खड़ी बोली क्षेत्र के हिन्दी विद्वान भी करते हैं। वे नहीं चाहते कि मेरठ और दिल्ली क्षेत्र के लोग उन्हें हिन्दी की जीनियस के बारे में पाठ पढ़ाएँ। शायद उन पर भी इससे उनकी अस्मिता पर चोट पड़ती है। वे खड़ी बोली सीखने के लिए किसी मेरठ वासी या दिल्ली वासी के विद्यार्थी बनना नहीं चाहते। गैर खड़ी बोली क्षेत्र के कई हिन्दी विद्वानों ने यहाँ तक कह दिया है कि खड़ी बोली कृत्रिम एवं आविष्कृत भाषा है। ठीक है, उनके पक्ष में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि खड़ी

बोली एक कृत्रिम और आविष्कृत भाषा है। किसी मेरठ वासी या दिल्ली वासी के लिए खड़ी बोली कुछ भी हो पर गैर खड़ी बोली वाले क्षेत्रों के लोगों के लिए यह निश्चित ही कृत्रिम और आविष्कृत भाषा है। जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'खड़ी बोली' का नाम 'नई भाषा' रखा या राजा शिव प्रसाद ने इसे 'नई बोली' कहा है तो उनके लिए यह सच में ही नई भाषा और नई बोली है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा भी है कि खड़ी बोली उनके क्षेत्र में पश्चिम से आई है। यह उनकी अपनी घरेलू बोली नहीं है।

जहाँ तक खड़ी बोली क्षेत्र की दृष्टि से बात कही जाए तो लल्लू लाल ने भी भाषा में 'खड़ी बोली' नाम को जन्म नहीं दिया है। उन्होंने केवल इसका शुद्ध उच्चारण किया था। उन्होंने प्रेम सागर की भूमिका में लिखा था—"यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह प्रेम सागर नाम धरा।" इसमें जो नाम 'धरा' गया है वह उनकी पुस्तक 'प्रेम सागर' का शीर्षक है, खड़ी बोली का नाम नहीं। सदल मिश्र ने भी अपनी 'नासिकेतोपाख्यान' पुस्तक में लिखा था—"देव वाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिए खड़ी बोली में किया" या आदेश मिलने पर कि "ऐसी बोली में करो जिसमें अरबी फारसी न आवे। तब मैं इसको खड़ी बोली में कहने लगा।" इन उद्धरणों से पता चलता है कि साहित्य के रूप में इन शब्दों के प्रथम प्रयोग करने वाले लल्लू लाल और सदल मिश्र से पहले खड़ी बोली अपने पूर्ण अस्तित्व में थी जो एक ओर अरबी फारसी से टक्कर लेती है तो दूसरी ओर संस्कृत से टक्कर लेती है। सन 1803 के भारत में जो काम अरबी फारसी और संस्कृत नहीं कर सकती थीं वह खड़ी बोली कर रही थी।

लल्लू लाल और सदल मिश्र के बाद यदि कोई खड़ी बोली को 'खरी बोली' कहता है तो वह कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। हाँ, यदि कोई ब्रज वासी या पूर्वी देश का विद्वान यह सिद्ध कर दे कि सन 1803 से पहले 'खरी बोली' शब्द का प्रयोग होता रहा है तो इस पर विचार किया जा सकता है। कहने का मतलब यह है कि इसके जो सबसे पहले ज्ञात प्रयोक्ता साहित्य कार हैं उन्होंने इसे 'खड़ी बोली' कहा है अर्थात उन्होने इसे 'खरी बोली' कहने की मोहताजी नहीं बरती है।

बताया जाता है कि बुंदेल खण्डी में खड़ी बोली को ठाढ़ बोली कहा जाता है। यह भी बताया जाता है कि बुंदेल खण्डी में 'ठाढ़' शब्द का अर्थ 'खड़ा' होता है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि मेरठ अंचल के ग्रामों में भी 'ठाढ़ा' शब्द धड़ल्ले से प्रयोग होता है लेकिन वहाँ इसका अर्थ 'खड़ा' नहीं होता है। मेरठ में ठाढ़ा आदमी वह होता है जो शरीर की दृष्टि से लम्बा, तगड़ा और मजबूत होता है। ठाढ़े का अर्थ बड़े आदमी से भी होता हैं। कहा जाता है—वे ठाढ़े आदमी हैं और हम माड़े आदमी हैं, अर्थात वे बड़े आदमी हैं और हम कमजोर आदमी हैं। कुरु लोक की

प्रचलित कहावत है—'ठाढ़े की जोरू सब की दादी, माड़े की जोरू सब की भाभी।'

ओंकार चन्द्र शर्मा अपनी पुस्तक 'खड़ी बोली का स्वरूप' में बताते हैं कि "मारवाड़ी में यह ठाठ बोली कहलाती है। ठाठ 'खड़ा' का पर्याय वाची है। यहाँ भी मैं कहना चाहता हूँ कि मेरठ में भी 'ठाठ' शब्द का बहुत प्रयोग होता है लेकिन इसका अर्थ 'खड़ा' नहीं है। यहाँ ठाठ का अर्थ 'मौज, मजे, शान शौकत, मस्ती, वैभव, धन धान्य' की परिपूर्णता से है। यहाँ लोक गीत की एक आधी पंक्ति रखी जा सकती है— 'म्हारे अजब बने थे ठाठ।' ठाठ से 'मजाक ठट्ठे' और 'ठट्ठे मजाक' के जोड़े वाले शब्द बने हैं।

3

मेरठ क्षेत्र की भाषा के नाम इसकी प्राचीनता में क्या क्या हो सकते थे? हम जानते हैं इस क्षेत्र में क्षत्रियों के कुरु वंश ने राज्य किया है। हम यह भी जानते हैं कि यहाँ ब्राह्मणों की गौड़ जाति रही है। इस लिए यहाँ की भाषा का नाम या तो कुरु या फिर गौड़ नाम के अनुकरण पर हो सकता था। कुरु के अनुकरण पर यह भाषा 'कौरवी' तथा गौड़ के अनुकरण पर 'गौड़ी' पुकारी जा सकती थी। कौरवी नाम पर विचार किया जा चुका है। गौड़ी नाम काव्य की एक रीति का नाम है तथा इस नाम से एक अपभ्रंश भी प्राप्त है। इसलिए इस पर आगे विचार किया जा सकता है।

डाक्टर नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' में प्राचीन विद्वानों के प्रमाण दे कर बताया है कि अपभ्रंश के तीन भेद—उप नागर, आभीर और ग्राम्य, या नागर, उप नागर और व्राचड हैं। उन्होंने बताया है कि मार्कण्डेय के अनुसार कुछ लोग 27 अपभ्रंश मानते रहे हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—व्राचड, लाट, वैदर्भ, उपनागर, नागर, बार्बर, अवन्त्य, पांचाल, टाक्क, मालव कैकय, गौड़, ओद्र, वैव पश्चात्य, पांड्य, कौन्तल, सैंहल, कलिंगम, प्रच्च्य, कार्णाट, कांच्य, द्राविड़, गौर्जर, आभीर, मध्य देशीय, वैताल आदि। डाक्टर नामवर सिंह ने अपने इच्छित वर्गीकरण के लिए अपभ्रंश के इन 27 प्रकारों पर विचार करना व्यर्थ समझा है। उन्होंने अपने पक्ष में लिखा है कि पुराने आचार्यों ने ही इन प्रभेदों का युक्ति पूर्ण ढंग से खंडन कर दिया है।

डाक्टर नामवर सिंह का अपनी पुस्तक को लिखने में कुछ दूसरा उद्देश्य था। इसलिए वे अपभ्रंश के 27 प्रकारों के झमेले में नहीं पड़े हैं। लेकिन यदि खड़ी बोली हिन्दी का मूल रूप देखना है तो ये प्रकार बहुत महत्व पूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। निश्चित

रूप में, भाषाओं से अधिक ये क्षेत्रों के नाम हैं लेकिन इनसे महत्व पूर्ण सूचना प्राप्त होती है। कम से कम इनसे यह ज्ञान अवश्य मिलता है कि भाषा या बोलियों की दृष्टि से हमारा देश उस समय 27 भौगोलिक क्षेत्रों में बँटा हुआ था। ये सारे क्षेत्र साहित्यिक अपभ्रंश के न रहे हों, बल्कि न ही रहे होंगे, लेकिन इनसे इतना अवश्य पता चलता है कि इतने क्षेत्रों में संस्कृत भाषा प्रचलित नहीं थी। जहाँ तक भारत के भौगोलिक क्षेत्रों का सम्बन्ध है इस सूची से करीब करीब कोई क्षेत्र बच नहीं जाता है। यदि इन क्षेत्रों में ये भाषाएँ बोली जाती थीं तो उस समय संस्कृत किसी जन पद की भाषा नहीं रही होगी। संस्कृत के लिए अलग से कोई भौगोलिक क्षेत्र बचा हुआ नहीं रह जाता है। यदि बचने की कोई संभावना शेष थी तो वह 'वैताल आदि' में 'आदि' शब्द के प्रयोग से निर्मूल हो जाती है।

मेरा अनुमान है कि इन 27 क्षेत्रों में खड़ी बोली का क्षेत्र अवश्य वर्णित होना चाहिए। यह नहीं हो सकता कि मेरठ और दिल्ली के क्षेत्र किसी समय इतने गौण बन जाएँ कि उनका जिक्र तक न हो। कम से कम मेरठ और दिल्ली के लोगों ने इतिहास में इतने निठल्ले बन कर कभी नहीं खाया है कि वे किसी समय इतिहास कारों के ध्यान में रहने लायक न रह गए हों। यहाँ के किसानों, मजदूरों और सैनिकों ने हर समय अपनी महत्व पूर्ण भूमिका निभाई है। तो क्या इस क्षेत्र के ब्राह्मणों ने महत्व पूर्ण कामं नहीं किए हैं? यह ठीक है कि इस क्षेत्र में ब्राह्मणों का धार्मिक दबदबा अधिक नहीं रहा है लेकिन यहाँ ब्राह्मण काफी संख्या में रहे हैं। इसलिए मैं यहाँ 'गौड़' शब्द पर विस्तृत चर्चा करनी चाहता हूँ।

आर्यों से पहले उत्तर भारत में गोंड जाति का निवास स्थान बताया जाता है। यदि आर्यों और अनार्यों का यह संघर्ष सच्चा है तो यह अनुमान लगाना अनुचित नहीं है कि आर्यों ने जहाँ जहाँ से गोंड जाति को पीछे हटाया होगा उस उस देश को वे गोंड देश कहते गए होंगे। भाषा के मामले में विजित जाति की भाषा मिट नहीं जाया करती है। विजेताओं के पास अधिकांश जनता विजित प्रदेशों की रहती है। जो नए लोग आते हैं वे कम संख्या में होते हैं। लड़ाइयों में ज्यादातर राज घराने के लोग ही भागते हैं, आम जनता वहीं रह जाती है। भागे हुए राज घरानों के लोग पड़ोसी राजाओं के यहाँ जा कर छुप जाते हैं। वे वहाँ से पुनः खोए हुए राज्यों को प्राप्त करने के प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में वे मर सकते हैं। लेकिन अपने देश की या दूसरे देश की साधारण जनता बन कर नहीं रहा करते हैं।

गोंड जाति का राज्य छिनने पर जो दूसरी जाति शक्ति में आई होगी या वहाँ बसने वाले जो कुछ सौ विदेशी घुड़सवार होते होंगे— वे भी अपने आपको गोंड वासी ही कहते होंगे। भाषा उच्चारण की कठिनाइयों या अन्य किसी पहचान को स्पष्ट करने के लिए विजेताओं ने अब इस देश का नाम 'गोंड' के बजाय 'गौड़' रख दिया होगा। शब्दों में इतना परिवर्तन हर विजेता जाति कर देती है। नगेन्द्र नाथ वसु ने भी अपने 'हिन्दी विश्व कोश' में कुछ लोगों का यह मत बताया है कि गोंड प्रदेश ही गौड़ प्रदेश बना है।

यहाँ एक बताने लायक बात है कि मेरठ के गाँवों में आज तक 'गोंडिए' पूजे जाते हैं। मेरे अपने गाँव में खुद मेरे घर के सामने 'गोंडिए' का स्थान माना जाता है। पड़ौसी के घर की बाहरी खूंट पर जो गाँव के बड़े रास्ते पर पड़ती थी, एक नुकीला काँटेदार झोझरा खंजर पत्थर पड़ा रहता था। वहीं गोंडिए का स्थान माना जाता था।

माना यह जाता था कि गोंडिया तम्बाखू पीता है। भेंट पूजा में उस खूंट पर तम्बाखू की पिंडिएँ रखी जाती थीं। यदि किसी बच्चे को कोई छोटी मोटी बीमारी हो जाती तो गोंडिए पर तम्बाखू की पिंडियाँ चढ़ाई जाती थीं।

मेरी जाति के लोग गोंडिए से डरते नहीं थे बल्कि उसे बहुत सम्मान देते थे। ऐसा नहीं माना जाता था कि गोंडिया बच्चों को तंग करता है। बच्चों से ऐसा अवश्य कहा जाता था कि गोंडिया चिपट जाता है, परन्तु उसका मतलब भी इस पवित्र भावना से जुड़ा था कि बच्चों के द्वारा भूल से गोंडिए का अपमान न हो जाए। माता पिता द्वारा बच्चों को को यह सख्त हिदायत थी कि गोंडिए के स्थान पर थूक कर, पेशाब करके या उसे गाली दे कर उसका अपमान न किया जाए। यदि किसी बालक से ऐसा हो गया तो माँ बाप गोंडिए को बहुत दयालु मान कर तम्बाकू की दो पिंडिएँ चढ़ा देते थे।

माँ बाप द्वारा यह कोशिश की जाती थी कि गोंडिए पर तम्बाखू की पिंडिएँ समय समय पर खुशी में भी चढ़ाई जानी चाहिए। नहीं तो बच्चे पर सताव से पता चलता था कि बहुत दिनों से परिवार द्वारा गोंडिए को भूला गया है। इतना ही नहीं, बल्कि गोंडिए को इतना अच्छा माना जाता था कि बालक को भूत प्रेत का कोई ऊपरी सताव माने जाने पर तम्बाखू की पिंडिएँ चढ़ा कर गोंडिए से यह मिन्नत की जाती थी कि हमारे बच्चे के हक में भूत प्रेत से खुद गोंडिया लड़ ले।

गोंडिए का रंग काला माना जाता था। यह भी माना जाता था कि वह कटड़े के आकार का चार पैर वाला धरती से चिपका रहता है। रात के चांदने के इस रूप में वह स्त्रियों को दिखा हुआ माना जाता था। तब लोग उससे हाथ जोड़ लेते थे। सुबह तम्बाखू की पिंडिया चढ़ा देते थे।

मेरा गाँव हजारों वर्ष पुराना गाँव नहीं है। यह केवल कुछ सौ वर्षों का पुराना बसाया हुआ गाँव है। यह स्पष्ट था कि हमारे पड़ौसी के घर की उस खूंट की महत्ता यह नहीं थी कि वहाँ सच में कोई गोंडिया रहा था। वह वहाँ दूसरे गाँव से उठ कर आए हुए लोगों के साथ उनके कुल देवता के रूप में आया था। इस समय केवल यह सोचना है कि यदि मेरे गाँव के गोंडिए पूजे जाने की इस कहानी का कुछ भी ऐतिहासिक महत्व है तो यह विचार के लिए हमारे सामने है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह जानकारी देनी भी उचित रहेगी कि दिल्ली के नीचे यमुना के बिलकुल पास पुराने मेरठ ज़िले की सीमा पर एक 'घोंडा' नाम का गाँव अभी भी है।

मेरठ में 'गन्ने' को 'गांडा' कहा जाता है। गन्ने को चूसने की दृष्टि से उसके तीन भाग किए जाते हैं। एक जड़ का, दूसरा बीच का और तीसरा गोंड का। लोग बीच के गांडे को चूसना पसन्द करते हैं। गांडे की जड़ को और गोंड को तोड़ कर फेंक दिया जाता है। जड़ का गांडा सबसे अधिक मीठा होता है लेकिन सख्त होता है। लोग मीठे और फोके गांडे की तलाश में रहते हैं। गोंड का गांडा फीका होता है। उसे लोग चूसना नहीं चाहते हैं। गाय भैंसों के चारे के लिए अगोले में लम्बी गोंड काट दी जाती है।

यह कुछ नहीं कहा जा सकता कि गांडे के फीके भाग को जो हरी पत्ती के अगोले से जुड़ा रहता है 'गोंड का' कब से कहा जाता रहा है। लेकिन जब मेरठ के गाँवों में गोंडिए पूजे जाते रहे हैं, ऐसा अनुमान कुछ गलत नहीं है कि गोंडियों की हार के बाद गन्ने के सबसे तुच्छ भाग को 'गोंड का' कहा जाने लगा होगा। गन्ने के छोड़े हुए इस भाग को गोंड जाति के लोग उठा कर ले जाते होंगे या यह छोलते समय अगोले में ही छोड़ दिया जाता होगा। गोंड जाति के लोग गाय भैंस पालते होंगे। उनके लिए इस भाग का उपयोग होता होगा।

एक 'गांडा' शब्द में गलूर, गोंड और गोला—कई शब्द हैं। गोले को 'अगोला' भी कहा जाता है, ऐसे ही 'गोंड' को भी 'अगोंड' कहा जाता रहा हो, लेकिन जो शब्द जबान पर चल निकला है वह 'गोंड का' है। अगोंड भी गोंड की तुलना में चला हुआ शब्द होना चाहिए।

4

मैं सोचता हूँ, यह गौड़ प्रदेश भारत में कहीं होना चाहिए जिसकी भाषा को गौड़ी भाषा भी कहा गया है।

इतिहास कारों ने यह माना है कि गौड़ प्रदेश बंगाल में है। यह बात सच हो सकती है लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि आज तक इस स्थापना में किसी ने अपनी शंका भी प्रकट नहीं की है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि इस सर्व सम्मत मान्यता में सन्देह करने के लिए पर्याप्त कारण मौजूद हैं।

भाषा विज्ञान के विद्वानों के लिए यह एक समस्या रही है कि खड़ी बोली का नाम 'खड़ी बोली' कैसे पड़ा है। इसके अनेक उत्तर सामने रखे गए हैं जिन पर हम पहले चर्चा कर चुके हैं पर इसका एक और सम्भावित उत्तर यह भी दिया जा सकता है कि गौड़ी के गउड़ि गउड़ी आदि के रुपान्तरों से गौड़ी ही 'खड़ी' हो गई है। इसमें ध्यान रखने की बात यह है कि यह नहीं कहा जा रहा है कि यह अनुमान एकदम

सही है। यह अनुमान सही भी हो सकता है और गलत भी हो सकता है। जोर दे कर जो बात कही जा रही है वह यह है कि मेरठ जिले में ब्राह्मणों में बड़ी संख्या में निर्विवाद रूप से गौड़ ब्राह्मण हैं। ये गौड़ ब्राह्मण मेरठ के मूल ब्राह्मण हैं या ये इस समय कहे जाने वाले बंगाल के गौड़ देश से यहाँ आए हैं, इस बारे में विद्वानों के कई मत हो सकते हैं। हो सकता है, मेरठ जिले के ब्राह्मणों पर किसी समय मुसीबत पड़ने पर वे आज के बंगाल देश में चले गए हों। यह बात समझ में नहीं आती कि मेरठ के लोगों को बाहर से ब्राह्मणों को मंगाने की जरूरत पड़ी होगी। फिर, यदि वे ब्राह्मण बाहर से आए भी हों तो इतनी बड़ी संख्या में आए हुए नहीं माने जा सकते कि मेरठ जिले के ब्राह्मणों की जन संख्या का सन 1872 में 90 प्रतिशत बनाए रखते। यदि गौड़ ब्राह्मण बाहर से आए हैं तो क्या इतिहास के किसी समय में मेरठ की भूमि ब्राह्मण विहीन हो गई थी?

यदि मेरठ में गौड़ ब्राह्मण बाहर से आ कर बसे हैं तो उन्होंने मेरठ की किसी प्राचीन मूल जन बोली पर ऐसा प्रभाव नहीं छोड़ा होगा कि उसे बदल कर खड़ी बोली बना दिया हो। उल्टे उन्होंने यहाँ की बोली में अपने आपको ढाल लिया होगा। यदि गौड़ ब्राह्मण मेरठ के मूल ब्राह्मण हैं तो वे खड़ी बोली में पहले से रचे पचे रहे होंगे। दोनों स्थितियों में मेरठ की जन बोली खड़ी बोली के रूप में अप्रतिहत रूप से विद्यमान रहनी चाहिए।

यह देखा जाए कि यदि मेरठ में गौड़ ब्राह्मणों के कारण यहाँ की बोली का नाम 'खड़ी' रखा गया है तो इस प्रकार के नाम करण की सम्भावना कहाँ तक है? क्या इस क्षेत्र की बोली का नाम ब्राह्मणों के नाम पर रखा जाना सही प्रतीत होता है? कुछ भी हो, इसके उत्तर में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि मेरठ जिले में गौड़ ब्राह्मणों के कारण गौड़ी भाषा का सत्य नहीं माना जाता तो भी मेरठ से अन्यत्र यह गौड़ी भाषा अवश्य मानी गई है। मेरठ में न सही, फिर यह बंगाल में अवश्य रही होगी। फिर यदि बंगाल के क्षेत्र में गौड़ी भाषा मानी गई है तो यह मेरठ में क्यों नहीं मानी जा सकती?

इस विषय पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। क्या बंगाल देश की किसी भी भाषा को गौड़ी भाषा का नाम दिया गया है? आखिर बंगाल की भाषा बंगला क्यों कही गई और गौड़ी क्यों नहीं? मैथिल ब्राह्मणों को अपने मैथिली ब्राह्मण होने पर गर्व है, शाब्दिक रूप में अपने गौड़ पन पर क्यों नहीं? यदि बंगाल की भाषा को गौड़ी न कहा जा सकता था तो मैथिल प्रदेश की भाषा को गौड़ी कहा जा सकता था पर ऐसा बिलकुल नहीं हो सका है। इधर मेरठ क्षेत्र का ब्राह्मण केवल अपने गौड़पन पर गर्व करता है और किसी अन्य बात पर नहीं। फिर बंगाल प्रदेश की भाषा 27 अपभ्रंशों में से किसी अपभ्रंश में ढूँढी जा सकती है। मेरठ क्षेत्र की भाषा यदि गौड़ी के रूप में नहीं मानी जाती तो उसका अन्य नाम कौन सा हो सकता है? उड़ीसा के लिए 'कालिंगम' नाम अलग से है, बंगाल की

'प्राच्य' भाषा हो सकती है। बाबू श्याम सुन्दर दास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में स्पष्ट करना चाहा है कि "प्राचीन काल में कुरु पंचाल तथा पश्चिम के अन्य लोग कोशल (अवध), काशी (बनारस के चारों ओर), विदेह (उत्तर बिहार) और मगध तथा अंग (दक्षिण बिहार) वालों को प्राच्य कहते थे।" क्या तब मेरठ दिल्ली की भाषा को 'मध्य देशीय' कहा जाना चाहिए? सच कुछ भी हो सकता है लेकिन अन्तिम सत्य को घोषित करने से पहले सारे सुलभ विकल्पों पर विचार कर लिया जाना चाहिए।

मध्य देश का क्षेत्र इस देश में हर समय बदलता रहा है। इसके बारे में ललित मोहन अवस्थी ने अपनी 'खड़ी बोली हिन्दी का सामाजिक इतिहास' नामक पुस्तक में लिखा है— 'मनुस्मृति और ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित आर्यावर्त का मध्य भाग ही मध्य देश के नाम से विख्यात था। आगे चल कर मुसलमानों के शासन काल में इस आर्यावर्त एवं मध्य देश को 'हिन्दुस्तान' के नाम से पुकारा जाने लगा।" डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है—"ऐतरेय ब्राह्मण (38.3) के अनुसार 'मध्य दिशा' के अन्तर्गत कुरु, पंचाल, वश और उशनीर जन पद थे।……वराह मिहिर की वृहत्संहिता (संवत 644) में मध्य देश के मुख्य जन पद कुरु, पंचाल, शूर सेन, मत्स्य और वत्स गिनाए गए हैं।… फाहियान (संवत 457) के अनुसार मध्य देश मथुरा जन पद से (दक्षिण की ओर) प्रारम्भ होता था, किन्तु उसने मध्य देश की पूर्वी सीमा का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अल बेरुनी (संवत 1087) ने कन्नौज के चारों ओर के देश को मध्य देश कहा है।…इसके उपरान्त मुसलमान शासकों ने मध्य देश के स्थान पर भागलपुर तक की गंगा की घाटी के लिए 'हिन्दुस्तान' शब्द का प्रयोग किया है।"

वैसे ब्राह्मणों को सात ऋषियों –भृगु, अंगिरा, अत्री, विश्वामित्र, कश्यप, वशिष्ठ और अगस्त्य की सन्तान बताया गया है लेकिन ब्राह्मणों का एक दूसरा विभाजन भी है। सात ऋषियों की सन्तान के बजाय ब्राह्मणों के मूल का एक सिद्धान्त वह है जिसमें प्राचीन ब्राह्मणों को गौड और द्रविड़ नाम से दो मुख्य भागों में बाँटा गया है। इस विभाजन में पाँच गौड़ और पाँच द्रविड़ मिला कर कुल दस प्रकार के ब्राह्मण होते हैं।

यदि गौड़ ब्राह्मण मेरठ में बंगाल से आए हैं तो मेरठ क्षेत्र के अपने ब्राह्मण कौन से थे? बंगाल के गौड़ ब्राह्मणों के आने से पहले कुरु भूमि में ब्राह्मण अवश्य रहते होंगे। क्या वे सारे के सारे यहाँ से लुप्त हो गए थे? आखिर इसका क्या कारण है कि मेरठ के 90 प्रतिशत ब्राह्मण गौड़ ही हैं? इसका मतलब यही होना चाहिए कि गौड़ ब्राह्मण मेरठ के मूल ब्राह्मण हैं।

पंच–गौड़ देश की सच्चाई भी उपर्युक्त तर्क से संभावित दीख पड़ती है। पंच गौड़ देश कुरु क्षेत्र से बंगाल तक फैले हो सकते हैं। जब जनमेजय ने हस्तिनापुर में नाग यज्ञ किया होगा, या जब किसी राजा ने बाद में कोई यज्ञ किया होगा, या जब इस

संभावना के भी बाद की संभावना में ब्राह्मणों ने मय राष्ट्र भूमि में किसी राजा से कोई बड़ा यज्ञ करवाया होगा, हो सकता है उसमें बंगाल देश के गौड़ ब्राह्मणों को भी बुलवाया गया हो।

हिन्दी विश्व-कोश-कार नगेन्द्र नाथ वसु के अनुसार इतिहास की एक व्याख्या में गौड़ ब्राह्मणों को वेद की शाखा से भी जोड़ा गया है।

5

गौड़ शब्द किसी देश का ही नाम है। इसे एक विस्तृत प्राचीन जन पद या देश के रूप में पहचाना जाता है। गौड़ देश के रहने वाले सभी लोगों को गौड़ कहा जाता होगा। क्षेत्र से सम्बन्धित होने के कारण गौड़ किसी एक जाति विशेष या वर्ण विशेष का नाम नहीं रह जाता है। इसमें गौड़ देश में रहने वाली सभी जातियों के नाम आ जाते हैं। ऐसा सभी प्राचीन जन पदों के बारे में सही है। यह कुछ वैसा ही है जैसे आजकल उर्दू साहित्य की परम्परा में फिराक गोरखपुरी या अकबर इलाहाबादी के नाम रखे जाते हैं। हमें भिन्न जातियों के रूप में गौड़ ब्राह्मण, गौड़ कायस्थ, गौड़ तगा, गौड़ नट, और गौड़ राजपूतों का पता है। इनमें गौड़ शब्द आरम्भ में आता है। लेकिन इनके सिवा भाट गौड़, बामन गौड़ और चमार गौड़ की भी जातियाँ हैं।

नगेन्द्र नाथ वसु नें अपने हिन्दी विश्व कोश के छठे भाग में गौड़ देश और गौड़ जाति के बारे में कई महत्व पूर्ण सूचनाएँ दी हैं। 'गौड़ तगा' के बारे में वे लिखते हैं कि यह युक्त प्रदेश में रहने वाले ब्राह्मणों की एक जाति है। देहली, रोहिल खण्ड और दोआब में ये बहुत देखे जाते हैं। इनका कहना है कि जनमेजय सर्प सत्र करने के लिए गौड़ देश से बहुत ब्राह्मणों को लाया था। नगेन्द्र नाथ वसु ने आगे लिखा है कि कोई कोई इसे स्वीकार नहीं करते कि गौड़ ब्राह्मण गौड़ देश से आए हुए थे। उनके अनुसार, हरियाणा और बीकानेर अंचल में उनके पूर्व पुरुष रहते थे।

देशों में भी समस्या मात्र गौड़ की न हो कर पंच गौड़ की है। 'राज तरंगिणी' का उदाहरण दिया गया है कि काश्मीर राजा जयादित्य ने पंच गौड़ के राजाओं को जीत कर श्वशुर को उनका अधीश्वर बना दिया था। ये पंच गौड़ प्रदेश कौन से हैं?

नगेन्द्र नाथ वसु बताते हैं कि स्कन्द पुराणीय सह्याद्रि खण्ड में लिखा है कि सारस्वत अर्थात सरस्वती के किनारे के, कन्नौज, उत्कल, मिथिला और गौड़ के रहने वाले ब्राह्मणों को पंच गौड़ कहते हैं। नगेन्द्र नाथ वसु ने निष्कर्ष निकाला है कि

उपरोक्त प्रमाण से ऐसा मालूम होता है कि गौड़ नाम का देश एक ही नहीं था बल्कि पाँच थे। उनमें से सरस्वती नदी प्रवाहित कुरु क्षेत्र में एक था। यहाँ देखा जा सकता है कि कुरु क्षेत्र की बात मेरठ के नजदीक की बात हो जाती है। मेरठ ही कुरु लोक है। कुरु क्षेत्र कुरु लोक का युद्ध क्षेत्र है। अन्त में नगेन्द्र नाथ वसु भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उक्त पंच गौड़ों में मिथिला और बंग देश के बीच के गौड़ राज्य को सब ही जानते हैं। इतिहास में भी यही गौड़ राज्य प्रसिद्ध है, दूसरे गौड़ राज्यों का उल्लेख नहीं है। हमें यह ढूँढने का प्रयत्न करना चाहिए कि दूसरे गौड़ राज्य कहाँ थे।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' के तृतीय भाग में 'गौड़' शब्द के विभिन्न अर्थ दिए गए हैं। इसका एक अर्थ यह बताया गया है कि 'ब्राह्मणों की एक जाति जो पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली के आस पास तक राज पूताने में पाई जाती है।" आगे इसका एक और अर्थ दिया गया है—"36 प्रकार के राजपूतों में से एक जो उत्तर पश्चिम भारत में अधिकता से पाए जाते हैं।" इसी हिन्दी शब्द सागर में दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता से एक उदाहरण दिया गया है—'मधु सूदन दास गौडिया ब्राह्मण वृन्दावन में रहते।'

नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने 'हिन्दी विश्व कोश' के चौथे खंड में 'गौड़' शब्द पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है। उसमें कई मत साथ रखे गए हैं। उसमें यह भी कहा गया है कि 'पद्म पुराण में गौड़ नरेश नर सिंह का नाम आया है।' मैं समझता हूँ कि यह नर सिंह नाम बंगाल देश का नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत, मेरठ जिले में 'सिंह' नाम के अधिक लोग मिलते हैं।

'हिन्दी विश्व कोश' में आगे लिखा गया है 'ब्राह्मणों, कायस्थों आदि की कई जातियाँ आज भी गौड़ कहलाती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि गुड़ के व्यापार का केन्द्र होने के कारण ही इस प्रदेश का नाम गौड़ हो गया था।' यदि गुड़ की बात सही है तो भी कुरु लोक गुड़ के उत्पादन में सदा से एक अग्रणी क्षेत्र रहा है।

जवाहर लाल कौल के एक दैनिक पत्र में छपे निबन्ध में गौड़ शब्द का अर्थ 'तना' बताया गया है। यह अर्थ कश्मीर के सम्बन्ध से है। तना का अर्थ 'खिंचा तना' से भी निकलता है--'वह आदमी गुस्से में तना खड़ा है।' पेड़ का तना धरती पर खड़ा ही रहता है। चूँकि हिन्दी में 'भाषा' एक स्त्री लिंग शब्द है इसलिए भाषा के रूप में वह तनी अर्थात् 'खड़ी' ही कही जाएगी।

जहाँ तक 'गौड़ पाद' नाम का सम्बन्ध है, इसमें कोश कार ने लिखा है कि प्रो० वालेसर के अनुसार 'गौड़ पाद' शब्द में प्रयुक्त 'गौड़' शब्द देश परक है, यह व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। अद्वैत वेदान्त के दो प्रस्थान थे। पहला गौड़ प्रस्थान जो उत्तर भारत में प्रचलित था। आगे कोश कार ने प्रो० वालेसर के मत का खंडन

किया है लेकिन यहाँ हमारा उस दार्शनिक खंडन मंडन से कोई सरोकार नहीं है।

इस कोश कार ने एक और महत्व पूर्ण सूचना दी है। कोश कार लिखता है— "17 वीं शताब्दी के बाल कृष्णानंद सरस्वती ने 'शारीरिक मीमांसा भाष्य वार्तिक' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि कुरु क्षेत्र में हिरण्यवती नदी के तट पर कुछ गौड़ लोग रहते थे। गौड़ पाद उन्हीं में से एक थे। परन्तु द्वापर के आरम्भ से ही समाधिस्थ रहने के कारण उनका असली नाम लोगों को ज्ञात न हो सका। इस अनुश्रुति के आधार पर गौड़ पाद को कुरु क्षेत्र के आस पास होना चाहिए। 'जगद गुरु रत्न माला स्तव' नामक ग्रंथ के अनुसार गौड़ पाद का ग्रीक लोगों के साथ सम्पर्क था।" इसमें इतना जोड़ा जा सकता है कि बंगाल की तुलना में मेरठ का कुरु लोक ग्रीक के अधिक नजदीक है। हो सकता है, हिरण्यवती का नाम बदल कर हिन्डन नदी हो गया हो जो आज कुरु लोक में गंगा यमुना के बीच में बहती है। यहाँ यह भी देखा जा सकता है कि अंग्रेजी के 'गॉड' और संस्कृत के 'गौड' और 'गौडेश्वर' कुछ समानता लिए हुए शब्द हो सकते हैं। यह भी सही है कि संस्कृत में ड के नीचे बिन्दी न होने से 'गौड' शब्द बनता है। हिन्दी में यह 'गौड़' होता है।

6

गौड़ शब्द के अर्थ जानने के लिए हम प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्र से भी कुछ सहायता ले सकते हैं। संस्कृत काव्य शास्त्र में मुख्य रूप से तीन रीतियाँ बताई गई हैं। इनके नाम पांचाली, वैदर्भी और गौड़ी हैं। विद्वानों की यह मान्यता है कि गौड़ देश के नाम पर संस्कृत काव्य की परुषा वृत्ति का नाम ही गौड़ी पड़ा था।

हम जानते हैं कि मध्य देश की सीमाएँ भिन्न भिन्न समय में बदलती रही हैं। क्या ऐसे ही गौड़ देश की सीमाएँ भी बदलती नहीं रही हैं? जब हम पंच गौड़ देशों से परिचित हैं, यह सम्भावना रखना अनुचित नहीं है कि गौड़ देश हिन्दुस्तान में बहुत दूर तक फैले रहे हैं।

रीति सम्प्रदाय में गौड़ी रीति को परुषा कहा गया है। इसमें टवर्ग का प्रयोग किया जाता है। संयुक्त अक्षरों की भरमार होती है। यह समास बहुल शैली है। यह ओज प्रधान है। इसमें प्रधान रस रौद्र और वीर हैं। साथ ही, यहाँ यह भी ध्यान रहे कि यहाँ संयुक्त काव्य की बात हो रही है किन्तु इस समय प्राकृत और अपभ्रंश में लिखे गए साहित्य को भी सम्मान प्राप्त रहा है।

यह मिलान किया जाना चाहिए कि गौड़ी रीति की परिभाषा आज की किस

आधुनिक भाषा के अधिक नजदीक पड़ती है। यह मिलान बंग देश की भाषाओं की तुलना में खड़ी बोली के समीप बैठे तो कुछ आगे बढ़ा जा सकता है। आखिर ऐसा क्यों कहा गया है कि जब गौड़ी रीति का बंगाल से सम्बन्ध रहा है तो वह बंगाल का प्रतिनिधित्व नहीं करती है? इसके दो ही सम्भावित उत्तर हो सकते हैं। या तो बंगाल देश के स्वभाव में कोई परिवर्तन हो गया होगा या गौड़ी रीति कहीं बाहर से ला कर बंगाल पर थोंप दी गई होगी। मुझे दूसरी बात की सम्भावना अधिक उपयुक्त लगती है, नहीं तो हम डा० सत्य देव चौधरी की विद्वता भरी सलाह मान सकते हैं जो उन्होंने अपनी पुस्तक 'भारतीय काव्य शास्त्र' में दी है। उन्होंने लिखा है—"भामह से पूर्व वैदर्भ आदि नाम इन देशों के नाम पर पड़े होंगे—इसमें कोई सन्देह नहीं, पर उन देशों में इन रीतियों का परिपालन कठोरता से किसी भी समय नहीं किया जाता होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

डाक्टर नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका' में यह प्रश्न उठाया है—"क्या रीतियों की विशिष्टता का आधार प्रादेशिक है? क्या काव्य शैली किसी प्रदेश की सीमा में हो सकती है?" डा० नगेन्द्र के अनुसार पुराने समय में यह शंका स्वयं वामन ने भी उठाई थी। उन्होंने हमें बताया है कि रस ध्वनि वादियों ने रीतियों के प्रादेशिक आधार को सर्वथा गुप्त कर दिया था। डा० नगेन्द्र लिखते हैं —'गौडीय का गौड़ देश से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, वह रौद्रादि रसों और युद्ध आदि के वर्णन के उपयुक्त मानी गई।" यहाँ मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि यदि गौड़ी रीति का सम्बन्ध बंगाल से न जोड़ा जाए, और महा भारत के कुरु प्रदेश की संतानों से जोड़ा जाए तो यह गौड़ीय शब्द प्रादेशिक आधार पर पुनः सार्थक हो सकता है।

दंडी ने कुल दो रीतियों का नाम लिया है। इनमें एक वैदर्भी है और दूसरी गौड़ी है। इन दो रीतियों का नाम प्रदेशों के आधार पर ही पड़ा था। यह भी सत्य है कि दंडी ने नामों को ईजाद नहीं किया था। ये शब्द उनके बहुत पहले किसी परंपरा से आए हुए थे।

यदि हम प्राचीन भारत का नक्शा उठा कर देखें तो विदर्भ आज के महा राष्ट्र में ठहरता है। यदि दो रीतियों में से एक वैदर्भी है तो यह विचारणीय बात है कि देश की दृष्टि से दूसरी गौड़ी रीति के होने की संभावना पूर्व के बंगाल देश में बनती है या कहीं उत्तर भारत में। जबकि बहुत सारा प्राचीन संस्कृत साहित्य उत्तर भारत में लिखा गया है, यह कहना ठीक नहीं रहेगा कि वैदर्भी और गौड़ी नाम की दो रीतियों में से एक भी उत्तर भारत की नहीं है। यहाँ भौगोलिक दृष्टि से यदि एक रीति वैदर्भी महा राष्ट्र की है तो दूसरी गौड़ी रीति बंगाल के स्थान पर उत्तर भारत की होनी चाहिए। संस्कृत साहित्य का कम से कम उस समय केवल बंगाल और महा राष्ट्र

प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते थे। उत्तर भारत का प्रतिनिधित्व अवश्य होना चाहिए था।

अगले आचार्यों ने इन दोनों रीतियों में एक रीति पांचाली और जोड़ी है। इस जोड़ने में पहली दो में से कोई भी मिट नहीं गई है। इसके बाद इनमें एक और मागधी रीति भी जुड़ी है। यह मागधी रीति बिहार से ले कर बंगाल तक का प्रतिनिधित्व कर गई है।

पुराने साहित्य में 'पांचाल' अकेला शब्द नहीं है। यह 'कुरु पांचाल' के जोड़े के रूप में अधिक-प्रचलित रहा है। जब प्राचीन काव्य शास्त्र में गौड़ी और वैदर्भी की दो रीतियों की बात रही थी उसमें गौड़ी के रूप में कुरु लोक का प्रतिनिधित्व हो गया था। चूंकि पांचाल क्षेत्र की भाषा कुरु लोक की भाषा से भिन्न थी, इसलिए उसमें बाद में पांचाली रीति को भी जोड़ा गया होगा। 'कुरु पांचाल' का जोड़ा काव्य शास्त्र के नाम भेद से 'गौड़ी पांचाली' का हो गया था।

वामन ने तीन रीतियाँ ही मानी थीं—वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली। लेकिन राज शेखर ने इसमें एक 'मैथिली' रीति और जोड़ दी है। कर्पूर मंजरी में गौड़ीय और वैदर्भी नाम हटा दिए गए हैं। वहाँ तीन रीतियाँ इस प्रकार कही गई हैं—वच्छोमी, मागधी तथा पांचाली। यहाँ 'गौड़ीय' की जगह 'मागधी' नाम का प्रयोग किया गया है। 'गौड़ीय' हटा दिया गया है। डाक्टर नगेन्द्र ने बताया है कि भोज ने छह रीतियाँ मानी हैं—वैदर्भी, पांचाली, लाटीया, गौड़ीया, अवन्तिका और मागधी। इस प्रकार भोज ने गौड़ीया और मागधी दोनों रीतियों को ले लिया है।

गौड़ीया यदि बंगाल का प्रतिनिधित्व करती है तो भी पुराने आचार्य इससे सन्तुष्ट नहीं होते हैं। वे गौड़ीया के विकल्प देते रहते हैं। वहाँ गौड़ीया गौण बन कर रह जाती है। इसके विपरीत, यदि हम यह माने कि मेरठ क्षेत्र में खड़ी बोली गौड़ी का रूपान्तरण है तो यहाँ यह एक स्थायी नाम हो जाता है।

आचार्यों ने अधिकांश गौड़ी रीति को निम्न कोटि की बताया है। बताया गया है कि गौड़ी रीति में शब्दों का आडंबर होता था। समास बहुल शैली का प्रयोग होता था। विभक्तियों का बहुत कम प्रयोग होता था। गौड़ी का ऐसा अंतर पांचाली से तुलना करने पर ठीक बैठता है। शायद ऐसा अंतर मागधी और गौड़ी में नहीं किया जा सकता था।

फिर ऐसा नहीं है कि गौड़ी एक रीति मात्र है। इसे मार्कण्डेय ने 27 प्रकार की अपभ्रंशों में से एक अपभ्रंश भी बताया है। जब संस्कृत के हाथ से साहित्यिक सत्ता छिनी थी तब जन भाषा के रूप में गौड़ी अपभ्रंश भी कही गई है। इसका मतलब यह है कि अपभ्रंश काल तक हमारे पास गौड़ी शब्द है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' में गौड़ी के

आधुनिक भाषा के अधिक नजदीक पड़ती है। यह मिलान बंग देश की भाषाओं की तुलना में खड़ी बोली के समीप बैठे तो कुछ आगे बढ़ा जा सकता है। आखिर ऐसा क्यों कहा गया है कि जब गौड़ी रीति का बंगाल से सम्बन्ध रहा है तो वह बंगाल का प्रतिनिधित्व नहीं करती है? इसके दो ही सम्भावित उत्तर हो सकते हैं। या तो बंगाल देश के स्वभाव में कोई परिवर्तन हो गया होगा या गौड़ी रीति कहीं बाहर से ला कर बंगाल पर थोंप दी गई होगी। मुझे दूसरी बात की सम्भावना अधिक उपयुक्त लगती है, नहीं तो हम डा० सत्य देव चौधरी की विद्वता भरी सलाह मान सकते हैं जो उन्होंने अपनी पुस्तक 'भारतीय काव्य शास्त्र' में दी है। उन्होंने लिखा है—"भामह से पूर्व वैदर्भ आदि नाम इन देशों के नाम पर पड़े होंगे—इसमें कोई सन्देह नहीं, पर उन देशों में इन रीतियों का परिपालन कठोरता से किसी भी समय नहीं किया जाता होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

डाक्टर नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका' में यह प्रश्न उठाया है—"क्या रीतियों की विशिष्टता का आधार प्रादेशिक है? क्या काव्य शैली किसी प्रदेश की सीमा में हो सकती है?" डा० नगेन्द्र के अनुसार पुराने समय में यह शंका स्वयं वामन ने भी उठाई थी। उन्होंने हमें बताया है कि रस ध्वनि वादियों ने रीतियों के प्रादेशिक आधार को सर्वथा गुप्त कर दिया था। डा० नगेन्द्र लिखते हैं —'गौडीय का गौड़ देश से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, वह रौद्रादि रसों और युद्ध आदि के वर्णन के उपयुक्त मानी गई।" यहाँ मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि यदि गौड़ी रीति का सम्बन्ध बंगाल से न जोड़ा जाए, और महा भारत के कुरु प्रदेश की संतानों से जोड़ा जाए तो यह गौड़ीय शब्द प्रादेशिक आधार पर पुनः सार्थक हो सकता है।

दंडी ने कुल दो रीतियों का नाम लिया है। इनमें एक वैदर्भी है और दूसरी गौड़ी है। इन दो रीतियों का नाम प्रदेशों के आधार पर ही पड़ा था। यह भी सत्य है कि दंडी ने नामों को ईजाद नहीं किया था। ये शब्द उनके बहुत पहले किसी परंपरा से आए हुए थे।

यदि हम प्राचीन भारत का नक्शा उठा कर देखें तो विदर्भ आज के महा राष्ट्र में ठहरता है। यदि दो रीतियों में से एक वैदर्भी है तो यह विचारणीय बात है कि देश की दृष्टि से दूसरी गौड़ी रीति के होने की संभावना पूर्व के बंगाल देश में बनती है या कहीं उत्तर भारत में। जबकि बहुत सारा प्राचीन संस्कृत साहित्य उत्तर भारत में लिखा गया है, यह कहना ठीक नहीं रहेगा कि वैदर्भी और गौड़ी नाम की दो रीतियों में से एक भी उत्तर भारत की नहीं है। यहाँ भौगोलिक दृष्टि से यदि एक रीति वैदर्भी महा राष्ट्र की है तो दूसरी गौड़ी रीति बंगाल के स्थान पर उत्तर भारत की होनी चाहिए। संस्कृत साहित्य का कम से कम उस समय केवल बंगाल और महा राष्ट्र

प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते थे। उत्तर भारत का प्रतिनिधित्व अवश्य होना चाहिए था।

अगले आचार्यों ने इन दोनों रीतियों में एक रीति पांचाली और जोड़ी है। इस जोड़ने में पहली दो में से कोई भी मिट नहीं गई है। इसके बाद इनमें एक और मागधी रीति भी जुड़ी है। यह मागधी रीति बिहार से ले कर बंगाल तक का प्रतिनिधित्व कर गई है।

पुराने साहित्य में 'पांचाल' अकेला शब्द नहीं है। यह 'कुरु पांचाल' के जोड़े के रूप में अधिक-प्रचलित रहा है। जब प्राचीन काव्य शास्त्र में गौड़ी और वैदर्भी की दो रीतियों की बात रही थी उसमें गौड़ी के रूप में कुरु लोक का प्रतिनिधित्व हो गया था। चूंकि पांचाल क्षेत्र की भाषा कुरु लोक की भाषा से भिन्न थी, इसलिए उसमें बाद में पांचाली रीति को भी जोड़ा गया होगा। 'कुरु पांचाल' का जोड़ा काव्य शास्त्र के नाम भेद से 'गौड़ी पांचाली' का हो गया था।

वामन ने तीन रीतियाँ ही मानी थीं—वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली। लेकिन राज शेखर ने इसमें एक 'मैथिली' रीति और जोड़ दी है। कर्पूर मंजरी में गौड़ीय और वैदर्भी नाम हटा दिए गए हैं। वहाँ तीन रीतियाँ इस प्रकार कही गई हैं—वच्छोमी, मागधी तथा पांचाली। यहाँ 'गौड़ीय' की जगह 'मागधी' नाम का प्रयोग किया गया है। 'गौड़ीय' हटा दिया गया है। डाक्टर नगेन्द्र ने बताया है कि भोज ने छह रीतियाँ मानी हैं—वैदर्भी, पांचाली, लाटीया, गौड़ीया, अवन्तिका और मागधी। इस प्रकार भोज ने गौड़ीया और मागधी दोनों रीतियों को ले लिया है।

गौड़ीया यदि बंगाल का प्रतिनिधित्व करती है तो भी पुराने आचार्य इससे सन्तुष्ट नहीं होते हैं। वे गौड़ीया के विकल्प देते रहते हैं। वहाँ गौड़ीया गौण बन कर रह जाती है। इसके विपरीत, यदि हम यह माने कि मेरठ क्षेत्र में खड़ी बोली गौड़ी का रूपान्तरण है तो यहाँ यह एक स्थायी नाम हो जाता है।

आचार्यों ने अधिकांश गौड़ी रीति को निम्न कोटि की बताया है। बताया गया है कि गौड़ी रीति में शब्दों का आडंबर होता था। समास बहुल शैली का प्रयोग होता था। विभक्तियों का बहुत कम प्रयोग होता था। गौड़ी का ऐसा अंतर पांचाली से तुलना करने पर ठीक बैठता है। शायद ऐसा अंतर मागधी और गौड़ी में नहीं किया जा सकता था।

फिर ऐसा नहीं है कि गौड़ी एक रीति मात्र है। इसे मार्कण्डेय ने 27 प्रकार की अपभ्रंशों में से एक अपभ्रंश भी बताया है। जब संस्कृत के हाथ से साहित्यिक सत्ता छिनी थी तब जन भाषा के रूप में गौड़ी अपभ्रंश भी कही गई है। इसका मतलब यह है कि अपभ्रंश काल तक हमारे पास गौड़ी शब्द है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' में गौड़ी के

बारे में लिखा गया है—"काव्य में एक प्रकार की रीति या वृत्ति जिसे परुषा भी कहते हैं। यह ओज गुण प्रकाशक मानी जाती है और इसमें टवर्ग, संयुक्त अक्षर अथवा समास अधिक आते हैं।" इसमें यह तुलना की जा सकती है कि वाराणसी से पूर्व की आधुनिक भाषाओं में टवर्ग का प्रयोग मेरठ की खड़ी बोली की तुलना में कम किया जाता होगा। इस दृष्टि से खड़ी वोली को परुषा भाषा भी कहना उचित है। वास्तव में खड़ी वोली अपनी बनावट और अपने मिजाज में अंग्रेजी की तरह की गद्य भाषा है। इसमें चिन्तन की बेहतर अभिव्यक्ति होती है।

इसमें दो राय नहीं है कि राज शेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्य मीमांसा' में गौड़ी को पूर्व देश वासियों से संबंधित बताया है। लेकिन राज शेखर जो कुछ भी कह रहे हैं, ईसा की नौवीं और दसवीं शताब्दियों में खड़े हो कर ही कह रहे हैं। राज शेखर ने कहा है कि वाराणसी से पूर्व मगध आदि देशों के कवि, संस्कृत काव्यों को तो सुन्दर ढंग से पढ़ते हैं, परन्तु प्राकृत पाठ में वे कुंठित ही रहते हैं। राज शेखर ने अपने समय में पहले से प्रचलित एक बात और कही है। उन्होने कहा है कि ऐसा कहा जाता है कि सरस्वती ने अपने अधिकार को छोड़ने के लिए ब्रह्मा से निवेदन किया कि महाराज, या तो गौड़ देश वासी प्राकृत भाषा का पढ़ना छोड़ दें, या मेरे स्थान पर दूसरी सरस्वती को नियुक्त किया जाए। तात्पर्य यह है कि या तो गौड़ देश वासी प्राकृत भाषा की कविता को पढ़ना नहीं जानते या उनका पाठ विस्वर और कर्ण कटु होता है। आगे राज शेखर ने बताया है कि गौड़ देश वासी विद्वानों का पाठ क्रम सभी प्रकार मध्यम होता है। वे न अति स्पष्ट न अति अस्पष्ट, न रूक्ष और न अति कोमल एवं न अति ऊँचे स्वर मे और न गम्भीर स्वर से पढ़ते हैं।

डाक्टर मोती चन्द्र की पुस्तक 'काशी का इतिहास' में 'कला विकास' नामक पुस्तक से एक उद्धरण दिया गया है। यह इस प्रकार है—"दम्भ की हँसी उड़ाते हुए कहा गया है कि ब्रह्मा का मानस पुत्र दम्भ स्वर्ग से मृत्यु लोक में आ कर चारों ओर विचरने लगा और अन्त में उसने गौड़ में अपनी विजय पताका फहरा दी। वाह्लीकों के वचन में, प्राच्य और दाक्षिणात्यों के व्रत नियम में, कीर (कांगड़ा) के अधिकार में तथा गौड़ों की सब बातों में वह घुस गया।" इस उद्धरण से पता चलता है कि गौड़ एक देश है और यह प्राच्य देश से भिन्न है। इससे यह भी पता चलता है कि गौड़ देश के लोग दम्भी होते हैं।

यहाँ यह जान लेना भी उचित रहेगा कि पंडित केदार नाथ शर्मा सारस्वत के अनुसार, जिन्होंने राज शेखर की काव्य मीमांसा का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया है, राज शेखर प्राकृत भाषा को संस्कृत से अधिक कोमल मानते हैं। अनुवादक बताते हैं कि कर्पूर मंजरी का प्राकृत भाषा में निर्माण का कारण बताते हुए राज शेखर ने लिखा है कि संस्कृत भाषा कठोर और प्राकृत कोमल है। संस्कृत और प्राकृत में उतना ही

अन्तर है जितना कि पुरुष और स्त्री में।

राज शेखर ने राजाओं के कवि दरबार का चित्रण करते हुए राज सिंहासन के चारों ओर चार भाषाओं के कवियों के बैठने की व्यवस्था की है। उसमें उत्तर की ओर संस्कृत कवि, पूर्व की ओर प्राकृत कवि, पश्चिम की ओर अपभ्रंश कवि और दक्षिण को ओर पैशाची भाषा के कवियों के स्थान निर्धारित किए गए हैं। हम यह भी जानते हैं कि मगध में प्राकृत भाषा रही है, अपभ्रंश भाषा पश्चिम से बढ़ी है, संस्कृत को ठीक ही उत्तर से जोड़ा है, तथा दक्षिण को उस समय पिशाच भाषा से जोड़ना संस्कृत की परम्परा के प्रतिकूल नहीं है। किन्तु, यदि इन चार दिशाओं का चार भाषाओं से भी कुछ संबंध है, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि गौड़ देश के लोग, यदि गौड़ देश मगध और बंगाल है, प्राकृत का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते हैं? कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। या तो गौड़ देश स्थान के नाते सार्थक नहीं रह गया है, या गौड़ी रीति का अर्थ रूढ़ हो गया है, या गौड़ देश के कवि गौड़ देश का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, या हमारे पुराने विद्वान भ्रम में पड़ कर पारम्परिक बातों का अपने अनुभवों के आधार पर विश्लेषण नहीं करते हैं।

यह संस्कृत में जन भाषाओं का प्रभाव था कि इसकी एक रीति को पांचाली, दूसरी को वैदर्भी और तीसरी को गौड़ी कहा गया है। यह इन इन क्षेत्रों के लोगों के स्वभाव के अनुकूल बात थी। गौड़ देश के ब्राह्मणों का मिजाज भी गौड़ देश के सामान्य लोगों के अनुरूप बना था। चूंकि कुरु वाले इस गौड़ देश में महा भारत का युद्ध हो चुका था, इसलिए यहाँ के लोगों का स्वभाव युद्ध के अनुकूल था। यहाँ की जन भाषा भी इसी प्रकार विकसित हुई थी। किसान और मजदूर की भाषा के अतिरिक्त जो भाषा यहाँ पनपी थी वह क्षत्रियों की युद्ध भाषा थी। यहाँ ब्राह्मणों की धार्मिक भाषा का इतना विकास नहीं हुआ था। संस्कृत ब्राह्मणों की भाषा थी। धार्मिक भाषा पनप नहीं सकती थी। किसानों और मजदूरों की भाषा संस्कृत में स्थान नहीं पा सकती थी। इसलिए संस्कृत में केवल क्षत्रियों की युद्ध भाषा का प्रतिनिधित्व हो कर रह गया था। संस्कृत में यह प्रतिनिधित्व करने वाले ब्राह्मण थे।

कुरु लोक में ब्राह्मणों की कुछ विशेष नहीं चलती होगी। ब्राह्मण क्षत्रियों से बड़प्पन के अधिकार के लिए संघर्ष शील रहे होंगे, पर यहाँ के कुरु वंश के क्षत्रियों ने उन्हें अधिक अधिकार नहीं दिए होंगे। यहाँ ज्ञान ध्यान की चर्चा भी क्षत्रिय कर लेते होंगे। क्षत्रियों के आश्रम होने की बात आती भी है।

संस्कृत में गौड़ी रीति के शब्द ने दूसरी रीतियों की तुलना में ही जन्म लिया होगा। गौड़ ब्राह्मणों के गौड़ देश में रहते हुए 'गौड़ी' शब्द ने जन्म नहीं लिया होगा। जब पांचाल, गौड़ और विदर्भ के कवि एक साथ बैठते होंगे तब इन रीतियों के अन्तर का पता चलता होगा। यह भी हो सकता है कि जब कुछ साहित्य समीक्षक अलग

अलग देशों में जाते होंगे तो उन्होंने इन शब्दों की खोज की हो । यह काम निमन्त्रण और देशाटन के दोनों तरीकों से हुआ होगा ।

कुरु देश से बाहर जा कर गौड़ ब्राह्मण अपना परिचय कुरु लोक वासी के रूप में न दे कर गौड़ देश वासी के रूप में दिया करते होंगे । ब्राह्मणों ने अपने परिचय ब्राह्मणों के रूप में ही दिए होंगे, क्षत्रियों के रूप में नहीं । उनका वैसे भी क्षत्रियों से श्रेष्ठता प्राप्त करने का संघर्ष चल रहा था । यदि मेरठ क्षेत्र के क्षत्रिय संस्कृत बोलते और संस्कृत में कविता करते तो निमंत्रण पर बाहर जाने पर यह नाम 'कौरवी' प्रसिद्ध होना चाहिए था । यदि कोई बाहर का समीक्षक मेरठ में आ कर क्षत्रियों को संस्कृत में कविता रचते हुए देखता तो वह भी इसे 'कौरवी' कहता । लेकिन संस्कृत और संस्कृत में काव्य रचना का तथा इस क्षेत्र का साहित्यिक प्रतिनिधित्व ब्राह्मण ही करते थे । ब्राह्मणों का देशीय विभाजन गौड़ था, इसलिए यहाँ की संस्कृत को इसकी साहित्यिक विशेषता के कारण 'गौड़ी' कहा गया है ।

राज शेखर ने कुछ भी गलत नहीं कहा है—वे केवल अपने समय की वास्तविक सूचनाएँ और अपने समय से पहले की परम्पराओं की सूचनाएँ देते हैं । वे कहते हैं कि राज सिंहासन के पूर्व दिशा के भाग में प्राकृत का कवि बैठना चाहिए । इसका मतलब यही है कि मगध आदि देशों के लोग प्राकृत भाषा के कवि होने चाहिए । मगध से परे जितना पूर्व का क्षेत्र है उसका प्रतिनिधित्व भी प्राकृत में ही होता है । राज शेखर ने कहा है कि वाराणसी से पूर्व मगध आदि देशों के कवि संस्कृत काव्यों को तो सुन्दर ढंग से पढ़ते हैं परन्तु प्राकृत पाठ में वे कुंठित ही रहते हैं । यह बड़ी विचित्र बात है कि प्राकृत देश के कवि ही प्राकृत भाषा का सही उच्चारण नहीं कर पाते हैं । यह विचित्रता मिट सकती है यदि हम यह मान लें कि इस समय पूर्व का प्रतिनिधित्व मेरठ क्षेत्र के मैथिल और बंग क्षेत्र में गए हुए गौड़ ब्राह्मण करने लगे थे । गौड़ों की परम्परा में कुरु देश के टवर्ग का परुषापन, रौद्र और वीर रस का ओज, ओज के अनुकूल ट वर्ग की समास बहुल शैली थी । वे अपनी संस्कृत में प्राकृत के मुलायमपन का असर नहीं ले सके थे । वे पूर्व देश के शासक बन गए थे, फिर भी पूर्व देश की भाषा को आत्म सात नहीं कर सके थे । वे पूर्व देश के जन मानस में घुले मिले लोग नहीं थे ।

यहाँ हम हिन्दुस्तान में ब्रिटेन के शासकों का उदाहरण ले सकते हैं। हिन्दुस्तान के खड़ी बोली क्षेत्र में रहने वाले अंग्रेज की अंग्रेजी खड़ी बोली से प्रभावित नहीं हो सकती थी । उस अंग्रेज की अंग्रेजी वैसी ही रहनी थी जैसी ब्रिटेन के उस क्षेत्र की है जहाँ से वह आया है । यदि गौड़ ब्राह्मणों का मगध और बंगाल देश में आगमन न हुआ होता तो ऐसा नहीं हो सकता था कि मगध जैसे प्राकृत देश के कवि संस्कृत का सही उच्चारण करते और प्राकृत का गलत उच्चारण करते ।

पंच गौड़ देश इस देश का ब्राह्मणों दृष्टि स की भौगोलिक विभाजन है । इससे पहले

नहीं, बल्कि इसके सम सामयिक क्षत्रियों की दृष्टि से इस क्षेत्र का विभाजन दूसरा है। जाति वादी ब्राह्मणों का इतिहास, इस देश में, इस देश के गैर ब्राह्मणों के इतिहास से भिन्न रहा है। आरम्भ में ब्राह्मण और गैर ब्राह्मण एक दूसरे से मिलते रहे हैं, पर जब जाति वादी ब्राह्मण कोई कथा कहेगा तो वह देश की साधारण जनता की कथा न कह कर, केवल अपने वंश की और अपने वंश की श्रेष्ठता की ही कथा कहेगा। मेरठ में यह झगड़ा रहा होगा कि इस जन पद को कुरु क्षेत्र कहा जाए या गौड़ देश कहा जाए। महाभारत की कथा के कारण इस क्षेत्र का कुरु जन पद नाम ही अधिक लोक प्रिय हो गया था, फिर भी गौड़ ब्राह्मण इसे गौड़ देश ही कहते रहे थे। देश के राजनीतिक इतिहास में इसे गौड़ देश कहने की उनकी न चल सकी लेकिन संस्कृत साहित्य के इतिहास में 'गौड़ी रीति' की शैली के रूप में वे अपनी चला सके क्योंकि संस्कृत पर उन्हीं का अधिकार था। कुरु वंश के क्षत्रिय धरती पर राज्य बाँटने में ही अपनी चला सके थे। उसमें जाति वादी ब्राह्मण हार गए थे।

तब जाति वादी ब्राह्मण इस देश के सुख दुख में शामिल नहीं रहा था। उसके सुख दुख अपने रहे थे। देश की हर मुसीबत में भी उसे अपनी श्रेष्ठता की पड़ी रहती थी। उसका दुख यह नहीं था कि देश गुलाम हो गया है, उसका दुख केवल यह था कि देश स्वतंत्र रहे या परतंत्र, वर्णाश्रम की समाज व्यवस्था में किसी और से उसकी श्रेष्ठता को चुनौती न दे दी गई हो। जाति वादी ब्राह्मण केवल इसी चुनौती के लिए लड़ता था।

7

सन 1876 में प्रकाशित 'स्टेटिस्टिकल, डेस्क्रेप्टिव एण्ड हिस्टारिकल अकाउन्ट आफ दि नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सिज आफ इण्डिया' नाम की एक पुस्तक है। यह बारह से ऊपर जिल्दों में छपी थी। इसे तत्कालीन भारत सरकार के आदेश के अधीन तैयार किया गया था। इसका तीसरा वोल्यूम मेरठ डिविजन के दूसरे पार्ट से सम्बन्धित है। इसे बंगाल सिविल सर्विस के एडविन टी एटकिन्सन ने तैयार किया था। एटकिन्सन ने गौड़ ब्राह्मणों की सन 1872 के आधार पर जन संख्या दी है। इस जन संख्या को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग में प्राचीन कुरु लोक का मूल क्षेत्र रखा जा सकता है और दूसरे भाग में प्राचीन कुरु लोक के निकट वर्ती जिले रखे जा सकते हैं। इन निकट वर्ती जिलों में गौड़ ब्राह्मणों की संख्या कम होती चली जाती है।

पहली टेबल

प्राचीन कुरु लोक का क्षेत्र

सन 1872 की जन गणना के आधार पर

क्रम संख्या	जिले का नाम	गौड़ ब्राह्मण	कुल ब्राह्मण	तगा
1.	मेरठ	97,734	1,09,449	43,417
2.	मुजफ्फर नगर	38,395	40,654	11,947
3.	सहारन पुर	41,078	45,148	15,208
4.	बुलन्दशहर	87,466	98,932	6,755
5.	बिजनौर	26,792	28,789	10,505
6.	मुरादाबाद	31,085	47,744	11,055

दूसरी टेबल

प्राचीन कुरु लोक का निकट वर्ती क्षेत्र

सन 1872 की जन गणना के आधार पर

क्रम संख्या	जिले का नाम	गौड़ ब्राह्मण	कुल ब्राह्मण	तगा
1.	अली गढ़	32,692	1,48,249	—
2.	इटावा	37,416	93,082	—
3.	मथुरा	22,543	1,48,762	—
4.	बरेली	7,932	76,442	—
5.	देहरादून	1,154	10,279	—

मुरादाबाद का गजट सन 1883 में बंगाल सिविल सर्विस के अधिकारी एफ० एच० फिशर द्वारा तैयार किया गया था। इसमें सन 1872 की जन गणना के आधार पर ब्राह्मणों की स्थिति बताई गई है। ब्राह्मणों की कुल जन संख्या 47,744 थी। इनमें 31,085 गौड़ थे। जो ब्राह्मण थे, परन्तु जिनके गोत्र के बारे में निश्चित पता नहीं चल पाया था, उनकी संख्या 10,460 थी। सरसुत ब्राह्मणों की संख्या 4,368 तथा कनौजिया ब्राह्मणों की संख्या 1,242 थी। इसमें यह भी कहा गया है कि सरसुत और कनौजिया ब्राह्मण भी उत्तर भारत के गौड़ों में से ही हैं।

एडविन टी एटकिन्सन ने रुहेल खंड डिविजन के आँकड़े सन 1879 में तैयार किए थे। इनमें कहा गया है कि कनौजिया ब्राह्मण भी गौड़ ब्राह्मणों में से ही थे। इनमें यह भी कहा गया है कि गौड़ ब्राह्मणों में गौड़, कनौजिया और मैथिल ब्राह्मणों सम्मिलित थे। गौतम ब्राह्मणों के बारे में कहा गया है कि वे कुछ निचले दर्जे के ब्राह्मण हैं। वे कभी कनौजियों में और कभी गौड़ों में सम्मिलित समझे जाते हैं। जहाँ तक गौड़ ब्राह्मणों का बंगाल से आने का प्रश्न है, इसके बारे में एटकिन्सन लिखते हैं—"यहाँ के गौड़ ब्राह्मण अपने आप को बंगाल में गौड़ों की प्राचीन राज धानी लखनावती का बताते हैं। वे कहते हैं कि वे हस्तिना पुर के राजा जनमेजय के निमन्त्रण पर उत्तर पश्चिम के भारत में आए थे।" एटकिन्सन ने इसमें माना है कि "गौड़ों के बंगाल से इस आने को हम उत्तर पश्चिम के भारत में उनका पुनः लौटना कह सकते हैं।"

बिजनौर जिले की जन गणना के लिए कुँवर लछमन सिंह ने बिजनौर जिले की जातियों के बारे में तत्कालीन भारत सरकार को एक ज्ञापन दिया था। इस ज्ञापन में कुँवर लछमन सिंह ने लिखा था कि आज कल बंगाल में कोई भी गौड़ नहीं है। उन्होंने अपनी राय दी थी कि गौड़ नाम दिल्ली के आस पास के किसी गौड़ जिले से सम्बन्धित होना चाहिए।

एडविन टी एटकिन्सन ने मेरठ डिविजन का प्रथम खण्ड सन 1875 में तैयार किया था। यह इस अकान्ट का दूसरा वोल्यूम था। उस समय मेरठ डिविजन में देहरादून को छोड़ते हुए सहारन पुर, मुजफ्फर नगर, मेरठ, बुलन्द शहर और अली गढ़ के पाँच जिले रखे गए थे। इन पाँच जिलों में 38,40,321 हिन्दू, 10,45,780 मुसलमान तथा 1,378 ईसाई थे। हिन्दुओं में से 4,42,787 ब्राह्मण थे। इन ब्राह्मणों में से 2,81,009 गौड़ ब्राह्मण थे।

एडविन टी एटकिन्सन सहारन पुर जिले के बारे में बताते हैं कि यहाँ के गौड़ ब्राह्मण अपने आपको प्राचीन गौड़ राज्य से सम्बन्धित मानते हैं। इस जिले के ब्राह्मण अन्य जातियों के लोगों के समान यह भी कहते रहे थे कि वे यहाँ चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी में बसे थे।

अली गढ़ जिले के गौड़ ब्राह्मण यह कहते थे कि वे यहाँ बंगाल में प्राचीन गौड़ राज्य से राजा जनमेजय के सर्प यज्ञ में उनकी सहायता करने के लिए आए थे। एडविन टी एटकिन्सन इस बारे में लिखते हैं—"गौड़ ब्राह्मणों की बंगाल से आ कर बसने की बात बड़ी अविश्वसनीय लगती है। बंगाल से आने में उन्हें जझौटिया और कनौजिया प्रदेशों को पार करना चाहिए था लेकिन इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं। अधिकतर गौड़ मेरठ और रुहेल खण्ड क्षेत्र में हैं। मुस्लिम आक्रमण के पहले थोड़े समय के लिए ही गौड़ बंगाल की राज धानी बनाई गई थी। गौड़ ब्राह्मण, तगा और राजपूत यहाँ पर महमूद के गजनी छोड़ने से भी बहुत पहले से रह रहे थे। निश्चित

रूप से इस नाम का सम्बन्ध गौड़ या गौर से है जिसे अब गोंडा कहा जाता है। आज यह जगह अवध के उत्तर कोसल जिले में राप्ती नदी के दक्षिण में है। पुराण में वर्णित प्राचीन श्रावस्ती नगर भी गौड़ क्षेत्र में ही है। आधुनिक शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि श्रावस्ती में सूर्य वंश के राजाओं ने चौथी शताब्दी तक राज किया था। बाद में यह पूर्वी राज्यों में मिल गया था। क्रिश्चियन एरा के प्रारम्भ में संभवत: ब्राह्मणों की आपसी लड़ाइयाँ बढ़ गई थीं। इसी समय से बौद्धों और पुरातन पंथियों का भयंकर संघर्ष प्रारम्भ हुआ था और गौड़ दोआब के ऊपरी क्षेत्र में जा कर बस गए थे।"

कुछ गौतम ब्राह्मण भी हैं जिनका मानना है कि वे मैथिल क्षेत्र के निवासी हैं। कुल मिला कर जिले के बहुत से हिस्से के मालिक ब्राह्मण थे। उनके 244 गाँव थे। इन गाँवों में वे 1,13,576 एकड़ जगह के स्वामी थे।

एडविन टी एटकिन्सन ने लिखा है-- "आज जिसे मेरठ नाम से जाना जाता है, एक समय में पांडवों के हस्तिना पुर का हिस्सा था। बाद में सत्ता का केन्द्र हस्तिाना पुर से कोसिम हो गया। स्थानीय परम्परा के अनुसार इस जिले को एक शासक के अधीन रखा गया था। इस शासक का निवास अहार में था। अहार कस्बा निस्संदेह पुरा तत्व की दृष्टि से बड़ा महत्व पूर्ण है। एक किम्वदंती के अनुसार यह वही कोसिम है जहाँ निचाक्षु ने हस्तिना पुर से अपनी राज धानी बदली थी। कोसिम को गंगा ने काट दिया था। दूसरी किम्वदंती के अनुसार यह नागर ब्राह्मणों का निवास था। इन्हीं नागर ब्राह्मणों ने जनमेजय को नाग यज्ञ कराने में सहायता दी थी। इस घटना के बाद शासन का मुख्य कार्यालय, आज जहाँ बरन है वहाँ लाया गया। बरन को उस समय बनौधती कहा जाता था। बनौधती का अर्थ जंगल साफ करके प्राप्त की गई जमीन है। कालांतर में राजा परमार ने वहाँ एक किला बनवाया था। इस किले के अवशेष अब भी बुलन्द शहर के पास और आज जहाँ जेल है उसके उत्तर में देखे जा सकते हैं।"

इससे भी आगे एटकिन्सन एक बिलकुल नया प्रमाण जुटाते हैं—"परम्परा से चली आ रही इन अटकलों को हम एक तरफ कर सकते हैं। हाल ही में एक पुरा लेख प्राप्त हुआ है। यह पुरा लेख इस बात का प्रमाण देता है कि गंगा के आस पास बहुत सी जातियाँ पनपी थीं। उन्हीं में एक जाति गौड़ ब्राह्मणों की है। यह पुरा लेख तीसरी शताब्दी का है। शिला लेख पर तांबे के अक्षर हैं और यह इन्दौर में पाया गया है। यह एक खेरा है जो कि गंगा के किनारे बसे अनूप शहर से दस मील दूर है। इस पुरा लेख के प्रारम्भ में सूर्य भगवान की प्रशंसा की गई है। इसमें आगे एक आदेश के बारे में बताया गया है जिसमें गौड़ गोत्र का एक ब्राह्मण जमींदार गाँव के तेली को आदेश देता है कि सूर्य मन्दिर में तेल की एक निश्चित मात्रा दी जाए। अभिलेख में आधुनिक इन्दौर को सही नाम इन्द्र पुर दिया गया है।"

इस अभिलेख का बाबू राजेन्द्र लाल मित्रा ने अंग्रेजी में अनुवाद किया था। यहाँ इसे हिन्दी में दिया जा रहा है :

"वह जिसे ब्राह्मण प्रकृति के नियमों का पालन करने के लिए और अपने मन और मस्तिष्क को एकाग्र करके ध्यान केन्द्रित करने के लिए याद करते हैं, वह जिसके अंत को और जिसकी गति को न सुर न असुर अपनी शक्ति से सगुन विचार कर रोक सकते हैं, वह जिसे मानव रोग और निराशा में सम्पूर्ण गंभीरता से याद करते हैं, वह जो समस्त धरती के अंधकार के आवरण को भेद देता है, वह प्रकाश का निर्माता और उद्गम स्रोत सूर्य तुम्हारी रक्षा करे।

"अपराजेय और अत्यन्त सम्पन्न राज धानी के मालिक बड़े बड़े राजाओं के भी राजा परम प्रतापी स्कन्द गुप्त के एक सौ छियालीसवें वर्ष में फाल्गुन के महीने में, सम्पन्नता की वृद्धि के लिए अंतर्वेदी (या गंगा जमुना के दोआबे) के स्वामी शरवंगा गौड़ परिवार और वराह गन गौत्र के, देव के पुत्र, परिन्दान के पुत्र और डोडलिक के प्रपौत्र, चारों वेदों के ज्ञानी थे। वे इन्द्र पुर और आस पास के क्षेत्रों में अपनी माँ का यश बढ़ाने के लिए अग्नि की आराधना कर रहे थे। यह दीपक सूर्य या सविता का प्रतीक था। यह दीपक इन्द्र पुर और मरदगमाना के पास अचल वर्मा और भूमि कंठ नाम के दो क्षत्रिय ऋषियों के आश्रम में स्थित था। अब उस क्षेत्र के तेलियों के संघ का यह कर्तव्य होना चाहिए कि ब्राह्मणों को पूजा के लिए तेल मिलता रहे जिससे इसका पुण्य उन्हें भी मिलता है। शुक्ल पक्ष की प्रथमा को उन्हें तेल के दो पाले देने चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन का खर्चा भी देना चाहिए। वह काम जब तक आसमान में सूरज और चांद रहेगा तब तक उन्हें करना ही होगा। जो व्यक्ति इस नियम के उल्लंघन का प्रयास करेगा उसे पशुओं और ब्राह्मणों का क्रूरतम हत्यारा और महा पापी समझा जाएगा।"

जान फेथफुल फ्लीट की एक पुस्तक 'भारतीय अभिलेख संग्रह : प्रारंभिक गुप्त शासकों के अभिलेख, खण्ड—3' है। इसका गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र ने हिन्दी में अनुवाद किया है। इसमें भी समुद्र गुप्त का यह इन्दौर ताम्र पत्र अभिलेख संग्रहीत है। मतान्तर से यह ईस्वी सन 465-66 का माना गया है। इसकी भाषा संस्कृत है। इसके अक्षर उत्तरी प्रकार की ब्राह्मी वर्ण माला के हैं। इसके बारे में भाषा की दृष्टि से कहा गया है—"इसमें आधुनिक हिन्दी के सम्बन्ध कारक अन्त्याक्षरों का, के और की तथा इसी प्रकार के अन्य शब्द विकारात्मक रूपों का उद्भव देखना चाहिए।" खड़ी बोली की बोलचाल में वर्णों के द्वित्व की भरमार रहती है। इस में भी कई बार जैसे अपक्क्रम्मण, पौत्त्र तथा संव्वतसर में द्वित्व का प्रयोग किया गया है। इसमें देव विष्णु

नामक ब्राह्मण द्वारा धन के दान का लेखन है। नीचे इसका अनुवाद दिया जा रहा है :

"सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है। पृथ्वी के पिधान (अंधकार) की भेदक रश्मियों के समृद्ध स्रोत सूर्य— जिनकी प्रबुद्ध मन वाले ब्राह्मण विहित कर्मों के संपादन से (शरण्यता प्राप्त करते हैं) (और इस प्रकार) ध्यान में एकांतिक रूपेण उनके प्रति उद्दिष्ट स्तुतियों के उच्चारक (बनते हैं) : जिनकी ऊर्ध्वात्मक अथवा क्षितिजीय दोनों सीमाओं को न तो देवता और न असुर जान सकें; (तथा) जिनकी शरण में जाने से प्रभूत रोग तथा मानसिक उद्वेग से अवश हुए मनुष्य पुनः (चेतनता) प्राप्त करते हैं—आप उनकी रक्षा करें।

"परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कन्द गुप्त के विजयोन्मुख शासन काल में, वर्ष एक सौ छियालीस में (तथा) प्रसन्नता की वृद्धि के लिए प्रचलित फाल्गुन मास में उनके चरणों के अनुग्रह से स्वीकृत विषयपति शर्वनाग के अन्तर्वेदी प्रदेश में :

"चन्द्रापुर नगर के पद्मा चतुर्वेदिन समाज का ब्राह्मण देव विष्णु— जो देव का पुत्र, हरित्रात का पौत्र तथा डुडिक का प्रपौत्र है, जो सदैव अग्निहोत्र यज्ञ से सम्बद्ध मंत्रों का उच्चारण करता रहता, जो राणायनीय (शाखा) का है (तथा) जो वर्षगन गौत्र का है—अपनी कीर्ति वृद्धि के लिए यह दान देता है (जिसके ब्याज का) इन्द्रापुर नगर के वणिकों, क्षत्रिय अचल वर्मन्, तथा भ्रकुंठ सिंह द्वारा नगर के पूर्व में (तथा) इन्द्रपुर नगर के ... वस्तुतः स्पर्श करते हुए मंदिर में प्रतिष्ठापित भगवान सूर्य के लिए दीपक (की व्यवस्था) में उपयोग किया जाए।

"सूर्य (के मंदिर) का यह ब्राह्मण दान जीवन्त के नेतृत्व में स्थित तथा इन्द्रपुर नगर में निवास करने वाली तैलिक श्रेणी की तब तक स्थित संपत्ति है जब तक कि यह (यहाँ तक कि) इस स्थान से दूर जाने पर भी--पूर्ण एकतायुक्त है। किन्तु, इस श्रेणी द्वारा, जब तक सूर्य और चन्द्र स्थित हैं बिना व्यवधान के तथा मूल मूल्य में बिना किसी ह्रास के दो पल के तोल का, (अथवा) (अंकों में) 2 तोल दिया जाए।

"इस निबद्ध दान का जो भी अतिक्रमण करेगा वह गोघाती, (अथवा) गुरुघाती, (अथवा) ब्राह्मण घाती (के समान अपराधी बन गया हुआ व्यक्ति) छोटे पातकों के साथ उन (सुविज्ञात) पाँच पातकों (के अपराधों) से युक्त नीचे (नरक में) जाएगा।"

एटकिन्सन लिखते हैं "इस अभिलेख का सबसे महत्व पूर्ण हिस्सा इसकी तारीख है। यह तारीख बताती है कि यह अभिलेख स्कन्द गुप्त के शासन काल में

लगाया गया था। इससे यह भी मालूम होता है कि यह गुप्त काल के एक सौ छियालीसवें वर्ष में लगाया गया था। जिला फ़रुखाबाद के वोल्यूम के अनुसार इस वंश की स्थापना की तारीख 78 ए० डी० मानी जाती है। इस हिसाब से यह अभिलेख सोलह सौ पचास वर्ष पुराना है। इसे यों भी कह सकते हैं कि यह अभिलेख 224 ए० डी० के आस पास का है। इसमें उसी स्कन्द गुप्त की चर्चा की गई है जिसकी एक पुरानी लाट गाजी पुर जिले में सैयदी पुर के पास मिटारी में मिली थी। उस लाट में बताया गया है कि उसकी तलवार का यश फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि उसे तंत्र संबंधी अच्छा ज्ञान था। इसी लाट में उसके एक धोखे बाज मंत्री का जिक्र है जो एक समय में उसका खजांची था। इसी मंत्री ने उसे गुप्त वंश से अलग अपना अस्तित्व बनाना सिखाया था। स्कन्द गुप्त के बारे में कुहाऊं के स्तम्भ में भी लिखा मिलता है। यह स्तम्भ 141 वें वर्ष की चर्चा करता है और इस तरह पिछले शिला लेख से 5 वर्ष पूर्व का है। इन दोनों अभिलेखों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि स्कन्द गुप्त के शासन काल से ही परेशानी शुरू हो गई थी। संभवतः यह परेशानी तांत्रिकों के नए सिद्धांतों के कारण हुई थी। ये तांत्रिक थोड़े समय पूर्व ही प्रभाव शाली बने थे। इनका पर्याप्त प्रभाव भारत के अलावा नेपाल और तिब्बत के बौद्धों पर भी था। गुप्त साम्राज्य का आधिपत्य संभवतः स्कन्द गुप्त के साथ समाप्त होने लगा था। गुप्त साम्राज्य के एक ही अन्य उत्तराधिकारी की चर्चा मिलती है जिसने मध्य भारत पर शासन किया था। शक्ति और सत्ता के उत्कर्ष पर उन्होंने बंगाल से ले कर कुमाऊँ, नागपुर और ग्वालियर से ले कर नेपाल तक राज्य किया होगा। उनके शिला लेख, मगध, तिरहुत, गोरख पुर, गाजी पुर, साँची, नई भिलसा, इलाहाबाद के पास गढ़वा इलाहाबाद, गढ़वाल, गुजरात के जूनागढ़ जो अनूप शहर के पास है, में मिलते हैं। निश्चय ही अशोक के वंश के पतन के बाद गुप्त वंश ही सर्वाधिक शक्ति शाली रहा था। आश्चर्य है कि बुलंद शहर में बौद्ध धर्म की निशानी नहीं मिलती, यद्यपि बौद्धों के वहाँ होने की बात निश्चित है।"

एटकिन्सन ने अपनी पुस्तकों में कहा था कि उनके समय तक इस बात के प्रमाण नहीं मिले थे कि प्राचीन भारत के बुलन्द शहर जिले में बौद्ध प्रभाव रहा था। उन्होंने कहा था कि यदि बुलन्द शहर में बौद्ध प्रभाव के प्रमाण मिलेंगे तो उनसे इतिहास को समझने में काफी मदद मिलेगी। लेकिन इधर बुलन्द शहर के पूर्वी जिले मथुरा में इसके कई प्रमाग मिल गए हैं। ये श्री राम गोयल की पुस्तक 'प्राचीन भारतीय अभि लेख सग्रह: प्राक् गुप्त युगीन, खण्ड-1' में दिए गए हैं। श्री राम गोयल अपनी पुस्तक के परिशिष्ट-2 में 'कुछ नवीन अभिलेख : संक्षिप्त परिचय' के अंतर्गत लिखते हैं :

(इ) मथुरा से प्राप्त एक अन्य नवीन कुषाण कालीन बुद्ध प्रतिमा अभिलेख में बुद्ध का शाक्य मुनि नाम से उल्लेख है। इसे किसी कायस्थ की पत्नी ने लिखवाया था। 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग करने वाला संभवतः यह प्राचीनतम अभिलेख है।

(ई) 'कायस्थ' का प्रयोग संवत 93 (171 ई) के अन्य अभिलेख में भी मिला है। इसमें एक कायस्थ बौद्ध श्रमण द्वारा एक प्रतिमा एवं छत्र दान दिए जाने का उल्लेख है।

(उ) मथुरा के गोविन्द नगर स्थान से संवत 28 (106 ई०) का एक लेख मिला है जिसमें एक वणिक परिवार के नगर रक्षित नामक व्यक्ति द्वारा अमिताभ बुद्ध की प्रतिमा स्थापित किए जाने का उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त मथुरा में जो बौद्ध संबंधी अन्य लेख मिले हैं उनमें 92 ईस्वी का प्रथम कनिष्क का मथुरा बौद्ध मूर्ति लेख, 101 ईस्वी का प्रथम कनिष्क का मथुरा मूर्ति अभि लेख, 111 ईस्वी का हुविष्क के काल का मथुरा बौद्ध मूर्ति लेख, 142 या 145 ईस्वी का प्रथम वासुदेव का मथुरा बौद्ध मूर्ति लेख, तथा 158 ई० का प्रथम वासुदेव का मथुरा मूर्ति लेख भी हैं।

श्री अरुण 'मय राष्ट्र मानस' में मेरठ में बौद्ध काल का परिचय देते हुए लिखते हैं—"अशोक के समय में भी मिराठ (मेरठ) एक प्रसिद्ध नगर था। अपने प्रसिद्ध स्तम्भों में से अशोक ने एक यहाँ निर्मित कराया था जिसे चौदहवी शताब्दी में फिरोज शाह तुगलक दिल्ली ले गया। 1875 में भूकम्प से मेरठ टीले पर स्थित जामा मस्जिद की एक दीवार गिर पड़ी और उस स्थान पर बौद्ध विहार के अवशेष प्रकट हो गए।" श्री अरुण ने यह भी सूचना दी है कि "इस क्षेत्र पर बौद्ध प्रभाव की साक्षी सूरज कुण्ड के पास एक खेत में मिली बुद्ध प्रतिमा भी है।" वास्तव में, बौद्ध काल में हस्तिना पुर की कुछ विशेष महत्ता नहीं रह गई थी। लोगों को बार बार के प्राकृतिक और राजनैतिक ध्वंसों के कारण यह स्थान छोड़ना पड़ा था। एक समय में मेरठ शहर से लगभग पन्द्रह किलो मीटर दूर के किला परीक्षित गढ़ को भी मान्यता मिली होगी। लेकिन अन्त में कुरु लोक का महत्त्व पूर्ण स्थान मेरठ बन गया होगा। मेरठ में बाढ़ का डर नहीं था। यह किसी नदी के किनारे बसा हुआ नहीं था। नदी के किनारे बसे हुए नगरों के यदि कुछ लाभ थे तो उनके बाढ़ के कारण बहुत सारे नुकसान भी थे। इसलिए मौर्य काल में हस्तिना पुर स्थान गौण हो गया था,परन्तु हस्तिना पुर का पूरा कुरु लोक नहीं। 'मय राष्ट्र मानस' में प्रो० बी० आर० चटर्जी का 'इतिहास के वातायन से मेरठ' नाम का एक लेख है। इसमें प्रो० चटर्जी लिखते हैं—"मौर्य काल में मेरठ मंडल एक महत्व पूर्ण स्थान था। तथ्य की पुष्टि अशोक द्वारा तीन स्तम्भ लेखों की स्थापना से होती है। प्रथम शिला लेख सुदूर उत्तर में कालसी में, जहाँ देहरादून-चकरौता मार्ग पर्वत शृंखलाओं में प्रवेश करता है, प्राप्त हुआ। दूसरा 'मीरठ स्तम्भ' है जो इस समय दिल्ली विश्व विद्यालय के निकट पहाड़ी पर स्थापित म्यूटिनी मैमोरियल पर स्थित हैं। तृतीय शिला लेख कुछ समय पूर्व दिल्ली में लोदी रोड एवं डिफेंस कालोनी के मध्य में प्राप्त हुआ है। 150 मील के अर्ध व्यास में तीन शिला लेखों का उपस्थित होना इस क्षेत्र की महत्ता को स्वतः ही सिद्ध करता है।"

वाई०डी० शर्मा की पुस्तक 'दल्ही एण्ड इट्स नेयबरहुड' है। इसमें बताया गया है कि अशोक का एक और शिला लेख दिल्ली की श्री निवास पुरी में 1966 में प्राप्त हुआ है। इसमें दस पंक्तियों का एक लेख है। यह लेख ब्राह्मी लिपि में है। इसकी भाषा प्राकृत बताई गई है।

इतना अवश्य है कि कुरु लोक की सत्ता मौर्य काल के बहुत पहले ही कुरु राजाओं के हाथ में नहीं रह गई थी।

डा० ज्योति प्रसाद जैन ने 'मय राष्ट्र मानस' में एक घटना का वर्णन किया है। उसमें लिखा गया है "जनमेजय के पौत्र अधिसीन कृष्ण के पुत्र निवक्षु के समय में हस्तिना पुर भारी प्राकृतिक विपत्तियों का शिकार हुआ। लाल टिड्डयों के एक असीम दल ने सारी फसल को नष्ट कर दिया। अनवरत भीषण वर्षा के अतिरिक्त गंगा की भयंकर बाढ़ ने सारी राज धानी का आत्यन्तिक विध्वंस कर दिया। इन विभिन्न प्रकार की विपत्तियों से पराभूत हो कर निचक्षु अपने पूर्वजों की राजधानी हस्तिना पुर का परित्याग कर के वत्स देशस्थ सुदूर कौशाम्बी नगरी में जा कर रहने को विवश हुआ और तदनन्तर वहीं उसने तथा उसके वंशजों ने राज्य किया।" यहाँ मेरा कहना है कि उनके साथ कुछ ब्राह्मण लोग भी गए होंगे। ब्राह्मणों ने कौशाम्बी में भी अपना परिचय गौड़ के रूप में ही दिया होगा। कौशाम्बी को गौड़ राज धानी भी कहा गया है।

मेरठ के गौड़ ब्राह्मणों में एक और भेद है। इस भेद के अनुसार कुछ ब्राह्मणों को गौड़ तथा कुछ ब्राह्मणों को आध गौड़ कहा जाता है। सन 1823 में मेरठ जिले के जिठौली ग्राम में जन्मे एक ब्राह्मण कवि शंकर दास अपना परिचय इस प्रकार देते है :

"आध गौड़ विप्र और गोत्र तो बशिष्ट म्हारा,
मेरठ का जिला, डाक खाना मऊ खास का।"

इस उदाहरण से एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि आध गौड़ कैसे बने होंगे। यह गौड़ ब्राह्मणों में इस प्रकार की दरार क्यों हैं? गौड़ राजपूत, गौड़ कायस्थ और चमार गौड़ जैसी जातियाँ ब्राह्मणों की नहीं रह जाती हैं क्योंकि इन जातियों के लोग अपना गोत्र ब्राह्मणों के सात ऋषियों में से जोड़ कर नहीं बता सकते।

वास्तव में यह मूल शब्द 'आद्य' और 'आदि' है। आद्य गौड़ का मतलब मूल गौड़ से है। इससे यह पता चलता है कि यदि कुछ ब्राह्मणों को स्वयं को आदि गौड़ कहना पड़ा है तो स्वयं गौड़ ब्राह्मणों के विभाजन अवश्य थे। नए आए हुए ब्राह्मणों की तुलना में पुराने ब्राह्मणों को 'आद्य गौड़' कहा गया होगा।

कृष्ण चन्द्र शर्मा के सम्पादन में 'मय राष्ट्र मानस' नाम की जो पुस्तक प्रकाशित हुई है यह अनेक दृष्टियों से एक महत्व पूर्ण पुस्तक है। इसमें डा० ज्योति प्रसाद जैन का एक लेख 'मय राष्ट्र मंडल मुकुट मणि हस्तिना पुर' छपा है। इस लेख में

'वैदिक एज' के हवाले से बताया गया है कि "जनमेजय ने अपनी दिग्विजय के उपरान्त हस्तिना पुर में अपना पुनः राज्याभिषेक एवं अश्वमेध यज्ञ किया जिसमें ब्राह्मण पण्डितों से उसका कोई बड़ा सैद्धान्तिक मत भेद भी हुआ बताया जाता है।"

जहाँ तक मैं समझता हूँ, एक क्षत्रिय राजा के ब्राह्मण पुरोहितों से इस सैद्धान्तिक मत भेद में भारत की वर्ण व्यवस्था का बहुत कुछ छिपा हुआ होना चाहिए। ऐसे समय जनमेजय ने अपने यज्ञ की पूर्ति के लिए बाहर से ब्राह्मण बुला लिए हों इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है।

रांगेय राघव ने अपने ग्रन्थ 'महा यात्रा : गाथा—अन्धेरा रास्ता' में इस मत भेद पर काफी विस्तृत चर्चा की है। उन्होंने इसे कथा के रूप में बड़े रोचक ढंग से रखा है। उनका मूल सिद्धान्त यह है कि कुरु कुल के आरम्भिक राजाओं ने तक्षक नाग के वंश से हस्तिना पुर का राज्य छीना था। यह बात सच भी है कि हस्तिना पुर का पूरा नाम 'हस्ति नाग पुर' था। तक्षक नाग ने राजा परीक्षित को छल से मार कर अपना पुराना वैर निकाला था। तक्षक के विरोध में परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने सर्प यज्ञ किया था। इस सर्प यज्ञ में ब्राह्मणों के दो गुट बन गए थे। एक गुट में सर्प यज्ञ को चलाते रहने के समर्थक ब्राह्मण थे, दूसरे गुट में इस हिंसा के विरोध में उठने वाले महा भारत काल की महान अन्तर्भुक्ति के लिए लालायित ब्राह्मण थे। रांगेय राघव ने ऐसे दूसरे ब्राह्मणों के नेता का नाम आस्तीक बताया है जो जरत्कारु के नाग कन्या से उत्पन्न पुत्र थे। आस्तीक ने जनमेजय के नाग यज्ञ में नागों को बचाया था। ब्राह्मण और आर्यों के क्षत्रिय वंश मिल कर नाग वंश को मिटाने में लगे हुए थे। आस्तीक ने नागों को बचाने के लिए ब्राह्मणों में फूट डाल दी थी।

'मय राष्ट्र मानस' में श्री अरुण का एक अन्य लेख 'भग्नावशेष तथा जन श्रुतियों में मेरठ' शीर्षक से संग्रहीत है। उसमें इस ऐतिहासिक सत्य को एक किम्वदन्ती के सहारे से बताया गया है। उसमें लिखा गया है—"हमारे यहाँ सारस्वत ब्राह्मण और गौड़ ब्राह्मण में प्रतिस्पर्धा की किम्वदन्ती है। इसे मुख मूल्य पर लिया जाए तो कोई सार नहीं दिखाई देता। गौड़ बंगाल को कहते हैं। काफी प्राचीन काल से वहाँ ब्राह्मण थे ही नहीं, इसी कारण वल्लाल सेन ने ग्यारहवीं शताब्दी में कन्नौज से पाँच ब्राह्मण परिवार ले जा कर गौड़ में बसाए थे। सो, गौड़ ब्राह्मण से सरस्वती तट के पवित्र ब्राह्मण की क्या तुलना? लेकिन जब इस विषय पर खोज बीन की गई तब ज्ञात हुआ कि इतिहास काल के आरम्भ में गंगा और यमुना की ऊपरी अन्तर्वेदी, हरि द्वार के आस पास के भाग का नाम गौड़ था और इन दोनों पास के भागों में विद्वानों में एक समय प्रतिस्पर्धा रहने की गूंज इस जन श्रुति में आज तक चली आ रही है।"

डा० सत्य केतु विद्यालंकार की एक पुस्तक 'अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास' है। उन्होंने अग्रवाल जाति को समझने के लिए 'उरु चरितम्' पुस्तक को आधार बनाया है। वे लिखते हैं—"राजा अग्र सेन ने जिस प्रदेश में अपना नया राज्य पृथक रूप से स्थापित किया था उसे 'उरु चरितम्' में गौड़ देश कहा गया है। इस गौड़ देश की परिभाषा इस ढंग से की गई है—"हे शिष्य, इस गौड़ देश के ऊपर हिमाचल है और इसमें गंगा यमुना नदियाँ बहती हैं।" आज कल गौड़ देश का अभिप्राय सामान्यतया बंगाल समझा जाता है। पर प्राचीन समय में इस प्रदेश को भी गौड़ देश कहते थे जिसमें आज कल मेरठ और अम्बाला की कमिश्नरियाँ हैं। पश्चिमी संयुक्त प्रान्त और पूर्वी पंजाब की संज्ञा 'गौड़' देश भी रही है। इस नाम की स्मृति गौड़ ब्राह्मणों में सुरक्षित है। मेरठ और अम्बाला कमिश्नरी के ब्राह्मण अब तक भी गौड़ कहाते हैं। जिस तरह सरस्वती नदी के समीप बसने वाले ब्राह्मण सारस्वत, मिथिला के ब्राह्मण मैथिल, कन्नौज के ब्राह्मण कन्नौजिए और द्रविड़ के ब्राह्मण द्रविड़ कहाते हैं वैसे ही गौड़ देश के निवासी ब्राह्मण गौड़ कहाते हैं। अग्रवालों के पुरोहित गौड़ ब्राह्मण ही होते हैं। 'उरु चरितम्' में जिस हरिहर ने अपने को राजा अग्र सेन के वंश का पुरोहित कहा है उसे गौड़ ही लिखा गया है। बंगाल का नाम जो गौड़ पड़ा उसमें एक हेतु यह भी बताया जाता है कि गौड़ देश से कुछ ब्राह्मण वहाँ जा कर बसे थे और उन्हीं के कारण वह गौड़ कहाया जाने लगा था।"

डाक्टर सत्य केतु विद्यालंकार ने सन 1854 की 'महा लक्ष्मी व्रत कथा' पुस्तक की हस्त लिखित प्रति उद्धृत की है। इसके अनुसार राजा अग्र सेन ने "हरि द्वार से पश्चिम की ओर चौदह कोस की दूरी पर गंगा यमुना के बीच में अत्यन्त पुण्य स्थान पर उस जगह पर जहाँ कि शक्र को वश में किया था, अग्रोक नगर की स्थापना की।" इसमें आगे यह भी बताया गया है कि राजा अग्र सेन ने 'गौड़ को अपना पुरोहित बनाया जो कि वेद विद्या तथा तप का निधि रूप था।'

डाक्टर सत्य केतु विद्यालंकार ने अपनी इसी पुस्तक में 'मंजु श्री मूल कल्प' नाम की बौद्ध पुस्तक का भी लाभ उठाया है। इस बौद्ध पुस्तक में लिखा गया है — "तब फिर वैश्य वंश का राजा शिशु राज्य करेगा। फिर नाग राज नाग का राजा गौड़ देश का शासन करेगा। उसके समीप ब्राह्मण और वैश्य रहेंगे। नाग राजा स्वयं भी वैश्य होंगे औरे वैश्यों से ही घिरे रहेंगे।" यहाँ मेरा उद्देश्य अग्रवाल और नाग जाति का इतिहास बताने का नहीं है बल्कि मैं केवल यह कहना चाह रहा हूँ कि यह गौड़ देश किसी जाति से अधिक भौगोलिक क्षेत्र का नाम होना चाहिए। जहाँ तक नाग जाति की बात है, बिहार और महा राष्ट्र में भी 'नाग पुर' नाम के नगर हैं पर वे छोटे नाग पुर ही हैं। 'हस्तिना पुर' के पूरे 'हस्ति नाग पुर' में से 'हस्ति' शब्द हटा देने से मूल 'नाग पुर' मेरठ में ही निकल आता है। फिर अग्रवाल जाति बंगाल में भी है। लेकिन डाक्टर

सत्य केतु विद्यालंकार ने क्रेन्स की 'एथनोग्राफी' नामक पुस्तक की सहायता लेते हुए बताया है कि सन 1931 की जन गणना के अनुसार बंगाल में 18,296 अग्रवाल थे जब कि उत्तर प्रदेश की 1891 की जन गणना के अनुसार उनकी संख्या 3,08,277 थी। पंजाब, राजपूताने और दिल्ली में भी इनकी जन संख्या बहुत अधिक थी। इसके साथ यह भी सच है कि अग्रवालों के पुरोहित गौड़ ब्राह्मण होते हैं। जी० डब्लू० ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'द चमार्स' में इससे भी आगे की सूचना दी है। उन्होंने लिखा है कि पंजाब के जटिया चमार गौड़ ब्राह्मण को रखते हैं।

यह केवल कुरु लोक की बात नहीं है। असीम कुमार राय द्वारा लिखित पुस्तक 'हिस्ट्री आफ द जयपुर' के अपेन्डिक्स-5 में सन 1835 के अनुसार जयपुर की जन संख्या जातिवार दी गई है। ब्राह्मणों की कुल जन संख्या 1,00,100 है। इनमें से गौड़ ब्राह्मणों की संख्या 85,000 है। इस पुस्तक में यह भी बताया गया है कि गोविन्द देव का प्रसिद्ध मन्दिर चैतन्य सम्प्रदाय के गौड़ीय वैष्णवों द्वारा निर्मित कराया गया था।

ऊपर यह इतिहास का आँकड़ा दिया गया है। यह आँकड़ा सत्य ही माना जाना चाहिए। लेकिन इसकी व्याख्या भी सच्ची की जानी चाहिए। प्रश्न है— व्याख्या की इस सच्चाई तक कैसे पहुँचा जाए ?

जय पुर में गौड़ ब्राह्मणों की संख्या इतनी अधिक है कि यह नहीं माना जा सकता कि ये लोग इतनी बड़ी संख्या में बंगाल से आए होगे। ये यहाँ पर पहले से ही बसे हुए होने चाहिए। बात यही सच होनी चाहिए कि बंगाल में गौड़ ब्राह्मणों का राज्य स्थापित होने पर बंगाल के गौड़ ब्राह्मण अपने मूल स्थान के गौड़ ब्राह्मणों की सहायता करते रहे होंगे। यह भी हो सकता है कि इनके गौड़ीय मन्दिर उन्हीं भौगोलिक क्षेत्रों में निर्मित हुए हों जहाँ गौड़ ब्राह्मणों की बस्तियाँ पहले से रही हों। संसार की सभी जातियाँ ऐसा करती रही हैं।

8

हम यह देखें कि इस बारे में भारत का प्राचीन इतिहास और विशेष कर बंगाल का इतिहास क्या कहता है। पाणिनि के बारे में बताया गया है कि उनका 'गौड़पुरा' से परिचय है परन्तु वंग से नहीं। लेकिन पतंजलि के व्याख्या कार को वंग का अच्छी तरह पता है। बौद्ध साहित्य के ग्रन्थ 'मिलिन्द पण्हो' के रचयिता को भी वंग से परिचय प्राप्त है। यह भी बताया गया है कि महा भारत में 'गौड़' शब्द नहीं आया है। ये बातें

आर० सी० मजूमदार की पुस्तक के प्रमाणों से ली गई हैं।

आर० सी० मजूमदार की पुस्तक 'हिस्ट्री आफ बंगाल' के पहले वोल्यूम से पता चलता है कि कौटिल्य के अर्थ शास्त्र के दूसरे अध्याय के तेरहवें श्लोक में गौड़ देश की उपजों का वर्णन है। इन उपजों से पता चल सकता है कि ये चीजें कहाँ पैदा होती हैं। लेकिन यह जानने के बजाय मैं डा० श्री राम गोयल का मत उनकी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह' से देना चाहता हूँ। वे कौटिल्य के अर्थ शास्त्र का काल निर्धारण करते हुए लिखते हैं—"जहाँ तक कौटिल्य के अर्थ शास्त्र का प्रश्न है, बहुत से विद्वान (जैसे बरुआ, राय चौधरी, जोली, कीथ टी बरो, भांडारकर आदि) इसे मौर्योत्तर युगीन रचना मानते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इसे स्थूलतः उस युग की रचना मानता है जब वात्स्यायन ने अपना काम सूत्र लिखा—अर्थात लगभग 300 ई० के कुछ पहले या बाद की।"

जान फेथ फुल फ्लीट के 'भारतीय अभिलेख संग्रह' में आदित्य सेन का अफसड प्रस्तर लेख है। इसमें इसके बनाने वाले के बारे में लिखा गया है—"सूक्ष्मशिवेन गौडेन प्रशस्ति विकटाक्षरा।" इसका हिन्दी में अनुवाद इस प्रकार किया गया है—'रुचिर अक्षरों में लिखी गई यह प्रशस्ति···गौड़ देश के निवासी सूक्ष्म शिव द्वारा (लिखी गई अथवा उत्कीर्ण की गई है)।" यह सोचने की बात है कि यह 'सूक्ष्म शिव गौड़' द्वारा लिखी गई है, या जैसा कि इसका अनुवाद किया गया है - 'गौड़ देश के निवासी सूक्ष्म शिव द्वारा लिखी गई है।' अनुवाद में 'गौड़' के बाद शब्दांश—'(देश) (के निवासी)' फालतू जुड़ा हुआ भी हो सकता है।

डा० सत्येन्द्र ने अपनी पुस्तक 'बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में लिखा है—'पुण्ड्र और राढ से मिल कर आठवीं शताब्दी ईसवी का 'गौड़' देश बना था। गौड़ देश ने राजनीतिक महत्व प्राप्त कर लिया था, अतः बहुत समय तक बंगाल केवल गौड़ या 'गौड़ वंग' ही कहलाता रहा। यद्यपि 'बौंग लोग' के अन्नामी प्रमाण से और पंगाल के तमिली प्रमाण से 'बंगला' शब्द ईसवी पूर्व के युग में भी प्रचलित मिलता है, फिर भी बंगाला या बंगाल का आधुनिक नाम 'गौड़ वंग' के उपरान्त मुस्लिम शासन काल में प्रयोग में आया प्रतीत होता है।" इस उद्धरण से एक बात यह समझ में आती है कि यह 'गौड़ वंग' शब्द 'ब्रिटिश भारत' या 'मुस्लिम भारत' की तरह का हो सकता है।

दिल्ली में चन्द्र का मरणोपरान्त लिखित एक 'मेहरौली लौह स्तम्भ' लेख है। यह जान फेथफुल फ्लीट के 'भारतीय अभिलेख संग्रह' में संग्रहीत है। इसकी भाषा संस्कृत है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इसमें कई बातें महत्व पूर्ण सिद्ध हो सकती हैं। इससे संभावना बनती है कि खड़ी बोली क्षेत्र का संस्कृत पर प्रभाव पड़ा है। अभिलेख कार ने लिखा है -"पंक्ति—1 में अंकित शत्रु में अनुवर्ती र के साथ संयोग होने

पर त का द्वित्व, तथा पंक्ति —3 में मूर्त्त्या के स्थान पर अंकित मूर्त्या तथा कीर्त्त्या के स्थान पर अंकित कीर्त्या में दूसरे त का —जो कि—मूलत: है और पूर्व वर्ती र के कारण नहीं है– अत्यन्त असामान्य रूप में छोड़ दिया जाना है।'' यह ध्यान रखने की बात है कि खड़ी बोली का द्वित्व किस प्रकार के शब्दों में आता है। यह रोटी शब्द में 'रोट्टी' के रूप में विद्यमान है लेकिन संस्कृत के मूर्त्ति शब्द से मूरती के रूप में छूट जाता है। लगता ऐसा है कि खड़ी बोली अपने ही मूल शब्दों में द्वित्व का प्रयोग करती है और संस्कृत के बने बनाए द्वित्व को यह समाप्त करके लेती है।

इस लेख के बारे में अभिलेख कार ने हमें अगली सूचना दी है—''यह अभिलेख चन्द्र नामक किसी शक्ति शाली राजा की विजयों की उसके मरणोपरान्त अंकित प्रशस्ति है, राजा के वंश के संबंध में कोई सूचना नहीं दी गई है। लेख तिथि विहीन है। यह वैष्णव लेख है।'' इसकी एक तिथि निश्चित करते हुए अभिलेख कार ने अपना मत जाहिर किया है —''इसे इस परम्परा विशेष—कि यह आठवीं शताब्दी ई० के संस्थापक अनंग पाल द्वारा संस्थापित हुआ था—के साथ रख कर देखने पर यह एक विवादास्पद विषय बन जाता है कि स्तंभ की वर्तमान स्थिति ही इसकी मौलिक स्थिति है अथवा दिल्ली के अशोक स्तंभों तथा संभवत: इलाहाबाद के अशोक (तथा गुप्त) स्तंभ के समान, यह अपने वर्तमान स्थान पर किसी अन्य स्थान से लाया गया था।'' अभिलेख कार यह मानने को तैयार नहीं है कि यह स्तंभ इस जगह किसी अन्य स्थान से लाया गया है।

इस लेख की सबसे महत्व पूर्ण बात इसमें 'वंग' शब्द के आने की है। इसकी प्रथम पंक्ति का अनुवाद इस प्रकार किया गया है - 'वह जिनकी भुजा पर खडग से कीर्ति अंकित हुई जबकि उन्होंने वंग प्रदेश में हुए युद्ध में (अपने) विरुद्ध संगठित हो कर आए हुए शत्रुओं को (अपने) वक्ष स्थल से मसल ड़ाला (और) पीछे (खदेड़ दिया)।'' इस उद्धरण से कुछ महत्व पूर्ण प्रश्न बन सकते हैं। वे इस प्रकार हैं :

1. इसमें वंग शब्द क्यों आया है ? इसमें वंग के स्थान पर गौड़ देश शब्द क्यों नहीं आ सका है ?

2. यह राजा बंगाल में युद्ध करने गया था। यह बंगाल का राजा नहीं था। यह बंगाल में युद्ध करने के लिए क़िस पिछली परम्परा के कारण गया था ?

3. यदि इस राजा ने बंगाल पर विजय प्राप्त की थी, या बंगाल को हराया था, तो वहाँ से लौटने के बाद बंगाल की राज सत्ता किसके हाथों में दी थी ?

मेरे प्रश्न रखने के इस ढंग से यह समझा जा सकता है कि मैं क्या कहना चाहता हूँ। बंगाल में गौड़ देश की पहचान ईसा की सातवीं शताब्दी से मानी जाती है। अभी इस मेहरौली लेख की तिथि भी अन्तिम रूप से निश्चित नहीं हुई है। इसकी सातवीं शताब्दी से पहले और आठवीं शताब्दी के बाद की तिथि निश्चित हो सकती है। यह स्वयं वैष्णव लेख है। बंगाल के गौड़ देश में धर्म के रूप में वैष्णव मत फैला है। एक वैष्णव मत का अनुयायी बंगाल के वैष्णवों पर विजय प्राप्त करके ऐसा नहीं कह सकता था कि उसने वैष्णवों पर विजय प्राप्त की है। इसलिए इस राजा ने बंगाल को हराया, बंगाल के दूसरे नाम गौड़ देश को नहीं। हो सकता है कि यह समय इन्द्र प्रस्थ के गौड़ ब्राह्मणों के बंगाल में जाने की प्रक्रिया का हो। गौड़ देश पर विजय की बात कहते ही इस राजा का मुँह जल जाता। हुआ यह होगा कि बंगाल में जो गौड़ ब्राह्मण वहाँ पहले से रहे होंगे उन्होंने इस युद्ध में इस चन्द्र राजा की सहायता की होगी।

आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित 'हिस्ट्री आफ बंगाल' के वोल्यूम – 1 में लिखा हुआ है --"ईसा की पाँचवीं, छठी, सातवीं शताब्दियों के अभिलेखों से पता चलता है कि उस समय बंगाल में वैदिक संस्कृति प्रवेश कर रही थी।" इसी पुस्तक में आगे लिखा गया है— 'अभिलेखों में ऐसे प्रमाण मौजूद हैं कि बंगाल में मध्य देश से ब्राह्मण बुलाए गए थे।" मत दिया गया है कि यह बात तर्क पूर्ण है कि गुप्त साम्राज्य के समय में मध्य देश में वैदिक संस्कृति का पुनर्जागरण होने के कारण बंगाल में कट्टर पंथी वैदिक संस्कृति का वहाव चला था। यह संस्कृति बंगाल में ब्राह्मणों द्वारा 5वीं शताब्दी से लानी आरम्भ हो गई थी। बंगाल के राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को प्रोत्साहन देने के कारण बंगाल में वैदिक संस्कृति के फैलाव ने सातवीं शताब्दी के मध्य से बारहवीं शताब्दी तक बड़ा जोर पकड़ा था।

साहित्य और काव्य शास्त्र में उससे भिन्न घटित नहीं होना चाहिए जो संस्कृति के क्षेत्र में हुआ है। काव्य शास्त्र समाज और संस्कृति का पिछलग्गू भी हो सकता है। बंगाल के संस्कृत साहित्य में जो गौड़ मार्ग या गौड़ रीति का उल्लेख है, यदि बंगाल में गुप्त साम्राज्य के दौरान पाँचवीं शताब्दी में मध्य देश के ब्राह्मणों के आने का समय ठीक हो तो ये दोनों बातें आपस में कहीं जुड़नी चाहिए। ऊपर बताई गई पुस्तक में एच० जैकोबी का मत उद्धृत किया गया है कि काव्य शास्त्र में सरल वैदर्भी रीति सम्भवतः ईसा की तीसरी शताब्दी में अस्तित्व में आई थी। जैकोबी के विरोध में यह भी कहा गया है कि बाद के काव्य में गौड़ी रीति का अधिक प्रचलन होने के कारण यह भी संभव है कि स्वयं गौड़ी रीति ने वैदर्भी के बाद में जन्म लिया हो। इस पुस्तक में यह भी कहा गया है कि दोनों रीतियाँ साथ साथ भी चल सकी होंगी।

इस वैदिक संस्कृति का बंगाल के धर्म पर भी विशेष असर पड़ा होगा। इस पुस्तक में हुएन सांग के साक्ष्य से बताया गया है कि 7वीं शताब्दी के बंगाल में ब्राह्मण धर्म, बौद्ध और जैन मत के लोगों की संख्या को पीछे छोड़ गया था।

आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित पुस्तक से हमें पता चलता है कि प्रोफेसर पी० सी० महालनोबिस ने बंगाल के ब्राह्मणों का नृशास्त्रीय अध्ययन किया है। जहाँ उनका अध्ययन एक ओर यह कहता है कि बंगाल के ब्राह्मण बंगाल की गैर ब्राह्मण जातियों से अधिक समानता रखते हैं, वहाँ दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि बंगाल में ब्राह्मणों की ही एक जाति ऐसी है जो पंजाब के लोगों से अपनी समानता दर्शाती है। इस अध्ययन के अनुसार बंगाल के ब्राह्मण बंगाल के बाहर उच्च जातियों से समानता रखते हैं। यह ठीक है कि यह अध्ययन दो विरोधी स्वरूप के निष्कर्ष के साथ एक निकलता है। मैंने ये निष्कर्ष मूल रूप में नहीं पढ़े हैं। मेरे मत में, यदि अधिक विस्तार और गहराई में पहुँचा जाए तो इन विरोधी दीखने वाले तथ्यों की एक सम्यक व्याख्या की जा सकती है। बंगाल के भौगोलिक क्षेत्रों के बँटवारे के अनुसार यह देखा जा सकता है कि पूर्वी बंगाल के ब्राह्मणों और मैथिल प्रदेश से हो कर जाने वाले उत्तरी बंगाल के ब्राह्मणों में कोई मूल भूत अन्तर हो सकता है। उत्तरी बंगाल के ब्राह्मण पंजाब के ब्राह्मणों से जिसमें कुरु लोक और कुरु जांगल के ब्राह्मण भी शामिल हैं, समानता रखे हुए हो सकते हैं। और जब कहा गया है कि बंगाल के ब्राह्मण बंगाल से बाहर की जातियों की बनिस्पत बंगाल की अन्य जातियों से समानता रखते हैं तो वे अधिकांश पूर्वी बंगाल के ब्राह्मण हो सकते हैं। इसी प्रकार जब कहा गया है कि वे बंगाल की अन्य जातियों की बजाय पंजाब और मध्य देश की उच्च जातियों से अधिक मिलते जुलते हैं तो वे उत्तरी बंगाल के गौड़ ब्राह्मण हो सकते हैं। गौड़ ब्राह्मण बंगाल की अन्य जातियों से घुल मिल कर नहीं रहे होंगे। दूसरे प्रकार के बंगाली ब्राह्मण अन्य जातियों से घुलते मिलते रहे होंगे।

इतिहास ऐसा नहीं चला है जैसा इसे आज बताया जाता है। सच तक पहुँचने के लिए भारतीय विद्वानों को अभी बहुत सोच विचार करना पड़ेगा। उन्हें सिर खपाने की ज्यादा जरूरत न भी पड़े यदि वे अपनी जाति वादी श्रेष्ठता का दम्भ छोड़ दें।

ब्रिटिश भारत में अधिकांश शिक्षा ब्राह्मण वर्ग के हाथ में रही थी। इसलिए अच्छे या बुरे, जैसे भी, उन्हीं में से विद्वान अधिक निकले हैं। उन्होंने अपनी बातों का शोर मचा दिया है। चूँकि विदेशी विद्वानों ने ब्राह्मणों पर आक्रमण किए थे इसलिए ब्राह्मण विद्वान बचाव पक्ष में अधिक पड़ गए हैं। उन्हें सच कहने से अधिक अपने वर्ण की श्रेष्ठता को बचाए रखने की पड़ी रही है।

कई ऐसे भारतीय विद्वानों को रात दिन यह कोसने की पड़ी रहती है कि पाश्चात्य विद्वानों ने भारत के इतिहास को तोड़ा मरोड़ा है। यह बताया जाता है कि

उन्होंने जो कुछ भी किया वह भारत में ईसाइयत के प्रसार और अंग्रेजों के राज्य को शक्ति शाली बनाने के उद्देश्य से किया है। लेकिन अब भारत में अंग्रेजों का राज्य नहीं रह गया है—इसलिए इस पक्ष पर चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। अब केवल आत्म आलोचना द्वारा यह जानने की जरूरत है कि भारतीय समाज के उघड़ भर जाने से स्वयं भारतीयों के मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ता है। भारत में ईसाइयत का प्रसार होता या न होता, और अंग्रेजों के राज्य की जड़ मजबूत होती या न होती लेकिन इतनी बात जरूर है कि भारतीय समाज के उघड़ने से स्वयं भारतीय लोगों पर बुरा असर पड़ता है।

यह एक मनोवृत्ति की बात है। हम भाषा के विषय को ले सकते हैं। जाति वादी ब्राह्मण विद्वानों द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति को संस्कृत से जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण परम्परा द्वारा इतने विशाल भारत की जानकारी एक न बोले जाने वाली भाषा—संस्कृत—तक सीमित रह गई थी।

अब हम भारतीय भाषाओं के बारे में जार्ज ए ग्रियर्सन का काम देखें। उन्होंने 'अपना लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' का महान ग्रंथ लिखा है। यह 11 वोल्यूमों में है। इसके पार्ट मिलाते हुए इसकी कुल 19 जिल्दे हैं। किसी भी जाति वादी ब्राह्मणी परम्परा के विद्वान के मन में इस काम को देखते ही उसके माथे में बल पड़ सकते हैं। उसे यह सहन नहीं होगा कि भारत में जन भाषाओं और प्रादेशिक बोलियों को इतना सम्मान मिले कि उन पर एक पच्चीस हजार रुपये मूल्य का और वेद से भी विशाल ग्रन्थ तैयार किया जाए। वह मानसिक असन्तोष में पूछ सकता है कि संस्कृत के सिवा भारत में अन्य भाषाओं और बोलियों को इतना महत्त्व क्यों दिया गया है? वह जब भारतीय भाषाओं का वर्णन किया करता था तो संस्कृत के बाद प्राकृत और अपभ्रंश का नाम ले कर आगे 'इत्यादि इत्यादि' के कहने में अपने काम की इतिश्री समझ लेता था।

इस बारे में मेरा विचार है कि भारतीय समाज की व्याख्या करने की अधिक आवश्यकता नहीं है। इसे केवल उघाड़ भर दिया जाए। दुख की बात है कि इसका उघाड़ना भर जाति वादी ब्राह्मणी स्वार्थ के विरोध में पड़ जाता है। इसलिए यह कहना कि पाश्चात्य विद्वानों ने भारत में ईसाइयत फैलाने के उद्देश्य से भारतीय समाज की व्याख्या की है कोई अर्थ नहीं रखता है क्योंकि यह स्वार्थी समाज अपने उघड़ भर जाने से भयभीत हुआ पड़ा है। इसलिए आज नए भारत के विद्वानों द्वारा विदेशी विद्वानों द्वारा की गई इस सेवा को नकारना नहीं चाहिए। यहाँ फिर जार्ज ए ग्रियर्सन का उदाहरण लिया जा सकता है। उन्होंने अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' के पहले वोल्यूम के पहले पार्ट में हिन्दी के बारे में बोलते हुए लिखा है—"हिन्दी का अपना शब्द भंडार, कृषि प्रधान जनता से इसका मूल जुड़ा होने के कारण बहुत विशाल है। इस कारण संस्कृत के नब्बे प्रतिशत शब्द जो आधुनिक हिन्दी की पुस्तकों में मिलते हैं

हिन्दी जनता के लिए निरर्थक और न समझे जाने वाले बोझ ही हैं।" उन्होंने संस्कृत को खरीदा हुआ छुआछूत का रोग कह कर हिन्दी को इससे बचने का परामर्श दिया है। यह केवल तथ्य है और यदि इतने भर मे जाती वादी ब्राह्मणी परम्परा का विद्वान कठिनाई महसूस करता है तो उसका क्या किया जाए।

मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि इस देश में विभिन्न जातियां के लोग कभी ऊँचे और कभी नीचे घोषित होते रहे हैं। यहाँ एक शूद्र व्यक्ति को ब्राह्मणत्व प्राप्त करना कठिन है लेकिन पूरी की पूरी शूद्र जाति यदि मिल कर चाहे तो ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकती है। संसार के अन्य देशों के समान हिन्दुस्तान का इतिहास भी संगठन और शक्ति के सामने झुकता रहा है। इसके ऐतिहासिक प्रमाण ढूंढे जाने चाहिए कि इस देश में गैर ब्राह्मण कब ब्राह्मण बनाए गए हैं। यह एकदम असम्भव बात है कि ढाका के ब्राह्मण परिवार जो मंगोल जाति से मिलते जुलते हैं, वे कुरु लोक के गौड़ ब्राह्मणों में से हैं। ब्राह्मणों ने इस देश में सांस्कृतिक लड़ाई के साथ साथ समयानुसार राजनैतिक लड़ाइयाँ भी लड़ी हैं। इन राजनैतिक लड़ाइयों का तर्क वही रहा होगा जो सत्ता प्राप्त करने का संसार के सभी देशों में रहा है। नए क्षेत्रों में सत्ता प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों ने गैर ब्राह्मणों को ब्राह्मण बनाया होगा। राजनैतिक इतिहास जाति वादी ब्राह्मणों के हाथ में भी राजनैतिक तर्कों से बच कर नहीं चला होगा। इसलिए बंगाल में ब्राह्मणों का नृशास्त्रीय अध्ययन करने से दो विरोधी निष्कर्ष निकलने की बात को अचरज और असम्भव की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए।

'हिस्ट्री आफ बंगाल' में यह बार बार लिखा गया है कि बंगाल में विभिन्न गोत्रों, प्रवरों और शाखाओं के ब्राह्मण ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी में बस गए थे। बाद की शताब्दियों में उत्तर भारत से लगातार ब्राह्मणों के पहुँचने से यह संख्या बढ़ती रही थी। इन ब्राह्मणों में गुजरात और मध्य देश के ब्राह्मण सम्मिलित रहे हैं। स्वयं बंगाल के गौड़ राजा आदि शूर ने 732 ईस्वी में कन्नौज से ब्राह्मण बुलाए थे। बात केवल गौड़ ब्राह्मणों की नहीं है बल्कि 'गौड़ कायस्थ वंश' के अनुसार दसवीं शताब्दी में मथुरा से कायस्थ भी बंगाल गए थे। हमें 'हिस्ट्री आफ बंगाल' से पता चलता है कि ब्राह्मणों की सारी कुलजियाँ एक स्वर से यह घोषणा करती हैं कि आदि शूर ने कन्नौज से पाँच ब्राह्मण बुलाए थे जो बंगाल में ब्राह्मणों के आदि परिवार कहे जाते हैं। ये ब्राह्मण धनुष बाण धारण करके अपने सेवकों के साथ हाथियों पर बैठ कर पहुँचे थे। हो सकता है, ये ब्राह्मण सेना की पाँच टुकड़ियाँ रही हों। यह भी बताया गया है कि ये ब्राह्मण बंगाल में ही रुके रहें और वापिस कन्नौज न लौट जाएँ, इसके लिए बंगाल के राढ़ों ने इन्हें अपनी कन्याएँ भी विवाही थीं।

जहाँ तक बंगला साहित्य का संबंध है, डाक्टर सत्येन्द्र लिखते हैं—"वास्तविक बंगला साहित्य का आरम्भ और उत्कर्ष 'गौड़ युग' माना जाता है।" वे आगे लिखते

हैं—"गौड़ प्रदेश इस युग में बंगला साहित्य की मूल प्रेरणा का केन्द्र रहा है। साहित्य को प्रोत्साहन देने में गौड़ शासकों का भी हाथ रहा। यह युग 15वीं शताब्दी के अंत तक चलता माना जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र का यह गौड़ युग 11वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ माना गया है। इस समय गौड़ चन्द्रिका रचने का बड़ा प्रचलन हुआ था।" इसके बारे में डाक्टर सत्येन्द्र लिखते हैं—"प्रत्येक विभाग के पूर्व 'गौड़ चन्द्रिका' रचने या गाने का नियम सा चैतन्य के उपरान्त के युग में चल पड़ा था। मानो यह गौड़ चन्द्रिका जैसे समस्त 'राधा कृष्ण तत्त्व' को चैतन्य के माध्यम से हृदयंगम करने की कुंजी हो।"

यदि हम ऊपर दिए गए उद्धरणों से यह समझें कि गौड़ चन्द्रिका में आया हुआ 'गौड़' शब्द बंगाल की अपनी उपज है तो फिर हमें इसका उत्तर भी देना पड़ेगा कि क्या बंगाल में गाए जाने वाले पांचाली गीत में आया हुआ शब्द 'पांचाल' भी बंगाल की अपनी उपज है? डाक्टर सत्येन्द्र सन 1804 में जन्मे एक कवि दाशरथी राय के बारे में बताते हैं—"इन्होंने एक नई शैली का गीत निकाला जो 'पांचाली' कहा गया। इन कविताओं या गीतों की लोक प्रियता बहुत बढ़ती गई।" डाक्टर सत्येन्द्र इस कवि से भी पहले के प्रमाण देते हैं—"सत्य पीर की पांचाली 1734 ई० में फकीर चन्द नाम के कवि ने लिखी। इसके अतिरिक्त रामानन्द ने भी 'सत्य पीर' लिखा। सत्य पीर की पांचाली की कथा भी एक अत्यन्त प्रचलित लोक कथा है।"

यह बात मुझे हरियाणे के एक गौड़ ब्राह्मण ने बताई कि हरियाणे के ब्राह्मणों में से 82 प्रतिशत और पंजाब के ब्राह्मणों में से 42 प्रतिशत गौड़ हैं। मैं इन आँकड़ों के बारे में कुछ नहीं कहना चाहता। ये मौखिक हैं। लेकिन उन्होंने मुझे यह भी बताया कि कर्नाटक के कामथ और पई ब्राह्मण भी गौड़ ही हैं। वे अपने आपको आदि गौड़ भी कह रहे थे। मैंने उनसे पूछा कि आपका मूल स्थान कहाँ है? उन्होंने बताया कि मूलतः वे बंगाल के गौड़ ब्राह्मण हैं। मैंने उनके इस कथन को सच नहीं माना। यदि बंगाल के गौड़ बंगाल के आदि गौड़ हैं तो हरियाणे में रह कर वे आदि कैसे रह जाते हैं? फिर तो आदि गौड़ वे ही होने चाहिए जो अपने पवित्र बंगाल को छोड़ कर कहीं बाहर नहीं गए हैं। किसी क्षेत्र में आदि गौड़ वे ही कहे जाने चाहिए जो दूसरों की तुलना में उस जगह पर पहले से हैं। कहने का अर्थ यह है कि यदि मेरठ कमिश्नरी, हरियाणे और पंजाब में आदि गौड़ हैं तो वे मूलतः इन्हीं प्रदेशों के होने चाहिए। जो प्राचीन कुरु लोक और कुरु जांगल छोड़ कर बंगाल या अन्य स्थानों पर गए होंगे, वहाँ से लौट कर वे पुनः कुरु लोक और कुरु जांगल में कुछ मिश्रित हो गए माने जाते होंगे।

जो मैंने ऊपर निष्कर्ष निकाला है उसे मान लेने के बाद मेरा यह नैतिक कर्त्तव्य है कि यह बताऊँ कि ऐसा क्यों है कि हरियाणे के आदि गौड़ ब्राह्मण भी खुद को बंगाल से आया हुआ बताते हैं? इसका एक सामाजिक कारण होना चाहिए। मुझे

हिन्दी जनता के लिए निरर्थक और न समझे जाने वाले बोझ ही हैं।" उन्होंने संस्कृत को खरीदा हुआ छुआछूत का रोग कह कर हिन्दी को इससे बचने का परामर्श दिया है। यह केवल तथ्य है और यदि इतने भर से जाती वादी ब्राह्मणी परम्परा का विद्वान कठिनाई महसूस करता है तो उसका क्या किया जाए।

मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि इस देश में विभिन्न जातियां के लोग कभी ऊँचे और कभी नीचे घोषित होते रहे हैं। यहाँ एक शूद्र व्यक्ति को ब्राह्मणत्व प्राप्त करना कठिन है लेकिन पूरी की पूरी शूद्र जाति यदि मिल कर चाहे तो ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकती है। संसार के अन्य देशों के समान हिन्दुस्तान का इतिहास भी संगठन और शक्ति के सामने झुकता रहा है। इसके ऐतिहासिक प्रमाण ढूंढे जाने चाहिए कि इस देश में गैर ब्राह्मण कब ब्राह्मण बनाए गए हैं। यह एकदम असम्भव बात है कि ढाका के ब्राह्मण परिवार जो मंगोल जाति से मिलते जुलते हैं, वे कुरु लोक के गौड़ ब्राह्मणों में से हैं। ब्राह्मणों ने इस देश में सांस्कृतिक लड़ाई के साथ साथ समयानुसार राजनैतिक लड़ाइयाँ भी लड़ी हैं। इन राजनैतिक लड़ाइयों का तर्क वही रहा होगा जो सत्ता प्राप्त करने का संसार के सभी देशों में रहा है। नए क्षेत्रों में सत्ता प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों ने गैर ब्राह्मणों को ब्राह्मण बनाया होगा। राजनैतिक इतिहास जाति वादी ब्राह्मणों के हाथ में भी राजनैतिक तर्कों से बच कर नहीं चला होगा। इसलिए बंगाल में ब्राह्मणों का नृशास्त्रीय अध्ययन करने से दो विरोधी निष्कर्ष निकलने की बात को अचरज और असम्भव की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए।

'हिस्ट्री आफ बंगाल' में यह बार बार लिखा गया है कि बंगाल में विभिन्न गोत्रों, प्रवरों और शाखाओं के ब्राह्मण ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी में बस गए थे। बाद की शताब्दियों में उत्तर भारत से लगातार ब्राह्मणों के पहुँचने से यह संख्या बढ़ती रही थी। इन ब्राह्मणों में गुजरात और मध्य देश के ब्राह्मण सम्मिलित रहे हैं। स्वयं बंगाल के गौड़ राजा आदि शूर ने 732 ईस्वी में कन्नौज़ से ब्राह्मण बुलाए थे। बात केवल गौड़ ब्राह्मणों की नहीं है बल्कि 'गौड़ कायस्थ वंश' के अनुसार दसवीं शताब्दी में मथुरा से कायस्थ भी बंगाल गए थे। हमें 'हिस्ट्री आफ बंगाल' से पता चलता है कि ब्राह्मणों की सारी कुलजियाँ एक स्वर से यह घोषणा करती हैं कि आदि शूर ने कन्नौज से पाँच ब्राह्मण बुलाए थे जो बंगाल में ब्राह्मणों के आदि परिवार कहे जाते हैं। ये ब्राह्मण धनुष बाण धारण करके अपने सेवकों के साथ हाथियों पर बैठ कर पहुँचे थे। हो सकता है, ये ब्राह्मण सेना की पाँच टुकड़ियाँ रही हों। यह भी बताया गया है कि ये ब्राह्मण बंगाल में ही रुके रहें और वापिस कन्नौज न लौट जाएँ, इसके लिए बंगाल के राढ़ों ने इन्हें अपनी कन्याएँ भी विवाही थीं।

जहाँ तक बंगला साहित्य का संबंध है, डाक्टर सत्येन्द्र लिखते हैं—"वास्तविक बंगला साहित्य का आरम्भ और उत्कर्ष 'गौड़ युग' माना जाता है।" वे आगे लिखते

हैं—"गौड़ प्रदेश इस युग में बंगला साहित्य की मूल प्रेरणा का केन्द्र रहा है। साहित्य को प्रोत्साहन देने में गौड़ शासकों का भी हाथ रहा। यह युग 15वीं शताब्दी के अंत तक चलता माना जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र का यह गौड़ युग 11वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ माना गया है। इस समय गौड़ चन्द्रिका रचने का बड़ा प्रचलन हुआ था।" इसके बारे में डाक्टर सत्येन्द्र लिखते हैं—"प्रत्येक विभाग के पूर्व 'गौड़ चन्द्रिका' रचने या गाने का नियम सा चैतन्य के उपरान्त के युग में चल पड़ा था। मानो यह गौड़ चन्द्रिका जैसे समस्त 'राधा कृष्ण तत्त्व' को चैतन्य के माध्यम से हृदयंगम करने की कुंजी हो।"

यदि हम ऊपर दिए गए उद्धरणों से यह समझें कि गौड़ चन्द्रिका में आया हुआ 'गौड़' शब्द बंगाल की अपनी उपज है तो फिर हमें इसका उत्तर भी देना पड़ेगा कि क्या बंगाल में गाए जाने वाले पांचाली गीत में आया हुआ शब्द 'पांचाल' भी बंगाल की अपनी उपज है? डाक्टर सत्येन्द्र सन 1804 में जन्मे एक कवि दाशरथी राय के बारे में बताते हैं—"इन्होंने एक नई शैली का गीत निकाला जो 'पांचाली' कहा गया। इन कविताओं या गीतों की लोक प्रियता बहुत बढ़ती गई।" डाक्टर सत्येन्द्र इस कवि से भी पहले के प्रमाण देते हैं—"सत्य पीर की पांचाली 1734 ई० में फकीर चन्द नाम के कवि ने लिखी। इसके अतिरिक्त रामानन्द ने भी 'सत्य पीर' लिखा। सत्य पीर की पांचाली की कथा भी एक अत्यन्त प्रचलित लोक कथा है।"

यह बात मुझे हरियाणे के एक गौड़ ब्राह्मण ने बताई कि हरियाणे के ब्राह्मणों में से 82 प्रतिशत और पंजाब के ब्राह्मणों में से 42 प्रतिशत गौड़ हैं। मैं इन आँकड़ों के बारे में कुछ नहीं कहना चाहता। ये मौखिक हैं। लेकिन उन्होंने मुझे यह भी बताया कि कर्नाटक के कामथ और पई ब्राह्मण भी गौड़ ही हैं। वे अपने आपको आदि गौड़ भी कह रहे थे। मैंने उनसे पूछा कि आपका मूल स्थान कहाँ है? उन्होंने बताया कि मूलतः वे बंगाल के गौड़ ब्राह्मण हैं। मैंने उनके इस कथन को सच नहीं माना। यदि बंगाल के गौड़ बंगाल के आदि गौड़ हैं तो हरियाणे में रह कर वे आदि कैसे रह जाते हैं? फिर तो आदि गौड़ वे ही होने चाहिए जो अपने पवित्र बंगाल को छोड़ कर कहीं बाहर नहीं गए हैं। किसी क्षेत्र में आदि गौड़ वे ही कहे जाने चाहिए जो दूसरों की तुलना में उस जगह पर पहले से हैं। कहने का अर्थ यह है कि यदि मेरठ कमिश्नरी, हरियाणे और पंजाब में आदि गौड़ हैं तो वे मूलतः इन्हीं प्रदेशों के होने चाहिए। जो प्राचीन कुरु लोक और कुरु जांगल छोड़ कर बंगाल या अन्य स्थानों पर गए होंगे, वहाँ से लौट कर वे पुनः कुरु लोक और कुरु जांगल में कुछ मिश्रित हो गए माने जाते होंगे।

जो मैंने ऊपर निष्कर्ष निकाला है उसे मान लेने के बाद मेरा यह नैतिक कर्त्तव्य है कि यह बताऊँ कि ऐसा क्यों है कि हरियाणे के आदि गौड़ ब्राह्मण भी खुद को बंगाल से आया हुआ बताते हैं? इसका एक सामाजिक कारण होना चाहिए। मुझे

हिन्दी जनता के लिए निरर्थक और न समझे जाने वाले बोझ ही हैं।" उन्होंने संस्कृत को खरीदा हुआ छुआछूत का रोग कह कर हिन्दी को इससे बचने का परामर्श दिया है। यह केवल तथ्य है और यदि इतने भर से जाती वादी ब्राह्मणी परम्परा का विद्वान कठिनाई महसूस करता है तो उसका क्या किया जाए।

मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि इस देश में विभिन्न जातियां के लोग कभी ऊँचे और कभी नीचे घोषित होते रहे हैं। यहाँ एक शूद्र व्यक्ति को ब्राह्मणत्व प्राप्त करना कठिन है लेकिन पूरी की पूरी शूद्र जाति यदि मिल कर चाहे तो ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकती है। संसार के अन्य देशों के समान हिन्दुस्तान का इतिहास भी संगठन और शक्ति के सामने झुकता रहा है। इसके ऐतिहासिक प्रमाण ढूंढे जाने चाहिए कि इस देश में गैर ब्राह्मण कब ब्राह्मण बनाए गए हैं। यह एकदम असम्भव बात है कि ढाका के ब्राह्मण परिवार जो मंगोल जाति से मिलते जुलते हैं, वे कुरु लोक के गौड़ ब्राह्मणों में से हैं। ब्राह्मणों ने इस देश में सांस्कृतिक लड़ाई के साथ साथ समयानुसार राजनैतिक लड़ाइयाँ भी लड़ी हैं। इन राजनैतिक लड़ाइयों का तर्क वही रहा होगा जो सत्ता प्राप्त करने का संसार के सभी देशों में रहा है। नए क्षेत्रों में सत्ता प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों ने गैर ब्राह्मणों को ब्राह्मण बनाया होगा। राजनैतिक इतिहास जाति वादी ब्राह्मणों के हाथ में भी राजनैतिक तर्कों से बच कर नहीं चला होगा। इसलिए बंगाल में ब्राह्मणों का नृशास्त्रीय अध्ययन करने से दो विरोधी निष्कर्ष निकलने की बात को अचरज और असम्भव की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए।

'हिस्ट्री आफ बंगाल' में यह बार बार लिखा गया है कि बंगाल में विभिन्न गोत्रों, प्रवरों और शाखाओं के ब्राह्मण ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी में बस गए थे। बाद की शताब्दियों में उत्तर भारत से लगातार ब्राह्मणों के पहुँचने से यह संख्या बढ़ती रही थी। इन ब्राह्मणों में गुजरात और मध्य देश के ब्राह्मण सम्मिलित रहे हैं। स्वयं बंगाल के गौड़ राजा आदि शूर ने 732 ईस्वी में कन्नौज से ब्राह्मण बुलाए थे। बात केवल गौड़ ब्राह्मणों की नहीं है बल्कि 'गौड़ कायस्थ वंश' के अनुसार दसवीं शताब्दी में मथुरा से कायस्थ भी बंगाल गए थे। हमें 'हिस्ट्री आफ बंगाल' से पता चलता है कि ब्राह्मणों की सारी कुलजियाँ एक स्वर से यह घोषणा करती हैं कि आदि शूर ने कन्नौज से पाँच ब्राह्मण बुलाए थे जो बंगाल में ब्राह्मणों के आदि परिवार कहे जाते हैं। ये ब्राह्मण धनुष बाण धारण करके अपने सेवकों के साथ हाथियों पर बैठ कर पहुँचे थे। हो सकता है, ये ब्राह्मण सेना की पाँच टुकड़ियाँ रही हों। यह भी बताया गया है कि ये ब्राह्मण बंगाल में ही रुके रहें और वापिस कन्नौज न लौट जाएँ, इसके लिए बंगाल के राढ़ों ने इन्हें अपनी कन्याएँ भी विवाही थीं।

जहाँ तक बंगला साहित्य का संबंध है, डाक्टर सत्येन्द्र लिखते हैं—"वास्तविक बंगला साहित्य का आरम्भ और उत्कर्ष 'गौड़ युग' माना जाता है।" वे आगे लिखते

हैं—"गौड़ प्रदेश इस युग में बंगला साहित्य की मूल प्रेरणा का केन्द्र रहा है। साहित्य को प्रोत्साहन देने में गौड़ शासकों का भी हाथ रहा। यह युग 15वीं शताब्दी के अंत तक चलता माना जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र का यह गौड़ युग 11वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ माना गया है। इस समय गौड़ चन्द्रिका रचने का बड़ा प्रचलन हुआ था।" इसके बारे में डाक्टर सत्येन्द्र लिखते हैं—"प्रत्येक विभाग के पूर्व 'गौड़ चन्द्रिका' रचने या गाने का नियम सा चैतन्य के उपरान्त के युग में चल पड़ा था। मानो यह गौड़ चन्द्रिका जैसे समस्त 'राधा कृष्ण तत्त्व' को चैतन्य के माध्यम से हृदयंगम करने की कुंजी हो।"

यदि हम ऊपर दिए गए उद्धरणों से यह समझें कि गौड़ चन्द्रिका में आया हुआ 'गौड़' शब्द बंगाल की अपनी उपज है तो फिर हमें इसका उत्तर भी देना पड़ेगा कि क्या बंगाल में गाए जाने वाले पांचाली गीत में आया हुआ शब्द 'पांचाल' भी बंगाल की अपनी उपज है? डाक्टर सत्येन्द्र सन 1804 में जन्मे एक कवि दाशरथी राय के बारे में बताते हैं—"इन्होंने एक नई शैली का गीत निकाला जो 'पांचाली' कहा गया। इन कविताओं या गीतों की लोक प्रियता बहुत बढ़ती गई।" डाक्टर सत्येन्द्र इस कवि से भी पहले के प्रमाण देते हैं—"सत्य पीर की पांचाली 1734 ई० में फकीर चन्द नाम के कवि ने लिखी। इसके अतिरिक्त रामानन्द ने भी 'सत्य पीर' लिखा। सत्य पीर की पांचाली की कथा भी एक अत्यन्त प्रचलित लोक कथा है।"

यह बात मुझे हरियाणे के एक गौड़ ब्राह्मण ने बताई कि हरियाणे के ब्राह्मणों में से 82 प्रतिशत और पंजाब के ब्राह्मणों में से 42 प्रतिशत गौड़ हैं। मैं इन आँकड़ों के बारे में कुछ नहीं कहना चाहता। ये मौखिक हैं। लेकिन उन्होंने मुझे यह भी बताया कि कर्नाटक के कामथ और पई ब्राह्मण भी गौड़ ही हैं। वे अपने आपको आदि गौड़ भी कह रहे थे। मैंने उनसे पूछा कि आपका मूल स्थान कहाँ है? उन्होंने बताया कि मूलतः वे बंगाल के गौड़ ब्राह्मण हैं। मैंने उनके इस कथन को सच नहीं माना। यदि बंगाल के गौड़ बंगाल के आदि गौड़ हैं तो हरियाणे में रह कर वे आदि कैसे रह जाते हैं? फिर तो आदि गौड़ वे ही होने चाहिए जो अपने पवित्र बंगाल को छोड़ कर कहीं बाहर नहीं गए हैं। किसी क्षेत्र में आदि गौड़ वे ही कहे जाने चाहिए जो दूसरों की तुलना में उस जगह पर पहले से हैं। कहने का अर्थ यह है कि यदि मेरठ कमिश्नरी, हरियाणे और पंजाब में आदि गौड़ हैं तो वे मूलतः इन्हीं प्रदेशों के होने चाहिए। जो प्राचीन कुरु लोक और कुरु जांगल छोड़ कर बंगाल या अन्य स्थानों पर गए होंगे, वहाँ से लौट कर वे पुनः कुरु लोक और कुरु जांगल में कुछ मिश्रित हो गए माने जाते होंगे।

जो मैंने ऊपर निष्कर्ष निकाला है उसे मान लेने के बाद मेरा यह नैतिक कर्त्तव्य है कि यह बताऊँ कि ऐसा क्यों है कि हरियाणे के आदि गौड़ ब्राह्मण भी खुद को बंगाल से आया हुआ बताते हैं? इसका एक सामाजिक कारण होना चाहिए। मुझे

यह लगता है कि जिस जाति की जहाँ प्रभुता रहती है उसे अपने आपको वहाँ से जोड़ने में गर्व का अनुभव होता है। कुरु लोक में गौड़ ब्राह्मणों की सत्ता कभी नहीं रही है। बंगाल में गौड़ ब्राह्मणों के राज्य रहे हैं। इसलिए गौड़ ब्राह्मणों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे अपने परिचय में खुद को बंगाल से अवश्य जोड़ कर दिखाएँ। संसार की सभी जातियाँ अपने इतिहास का अध्ययन इसलिए करती हैं कि वे खुद जान सकें और दूसरों को बता सकें कि वे कहाँ और कब राजा थीं। ऐसा गर्व प्राप्त करने के लिए कभी कभी लोग अपने मूल स्थान को भी भूल सकते हैं।

जान फेथ फुल फ्लीट के 'भारतीय अभिलेख संग्रह' में जिसका अनुवाद गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र ने किया है, लिखा है -- "स्त्रियों के लिए उनके पतियों की राजकीय उपाधियों के प्रयोग के वर्तमान दृष्टांत हम कनारी भाषा के गौड़सानि तथा मराठी भाषा के 'पाटलीण' शब्दों में पाते हैं जिनका प्रयोग 'गौड़' अथवा 'पाटिल' (ग्राम प्रमुख) की पत्नी के अर्थ में होता है।" इस उद्धरण से भी 'गौड़' शब्द के प्रसार का पता चलता है।

9

भाषा के मामले में हमें दो नाम और मिलते हैं। ये 'सधुक्कड़ी' तथा 'अक्खड़ भाषा' हैं। सधुक्कड़ी भाषा साधुओं की भाषा रही है। लेकिन सूर और तुलसी की भाषा को उनके साधुपन के बावजूद सधुक्कड़ी भाषा नहीं कहा जाता है। यह घुमन्तू और निर्गुणी साधुओं की भाषा थी। यह अनपढ़ और निम्न जातियों के साधुओं की भाषा थी।

हम इतना समझ सकते हैं कि सधुक्कड़ी शब्द दो शब्दों से मिल कर बना है— साधु + कड़ी। इसमें कड़ी और खड़ी शब्दों की समानता को समझा जा सकता है। जब 'साधु' शब्द 'सधु' हो गया तो 'खड़ी' को साधु से जुड़ते समय 'क्कड़ी' हो जाना असंभव नहीं है। यदि अनपढ़ हिन्दी भाषियों को आज भी दो शब्द 'साधु' और 'खड़ी' जोड़ कर बोलने के लिए कहे जाएँ तो वे नए सिरे से भी इसे 'सधुक्कड़ी' बना लेंगे। कहने का मतलब यह है कि पहले से कोई 'खड़ी' भाषा रही है, जब उसे साधु लोग बोलते थे तो उसे 'सधुक्कड़ी' कहा गया है। आम भाषा बिना किसी विशेषण के 'खड़ी' ही थी। मैं नहीं कह सकता कि यह 'सधुक्कड़ी' शब्द कितना पुराना है लेकिन इतना सच है कि 'सधुक्कड़ी' शब्द से पहले हमारे पास 'खड़ी' शब्द होना चाहिए।

अब हम 'अक्खड़' शब्द पर विचार करें। मूल शब्द 'अक्षर' ही रहा होगा। उसी से 'निरक्षर' बना होगा। यदि मेरठ क्षेत्र में किसी को 'अरे, ओ अक्षर' कह कर

पुकारा जाए तो उसका अक्षर से अक्खड़ अर्थ ही निकलेगा। मेरठ में एक प्रचलित मुहावरा 'काला अक्षर भैंस बराबर' है। ऐसे मुहावरे कभी कभी एक ही शब्द में ध्वनित होने लगते हैं। मेरठ में किसी को 'अक्षर' कह देने से या 'भैंस' कह देने से इस मुहावरे का पूरा पूरा अर्थ खुल जाता है।

ऐसा ही एक शब्द 'घुमक्कड़' भी है। राहुल सांकृत्यायन ने इस नाम से एक पुस्तक भी लिखी है। उसका आरम्भ भी एक शास्त्र के समान 'अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा' लिख कर किया गया है। मेरठ जिले में 'लाल भुझक्खड़' की हास्य कहानियाँ भी बहुत प्रचलित हैं। डाक्टर सत्या गुप्त ने अपनी शोध पुस्तक 'खड़ी बोली का लोक साहित्य' में लाल भुझक्कड़ की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "लाल भुझक्कड़ ऐसा व्यक्ति है जो जानता कुछ नहीं है पर हस्तक्षेप हर बात में करता है तथा उसमें आत्म विश्वास है। जिसके फल स्वरूप सब लोग उसकी बात को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेते हैं।"

मेरठ जिले में इस ध्वनि साम्य के शब्दों की कमी नहीं है। एक और शब्द 'पियक्कड़' है। एक और शब्द 'भुक्खड़' है। एक तीसरा शब्द 'खुक्कड़' है। मदिरा के के साथ जुड़ने से 'पियक्कड़' का अर्थ सभी लोग जानते हैं लेकिन 'भुक्खड़' उसे कहते हैं जो आदमी लगातार भूखा रहता है। 'भुक्खड़' 'भक्खड़' भी बोला जाता है। 'खुक्कड़' उसे कहते हैं जिसकी जेब में एक भी पैसा न रह गया हो। एक चौथा शब्द 'सुक्कड़' हैं। इसका अर्थ ऐसे आदमी से है जो शरीर से बिलकुल कृशकाय हो गया हो। हमारे पास पाँचवाँ शब्द 'नुक्कड़' है जो हिन्दी जगत में सब कहीं प्रचलित है। एक छठा शब्द 'फक्कड़' है। इसका अर्थ उस आदमी से है जिसके घर भूख के फाँके लगते हैं। इसे बाद में फकीरी से भी जोड़ दिया गया है। एक सातवाँ शब्द 'बक्कड़' है। यह वह आदमी होता है जो बहुत बोलता है और बकवास बोलता है। इस क्रम में आठवाँ शब्द 'धाक्कड़' है। ऐसा आदमी बहुत बल शाली और मजबूत होता है। नौवाँ शब्द 'झक्कड़' है। 'झक्कड़' उसको कहते हैं जो झक मारता है। कान में काँय काँय करता पीछे पड़ा रहता है। दसवाँ शब्द मेरठ जिले में एक जाति के 'कक्कड़' गोत्र का है। मुझे यह बताया गया है कि यह पेशावर से आए हुए मुलतान जिले में 'बाहरी' लोगों में से पंजाबियों का गोत्र है। ग्यारवाँ शब्द 'लक्कड़' है जो लकड़ी के मुकाबले में बहुत भारी है। जो आदमी ऐंठ कर और हेकड़ी दिखाता हुआ बोलता है उसे 'हेक्कड़' कहते हैं। देखा जा सकता है कि हेकड़ी का कड़ी सधुक्कड़ी के कड़ी से कितना मिलता है। ऐसा एक अन्य शब्द 'भुलक्कड़' है। 'बहक्कड़' शब्द भी ऐसा ही है। मेरठ जिले में यह ध्वनि साम्य इतना शक्ति शाली है कि रोकड़ को भी वहाँ 'रोक्कड़' और 'रुक्कड़' बोला जाता है। यह मुहावरे जैसा प्रयोग है—'खुश हो ले, तुझे दूंगा मैं रोकड़।' उस आदमी को 'मक्कड़' कहते हैं जो मकर भर कर बैठता है। हम भाषा से भी अधिक स्वयं कविता और छन्द में प्रयुक्त होने वाले बदनाम शब्द 'तुक्कड़' और 'तुक्कड़

बाज' को देख सकते हैं। टुकड़े को चिबल कर 'टुक्कड़' भी कहा जाता है। इस क्षेत्र में ईकड़ी और माकड़ी गाँवों के नाम हैं। मेरठ में 'अक्खड़ दिमाग' और 'अक्खड़ बुद्धि' वाले आदमी को संक्षेप में 'खड़ दिमाग' कहा जाता है। पता नहीं हमारी वर्तमान लोक सभा के माननीय अध्यक्ष महोदय का गोत्र 'जाखड़' कैसे पड़ा है। यदि भाषा विज्ञानी इस पर विचार करें तो उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि यह गोत्र हरियाणे का है जो कुरु लोक के पास का प्राचीन 'कुरु जांगल' प्रदेश है।

डाक्टर राज वंश सहाय 'हीरा' अपनी पुस्तक 'अपभ्रंश साहित्य : परम्परा और प्रवृतियाँ' में दसवीं शताब्दी के अपभ्रंश भाषा के कवि धन पाल का एक छन्द उद्धृत करते हैं। इसमें धन पाल ने अपनी काव्य पुस्तक 'भविसयत्त कहा' में अपने वंश के बारे में लिखा है—"धक्कड़ वणि वंसे माएस रहो समुब्भविण।' यहाँ 'वणि वंसे' से पता चलता है कि वे वणिक वंश से सम्बन्ध रखते हैं। लेकिन यह 'धक्कड़' शब्द क्या है? डाक्टर हीरा ने इसे भी एक वंश बताना चाहा है। मुझे पता नहीं कि इस नाम से वैश्यों में कोई गोत्र होता है। मुझे 'धक्कड़' शब्द वही लगता है जिसे कुरु लोक में 'धाक्कड़' कहा जाता है। इसका अर्थ मजबूत और दबंग आदमी से है। मेरठ में 'धाक्कड़' शब्द इस रूप में भी प्रयोग किया जाता है—इस गाँव के सारे आदमी धाक्कड़ होते हैं या उनका कुटुम्ब बड़ा धाक्कड़ है। डाक्टर हीरा ने अपनी इसी पुस्तक में अपभ्रंश के एक अन्य कवि हरिषेण का परिचय दिया है। हरिषेण ने 'धम्म परिक्खा' नाम की रचना संवत 1044 में की थी। इसमें कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है— 'इह मेवाड़ देसे गण संकुले सिरि उजपुर निगय धक्कड़ कुले।"

मैं 'धाक्कड़' शब्द को अपने 'सधुक्कड़' और 'अक्खड़' शब्दों की रचना प्रकृति से जोड़ कर देख रहा हूँ। 'धक्कड़' शब्द अपभ्रंश के रूप में दसवीं शताब्दी की प्राचीनता का सिद्ध हो गया है तो 'सधुक्कड़' शब्द भी ऐसी ही प्राचीनता लिए हुए कहा जा सकता है।

अपभ्रंश काव्य में 'कडवक' नाम का एक महत्व पूर्ण छन्द है। यह अपभ्रंश का मुख्य छन्द बताया गया है। श्री अगर चन्द्र नाहटा के माध्यम से डाक्टर हीरा की पुस्तक में हमें अपभ्रंश के 115 काव्य रूपों की सूची मिलती है। इसमें एक काव्य रूप 'कड़ा' है। मैं यहाँ केवल यह जोड़ना चाह रहा हूँ कि मेरठ में एक पुराने ऐतिहासिक कस्बे किले के 'कड़े' गायन शैली में बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। इस किले का पूरा नास किला परीक्षित गढ़ है। कहा जाता है कि इसे पौराणिक राजा परीक्षित ने बनवाया था। हम अपनी मूल खोज की ओर चलें क्या अपभ्रंश के 'कडवक', किले के 'कड़े' और 'मधुक्कड़' के कड़ का 'खड़ी बोली' शब्द से कोई सम्बन्ध बन सकता है?

ऐसा मानना अनुचित नहीं है कि 'सधुक्कड़ी' शब्द भी शुरू में 'सधुक्कड़' रहा हो। अक्खड़ में भी यदि साधु शब्द पहले जोड़ा जाए तो वह भी 'सधुक्कड़' बन

जाता है। चूँकि उत्तर भारत में अधिकांश भाषाओं के नाम स्त्री लिंग में रहे हैं इसलिए 'सधुक्कड़' के 'सधुक्कड़ी' बनने की सम्भावना सही प्रतीत होती है। 'सधुक्कड़ी' शब्द 'सधुक्कड़ भाषा' का पर्याय है। या तो केवल 'सधुक्कड़ी' कहो, परन्तु यदि 'सधुक्कड़ी' शब्द पर जोर देना है तो इसके लिए 'सधुक्कड़ भाषा' जैसा बड़ा शब्द प्रयोग करना पड़ेगा।

'सधुक्कड़' शब्द कुछ बड़ा है—हम छोटा शब्द 'अक्खड़' ले सकते हैं। मेरठ में इसका प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है— 'वह अक्खड़ आदमी है और उसकी अक्खड़ भाषा है।'' यदि 'अक्खड़ भाषा' में से भाषा शब्द हटाना पड़े तो फिर 'अक्खड़' शब्द को भाषा के रूप में 'अक्खड़ी' के 'अक्' को भी हटना पड़ेगा। मेरठ के ग्रामीण क्षेत्र में 'अचम्भे' का अर्थ 'चम्भे' से ही निकाल लिया जाता है और यहाँ 'अढ़ाई' को 'ढ़ाई' कहा जाता है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि 'ड़' के साथ 'ई' की मात्रा का उच्चारण होते ही पहले का 'अक्' अंश उच्चारण में कठिनाई पैदा करने वाला हो जाता है।

आचार्य बाल भट्ट का 'मय राष्ट्र मानस' में 'मेरठ रंग मंच' नाम से एक लेख संग्रहीत है। इसमें उन्होंने लिखा है कि मेरठ की स्वांग परम्परा अपना अभूतपूर्व स्थान रखती है। रचना की दृष्टि से स्वांग के दो भेद हैं :

1. बैठी ताल (शास्त्रीय संगीत)
2. खड़ी ताल (संयुक्त संगीत)

बैठी ताल के सूत्रधारों में सन 1524 के सदा सुख राम, सन 1530 के राम लाल शर्मा, सन 1528 के अम्बा राम, सन 1600 के वंशी धर शुक्ल बताए गए हैं। खड़ी ताल के स्वांग की परम्परा के सूत्रधार धनिया और मनिया बताए गए हैं। नगाड़ा खड़ी ताल का मुख्य वाद्य है।

मेरठ के सांगों में खड़ी ताल का नगाड़ा बजता ही है। उस नगाड़े की विशेषता होती है कि सांग के कहन बन्द करके कुछ देर के लिए केवल नगाड़ा बजाया जाता है। फिर नगाड़ची का हाथ नहीं रुकता है। चोब लगातार लगती है। नगाड़े की आवाज में करारापन होता है। खड़ी ताल का नगाड़ा बजाने के लिए नगाड़े को पहले खोंच लिया जाता है। नगाड़े की इसी खड़ी ताल के आधार पर मेरठ क्षेत्र में एक मुहावरा बना है—'सिर पर खड़ी ताल का जूता बजाना।' इसका मतलब है—सिर की चांद पर बिना गिने जूत बजाना।

मेरठ में 'खड़ ताल' नाम का एक लोक वाद्य भी है। इसकी उत्पत्ति 'कर ताल' से बताई गई है लेकिन इसे उच्चारण में 'खड़ ताल' होना पड़ा है। सोचने का विषय है कि आज का 'हड़ताल' शब्द किसके अनुकरण पर चल निकला है? यदि यह

'हरताल' या 'हरि ताल' भी है तो भी इसे 'हड़ ताल' क्यों कहा गया है ? वैसे यहाँ 'हड़ कल' शब्द की बनावट भी देखी जा सकती है ।

'मय राष्ट्र मानम' में गोविन्द नश्वर का 'मेरठ में ख्याल और झूलनों की परम्परा' नाम से एक लेख है । इसमें गाने की शैली और धुनों के अनुसार ख्याल की गायकी के पाँच उपभेद बताए गए हैं । ये इस प्रकार हैं :

1. खड़ी रंगत का ख्याल
2. लम्बी रंगत का ख्याल
3. लंगड़ी रंगत का ख्याल
4. डेढ़ रंगनी ख्याल
5. छोटी रंगत का ख्याल

यहाँ यह भी बताया जा सकता है कि मेरठ की ख्याल गायकी का इतिहास बहुत पुराना है। इस गायकी के कुछ अखाड़े उर्दू साहित्य के उस्ताद जौक साहब और मिर्जा गालिब से सम्बन्धित बताए जाते हैं । 'खड़ी रंगत' में शब्द 'खड़ी' से हमारा विशेष अभिप्राय है । डाक्टर सत्या गुप्ता ने अपने शोध प्रबन्ध 'खड़ी बोली का लोक साहित्य' में सांगों की दृष्टि से 'खड़ी रंगत' तथा 'चलती रंगत' के दो भेद बताए हैं । उन्होंने यह भी लिखा है कि 'खड़ी रंगत की यह विशेषता है कि इसको बहुत खींच कर गाते हैं ।' उन्होंने इसके उदाहरण भी दिए हैं ।

मेरठ की खड़ी बोली के बारे में विद्वानों ने कुछ भी अर्थ लगाए हों उन्हें अपनी जानकारी में यह भी सम्मिलित कर लेना चाहिए कि मेरठ में एक कहन मिठवासे का होता है । जब मेरठ का मिठवासा गाया जाता है तो उसमें भाषा की रौह बरसती है । यह मिठवासा खड़ी बोली में गाया जाता है । मेरठ के लोग मेरठ की खड़ी बोली को भैरवी में गाने पर इसे मीठी बोली कहते हैं । इस प्रकार यह भाषा खड़ी होते हुए भी मीठी भाषा मानी जाती है । दक्षिणी हिन्दी के कवि मुल्ला वजही ने सन 1666 में कहा भी है—'दखन में जो दखिनी मीठी बात का ।'

हिन्दी में 'खड़ी' 'खड़ा' और 'खड़े' का प्रयोग बहुत पुराना है । जो लोग सोचते हैं कि 'खड़ी' शब्द का अर्थ सौन्दर्य बोधक नहीं है वे दखिनी हिंन्दी के कवि इब्राहिम द्वारा ईसा की सत्रहवीं शती में इसके प्रयोग को देख सकते हैं । वे लिखते हैं — 'एक नार देखा खड़ी सामने पूनम रात की मकर चांदनी ।" डाक्टर परमानन्द पांचाल ने अपनी पुस्तक 'दक्खिनी हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली' में इसके कई उदाहरण दिए हैं जैसे—'सचोटी का काजी भितर हो खड़ा', खड़े भौत असुपत गजपत राव', 'खड़े मस्त झूले तो हस्ती अपार ।'

आज 'अखाड़ा' हिन्दी का प्रचलित शब्द है। 'अखाड़ा' उस जगह को कहते हैं जहाँ पहलवान कुश्ती करते हैं लेकिन मेरठ में इसका लोक साहित्य से बहुत गहरा

सम्बन्ध है । वहाँ सांगियों के अखाड़े होते हैं । सांगियों के अखाड़ों की अलग अलग पहचान होती है । सोचा जा सकता है—शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से अखाड़ा 'अक्खड़' से बना हो जो स्वयं अक्षर से बना हो ।

गोविन्द नश्वर हमें झूलनों के उस्ताद छुट्टन सिंह के 'अधर बारह खड़ी' नामक झूलने का परिचय देते हैं । वैसे, वर्ण माला में व्यंजनों को जब मात्रा सहित पढ़ाया जाता है तो उसे भी 'बारह खड़ी' याद करना कहा जाता है । मेरठ में 'खड़ी' शब्द इस रूप में बहुत प्रचलित है ।

एक शब्द 'पंच मेल खिचड़ी' है । लेकिन डाक्टर कृष्णदत्त पालीवाल और जय सिंह नीरद द्वारा सम्पादित पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' में एक 'षट भाषा' का जिक्र है । यह डाक्टर जगदीश कुमार के लेख—'आचार्य शुक्ल और खड़ी हिन्दी' में आया है । इस षटभाषा में ब्रज, मागधी, असर, नाग, यवन और पारसी मिली होती थीं । यह नहीं कहा जा सकता कि इस षट भाषा का मूलाधार क्या था । इतना जरूर है कि जब भाषाओं का मिश्रित रूप बोला जाता था उसमें खड़ी बोली का क्षेत्र भी अपना उचित प्रतिनिधित्व पाता था । इस बात की पूरी पूरी सम्भावना है कि 'षड भाषा' से 'खड़ भाषा' की ओर आते हुए 'खड़' ही खड़ी बोली बना हो । यदि ऐसा हुआ हो तो इस बात की भी पूरी संभावना है कि षड भाषा का सबसे सुन्दर मिश्रित रूप दिल्ली और मेरठ के क्षेत्र में रहा होगा । वहाँ की भाषा में आज की अंग्रेजी को और मिला कर इसे 'सप्त भाषा' कहा जा सकता है । लेकिन जो प्रश्न उभरता है वह खड़ी बोली क्षेत्र के 'अक्खड़' से ले कर 'हैक्कड़' तक के शब्दों की व्युत्पत्ति का है । कबीर को आदत से अक्खड़ और स्वभाव से फक्कड़ कहा गया है । उनकी भाषा को सधुक्कड़ी और फक्कड़ी भी कहा गया है । क्या किसी अन्य भाषा के साथ भी उसके क्षेत्र में इतने शब्द जुड़े हैं ? हो सकता है कि खड़ी बोली क्षेत्र के शब्द 'खड़' को अपना शब्द बनाने की दृष्टि से संस्कृत की परम्परा के लोगों ने इसे 'षड भाषा' कहा हो ।

10

मुनि श्री नगराज की एक पुस्तक 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' दो खण्डों में है । इसका दूसरा खण्ड 'भाषा और साहित्य' का है । यह पुस्तक इस दृष्टि से ज्यादा महत्त्व पूर्ण है कि इसमें भाषा के बारे में सोचते हुए केवल संस्कृत की दृष्टि से नहीं सोचा गया है । उन्होंने पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का भी लाभ उठाया है । उनका भाषा के बारे में किया गया वर्गी करण भी ठीक दिशा का है पर विशेष बात

यह है कि उनकी यह पुस्तक ज्यादा सूचनाएँ देती है।

जरूरी नहीं है कि इतिहास में हम जो चीज जिस रूप में चाहते हैं वह हमें बिलकुल ठीक उसी रूप में मिलेगी। वह हमें थोड़ी बहुत हमारी लीक से हट कर मिल सकती है। उदाहरण के रूप में हम भाषा की खोज करनी चाह रहे हैं परन्तु हमें लिपि की खोज मिल सकती है। मुनि श्री नगराज ने 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन : खण्ड 2 : भाषा और साहित्य' में बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ललित विस्तर' से कुछ महत्त्व पूर्ण सूचनाएँ दी हैं। उन्होंने लिखा है कि 'ललित विस्तर' में 64 लिपियों का उल्लेख है। इसमें देशों के नाम पर कई लिपियाँ बताई गई हैं। इनमें से छह हमारे ज्यादा मतलब की हैं। मुनि श्री नगराज ने 64 नाम गिनाते हुए हमारे मतलब की छहों लिपियों की क्रम संख्या इस प्रकार रखी है :

क्रम संख्या	लिपि का नाम
4.	अंग लिपि
5.	बंग लिपि
6.	मगध लिपि
38.	उत्तर कुरुद्वीप लिपि
39.	अपर गौडादि लिपि
40.	पूर्व विदेह लिपि

यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं 'ललित विस्तर' में इन्हें क्या क्रम दिया गया है। सम्भावना है कि वह क्रम यही होना चाहिए। इसमें यह भी सत्य है कि यह जरूरी नहीं है कि हमारी इच्छा के प्रदेश के नाम से लिपि का नाम भी अवश्य मिलना चाहिए। 64 लिपियों के नामों में सारे नाम देशों के नाम पर नहीं हैं। यह भी ध्यान रखा जाना है कि यह 'ललित विस्तर' किस काल की रचना है।

इसमें अंग, बंग और मगध को एक साथ गिनाया गया है। अंग, बंग और मगध को एक साथ रखने की बात भौगोलिक रूप से समझ में आती है लेकिन उत्तर कुरु द्वीप, अपर गौडादि और पूर्व विदेह को एक साथ रखने की बात समझ में नहीं आती। जिस तर्क को मैं यहाँ रख रहा हूँ उस पर जोर दे कर अड़ा नहीं जा सकता लेकिन वह रखा जरूर जा सकता है। प्राचीन काल में उत्तर कुरु और दक्षिण कुरु हमारे सामने दो भौगोलिक क्षेत्र आते हैं। इनके बीच में तीसरा मूल कुरु लोक है। ललित विस्तर में उत्तर कुरु की लिपि बताई गई है लेकिन दक्षिण कुरु और मध्य कुरु लोक की देश के नाम के आधार पर लिपि नहीं बताई गई है। इनके लिए यही सोचा जा सकता है कि वे किसी और नाम से जानी जा सकती हैं। पूर्व विदेह में यदि 'पूर्व दिशा का विदेह'— ऐसा अर्थ लिया जाए तो बात दूसरी है अन्यथा विदेह से लेकर बंगाल की ओर पूर्व में पड़ने वाले देश को बंगाल के विभाजन का गौड़ देश कहा जा

सकता है । फिर हमारे पास 'अपर गौडादि' शब्द है जो ठीक ठीक गौड देश नहीं है ।

मुनि श्री नगराज की इस पुस्तक से हमें जैन साहित्य में वर्णित 18 लिपियों की सूचना मिलती है। 18 लिपियों के नाम चार जैन ग्रंथों से लिए गए हैं। अचरज यह है कि इन लिपियों के नाम और क्रम बदले हुए हैं पर हर ग्रन्थ में इनकी संख्या 18 ही है। जिन ग्रन्थों में इन लिपियों के 18 नाम आए हैं वे समवायांग सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र, विशेषावश्यक टीका और कल्प सूत्र हैं।

इन ग्रन्थों में 'खड़ी बोली' के नाम करण के लिए हमें दो प्रकार की सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। हमारे 'खड़ी' शब्द में 'ख' और 'ड़ी' दो वर्ण हैं। इन्हीं दो वर्णों की सम्भावना पर विचार किया जाना है। हम इसका एक चार्ट बना सकते हैं जो इस प्रकार है :

क्र० सं०	लिपि का नाम	पुस्तक का नाम
1.	अक्षर पृष्ठिका	समवायांग सूत्र
2.	पुक्खरासारिया	प्रज्ञापना सूत्र
3.	अन्तक्खरिया	"
4.	अक्खरपुट्ठिया	"
5.	उड्डी	विशेषावश्यक टीका
6.	नडि	"
6.	द्रविडी	"
8.	कीरी	"
9.	चौड़ी	कल्पसूत्र
10.	कानडी	"
11.	हाड़ी	"
12.	कीड़ी	"

इसका विश्लेषण करने पर कहा जा सकता है कि अक्षर का अक्खर बनना आश्चर्य की बात नहीं है। कबीर की भाषा में यह 'आखर' तक हो गया है। अक्षर शब्द के हिज्जे 'अक्षर' है। हिन्दी में 'ष' का 'ख' बनना सर्व विदित है। भाषा का भाखा, षट भाषा का खड़ भाखा, पुरुष का पुरुख, मनुष्य का मानुख, इसके उदाहरण हैं। ऊपर पुक्खरासारिया में 'खर', अन्तक्खरिया में 'खरि' और अक्खरपुट्ठिया में 'खर' शब्द आते हैं। उड्डी नडि, द्रविडी, चौड़ी, कानड़ी, हाड़ी और कीड़ी में अन्तिम वर्ण सर्वत्र 'डी' है। इसलिए 'खड़ी' शब्द में न तो 'ख' और न ही 'डी' भारतीय भाषाओं या लिपियों में गैर परम्परा का नाम है। और तो और, स्वयं खरोष्टी में 'खर' शब्द आया है। और पता नहीं, खड़ी बोली क्षेत्र में हाथ पर चोट लगने से आई खरोंट से ले कर

खरोंच और खड़ौंच तक के निशानों को किस लिपि चिह्न के आधार पर ये नाम मिले हैं।

आगे 'खड़ी' शब्द के तीन पक्षों पर विचार किया जा सकता है।

पहला, मुनि श्री नगराज ने अपना मत दिया है कि 'चौड़ी लिपि सम्भवतः चोल राजाओं द्वारा शासित राज्य की लिपि रही हो।' इसका अर्थ यह निकलता है कि जैनियों के साहित्य में 'ल' के 'ड़' बनने की सम्भावना है।

दूसरा, हमारे पास लिपि के रूप में 'चौड़ी' शब्द है तो एक बोली के रूप में 'खड़ी' शब्द का होना आश्चर्य की बात नहीं है।

तीसरा, विशेषावश्यक टीका में एक लिपि का नाम 'कीरी' आया है। कल्प सूत्र में यही नाम 'कीड़ी' है। इससे 'खरी' और 'खड़ी' का झगड़ा भी मिट जाता है। जो बात 'कीरी' और 'कीड़ी' के प्राचीन अन्तर में है वही 'खरी' और 'खड़ी' के आधुनिक अन्तर में हो सकती है।

मुनि श्री नगराज बौद्ध वाङ्मय के सूत्र पिटक के दीघ निकाय के अन्तर्वर्तीय सालक्खंध वग्ग के प्रथम सूत्र 'ब्रह्म जाल सूत्र' में आए एक शब्द 'अक्खरिका' जो 'अक्खटिका' भी लिखा गया है कि व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने इसका संस्कृत रूप 'अक्षरिका' बताया है। यह खेल एक व्यक्ति द्वारा अंगुली से आकाश में या दूसरे व्यक्ति की पीठ पर अक्षरों के आकार बनाने और दूसरे व्यक्ति द्वारा उन अक्षरों को पहचान लेने या न पहचान लेने की हार जीत का है।

मुनि श्री नगराज ने अपनी पुस्तक में मार्कण्डेय की पुस्तक 'प्राकृत सर्वस्व' का लाभ उठाया है। उन्होंने बताया है कि मार्कण्डेय ने प्राकृत को भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच के भेदों में बाँटा है। इस विभाजन में विशेष बात यह है कि शौरसेनी, प्राच्या और मागधी को भाषा के अन्तर्गत रख कर शौरसेन और पांचाल को पैशाच के अन्तर्गत रखा है। मार्कण्डेय ने 'प्राकृत चन्द्रिका' का भी लाभ उठाया है। मुनि श्री नगराज बताते हैं कि उसमें 8 भाषाओं, 6 विभाषाओं, 11 पिशाच भाषाओं और 27 अपभ्रंशों की चर्चा की गई है। विशेष बात यह है कि 11 पिशाच भाषाओं के नामों में पांचाल और गौड भी हैं। 27 अपभ्रंशों में भी पांचाल और गौड़ हैं।

इस तथ्य से हम एक नई अवधारणा पर पहुँचते हैं। वह नई अवधारणा यह है कि गौड़ एक पिशाच भाषा भी है और गौड़ एक अपभ्रंश भाषा भी है। यह सामग्री पूरी नहीं है और इस सामग्री से हमें गौड़ भाषा और गौड़ विभाषा नहीं मिलती लेकिन गौड़ पिशाच और गौड़ अपभ्रंश अवश्य मिलती हैं। गौड़ पिशाच और गौड़ अपभ्रंश का मतलब है कि उस समय गौड क्षेत्र में ऐसे लोगों की बस्तियाँ रही हैं जो पिशाच

भाषाएँ बोलते हैं। ये गौड़ क्षेत्र में ही नहीं बल्कि पांचाल और शौरसेन क्षेत्रों में भी पाई जाती हैं।

'कोरवा वार्तालाप निर्देशिका' में आदिम जन जातियों की मुण्डारी और कोरवा भाषा के साथ साथ एक भाषा 'खड़िया' भी बताई गई है। खड़ी बोली के खड़ी शब्द में यदि 'इया' प्रत्यय लगाना हो तो वह 'खड़िया' ही बनता है।

मुंशी नवल किशोर, सी० आई० ई० ने अपने लखनऊ के छापे खाने में छापने के बाद 'विष्णु सहस्र नाम सटीक' नाम की पुस्तक अगस्त 1904 में अपने कान पुर के छापे खाने में दूसरी बार छापी थी। यह संस्करण संस्कृत, हिन्दी और उर्दू में एक साथ है। इसमें देव नागरी वर्ण माला की लिपि को उर्दू की लिपि में समझाने के लिए 'बारा खड़ी' दी गई है। यहाँ विशेष बात यह है कि सन 1904 में कान पुर में इसे 'बारा खड़ी' कहा गया है और 'बारा खरी' नहीं।

यह देखना उचित रहेगा कि इस बारे में जार्ज ए ग्रियर्सन का 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' क्या कहता है। इसके पहले वोल्यूम के पहले पार्ट में तीसरा अपेनडिक्स दिया हुआ है। इसमें भाषा और बोलियों की सूची दी गई है। यह सूची बहुत बड़ी है लेकिन यहाँ हम उन्हीं भाषाओं या बोलियों के नाम लेंगे जो खड़ी बोली के अन्तिम 'ड़ी' वाले हैं। इस लम्बी सूची से इस भ्रम का निवारण पूरी तरह हो जाना चाहिए कि 'खड़ी' बोली 'खरी' बोली है। सूची इस प्रकार है :

1. अफरीड़ी
2. बचड़ी
3. बागड़ी
4. बैसवाड़ी
5. बालड़ी
6. बाँगड़ू
7. बंसवाड़ी
8. बारड़ी बोली
9. बेटाड़ी
10. भारूड़ी
11. भिल्लोड़ी (भिलोड़ी)
12. भीमड़ी
13. बुर्डी
14. चचड़ी
15. चित्तौड़ी
16. दालड़ी
17. दरिंगा बड्डी
18. ढेड़ी
19. ढोन्डी
20. ढुण्डी
21. गाडी
22. गामड़िया
23. गारोड़ी (गारूड़ी)
24. घिसाड़ी
25. गोबिलवाड़ी
26. गौंडी
27. हाड़ी
28. हालाड़ी
29. जंगड़ी
30. जताटर्डी
31. झालवाड़ी
32. जोहाड़ी

33. कड़ी
34. कैकाड़ी
35. कालहण्डी
36. कानड़ी
37. करांडी
38. करहाड़ी
39. काटियावाड़ी
40. काथोड़ी
41. कातवड़ी
42. खाड़ी
43. खोड़ी
44. कोड़ा
45. कोरा मुड़ी भार
46. कुड़ी
47. कुड़िया
48. कुलवाड़ी
49. लधाड़ी
50. लाड़ी
51. लम्बाड़ी
52. लोढ़ी
53. मलेकड़ी
54. ममताड़ी
55. मथवाड़ी
56. मेवाड़
57. मारवाड़ी
58. मोड़ी
59. मुड़ी
60. नैकड़ी
61. ओड़िया
62. पछाड़ी (पच्हाड़ी)
63. पगड़िया
64. पहाड़ी
65. पैड़ी
66. रन्धाड़ी (लन्धाड़ी)
67. सूंडी
68. तवाड़ी
69. थमड़ी
70. उभेडी
71. वडडी
72. वागड़ी
73. वलण्ड़ी
74. वरहाड़ी
75. वरोड़ी
76. यानाडी

इस क्रम में इसमें 'गामड़ी' और 'द्रविड़ी' शब्द भी जोड़े जा सकते हैं। इसमें यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि भाषा या बोली के नाम के अन्त में 'ड़' की यह ध्वनि पंजाब और मध्य भारत से हो कर दक्षिण क्षेत्र तक फैली हुई है।

11

गोपाल प्रसाद व्यास द्वारा सम्पादित पुस्तक 'ब्रज विभव' में श्याम सुन्दर चतुर्वेदी का 'कथक्कड़ी ब्रज भाषा का स्वरुप' शीर्षक से एक लेख छपा है। इसमें लिखा गया है "ब्रज भाषा के प्रचार प्रसार में महत्व पूर्ण योगदान देने वाले श्रीमद भागवत

के विद्वान कथा वाचकों की भाषा 'कथक्कड़ी ब्रज भाषा' कहलाती है। इसमें यह भी लिखा गया है कि "कथक्कड़ी ब्रज भाषा का व्यापक और मौलिक स्वरूप है।" इसकी व्याख्यात्मक, आलंकारिक, भावात्मक स्वरूप श्रंगार वर्णन, प्रतीकात्मक, रसात्मक, युक्ति प्रयुक्तिं, आध्यात्मिक और उपाख्यान वर्णनात्मक शैलियाँ बताई गई हैं। आलंकारिक शैली के उदाहरण इस प्रकार दिए गए हैं—"नास्तिक निन्दक ही जिनके लक्ष्य हैं।··· पाप पुण्य परिणाम दोनों द्वारपाल हैं।···मध्य में निकुंज महल है।" इस 'कथक्कड़ी ब्रज भाषा' की विशेषता यह है कि यह खड़ी बोली के नजदीक होती जाती है।

ब्रज भाषा क्षेत्र में ब्रज भाषा से अलग एक 'कथक्कड़ी' बोली की खोज क्यों की जा सकी है ? जो काम कथक्कड़ी करती थी वह काम ब्रज भाषा क्यों नहीं कर सकी ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि ब्रज भाषा के क्षेत्र में जिन वर्गों की साहित्यिक भाषा ब्रज थी, कथक्कड़ी उन वर्गों से भिन्न वर्गो की लौकिक भाषा हो। जिस देश में ऊँच और नीच का विधान शास्त्रों में लिखा हो, उसमें यह नहीं सोचा जा सकता कि ऊँच नीच कहे जाने वाले दोनों वर्गों की भाषा एक रहेगी। उच्चता और नीचता को प्रदर्शित करने के लिए जीवन और समाज के अन्य सभी क्षेत्रों के समान भाषा के क्षेत्र में भी अन्तर अवश्य रखा जाना था।

संस्कृत को जनता से दूर रखने के कारण अब तक स्वयं ब्राह्मण भी उसे भूल चुके थे। भाषा का ज्ञान प्रयोग से ही सम्भव है। मानव समाज को प्रयोग में न आने वाली किसी भाषा को जबरन याद करने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं तुलसी ने 'पूजिए विप्र ज्ञान गुन हीना, शूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना' की सामाजिक व्यवस्था दी है। ऐसी निश्चिन्त व्यवस्था में यह नहीं हो सकता था कि विप्र पढ़ना लिखना चाहते। डा० रतन चन्द्र शर्मा ने अपनी पुस्तक 'मुगल कालीन सगुण भक्ति काव्य का सांस्कृतिक विश्लेषण' में इस सन्दर्भ से तुलसी का पछतावा भी दिया है। उन्होंने राम चरित मानस से तुलसी के शब्द 'विप्र निरच्छर लोलुप कामी' उद्धृत किए हैं। जो ब्राह्मण वेद को रटन्त विद्या से याद करते थे उनके बारे में केशव ग्रन्थावली में संग्रहीत 'विज्ञान गीता' से यह दोहा उद्धृत किया गया है :

वेद भेद कछु न जानत घोंष करत कराल।
अर्थ का न समर्थ पाठ पै मनोढ़ै शुक बाल ॥

शिक्षा की दृष्टि से कबीर ने अपने बारे में कहा है :

मसि कागद तो छुयो नहीं, कलम गहो नहीं हाथ।

संस्कृत को भूल जाने के बाद ब्राह्मणों के पास लोक व्यवहार की भाषाएँ रह गई थीं। चूँकि पढ़े लिखे ब्राह्मण सदा से दुभाषिए रहे हैं इसलिए ब्रज क्षेत्र में वे ब्रज

भाषा को व्यवहार में लाते थे। ब्रज क्षेत्र के ब्राह्मण भी ब्रज भाषा बोलें और ब्रज क्षेत्र के शूद्र भी ब्रज भाषा बोलें—यह बात भाषा की दृष्टि से जाति वादी ब्राह्मण को श्रेष्ठ सिद्ध करने के विरोध में पड़ती थी। इसलिए ब्राह्मण ने अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए ब्रज भाषा को ही दो फाड़ कर दिया होगा। इसमें अपनी भाषा को ब्रज भाषा और सामान्य जनता की भाषा को कथक्कड़ी कहा होगा। अपनी ब्रज भाषा उसने कथक्कड़ी से भिन्न उसी प्रयोजन से विकसित की होगी जिससे वह उसके लिए संस्कृत वाला हित साधन कर सके। उसने ब्रज भाषा को संस्कृत से जोड़ दिया। यही काम उसने अवध क्षेत्र में अवधी से लिया। ब्रज और अवधी के रूप में अपने हित साधन का यह काम किया गया या नहीं किया गया या किया गया तो कितना किया गया—इनमें से हम एक भी प्रश्न का उत्तर न भी दे सकें—हम आज के संदर्भ में अपनी आँखों से देख कर पूरी तरह से कह सकते हैं कि आज की खड़ी बोली को हिन्दी कह कर और हिन्दी में से हिन्दी निकाल कर उसे संस्कृत निष्ठ बनाने का काम पूरे जोर शोर से किया जा रहा है।

भारत के शास्त्रीय संदर्भ में कथा को अनपढ़ों से जोड़ा गया है। सामान्य वर्गों को वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों का उच्चारण करने की मनाही की गई है और उनके लिए कथा और पुराण रचे गए हैं। यह बात अनेक प्रमाण दे कर सिद्ध की जा सकती है पर यहाँ एक ही प्रमाण दिया जा रहा है। इस प्रमाण से और इस प्रमाण को आधार बना कर उपजी बुद्धि से यह पता चल जाता है कि इस देश में भाषा भेद को कितना महत्त्व प्राप्त था। यह भाषा भेद पाठ भेद तक फैला हुआ है। आगे उदाहरण दिया जा रहा है।

गीता के द्वितीय अध्याय पर 'सांख्य योग' शीर्षक से स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने एक पुस्तक लिखी है। वास्तव में यह उनके प्रवचनों का संकलन है। इसमें 19 वें श्लोक पर प्रवचन देते समय बताया गया है कि आगे दो श्लोकों में 'मूलोपनिषद' है। मूलोपनिषद का अर्थ है कि गीता से पूर्व जो अनादि अपौरुषेय वेद रूप मूल उपनिषद हैं, उनमें से कठोपनिषद के दो मंत्र भगवान ने यहाँ कुछ थोड़े शब्दों का हेर फेर करके बोल दिए हैं। इस पर स्वयं स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने प्रश्न किए हैं—"भगवान ने उपनिषद के मंत्र ज्यों के त्यों क्यों नहीं बोल दिए? कुछ शब्द क्यों बदले और आनुपूर्वी क्यों बदली? आनुपूर्वी बदलने का तात्पर्य है कि कठोपनिषद में जिस क्रम से ये मंत्र हैं, गीता में उससे भिन्न क्रम से हैं। कठोपनिषद में पहले "न जायते म्रियते वा कदाचित···" यह मंत्र है और उसके बाद "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं···" मंत्र है। गीता में कुछ शब्द और क्रम क्यों बदला गया?"

इसके उत्तर में स्वयं स्वामी अखण्डानन्द लिखते हैं "प्राचीन पंडित कहते हैं

कि वेद, उपनिषद के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने में तो कोई भेद भाव नहीं है। संस्कृति के अन्य ग्रन्थ, पुराण, इतिहास तथा भाषा के ग्रन्थों के द्वारा वेद उपनिषद का ज्ञान सब प्राप्त कर सकते हैं। पूँजी तो सब की है, उसका लाभ सब उठा सकते हैं, किन्तु उसकी सुरक्षा का उत्तर दायित्व उन पर है जो यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हैं, जो धन, जटा और आदि सस्वर पाठ कर सकने में समर्थ हैं। अतएव यदि भगवान ने गीता में उपनिषद के मंत्र ज्यों के त्यों बोले होते तो गीता का पाठ भी सब नहीं कर सकते थे। गीता का पाठ भी वही कर सकते जो वेद पाठ के अधिकारी होते। इसलिए भगवान ने मंत्रों का क्रम भी बदल दिया और इनके दो चार शब्द भी बदल दिए।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ।।

भगवान व्यास ने यह समझ कर कि स्त्रियों, शूद्रों तथा संस्कारहीन द्विजातियों का भी वेद में अधिकार नहीं है, कृपा करके इन लोगों के कल्याण के लिए महाभारत की रचना की।

काशी के कट्टर सनातन धर्मी पण्डितों का मत है कि कलि संतरणोपनिषद के महामन्त्र—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।।

में सब लोगों का अधिकार नहीं है। इसी से श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस मन्त्र की आनुपूर्वी बदल कर पहले 'हरे कृष्ण' वाली पंक्ति और फिर 'हरे राम' वाली पंक्ति रख कर सर्व साधारण में प्रचारित किया।

इसी प्रकार गीता में मन्त्रों का क्रम तथा उनके दो चार शब्द बदल देने से उनमें वेदत्व नहीं रह गया। उनमें ऐतिहासिकता आ गई। इतिहास के एक काल में श्री कृष्ण ने अर्जुन को उनका उपदेश किया है।"

स्वयं संस्कृत तक में भाषा भेद की इस समस्या को जान लेने के बाद हम अपनी मूल बात पर आ सकते हैं। 'कड़' देशी भाषाओं का बहु प्रचलित शब्द और प्रत्यय है। यह इतना प्रचलित है कि दिल्ली के पास एक गाँव का नाम कड़कड़ है। 'कड़का' और 'कड़की' टोटे और हाथ की तंगी को कहते हैं। यहाँ इसलिए 'कुथक्कड़ी' को 'सधुक्कड़ी' से जोड़ना और तुलना करना बेतुकी बात नहीं है। काशी के रैदास और कबीर के बारे में भाषा की दृष्टि से जो 'सधुक्कड़ी' शब्द से अभिव्यंजि होता है ब्रज क्षेत्र में वही 'कथक्कड़ी' का अर्थ निकलना चाहिए। सच यही होना चाहिए कि 'साधु' और 'कथा' के विशेषण जोड़ कर 'सधुक्कड़ी' और 'कथक्कड़ी' शब्द बनाए गए

हैं। पर मूल शब्द 'कड़ो' से होता हुआ 'खड़ी' ही है।

ज्ञान मण्डल लिमिटेड द्वारा प्रकाशित 'बृहत हिंन्दी कोश' में 'कथक्कड़' का अर्थ 'कथा बाँचने का पेशा करने वाला। रामायणादि के तरह तरह के अर्थ करने वाला' लिखा गया है। श्याम सुन्दर दास द्वारा सम्पादित 'हिन्दी शब्द सागर, द्वितीय भाग' में 'कथक्कड़' शब्द को कथा+कड़ प्रत्यय से बना हुआ माना गया है। इसका अर्थ 'बहुत कथा कहने वाला' लिखा गया है। राम चन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'मानक हिन्दी कोश, पहला खण्ड' में इस शब्द की यही व्युत्पत्ति देते हुए 'बहुत अधिक या लम्बी चौड़ी कथाएँ कहने या सुनाने वाला व्यक्ति' का अर्थ किया गया है। लेकिन इस कोश से कुछ और भी सूचना मिलती है। इसमें 'कड़खा' नाम का एक छन्द बताया गया है जिसमें सैंतीस मात्राएँ होती हैं। मात्रिक—छन्द होने से यह छन्द संस्कृत का नहीं रह जाता है। फिर यह देशी भाषाशों का छन्द सिद्ध होता है। इस 'कड़खा' का एक अर्थ 'बिजय गान' दिया गया है। इसका पूरा खुलासा यह लिख कर दिया गया है— 'सैनिकों को उत्साहित करने के लिए युद्ध क्षेत्र में गाया जाने वाला गीत जो प्राय: उक्त छन्द में होता था।' युद्ध क्षेत्र में कड़खा गाने वाले चारण या भाट को 'कड़खैत' कहा गया है। यदि हम यहाँ 'अक्खड़' शब्द में से 'कड़' प्रत्यय बाहर निकाल लें तो यह 'अकड़' से ले कर 'अकड़ने' तक की क्रिया भी बन जाता है।

12

'भाषा' से हम 'बोली' पर कैसे आ गए होंगे ? यह ठीक है कि संस्कृत की तुलना में गैर संस्कृत भाषा को भाषा कहा गया है जैसे— संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर, लेकिन भाषा भी प्राचीन समय से एक प्रतिष्ठित शब्द रहा है। संस्कृत ग्रन्थों की 'संस्कृत भाषा टीका सहित' व्याख्या लिखने की एक परम्परा चल निकली थी। ऐसी भाषा टीका भी आम जनता की भाषा नहीं थी। उसमें भी संस्कृत शब्दों की भरमार रहती थी। यह ब्राह्मणों और ब्राह्मणों से नीचे समाज के अन्य प्रतिष्ठित वर्गों की लिखित भाषा रही होगी। समाज का शूद्र और अछूत वर्ग इस भाषा की पहुंच तक नहीं जा सका होगा। वह केवल 'बोली' बोलता रहा होगा। संस्कृत से जुड़ी हुई 'भाषा टीका' से निम्न वर्ग का कोई सम्बन्ध नहीं रहा होगा।

एक समय की कल्पना की जा सकती है जब ब्राह्मण वर्ण भी संस्कृत को न समझ पाता होगा। ब्राह्मण इतने निठल्ले हो गए होंगे कि उन्होंने संस्कृत का ज्ञान रखना बन्द

कर दिया होगा। जब देश कमजोर हुआ था वह हर दृष्टि से कमजोर हुआ था। आलस्य और प्रमाद के कारण ब्राह्मण केवल निठल्ले बन कर खा रहे होंगे। मूल संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करने के बजाय वे भाषा टीकाओं पर आ गए होंगे। यह भी हो सकता है— उन्होंने शूद्र और अछूत समुदाय को छोड़ कर वैश्यों और क्षत्रियों से अपना प्रभाव शाली सम्पर्क बनाने के प्रयोजन से 'भाषा टीका' की परम्परा चलाई हो। कुछ भी हो, यह अनुमान एकदम गलत नहीं होना चाहिए कि समाज के निम्न वर्ग का संस्कृत से नीचे 'भाषा टीका' वाली भाषा से भी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। उधर कहीं कहीं 'ब्रज बुली' का प्रयोग भी मिलता है लेकिन शब्द 'ब्रज भाषा' का ही प्रचलन अधिक होता है। इसके विपरीत, 'खड़ी भाषा' कोई शब्द न हो कर ठीक शब्द 'खड़ी बोली' है।

मेरठ जिले में 'बोली' का पुल्लिग रूप 'बोल' है। यहाँ जितने सांगी हैं या ढोला गाने वाले हैं वे सब जानते हैं कि उनके 'दो बोल' का क्या अर्थ है। डाक्टर कृष्ण चन्द्र शर्मा ने अपनी पुस्तक 'गामेल्ल भास' में एक दोहे की दूसरी पंक्ति इस प्रकार दी है - "कसम भई कै लाख की जो न लिखे दो बोल।" आज कल पुस्तकों में जो 'दो शब्द' लिखने की परम्परा है, वह इसी दो बोल की परम्परा से जुड़ी हुई या निकली हुई हो सकती है। साधु लोग 'सबद' भी कहते रहे हैं, पर पता नहीं कि वे 'दो शब्द' का प्रयोग भी करते रहे हैं कि नहीं। मेरठ में फारसी के प्रभाव से बच्चों को 'दो हरफ' सिखाने का भी प्रचलित प्रयोग है। कुल मिला कर कुरु लोक में 'बोली' शब्द से कुछ विशेष प्यार है। यहाँ डाक्टर कृष्ण चन्द्र शर्मा द्वारा उनकी 'गामेल्ल भास' नामक पुस्तक में उद्धृत एक दोहा दिया जा सकता है। यह दोहा इस प्रकार है :

अपनी बोली छोड़ के, सीखी तुर्की बानी;
आब आब कर मर गए सिरहाने रखा पानी।

बोल का मेरठ जिले के लोक साहित्य में चार लाइन का एक 'चौबोला' छन्द भी बहुत प्रचलित रहा है। इसका उठाव अर्थात आरम्भ इससे पहले के दोहे के अन्तिम चौथे चरण से होता है। इस 'चौबोला' को आम भाषा में 'चमोला' उच्चरित किया जाता है। फिर इसके 'चमोले' और 'चमोलों' के रूप में बहु वचन भी बनते हैं।

आम जनता लिखती पढ़ती नहीं थी। वह केवल बोलती और सुनती थी। 'उसने कहा' का प्रयोग भाषा के लिखित रूप के कारण पड़ा है। आम जनता में 'वह बोला' चलता है। 'वह बोला' भी बोली का परिष्कृत और लिखित रूप ही है। उच्चारण में 'वों बोल्ला' जैसा सुना जाता है। खड़ी बोली इतनी स्वयं परिष्कृत होती चली गई है। भाषा में इतना सुधार स्वयं खड़ी बोली क्षेत्र के पढ़े लिखे लोग करते रहे हैं। यहाँ प्रसंग वश यह भी बता दिया जाए कि मेरठ की भाषा में 'द्वित्व' की भरमार से छन्द शास्त्र में कोई गड़बड़ पैदा नहीं होती है। जिसे व्याकरण के पण्डित 'बोल्ला'

लिखते हैं, उसका उच्चारण 'बोल्ला' नहीं है। यह संस्कृत के 'पूर्वा' के उच्चारण से बहुत भिन्न हैं। संस्कृत के 'पूर्वा' में साढ़े चार मात्राओं का पूरा उच्चारण होता है, लेकिन मेरठ के 'बोल्ला' में कुल चार मात्राओं का ही उच्चारण होता है। इससे संगीत की लय में कोई कठिनाई नहीं होती है। 'बल्ला' के 'ब्' में 'अ' मिला हुआ रहता है। मेरठ क्षेत्र के ग्रामीण उच्चारण की यह विशेषता है कि ऐसे शब्दों में 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ओ' का उच्चारण मात्रा की दृष्टि से ह्रस्व ही रहता है। 'सीटी' को 'सिट्टी' बोला जाता है। मेरा कहना यह है कि 'सीट्टी' लिखने में भी यह मेरठ में सिट्टी ही बोला जाएगा.। इसी प्रकार, 'बोल्ला' में 'वा' का 'ओ' उतना ही समय लेता है जितना 'अ, उ, या इ' लेते हैं।

मेरठ में 'बोली' गोली सी लगती है। 'बोली मारना' यहाँ का एक सशक्त मुहावरा है। 'बोली लगने' का मतलब तमाम जिन्दगी दूसरे की देहरी पर न चढ़ने से है। लोक जीवन के लोक साहित्य में 'बोली' बहुत गहरा शब्द है। इसके अतिरिक्त, भाषा के रूप में बोली के 'उनके गाँव की बोली', 'नदी पार की बोली' जैसे प्रयोग खूब चलते हैं। इस प्रकार पहले, 'बोली', उस पर भी उसके 'खड़ी' होने से समझा जा सकता है कि 'खड़ी बोली' से मेरठ में क्या ध्वनित होता है। 'मय राष्ट्र मानस' में प्रो० विक्रम सिंह ने 'मय राष्ट्र के निर्गुण गायक' शीर्षक के अन्तर्गत बताया है कि मेरठ से सरधना जाने वाली सड़क पर स्थित दबथुवा ग्राम के निवासी दीवान दत्त का होली के गायकों और रचना कारों में विशिष्ट स्थान रहा है। उनकी एक काव्य पंक्ति उद्धृत की जा सकती है -- 'क्या भावज ने बोली मारी, मरा फिरा उसका मारा।' इस पंक्ति से 'बोली' शब्द का ध्वनित अर्थ समझा जा सकता है। डाक्टर सत्या गुप्त के शोध प्रबन्ध 'खड़ी बोली का लोक साहित्य' में से एक उदाहरण और दिया जा सकता है। जब युवतियों को देख कर मनचले युवक फबतियाँ कसते हैं, उस पर एक लोक गीत इस प्रकार है—"घेरे में बैठ्ठा एक यार चलती को बोल्ली मार गया।"

यह भी हो सकता है कि मेरठ क्षेत्र में गौड़ी के मुकाबले में खड़ी बोली पनपी हो, परन्तु मेरठ क्षेत्र से बाहर खड़ी बोली गौड़ी के पर्याय के रूप में पनपी हो। संस्कृत परम्परा की गौड़ी भाषा के ब्राह्मणों ने साधारण जनता की अक्खड़ और सधुक्कड़ी भाषा को 'खड़ीं बोली' कहा हो, परन्तु पांचाली की मधुरता और वैदर्भी के प्रसाद गुण की तुलना में स्वयं संस्कृत वालों ने गौड़ी रीति के परुषा होने के कारण इसे 'खड़ी बोली' के समतुल्य कहा हो।

बाबू श्याम सुन्दर दास ने खड़ी बोली के नामकरण का प्रश्न अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में उठाया है। उन्होंने कहा है—"यह एक विचित्र बात है कि जहाँ अन्य भाषाएँ भिन्न भिन्न प्रदेशों में बोली जाने के कारण उस उस प्रदेश के नाम से अभिहित होती हैं, जैसे अवधी, ब्रज, बुन्देली वहाँ खड़ी बोली का नाम सबसे भिन्न दीख पड़ता

है। इसका नाम करण किसी प्रदेश के नाम पर जहाँ इसका मुख्यतया प्रचार है या उद्भव हुआ है, नहीं है।' उन्होंने साफ साफ लिखा है—"जो हो, इस नाम करण का कोई प्रमाणिक कारण अब तक नहीं ज्ञात हुआ है। क्या इसका नाम अन्तर्वेदी रखना अनुपयुक्त होगा ?" इस प्रश्न को अच्छी तरह उभार कर वे अन्त में पुनः हार कर यही लिखते हैं—"पर अब खड़ी बोली नाम चल पड़ा है और उसे बदलने की चेष्टा व्यर्थ है।" यहाँ मेरा कहना है कि यदि खड़ी बोली प्राचीन गौड़ी भाषा से सम्बन्धित ठहरती है तो खड़ी बोली का नाम भी राजनैतिक रूप में भले ही इसे कुरू प्रदेश कहा जाता है, भाषा के रूप में गौड़ देश की भाषा ठहरती है। तब इसका नाम करण विचित्र और रहस्य भरा नहीं रह जाता है। फिर इस बोली को आचार्य किशोरी दास वाजपेयी की 'कौरवी' और बाबू श्याम सुन्दर दास की 'अन्तर्वेदी' कहने की जरूरत नहीं रह जाती है।

13

अब तनिक खड़ी बोली क्षेत्र के लोगों के स्वभाव पर भी विचार कर लिया जाए। लेकिन इसमें मैं यह कहने जा रहा हूँ कि मेरी अगली बात से खड़ी बोली क्षेत्र के साथ मेरा कोई अहम नहीं जुड़ा हुआ है। यदि मेरी अगली बात विषय को समझने में कोई मदद करती है तो ठीक है, अन्यथा इसमें वृथा क्षेत्रीय घमंड के लिए कोई स्थान नहीं है।

डाक्टर सत्या गुप्त अपने शोध प्रबन्ध 'खड़ी बोली का लोक साहित्य' में खड़ी बोली प्रदेश के लोगों के स्वभाव के बारे में लिखती हैं—"खड़ी बोली प्रदेश के निवासियों में एक प्रकार की आत्म निर्भरता है, आर्थिक सुरक्षा है। इसलिए वे निडर हैं तथा आन मान की भावना बहुत अधिक है। वे झगड़ालू प्रकृति के हैं तथा सहन शक्ति भी कम है। मुकदमे बाजी का भी बहुत शौक है। इनके व्यवहार में एक प्रकार का अक्खड़ पन उभर आया है। किसी के सामने झुकने में इनको अपमान का अनुभव होता है। यह अक्खड़ पन वास्तव में इनके स्वाभिमान का द्योतक है। अच्छा खाने पीने के कारण इनमें बल होता है जिसके कारण वे साहसी रहते हैं। इतना सब होते हुए भी इनमें एक गुण बहुत बड़ा है कि ये आतिथ्य सत्कार हृदय खोल कर करते हैं। इन लोगों के जीवन में कोई ऐसी चीज ही नहीं जो अतिथि के लिए उपलब्ध न हो सके। जिन स्थानों पर मुसलमानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है, वहाँ पर उनके व्यवहार में एक अजीब प्रकार की लोच तथा कोमलता आ गई है, परन्तु उस कोमलता में भी उनकी स्पष्ट वादिता उग्र रूप से छलक पड़ती है।" डाक्टर सत्या गुप्त आगे

लिखती हैं—"खड़ी बोली प्रदेश में अपने सम्मान के लिए भी बहुत से धर्म कर्म किए जाते हैं। विवाह शादी में भी वे लोग खुले हाथ से खर्च करते हैं। परन्तु खर्च करने में सुचारुता नहीं होती अपितु समाज को एक प्रकार की चेतावनी सी होती है। इनके स्वभाव की परुषता इनके सामाजिक क्रिया कलापों तथा संस्कारों में दृष्टि गोचर होती है। स्वभावतः ये गम्भीर और चिन्तन शील हैं।" डाक्टर सत्या गुप्त इसी क्रम में आगे लिखती हैं—"यहाँ के वासियों में अड़ जाने की बहुत प्रवृत्ति पाई जाती है, ये बात पर अड़ते हैं, काम पर अड़ते हैं, तथा अपने विश्वासों पर अड़ते हैं। जीवन की साधारणतया सभी सुख सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण यह मसखरे और प्रत्युत्पन्न मति के देखे जाते हैं। इनकी बोली में तथा जीवन में हास्य और व्यंग्य तो मानो पुँजी भूत हो गया है।"

इसी पुस्तक में एक अन्य स्थान पर डा० सत्या गुप्त लिखती हैं—"यह स्वास्थ्य तथा खान पान का भी प्रभाव होता है कि इस प्रदेश के अधिकतर निवासी प्रसन्न वदन, साहसी, आस्थावान, आत्म विश्वासी प्रतीत होते हैं। ये मन के साफ, स्पष्ट वादी, सच्चे व सरल हृदय वाले होते हैं, इसी कारण ये अक्खड़ प्रकृति के होने के लिए कुविख्यात हैं, साथ ही यह व्यवहार कुशल भी हैं। ये स्वतन्त्र प्रकृति के होते हैं जिसका मुख्य कारण वातावरण व जलवायु है।"

जहाँ तक मुझे इस पुस्तक से डा० सत्या गुप्त के बारे में पता चलता है, इतना जरूर है कि उन्हें यह पता है कि "ब्राह्मणों में गौड़ ब्राह्मण कुरु जन पद से सम्बन्ध रखते हैं।" लेकिन यह विश्वास करने का कोई आधार नहीं है कि वे संस्कृत काव्य की गौड़ी रीति को खड़ी बोली के रूप में देखती हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि वे बिना जाने ही खड़ी बोली के नाम से गौड़ी रीति का वर्णन कर गई हैं।

डा० सत्या गुप्त ने लिखा है—"मेरठ के सम्बन्ध में श्रवण कुमार की कहानी है। इस नगर के सम्बन्ध में विश्वास है कि यहाँ के लोग अत्यन्त अक्खड़ तथा कृतघ्न होते हैं। यह प्रभाव यहाँ के वातावरण पर छाया हुआ है। इसका प्रभाव श्रवण कुमार जैसे आज्ञाकारी पुत्र पर भी पड़ा था और यहीं पर उसने अपने माता पिता से अपनी सेवाओं का मूल्य मांगा था।" वास्तव में ये कहानियाँ भी एक रंग में रँग कर कही गई हैं। श्रवण कुमार अपने माता पिता को तीर्थों की यात्रा कराते फिर रहे थे। अपने अंधे माँ बाप को वे एक बहंगी में लिए फिरते थे। यहाँ आ कर श्रवण कुमार ने ऐसी वैसी बातें करनी शुरू कर दीं। उसके माँ बाप ने पूछा—"बेटा, इस समय हम किस देश से गुजर रहे हैं?" श्रवण कुमार ने इसका नाम 'मय राष्ट्र' बताया। उसके माँ बाप ने कहा—"बेटा, इसमें तेरी गलती नहीं है, यह मय दानव का खेड़ा है, यहाँ के लोग ऐसी ही बुद्धि रखते हैं, तू जल्दी इस क्षेत्र से बाहर निकल चल।" कहते हैं, इस क्षेत्र से निकलते ही श्रवण कुमार की बुद्धि पुनः ठीक हो गई थी।

यह कहानी हमें क्या बताती है ? इससे पता चलता है कि खड़ी बोली क्षेत्र के लोग किसी की अन्ध भक्ति में नहीं रहते हैं। ये हर बात में तर्क करते हैं। ब्राह्मण धर्म शेष हिन्दुओं के लिए घोर अन्ध विश्वास का धर्म हो सकता है। जो धर्म के आदेश हैं, उनमें किसी को प्रश्न चिह्न लगाने का अधिकार नहीं मिलता है। लेकिन यह इस क्षेत्र के लोगों का स्वभाव है कि ये बिना कोई प्रश्न किए बाज नहीं आते हैं। ये धर्मान्धिता को एक कदम भी अपने पैरों नहीं चलने देते हैं। कोई न कोई प्रश्न पूछ कर उसकी टांग लड़खड़ा देते हैं। यहाँ पुरोहितों को पुराणों के कथा वाचन में अधिक मुश्किल होती है। यहाँ के लोग उनकी कथा को आगे नहीं बढ़ने देते हैं। यह भी मेरठ क्षेत्र में प्रचलित एक कथा है कि कोई ब्राह्मण कथा वाचन कर रहा था। कथा के बीच में उसने बताया कि नायक का रथ इतना ऊँचा था कि उसकी छतरी आकाश से लग रही थी। तभी वहाँ उपस्थित एक श्रोता ने पूछा—"अरै पंडत, यह तो बता कि जब रथ की छतरी ही आकाश से लग रही थी तो रथ का झण्डा कहाँ लग रहा था ?" यह पूछे जानें पर ब्राह्मण परेशान हो गया। ब्राह्मण ने वही पुराना दाव खेलते हुए कहा—"जिसने यह प्रश्न पूछा है वह शूद्र बुद्धि है। उसे कथा से बाहर निकाल दो।"

खड़ी बोली क्षेत्र के लोग ब्राह्मणों की विश्वास के आधार पर खातिर दारी नहीं करते हैं। जब कोई ब्राह्मण उन्हें ऐसी वैसी बात बना कर ठगना चाहता है तो वे साफ कह देते हैं—"अरै पंडत, तुझे रोटी खानी है, खा ले, पर तू हमें गलत सलत बात मत बतावे।" डा० सत्या गुप्त के अनुसार भी खड़ी बोली क्षेत्र की सामाजिक कहावतों में "ब्राह्मणों में मूर्खता, भिक्षा वृत्ति, मिष्ठान प्रियता तथा दक्षिणा लिप्सा आदि ही मुखरित हुई है।" एक कहावत देखी जा सकती है :

आए कनागत फूले काँस, बाम्मन उछले नौ नौ बाँस;
गए कनागत टूटी आस, बाम्हन रोवे चूल्हे पास।

जब कुरु क्षेत्र में अब्राह्मणों द्वारा ब्राह्मणों का ऐसा अपमान होता रहा है तो इस अनुमान में पर्याप्त बल है कि ब्राह्मणों ने अब्राह्मणों को 'अक्खड़' कहा हो। इस की पलट में फिर एक और कहावत आई होगी—"अनपढ़ जाट पढ़ा जैसा, पढ़ा जाट खुदा जैसा।" यहाँ तक कि इस प्रदेश में जो चमार की कहानी प्रचलित है वह उसके शेखी खौरेपन का उदाहरण है। इससे भी यह पता चलता है कि यहाँ का चमार समाज के सभी वर्गों से होड़ रखता है। शेखी में, वह जो नहीं है वैसा अपने आपको घोषित करता है। शायद अन्य क्षेत्रों के चमारों की यह मजाल न हो कि वे ब्राह्मणों की तरह की शेखी बघार पाएँ। कुरु क्षेत्र के चमार का मन नहीं मरता है। उसने ऐसा सन्तोष नहीं कर लिया है कि वह ब्राह्मण से छोटा है।

यहाँ 'नूना चमारी' की कथा प्रचलित है। यह 'लूना' और 'लोणा' चमारी भी कही जाती है। कुछ लोगों ने इसे सन्त रैदास की पत्नी बताया है। नूना चमारी के बारे

में बहुत दिनों से मेरठ की खड़ी बोली में गाई जा रही एक पंक्ति यहाँ रखी जा सकती है। यह पंक्ति इस प्रकार है—"यूँ कहे नूना चमारी, कभी हम भी बनेंगे लम्बरदार।" बात भी सही है। जिस कुरु क्षेत्र के ऋषियों ने उपनिषदों की रचना की थी उसकी सन्तान कभी जाति वादी ब्राह्मणों से दब कर नहीं रह सकती थी। डा० सत्या गुप्त ने अपने शोध प्रबन्ध में राहुल सांकृत्यायन को उद्धृत किया है—"उपनिषद काल के सबसे महान ऋषि प्रवाह जावालि, सत्यकाम, याज्ञवल्क्य कुरु पांचाल के रहने वाले थे। ब्रह्म ज्ञान के अखाड़े में कुश्ती मारने के लिए कुरु पांचाल के मल्ल विदेह तक पहुँचते थे, यह उपनिषद हमें बताते हैं, कुरु पांचाल उपनिषदों की भूमि थी।" राहुल सांकृत्यायन ने तो 'उपनिषदों के विकास मे खड़ी बोली का महत्त्व पूर्ण योग दान माना है।'

डा० शिति कंठ मिश्र ने अपनी पुस्तक 'खड़ी बोली का आन्दोलन' में डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के माध्यम से खड़ी बोली और बंगाली भाषा की तुलना की है। वह तुलना किसी अन्य सन्दर्भ में की गई है लेकिन देखा जा सकता है कि हमारे सन्दर्भ के लिए वह कितनी महत्त्वपूर्ण हो गई है। खड़ी बोली के बारे में वे लिखते हैं—"बंगला, जो कलकत्ते की स्थानीय बोली थी, की अपेक्षा इसमें ओज की मात्रा अधिक थी। इसके शब्द संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण से अधिक जोर दार मालूम पड़ते हैं। जबकि बंगला स्वर प्रधान होने से मीठी तथा उच्चारण में सरल है।" डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि "हिन्दी में जो गुण हैं उन में से एक यह है कि हिन्दी मर्दानी जबान है। मैं बंगाली हो कर अपने महा राष्ट्रीय मित्र की इस राय का पूरा समर्थन करता हूँ।" इस उद्धरण द्वारा बंगला और महा राष्ट्रीय दो भाषा भाषियों की साक्षी मिल जाती है कि खड़ी बोली उनकी भाषाओं की अपेक्षा अधिक ओज गुण सम्पन्न एक 'मरदानी' जबान है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी ब्रज भाषा को जनानी और 'खड़ी बोली' को मरदानी बोली कहा है। उनके अनुसार, उर्दू के कोश में भी 'खड़ी बोली' का अर्थ मरदानी बोली लिखा है। स्वयं पुराना परुषा शब्द भी पुरुष से साम्य रखे हुए होना चाहिए। इसलिए जब इसे गौड़ी के रूप में परुषा कहा गया है तो वहाँ भी यह मर्दानी जबान ही ठहरती है।

अध्याय—5

खड़ी बोली का साहित्यिक आधार

1

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने आधुनिक हिन्दी भाषा का विकास किसी प्राचीन साहित्यिक भाषा से नहीं माना है। उनके मन में एक ऐसी भाषा रही है जो बोल चाल में रही है लेकिन उसका साहित्यिक रूप उपलब्ध नहीं है। इसके अभाव में उन्होंने हिन्दी का व्याकरण लिखने के लिए संस्कृत को आधार मान लिया था। उन्होंने कहा है कि आधुनिक हिन्दी का किसी भी प्राकृत अर्थात पाली, प्राकृत और अपभ्रंश से मेल नहीं बैठता है। यदि यह बात सच है तो मैं कहना चाहता हूँ कि फिर हिन्दी का संस्कृत से और भी दूर का मेल हो जाना चाहिए था।

आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी के व्याकरण के आचार्यों में सबसे अच्छा काम किया है। उन्होंने यह दावा किया है कि उनके 'हिन्दी शब्दानुशासन' को हिन्दी का प्रथम व्याकरण माना जाएगा। लेकिन यह दावा करते समय उन्होंने लिखा है—"मैं उस उज्जवल मति महान अध्यवसायी विद्वान के चरणों को अपने सिर पर ले कर कृतकृत्य होऊँगा जो 'प्राकृत' के आधार पर हिन्दी का व्याकरण प्रस्तुत कर देगा।"

यह काम कठिन क्यों है ? स्वयं आचार्य वाजपेयी इसमें असफल क्यों रह गए हैं ? इसके कई कारण हो सकते हैं :

1. अभी हमारे देश में प्राकृत भाषाओं के विद्वान अधिक नहीं हैं। उन्नीसवी और बीसवी शताब्दियों के स्वतन्त्रता संघर्ष में हमारे देश में संस्कृत भाषा का पुनर्जागरण हुआ है। अभी पाली, प्राकृत और अपभ्रंश पर यथेष्ठ काम नहीं हो सका है। इस लिए ऊपर की तीनों भाषाओं में न हमारी पैठ है, न उनका प्रचार है, न उनके लिए कोई बौद्धिक रुझान रहा है।
2. यहाँ भौगोलिक क्षेत्र की बात बहुत महत्त्व पूर्ण हो जाती है। खड़ी बोली पाली, प्राकृत या अपभ्रंश से निकली हुई तभी कही जा सकती है जब ये भाषाएँ इस क्षेत्र में प्रचलित रही हों ? यदि ये भाषाएँ खड़ी बोली क्षेत्र में राज भाषा के रूप में प्रचलित न रही हों तो ऐसी संभावना का पता लगाना छोड़ देना चाहिए कि खड़ी बोली का इन भाषाओं से विकास हुआ होगा।
3. अभी खड़ी बोली क्षेत्र के प्राचीन कवियों के बारे में हिन्दी साहित्य के इतिहास कारों को विशेष रूप से कुछ ज्ञात नहीं है।

जो ये तीन बातें ऊपर रखी गई हैं — इनके लिए ऐसा न समझा जाए कि ये पूर्ण रूप से स्थापित हो गई हैं — या ये एकदम सच हैं। यह केवल खोज का विषय है जिस पर काम किया जाना चाहिए। इसकी पूरी पूरी सम्भावना है कि हमें खड़ी बोली क्षेत्र से ऐसे प्राचीन कवि मिल सकेंगे जिनसे इस कड़ी को जोड़ा जा सकता है। तब हमारी सारी साहित्यिक मान्यताएँ बदल जाएँगी। उदाहरण के रूप में आज तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को खड़ी बोली का पहला कवि माना जा रहा है। लेकिन यह बात अब गलत सिद्ध हो सकती है। मेरा पक्का विश्वास है कि नई खोजों के बाद अब हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह निश्चित किया जाएगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र गैर खड़ी बोली क्षेत्र के कवियों में खड़ी बोली के सबसे पहले कवि थे। नए प्रकाश में एक दिन यह भ्रम तोड़ा जाएगा कि वे समूची खड़ी बोली के सबसे पहले कवि थे।

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने स्वयं को असफल घोषित क्यों किया है? हो सकता है, उन्होंने जो रास्ता पकड़ा है वह गलत जगह ले जाने वाला हो। उन्हें नया रास्ता पकड़ने की सम्भावना बनाए रखनी चाहिए थी। एक अच्छी बात है कि हिन्दी व्याकरण के सम्बन्ध में उनका कोई पूर्वाग्रह और जिद नहीं थी — उन्होंने अपने विचार बनाए और बदले हैं — उन्होंने मान्यताएँ स्थापित कर के आवश्यकता पड़ने पर उन्हें स्वयं तोड़ दिया है। कुल मिला कर वे समस्याओं से एक अच्छे विद्वान की तरह जूझे और विकसित हुए हैं। लेकिन फिर भी उनका काम अधूरा रह गया है। सबकी अपनी अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमताएँ और सीमाएँ होती हैं। अपनी क्षमता में उन्होंने बहुत काम किया है और इसमें कोई कमी नहीं छोड़ी है।

हम अपनी मूल बात पर आएँ कि संसार की अन्य भाषाओं के समान खड़ी बोली का भी विकास हुआ होगा। ऐसा नहीं है कि यह एक दिन में बन कर तैयार हो गई होगी। आचार्य वाजपेयी ने खड़ी बोली के सम्बन्ध से भारत की आर्य भाषाओं के तीन रूप माने हैं — संस्कृत, प्राकृत और जन भाषा। मैं इसमें यह जोड़ना चाहता हूँ कि इस देश में संस्कृत, प्राकृत और जन भाषाएँ एक साथ प्रयोग में रह सकी होंगी। यहाँ ऐसा नहीं है कि जो चीज जन्म लेती है वह दूसरी चीज के आने पर मर जाती है। धर्मों के मामले में यहाँ जैन धर्म, बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म एक साथ रहे हैं। आज धर्मों की इस संख्या में इस्लाम और ईसाई धर्म भी जुड़ गए हैं। दर्शन के क्षेत्र में भी ऐसा ही रहा है। सांख्य शास्त्र के मानने वाले और वेदान्त के मानने वाले चिन्तक एक साथ रहते रहे हैं। भाषा के क्षेत्र में ब्राह्मण संस्कृत में धर्म ग्रन्थ रचते रहे होंगे, गैर ब्राह्मणी दृष्टि के विद्वान पाली, प्राकृत और अपभ्रंश में साहित्य रचते होंगे, और शेष नारियों, शूद्रों तथा अछूतों का समाज अपनी जन भाषाएँ बोलता रहा होगा।

इस सम्भावना से हमें यह कहने का सहारा मिलता है कि जन भाषाओं के मूल बीज संस्कृत और प्राकृत में न खोज कर स्वयं जन भाषाओं में ढूँढे जा सकते

हैं। यदि जन भाषाएँ उतनी ही या उनसे भी पुरानी भाषाएँ सिद्ध होती हैं जितनी संस्कृत और प्राकृत हैं तो यह हिन्दुस्तान की भाषाओं पर एक नया प्रकाश है। इससे यह भी पता चल सकता है कि हमें आधुनिक भारत में गैर संस्कृत परिवार की इतनी अधिक संख्या में भाषाएँ विरासत में कैसे मिली हैं। ब्राह्मणों की एक संस्कृत भाषा के भारत की चौदह आधुनिक भाषाओं में रूपान्तरण की सम्भावना नहीं के बराबर है। सच्ची बात यह होनी चाहिए कि हिन्दी से ले कर बंगाली, गुजराती, उड़िया, मराठी और पंजाबी आदि भाषाएँ पहले से ही अलग अलग जन भाषाएँ रही हैं।

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने संस्कृत के दो रूप निश्चित किए हैं— वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत। प्राकृत के तीन भाग किए गए हैं— पाली, प्राकृत, अपभ्रंश। उन्होंने जिस तीसरी जन भाषा की खोज की है जिससे आधुनिक आर्य भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ है —तथा जिसके एक खड़ी बोली रूप के प्रमाण के लिए प्राचीन साहित्य उपलब्ध नहीं है वह भी विकसित होती आई है और अपने ऐतिहासिक स्वरूप में तीन चार तरह की रही होगी। हो सकता है कि साहित्यिक भाषा की तुलना में जन भाषा में सबसे कम परिवर्तन हुआ हो लेकिन फिर भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ होगा। इसलिए यदि खड़ी बोली के आदि स्वरूप को खोजने की बात हम छोड़ दें तो भी जो हमें इसके निकट अतीत से मिल सकता है— वह कम महत्व पूर्ण नहीं है। उसे जानने के साधन खड़ी बोली क्षेत्र में हमारे पास हैं। ये चार साधन हैं :

1. रागिनियों, सांगों और होलियों के रचना कारों का लोक साहित्य।
2. साधु सन्तों के शब्द और भजन।
3. जन सामान्य में प्रचलित पहेलियाँ, लोकोक्तियाँ और मुहावरे।
4. तमाम उर्दू भाषा।

2

हिन्दी में खड़ी बोली के आदि कवि की खोज बहुत दिनों से जारी है। लेकिन ठीक तरह से देखने के लिए इस समस्या के दो पहलू सामने रखे जाने चाहिए। क्या मात्र संस्कृत से तत्सम शब्दों को ले कर लिखे जाने वाले काव्य को ही हिन्दी का काव्य कहा जाएगा? क्या अरबी फारसी मूल के शब्दों को ले कर लिखा गया काव्य हिन्दी काव्य नहीं है? प्रश्न है— क्या उर्दू और हिन्दी एक नहीं है? मेरे विचार से संस्कृत और फारसी में अन्तर है लेकिन हिन्दी और उर्दू में नहीं है। वास्तव में हिन्दी और उर्दू की कोई तुलना नहीं है। हिन्दी उर्दू दोनों एक हैं। हाँ, जब कोई धार्मिक शब्द देखना होता है तो यह ज्ञात किया जा सकता है कि वह शब्द मुस्लिम मजहब से

लिया गया है या वह हिन्दू धर्म के मूल का है। इस दृष्टि से हमारे गालिब और गालिब से पहले के मीर हिन्दी के कवि हो जाते हैं। फिर कवि ही नहीं, गालिब और मीर के रूप में हिन्दी को महा कवि मिलते हैं। हम अपने भारतेन्दु को उसी में जोड़ सकते हैं। लेकिन तब वे आधुनिक हिन्दी के प्रथम कवि नहीं रह जाएँगे। हाँ, फिर यह कहा जाएगा कि संस्कृत वाली परम्परा के वे गैर खड़ी बोली क्षेत्र के पहले कवि थे जिन्होंने खड़ी बोली को काव्य में अपनाया। इस प्रकार, यदि किसी को जिद ही है तो उन्हें पहले कवि होने का श्रेय भी मिल जाएगा।

हिन्दी सदा विकास मान भाषा रही है। इसमें शब्द जुड़ते गए हैं। इसमें अनेक जातियों, भाषा भाषियों और धर्मों के लोग मिलते गए हैं। यह भाषा अंग्रेजी के समान विकसित हुई है। यह बात सच है कि यह रानी बन कर नहीं बल्कि दासी बन कर विकसित हुई है और इसमें अनेक भाषाओं से शब्द लिए गए हैं। इसके अपने शब्द अधिक न भी हों परन्तु इसे अपने शब्दों पर नहीं बल्कि अपनी विभक्तियों पर गौरव है। इस दृष्टि से यदि हम इतने सहन शील या सभ्य बन जाएँ कि विभक्तियों, क्रियाओं और सर्व नामों के आधार पर वर्गी करण कर सकें तो गालिब हिन्दी के हो जाते हैं। लेकिन आज कुछ लोगों के दुष्प्रचार के कारण हिन्दी की उर्दू शैली के सारे कवियों को हिन्दी साहित्य से बाहर रखा जा रहा है। इससे हिन्दी का भारी नुकसान हो रहा है। जब बंगला साहित्य में पढ़ाए जाने वाले विद्या पति को हिन्दी काव्य में पढ़ाया जा सकता है, पता नहीं चलता कि किस सांस्कृतिक द्वेष के कारण गालिब को हिन्दी में पराया घोषित किया गया है ? एक तरह से गालिब को हिन्दी से बाहर रख कर हमने उन्नीसवीं शताब्दी की हिन्दी का जनाजा निकाल रखा है। गालिब ने हिन्दी की सारी विभक्तियों, क्रियाओं और सारे सर्वनामों का प्रयोग करके इसे महान ऊँचाइयों पर पहुँचाया है।

यह भी हिन्दी के साथ जबर्दस्ती है कि जिन कवियों की रचनाओं में हिन्दी की विभक्तियाँ, क्रियाएँ और सर्वनाम नहीं हैं उन्हें हिन्दी में पढ़ाया जाता है। एक तरह से सारा भाषा विज्ञान ही कलुषित कर दिया गया है।

हुआ यही था—जो हिन्दी क्षेत्र के कवि हिन्दी में कविता लिख रहे थे उनमें से अधिकांश ने उर्दू शैली को अपना लिया था। खड़ी बोली की हिन्दी कविता मेरठ और दिल्ली के लोग लिख सकते थे। उन्होंने यह लिखी भी है और उर्दू शैली में लिखी है और महानता पर जा.कर लिखी है। उर्दू शैली के नाते उन्होंने हिन्दी की विभक्तियों, क्रियाओं और सर्व नामों को निखार कर सर्वोत्तम बना दिया है। लेकिन जब हिन्दी साहित्य का वर्गी करण करने वाले लोग गैर खड़ी बोली क्षेत्र के हो गए, उन्होंने उर्दू शली को हिन्दी ही नहीं माना। यह खड़ी बोली के साथ बेहद अन्याय हुआ है—मानो इतिहास के साथ जान बूझ कर दुर्घटना की गई है। लेकिन खड़ी बोली क्षेत्र के हिन्दी

भाषी को इसका विशेष गर्व है कि उसने दुनिया को गालिब और जफर जैसे कवि दिए हैं।

साहित्यिक दृष्टि मे हिन्दी की विभक्तियों को उर्दू ने निश्चित आकार, प्रयोग और ठहराव दिए हैं। हिन्दी के पुराने साहित्यिक रूप को जानने के लिए उर्दू साहित्य के रसास्वादन की आवश्यकता है। यदि हिन्दी को उन लोगों के हाथ में छोड़ दिया जाता है जो संस्कृत के पक्ष धर हैं तो हिन्दी आगे नहीं बढ़ पाएगी। क्या किसी भी संस्कृतज्ञ को ज्ञात है कि हिन्दी का स्वभाव क्या है? यह कहना सच होगा कि यदि उर्दू भाषा जन्म न लेती, खड़ी बोली की आधुनिक हिन्दी भाषा का ऐसा निखार और विस्तार न हुआ होता। कहना चाहिए कि हिन्दी देव नागरी के साथ साथ एक अन्य लिपि में भी लिखी गई है। यह दूसरी लिपि फारसी की है। हमें यह बात खुशी से स्वीकार कर लेनी चाहिए।

पुराने समय में गैर खड़ी बोली क्षेत्र के साहित्य कारों ने खड़ी बोली में रचनाएँ लिखी होंगी, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। ऐसा नहीं माना जा सकता कि बहुत पुराने समय में कभी भी खड़ी बोली का सधुक्कड़ी भाषा, पंच मेल खिचड़ी, या उर्दू शैली की साहित्यिक भाषा से भिन्न अन्य प्रान्तों में प्रसार हुआ होगा। इसलिए प्राचीन ग्रन्थों में जिस समय कोई भी आधुनिक भारतीय भाषा देश की राज भाषा या साहित्यिक भाषा के रूप में नहीं आई थी, खड़ी बोली के ग्रन्थ ढूँढ लेने की बात असम्भव है। तब ग्रन्थों का निर्माण कुछ ही प्रतिष्ठित भाषाओं में होता था। हो न हो, मेरठ क्षेत्र के साहित्यिक विद्वानों ने भी यदि उस समय कोई ग्रन्थ लिखा होगा तो वह भी खड़ी बोली में नहीं लिखा होगा। वह उस समय के साहित्यिक आकाश में छाई हुई भाषा में लिखा होगा। जब खड़ी बोली को कोई साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी, इसमें गैर खड़ी बोली क्षेत्र के विद्वान अपने ग्रन्थों का निर्माण नहीं कर सकते थे। गंगा इतने उल्टे पहाड़ नहीं चढ़ सकती थी। उस समय की केवल यह सम्भावना है कि खड़ी बोली क्षेत्र के किसी मौलिक विद्वान ने तत्कालीन खड़ी बोली में कुछ लिख दिया हो।

ऐसा नहीं है कि खड़ी बोली क्षेत्र के लोगों में साहित्यिक रुझान नही रहे हैं। ये लोग पूर्ण रूप से रसिक रहे हैं। लेकिन भाषा के रूप में इनकी रसिकता को किसी ने पहचानने की कोशिश नहीं की है। यहाँ के शासक वर्ग की तथा मन चले लोगों की साहित्यिकता उर्दू शैली में मुखरित हुई है। दुर्भाग्य से इतिहास कारों ने खड़ी बोली की इस उर्दू शैली को हिन्दी से बाहर कर दिया है। ऐसी स्थिति में मेरठ और दिल्ली के क्षेत्र को कोई साहित्यिक दृष्टि से बंजड़ भूमि कहता है तो इसमें गलत भी क्या है? मेरठ क्षेत्र के लोक साहित्य की सम्पन्नता को कोई समझ नहीं पाया, मेरठ क्षेत्र के रसिकों की भाषा को उर्दू कह दिया गया, फिर इसे साहित्यिक दृष्टि से बंजड़ और मरुस्थल में से कुछ भी कहा जा सकता है। लेकिन ऐसे साहित्य

समीक्षकों को यह याद रखना चाहिए कि मेरठ और दिल्ली के कवि उर्दू में पढ़ाए जाते हैं।

मुझे यह भी पता चला है कि साहित्य के क्षेत्र में उर्दू को हिन्दी से अलग रखने में फारसी के विद्वानों का भी स्वार्थ रहा है। वे नहीं चाहते थे कि गालिब को हिन्दी में पढ़ाया जाए। इससे उनकी विश्व विद्यालयों में साहित्यिक गद्दी छिनती थी।

3

डा० नाम वर सिंह ने खड़ी बोली के इतिहास के सम्बन्ध में कहा है—"खड़ी बोली उठी तो बहुत पहले ही लेकिन एक तो जन्म के साथ इसे मातृ भूमि छोड़ कर दक्षिण में प्रवासी होना पड़ा, दूसरे यह शुरू शुरू में विदेशी भाषा भाषियों के हाथ पड़ गई, तीसरे विदेशी धर्म प्रचार का साधन बन गई और चौथे संयोग से सामान्य जन समुदाय से दूर नगर तथा राज दरबार में बँध गई, इसलिए आरम्भ में इसका उत्थान ब्रज भाषा की अपेक्षा मन्द पड़ गया।" यदि हम इन तथ्यों की दृष्टि से देखें तो इनमें से हर बात पूर्ण सत्य नहीं है। यह बात सच है कि बहुत पहले खड़ी बोली को दक्षिण भारत में जाना पड़ा था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि सारे दिल्ली वासी उठ कर दक्षिण में चले गए थे। अधिक लोग तो यहीं रहे थे। फिर पुनः दिल्ली के राज धानी बन जाने पर अनेक लोग वापिस दिल्ली लौट आए थे। प्रश्न यह है कि जिस प्रकार खड़ी बोली दक्षिण में विकसित हो कर साहित्यिक भाषा बन सकी थी, वह रूप इसे स्वयं अपने मूल प्रान्त में नहीं मिल सका था। इसका कारण यह नहीं था कि तब दिल्ली में खड़ी बोली को बोलने और समझने वाले लोग नहीं रह गए थे। जनता में खड़ी बोली ही बोली जाती रही थी। जहाँ तक इसके विदेशी भाषा भाषियों के हाथ में पड़ जाने की बात है, इससे यही साबित होता है कि उस समय यह एक सशक्त भाषा रही हैं। यदि ऐसा न होता तो विदेशी लोग यहाँ अपनी भाषा थोप सकते थे। यह इस देश के लिए अच्छा ही होता यदि अंग्रेज भी इस देश की भाषा को अपनाते और अंग्रेजी न थोपते। फिर इसमें भी अधिक कुछ सार नहीं है कि खड़ी बोली विदेशी धर्म प्रचार का साधन बन गई थी। इस्लाम धर्म के अनुयायी बंगाल में भी रहे हैं। वहाँ धर्म प्रचार का यह कार्य बंगला में किया गया था। इस्लाम लगभग भारत के सभी क्षेत्रों में प्रचारित हुआ है। इस धर्म प्रचार में सभी क्षेत्रीय भाषाएँ भागीदार रही हैं। यह भी सच है कि खड़ी बोली उर्दू के रूप में राज दरबार से जुड़ी है, पर इसमें भी यह एक ही बात है कि खड़ी बोली राज दरबार की भाषा बन गई थी। इसका

दूसरा पक्ष यह था कि इसने राज दरबार को फारसी के रूप में जनता से छत्तीस के नाते के रूप में एकदम विमुख होने से बचा लिया था। इससे राज दरबार और जनता का कुछ तो तरेसठ का नाता बन सका था।

अंग्रेजों की अपनी समस्या थी। उन्हें शासन करने के साथ साथ हिन्दुस्तान में ईसाई धर्म का प्रचार भी करना था। उन्हें यह बहुत पहले मालूम हो गया था कि भारत के कौन लोग ईसाई बन सकते हैं। उन्हें मालूम था कि मुसलमान लोग ईसाई नहीं बनेंगे। उत्तर भारत में हिन्दुओं के उच्च वर्णों में से भी कोई ईसाई नहीं बन सकता था। हिन्दू और मुसलमानों के ये दोनों वर्ग पहले ही अच्छी हालत में थे। इस लिए ईसाई बनने की सम्भावना हिन्दुओं के निम्न वर्ग में से ही थी।

जब दूसरे लोगों को अपने धर्म में लाने का उत्साह हो किसी भी धर्म के मिशनरियों के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वे उन जातियों की भाषाओं में अपने धर्म का प्रचार करें। इसके लिए मिशनरियों को अन्य जातियों की भाषाएँ सीखनी पड़ती हैं। गिल क्राइस्ट ने इस बात को अच्छी तरह समझा होगा। शायद तभी उन्होंने उस भाषा को अलग पहचानने की कोशिश की जो उत्तर भारत की निम्न हिन्दू जातियों की अपनी भाषा थी। इस्लाम के माध्यम से इस भाषा का प्रसार उत्तर भारत में पहले ही हो गया था। ईसाइयों से पहले इस्लाम के धर्म प्रचारकों को अपने धर्म के प्रचार के लिए इस भाषा की आवश्यकता पड़ी थी। इस्लाम से पहले या इस्लाम के साथ साथ हिन्दू धर्म को बचाने के लिए इस भाषा की आवश्यकता सन्तों, सिद्धों और नाथों को भी पड़ी थी।

गिल क्राइस्ट ने लल्लू लाल से कहा था कि ऐसी भाषा में साहित्य सृजन करो जिसमें अरबी, फारसी तथा संस्कृत के शब्दों की अधिकता न हो। उन्हें मालूम था कि अरबी फारसी के शब्दों की अधिकता के कारण वह भाषा मुसलमानों की हो जाती है। गिल क्राइस्ट को यह भी मालूम था कि संस्कृत के शब्दों की अधिकता के कारण वह भाषा ब्राह्मणों की हो जाती है। ये दोनों ही वर्ग ईसाई धर्म को स्वीकार करने वाले नहीं थे। इसलिए ऐसी भाषा में बाइबिल के अनुवाद करने से धर्म प्रचार की दृष्टि से कोई लाभ नहीं होने वाला था जिसे हिन्दू समाज़ का निम्न वर्ग न समझ पाता था। इसलिए गिल क्राइस्ट ने ऐसी भाषा को पकड़ा जिसे उत्तर भारत के अधिक से अधिक लोग जानते थे। बाद में ईसाइयों ने गिल क्राइस्ट की खोज की साधारण हिन्दी में बाइबिल के अनुवाद किए थे। अभी तक मुझे यह पता नहीं चल पाया है कि बाइबिल के अनुवाद ब्रज भाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली या राजस्थान की डिंगल भाषा में हुए थे कि नहीं। मुझे लगता है, तत्कालीन खड़ी बोली में किया गया बाइबिल का अनुवाद-ही इन क्षेत्रों में भी धर्म प्रचार के लिए काम देता था। इससे स्पष्ट होता है कि खड़ी बोली वाली हिन्दी सन 1800 के गिल क्राइस्ट के समय में

ईसाइयों के धर्म प्रचार के लिए एक बड़े माध्यम के रूप में पहले से ही विद्यमान थी। लेकिन इसमें बुरा क्या है ? यही भाषा भारतीयों के पास अंग्रेजों से लड़ने के लिए हथियार के रूप में पहले से ही थी। अंग्रेजों से पहले भारतीयों ने इस हथियार का अपने पक्ष में इस्तेमाल क्यों नहीं किया ? जिन शूद्रों, अछूतों और वन वासियों को अंग्रेज ईसाई बनाने में लगे थे, उनसे पहले हिन्दू उन्हें ब्राह्मण बना सकते थे। जाति वादी हिन्दुओं ने इस रूप में केवल यही शोर मचाया है कि उनकी मुर्गी को कोई और क्यों खाता है। ये सच में मुर्गी का भला नहीं चाहते थे। उल्टे ये उन्हें गाँवों और शहरों में पिछले हजारों वर्षों से निश्चिन्त हो कर और दास बना कर रोज ही मार काट रहे थे।

4

खड़ी बोली वाली हिन्दी पर कई आक्रमण एक साथ हो रहे हैं। डा० नाम वर सिंह ने जो यह लिखा है कि "उच्चारण और ध्वनि विकार सम्बन्धी छोटे मोटे स्थानीय भेदों के बावजूद अवधी, ब्रज भाषा और खड़ी बोली एक ही हिन्दी के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं—" हिन्दी पर एक आक्रमण ही है। यह केवल डा० नाम वर सिंह की बात नहीं है, बल्कि हिन्दी के अधिकांश लेखक और विद्वान इसी बात को सच मानते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसी चिन्तन का बोलबाला है। तभी तुलसी और सूर हिन्दी में इतने दिनों से जबरन पढ़ाए जा रहे हैं।

सच यह है कि सूर और तुलसी खड़ी बोली के कवि नहीं हैं। खड़ी बोली वाली हिन्दी का साहित्यिक स्वरूप सूर और तुलसी से भिन्न है। इसका प्रमाण यही रखना पड़ेगा कि जो भाषा खड़ी बोली वाले क्षेत्र के लोगों को समझ में नहीं आती है वह खड़ी बोली नहीं है। दुर्भाग्य से, हिन्दी के बारे में चर्चा चलने से पहले ही कुछ विद्वानों ने हिन्दी की किस्मत तय कर दी थी। बिना सोचे समझे भक्ति काल को हिन्दी का स्वर्ण युग तक कह दिया गया है। अब कोई उस मूल प्रश्न को भी नहीं उठा पा रहा है कि भक्ति काल में खड़ी बोली का कौन सा काव्य रचा गया है जो उसे उसका स्वर्ण युग घोषित करवाता है। स्वर्ण युग तय करने से पहले यह निश्चित किया जाना चाहिए था कि खड़ी बोली वाले हिन्दी साहित्य के प्राचीन गौरव ग्रन्थ कौन कौन से हैं। नहीं तो, जिस प्रकार अवधी, ब्रज भाषा और मैथिली खड़ी बोली में पढ़ाई जा रही हैं, उसी प्रकार पंजाबी, बंगला और मराठी भी हिन्दी में पढ़ाई जा सकती हैं।

अवधी और ब्रज भाषा क्षेत्र के लोग खड़ी बोली को समझ लेते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि खड़ी बोली क्षेत्र के लोग भी अवधी और ब्रज भाषा को समझ

लेते होंगे। शायद गैर खड़ी बोली क्षेत्र के हिन्दी भाषियों के मन में यह भ्रम पला हुआ है कि जैसे खड़ी बोली सारे उत्तर भारत में सरलता से समझ ली जाती है वैसे ही अवधी और ब्रज भाषा भी उत्तर भारत के सारे लोगों द्वारा समझ ली जाती हैं। उन्हें समझना चाहिए कि यदि खड़ी बोली को गैर खड़ी बोली क्षेत्र के सभी हिन्दी भाषी समझ लेते हैं तो इसका एक ऐतिहासिक कारण है। यह ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि अवधी और ब्रज भाषा को नहीं मिली हुई है।

इस बात से परेशानी नहीं है कि अवधी और ब्रज भाषा आगे बढ़ रही हैं। सभी भाषाओं को आगे बढ़ने का अवसर मिलना चाहिए। दुख इस बात का है कि बिना किसी ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि के ये भाषाएँ हिन्दी के नाम से खड़ी बोली के प्राचीन इतिहास को निगल रही हैं। जब खड़ी बोली क्षेत्र के विद्यार्थी को अपने विश्व विद्यालय की हिन्दी की कक्षा में मीर का अध्ययन नहीं करने दिया जाता है तो बिहारी को जबरन अपने पाठ्य क्रम में देख कर उस पर जोर पड़ता है। सच पूछा जाए तो अवधी और ब्रज भाषा को अपने तुलसी और सूर समेत हिन्दी साहित्य के इतिहास में बने रहने का कोई नैतिक आधार प्राप्त नहीं है।

हमें आचार्य क्षेम चन्द्र सुमन बताते हैं कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र खड़ी बोली के पद्य लेखन की ओर सन 1881 में ही उन्मुख हुए थे। भारतेन्दु बाबू ने अपनी खड़ी बोली की रचना 'भारत मित्र' को प्रकाशनार्थ भेजते हुए 1 सितम्बर सन 1881 को जो पत्र उसके सम्पादक को लिखा था उससे इस मान्यता की प्रमाणिकता सिद्ध हो जाती है। आचार्य क्षेम चन्द्र सुमन ने मृदुल शर्मा द्वारा सम्पादित 'ज्योति कलश' नाम की पुस्तक में इस पत्र के कुछ अंश उद्धृत किए हैं। इस पत्र में भारतेन्दु बाबू लिखते हैं—"प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी हैं, देखिएगा कि इसमें क्या असर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। इस विषय में सर्व साधारण की अनुमति ज्ञात होने पर आगे से वैसा परिश्रम किया जाएगा। तीन भिन्न भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने ही के लिए कि किस छन्द में इस भाषा का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रज भाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है। मैंने कहीं कहीं सौन्दर्य के हेतु दीर्घ मात्राओं को भी लघु करके पढ़ने की चाल रखी है। लोग विशेष इच्छा करेंगे तो मैं और भी लिखने का प्रयास करूँगा।"

इस उद्धरण से कई बातें एक साथ समझ में आती हैं। पहली बात यह है कि भारतेन्दु बाबू इस भाषा में कविता लिखनी सीख रहे थे। यह प्रचलित साधु भाषा कही गई है लेकिन उनकी काव्य भाषा ब्रज भाषा थी। उनके लिए ब्रज भाषा में कविता लिखनी सहज थी। उन्होंने खड़ी बोली में भी कविता लिखी थी। भारतेन्दु के रूप में

ब्रज भाषा में कविता लिखने वाला व्यक्ति ही खड़ी बोली में भी कविता रचनी आरम्भ कर देता है। एक व्यक्ति के दो भाषाएँ जानने के कारण यह बात पकड़ कर बैठना ठीक नहीं है कि उसकी पहली भाषा में से दूसरी भाषा निकली है। ऐसे विद्वान यह समझना नहीं चाहते कि यह एक व्यक्ति की क्षमता है कि वह दो भाषाओं में कविता रच सकता है। इसमें यह कहने के बजाय कि ब्रज भाषा में से खड़ी बोली निकली है, उस व्यक्ति कवि की प्रशंसा की जानी चाहिए जो इन दोनों भाषाओं में काव्य रचना करता है। इस उद्धरण में साहित्यिक दृष्टि से यह बात भी सिद्ध होती है कि सन 1881 में भारतेन्दु बाबू खड़ी बोली में कविता लिखनी सीख रहे थे जो केवल भारतेन्दु की निजी और व्यक्तिगत बात है। उनसे पहले मेरठ क्षेत्र के घीसा दास, गंगा दास और शंकर दास जैसे सन्त कवि खड़ी बोली में अपनी कविताएँ लिख चुके थे।

आचार्य प्रभु दत्त स्वामी ने 'मय राष्ट्र मानस' में 'मेरठ की साहित्यिक प्रगति (हिन्दी)' शीर्षक से एक लेख लिखा है। इसमें आचार्य स्वामी ने माना है कि उत्तर अपभ्रंश काल में अपभ्रंश संस्कृत की ओर उन्मुख होती गई थी। इसके साथ ही वे हमें यह भी सूचना देते हैं कि प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के, जिसमें कथा के अन्त में किसी धार्मिक प्रवृत्ति का निदर्शन कर दिया जाता है, मेरठ में दो चरित काव्य उपलब्ध हुए हैं — एक 'भविष्य दत्त चरित' और दूसरा 'चन्द्र प्रभा चरित'। पहली रचना 1609 ई० की है। इसे मवाना माखनपुर निवासी श्री बनवारी लाल ने लिखा था। दूसरी रचना बड़ौत निवासी श्री हीरा लाल की है। यह 1725 ई० में लिखी गई है।

मैंने इन दोनों पुस्तकों में से एक भी नहीं देखी है। कहा नहीं जा सकता कि इनकी भाषा कौन सी है। लेकिन यदि ये दोनों पुस्तकें मेरठ के बड़ौत और माखनपुर की भाषा का कुछ भी असर ले कर लिखी गई होंगी तो वह खड़ी बोली के लिए एक बड़ी बात सिद्ध हो सकती है।

डा० एम० अमीर उल्ला खाँ शाहीन का 'मय राष्ट्र मानस' में एक लेख 'मेरठ की साहित्यिक प्रगति (उर्दू)' छपा है। इसके आरम्भ में वे लिखते हैं—"उर्दू साहित्य में अब तक की खोज के अनुसार उत्तर भारत में अमीर खुसरो पहले कवि हैं जिनके कलाम में ब्रज भाषा और खड़ी बोली के मिले जुले और पृथक पृथक दोनों नमूने मिलते हैं। खुसरो के पश्चात जिस कवि का नाम आता है वह मेरठ के निवासी मौहम्मद अफजल झनझानवी हैं। अफजल के बारामासा में हमें वही भाषा मिलती है जो उस समय मेरठ और उसके आस पास बोली जाती थी।" इस प्रकार, डा० शाहीन के अनुसार, मुहम्मद अफजल के कारण उर्दू साहित्य में मेरठ को एक ऐतिहासिक प्राथमिकता प्राप्त है। वे औरंगजेब के काल में रहे थे। इस प्रकार जो मेरठ उर्दू साहित्य का जन्म दाता रहा है उसे केवल हिन्दी का नाम ले कर साहित्यिक दृष्टि से बंजड़ भूमि कहना उचित नहीं है। आखिर मीर और गालिब मेरठ में रुकते और ठहरते

थे। हाँ, यदि हिन्दी का हिन्दुस्तान उर्दू जबां से बिलकुल महरूम रहना चाहता है तो उस दृष्टि का क्या किया जाए।

5

सधुक्कड़ी भाषा के बारे में डा० शिति कंठ मिश्र ने अपनी पुस्तक 'खड़ी बोली का आन्दोलन' में कहा है—"उत्तर भारत में नाथ पंथी साहित्य बहुत पुराना है। इन्हीं नाथ पंथी जोगियों ने खड़ी बोली हिन्दी को राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल तक फैलाया। ये संत प्रांतीयता की दीवारों में नहीं सीमित थे और इनकी सधुक्कड़ी भाषा में कुछ न कुछ सभी प्रांतों के प्रयोग मिलते हैं फिर भी इस भाषा का ढाँचा खड़ी बोली का है।" स्वयं आचार्य राम चन्द्र शुक्ल को उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' से उद्धृत किया गया है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"नाथ पंथ के जोगियों ने परम्परागत साहित्य की भाषा या काव्य भाषा से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज भाषा का था अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।" इस खड़ी बोली की व्यापकता के बारे में देवी प्रसाद मुंसिफ को उनकी पुस्तक 'राजपूताना में हिन्दी पुस्तक की खोज' के माध्यम से उद्धृत किया गया है—"खड़ी बोली विशेष करके मुसलमान, रमता राम जोगी और साधु संत राजपूताना में लाए हैं जो प्रायः सब ही जगह समझी जा सकती है। यही हिन्दी है और बहुत वर्षों पहले यहाँ आई है। गोरख पंथी योगियों और कबीर पंथी तथा दादू पंथी साधुओं की पुरानी उर्दू की यही हिन्दी बोली है। ब्रज भाषा इसके बहुत पीछे वल्लभ सम्प्रदाय के प्रसंग से यहाँ पहुँची है।"

डा० शिति कंठ मिश्र पुनः लिखते हैं—"धर्म का आश्रय पकड़ कर ब्रज भाषा काव्य की भाषा बनी और राजाश्रय प्राप्त कर उर्दू समृद्ध शालिनी हुई पर 'खड़ी बोली' केवल लोकाश्रय में रह कर बोल चाल व दैनिक व्यवहार की भाषा बनी रह गई।" उन्होंने बताया कि "साधारणतया चूरन चटनी वालों के लटके, डोम डाकिनी आदि शूद्र पात्रों के संवाद और ग्राम साहित्य में ही इसका प्रयोग अधिक होता था।"

डा० शिति कंठ मिश्र अपनी पुस्तक 'खड़ी बोली का आन्दोलन' में हमें बताते हैं कि किस प्रकार और क्यों उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में बिहार में गद्य और पद्य की भाषा की एकता के लिए खड़ी बोली स्वीकार की गई। सच बात यही थी कि बच्चों के मस्तिष्क पर तीन तीन भाषाओं का अनावश्यक बोझ लद गया था। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने समय में हिन्दी के नाम से तीन भाषाओं के प्रचलन की बात बताई

थी पहली घर में बोलने की भाषा, दूसरी कविता की भाषा, और तीसरी लिखने की भाषा। यहाँ तीसरी लिखने की भाषा का तात्पर्य गद्य की भाषा से है। घर में मातृ भाषा बोली जाती थी जैसे भोजपुरी, कविता की भाषा अवधी और ब्रज थी तथा सरकारी काम काज की भाषा खड़ी बोली थी। इन तीनों भाषाओं का अंतर डा० शिति कंठ मिश्र ने इस प्रकार दिया है—"राजनैतिक परिस्थितियों, आन्दोलनों और पत्र पत्रिकाओं के कारण हिन्दी का क्षेत्र भी पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया था। पहले हिन्दी के मुख्य केन्द्र दिल्ली, मथुरा आदि नगर थे। परन्तु अंग्रेजी शासन में कलकत्ता से ले कर काशी, प्रयाग तक हिन्दी का प्रचार हो चुका था। इस विस्तृत प्रदेश के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रीय विभाषाएँ और बोलियाँ प्रचलित थीं जिनका एक दूसरी से बहुत कम साम्य है, उदाहरणार्थ मागधी अपभ्रंश से विकसित भोज पुरी का स्वभाव शौरसेनी से विकसित ब्रज बोली से बहुत कम मिलता है। युक्त प्रान्त के निवासी तो ब्रज भाषा काव्य को समझ भी लेते थे पर भोज पुरी प्रदेश के रहने वाले विहार निवासियों को ब्रज भाषा बहुत कठिन मालूम पड़ती थी। इन प्रदेशों को एक सूत्र में बाँधने के लिए एक प्रतिमित भाषा की नितान्त आवश्यकता थी। इन स्थानों में बोल चाल, काम काज और पत्र व्यवहार आदि के लिए खड़ी बोली बहुत दिनों से प्रचलित थी। अतः उसमें ही पद्य रचना की मांग बढ़ी। सन 1897 में स्वयं नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रथम भाग की प्रस्तावना में लिखा गया बताया गया है— "हिन्दी भाषा में एक और कठिनाई आ पड़ी जिसने बहुत कुछ रुकावट इसकी उन्नति में की, अर्थात इस देश की प्रचलित भाषा और कविता में ऐसा भेद है कि जिसके लिए दो सृष्टि करने की आवश्यकता हुई। कविता ब्रज और बैसवाड़ी आदि भाषाओं में होती है और बोल चाल की भाषा अथवा गद्य की भाषा खड़ी बोली है।"

डा० शिति कंठ मिश्र अपनी इसी पुस्तक में सर जार्ज केम्पबेल के उनके वेलीरा के कलक्टर की हैसियत से सन 1824 में तत्कालीन गवर्नर थामस मुनरो को दी गई रिपोर्ट के शब्द उद्धृत करते हैं—"शिक्षा और साहित्य की भाषा यहाँ की बोल चाल की भाषा से भिन्न है। यह शिक्षा प्रचार के लिए एक अभिशाप है।"

यह बात समझ में आती है कि एक बड़े राष्ट्र में किन्हीं लोगों के लिए उनकी मातृ भाषा और राज भाषा में अंतर हो सकता है। राज भाषा की कुछ मजबूरी होती है कि विभिन्न भाषा भाषियों के बीच अन्तः सूत्र के लिए किसी एक भाषा को प्रधानता देनी पड़ती है। लेकिन यह बात समझ से परे की है कि उन लोगों की गद्य की भाषा और पद्य की भाषा में अन्तर रहे। इसका मतलब यह है कि साहित्य की भाषा समाज की बोल चाल की भाषा से अलग रहेगी। यह साहित्यिक भाषा न हो गई बल्कि एक धार्मिक भाषा हो गई जैसे वेद की भाषा और कुरान की भाषा। डा० शिति कंठ मिश्र ने उन्नीसवी शताब्दी का साक्ष्य देते हुए लिखा है—"लंदन से

प्रकाशित खड़ी बोली पद्य की भूमिका में हिन्दी के अनन्य हितैषी पिन्काट साहब ने लिखा था कि दूर देश में बैठे हुए लंदन के निवासी संभवतः गद्य और पद्य की भिन्न भिन्न भाषाओं के कारण हिन्दी साहित्य की दुर्दशा और उसके पाठकों की असुविधा का अनुभव न कर सकें लेकिन हमारे अंग्रेजी साहित्य में यदि गद्य को ज्यों का त्यों रहने दिया जाए परन्तु पद्य को डोरसेट की बोली में कर दिया जाए तो जो कल्पनातीत कठिनाई और असुविधा उपस्थित होगी वैसी ही स्थिति हिन्दी की भी हो रही है।" आगे डा० शिति कंठ मिश्र लिखते हैं "जब इंग्लैंड में बैठा हुआ एक हिन्दी प्रेमी इस विषम स्थिति का इतनी तीव्रता से अनुभव कर सकता था तो फिर यहाँ के देश प्रेमी और हिन्दी हितैषी इस स्थिति को कैसे चुपचाप चलने देते। किसी भी साहित्य में गद्य और पद्य की दो बिलकुल भिन्न भिन्न भाषाओं का विधान नहीं देखा जाता।"

गद्य और बोल चाल की भाषा के बारे में हम कुछ न भी कहें परन्तु काव्य भाषा में वाक्य रचना का समासों और सन्धियों के कारण छन्दों से सीधा टकराव हो जाता है। भारतीय भाषाओं की संरचनाओं और छन्द शास्त्र की दृष्टि से एस० एम० कत्रे ने अपनी पुस्तक 'प्राकृत भाषाएँ और भारतीय संस्कृति में उनका अवदान' जिसका डा० रमा शंकर जैतली ने हिन्दी में अनुवाद किया है, लिखा है "सामान्य लौकिक संस्कृत छन्दों की माप अक्षरों की संख्या से होती है, लेकिन वे छन्द जिनमें मात्राओं का योग नियत रहता है, अपने मात्रा छन्दों के अभिधान के कारण अक्षर छन्दों से भिन्न ठहरते हैं। इसमें कुछ नियंत्रणों के अधीन अक्षरों की संख्या के परिवर्तन की छूट रहती है और यह लोक प्रिय कविता की देन प्रतीत होती है। यदि प्राकृत छन्दों योजना के ग्रन्थों का अध्ययन किया जाए, यह स्पष्ट हो जाएगा कि ये मात्रा छन्द या ताल वृत वस्तुतः प्राकृत कविता के प्रतिमान हैं। इसमें स्वभावतः यह सूचित हो जाता है कि 'लोक प्रिय कविता' जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है, भारतीय छन्द शास्त्र में मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषा की देन ही रही होगी।"

हमारे छंद ही हमारी काव्य भाषाओं को दो अलग अलग खेमों में बाँट देते हैं। छंद भारतीय काव्य भाषाओं की उस नब्ज को पकड़ने के समान है जिससे पता चलता है कि कोई भाषा संस्कृत है या गैर संस्कृत। संस्कृत में वार्णिक छंद प्रयुक्त हुए हैं। गैर संस्कृत भाषाओं में अधिकांश मात्रिक छंदों का प्रयोग हुआ है। लेकिन यदि यह कसौटी है तो ब्रज भाषा को किस कोटि में रखेंगे क्योंकि इसमें मात्रिक और वार्णिक दोनों छन्दों का प्रयोग हुआ है। इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह जान लेना जरूरी होगा कि ब्रज भाषा ऐसी भाषा रही है जिसमें विभिन्न क्षेत्रों के हजारों कवियों ने कई सौ वर्षों तक काव्य रचना की है। लेकिन फिर भी ब्रज भाषा का कोई मानकीकरण नहीं हो पाया है। वार्णिक छंदों के निभाव के कारण ब्रज भाषा के व्याकरण की बहुत दुर्गति हुई है। हर कवि अपने मतलब की ब्रज भाषा अलग ही खड़ी करता

है। यही कारण है कि ब्रज भाषा के शब्दों की कोई सर्व सम्मत वर्तनी तय नहीं की गई। और तो और, सम्बन्ध सूचक शब्दों और अव्ययों तक का बुरा हाल है। जिसने चाहा, दो मात्राओं का 'जो' कह दिया, और जिसने चाहा, एक मात्रा का 'जु' कह दिया। वार्णिक छन्द की गिनती में दोनों की संख्या एक है। वाक्य रचना को काव्य के नाम पर पहले ही त्याग दिया गया था। यह इस पर संस्कृत का ही आतंक रहा होगा। ब्रज भाषा अपनी मूल प्रकृति में गैर संस्कृत भाषा कही जाएगी क्योंकि इसमें लय और ताल के आधार पर छन्दों में निवद्ध लौकिक काव्य का सृजन हुआ है जो पूर्ण रूप से गेय है।

जब खड़ी बोली को काव्य की भाषा के योग्य घोषित नहीं किया जा रहा था उसका एक वड़ा कारण पिछली शताब्दी में यह बताया जा रहा था कि इसमें सवैये और कवित्त नहीं लिखे जा सकते। ये दोनों छन्द वार्णिक छन्द हैं। कुछ कवियों ने जिनमें मैथिलीं शरण गुप्त भी सम्मिलित हैं, खड़ी बोली में वार्णिक छन्दों का प्रयोग करके काव्य सृजन किया था। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध ने 'प्रिय प्रवास' के रूप में एक पूरे महा काव्य की रचना वार्णिक छन्द में की थी। अनूप शर्मा ने भी वार्णिक छन्द में कई काव्य ग्रंथ रचे थे। लेकिन यह सिद्ध हो चुका है कि वे सब बुरी तरह से फेल हुए थे। इसका कारण यह नहीं था कि वे कवि नहीं थे वल्कि इसका कारण यह था कि उन्होंने खड़ी बोली के स्वभाव के विपरीत छन्द को खड़ी बोली में अपनाया था। खड़ी बोली ने संस्कृत के सभी छन्द वापस कर दिए हैं। यह इसलिए कि न तो खड़ी बोली ब्रज भाषा के समान एक शब्द की दो दो तीन तीन वर्तनी रख सकती थी, न ही यह संस्कृत के समान कवियों को इस मामले में छूट देती है कि व्याकरण को विलकुल ही गड़वड़ा दिया जाए। वास्तव में, खड़ी बोली के रूप में हिन्दी एक नियम वाधित भाषा है। इसमें न तो नियमों की संस्कृत के समान अधिकता है और न ही यह ब्रज भाषा के समान नियम रहित भाषा है।

सच बात यह है कि ब्रज भाषा हिन्दी समाज के लिए संस्कृत का काम कर रही थी। यह साधारण मनुष्यों से भिन्न विद्वत समाज की भाषा थी। इसे लोग अपने घरों में नहीं बोलते थे। यह संस्कृत से उपजे वर्गभेद को भाषाई रूप में बरकरार रखने की अच्छी गारन्टी थी। डाक्टर शिति कंठ मिश्र ने अपनी 'खड़ी बोली का आन्दोलन' नामक पुस्तक में श्रीधर पाठक का सन 1887 का पत्र दिया है। श्रीधर पाठक लिखते हैं—"ब्रज भाषा और विशेषकर पद्य की ब्रज भाषा ऐसी भाषा है कि वह वोलने में कम प्रचलित है यहाँ तक कि अपने मुख्य देश वालों की समझ में भी कभी कभी नहीं आती और गद्य मे नितान्त बहिर्गत है।" अयोध्या प्रसाद खत्री ने ब्रज भाषा को संस्कृत के समान एक साम्प्रदायिक भाषा भी सिद्ध किया था। डाक्टर शिति कंठ मिश्र ने अपनी इसी पुस्तक में अयोध्या प्रसाद खत्री को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के विरोध में उद्धृत किया है। डाक्टर शिति कंठ मिश्र लिखते हैं—"अगर वाले प्रायः सभी ब्रज

भाषा के समर्थक थे। कारण यह है कि अधिकांश अगर वाले वल्लभ सम्प्रदाय (गोपाल मन्दिर) के अनुयायी थे। और ब्रज भाषा उनकी धार्मिक एवं साम्प्रदायिक भाषा थी। इस धार्मिकता और साम्प्रदायिकता के कारण भी अगर वालों का ब्रज भाषा के प्रति विशेष पक्षपात था और उस पक्षपात के कारण ये खड़ी बोली की उपयोगिता और उसके महत्व को नहीं समझते थे।"

खड़ी बोली का यह आन्दोलन इतना जबर्दस्त था कि आज ब्रज और अवधी में साहित्य निर्माण बन्द हो गया है। सच में ऐसा नहीं होना चाहिए था। ब्रज और अवधी में लगातार साहित्य सृजन होता रहना चाहिए था। खड़ी बोली का उद्देश्य यह नहीं है कि ब्रज भाषा समाप्त हो जाए। जैसे खड़ी बोली बंगाली और मराठी को समाप्त नहीं कर रही है इसका ऐसा ही दृष्टि कोण अवधी, ब्रज और मैथिली के प्रति है। लेकिन यदि आज कोई यह सोचे कि भोज पुरी क्षेत्र का कोई कवि ब्रज भाषा में कविता रचेगा, ऐसी आशा रखना गलत है। अब वैसा नहीं होने जा रहा है। अब भोज पुरी का कवि भोज पुरी और खड़ी बोली में कविता रचेगा, खड़ी बोली के स्थान पर ब्रज भापा में नहीं। हाँ, ब्रज क्षेत्र के कवियों को ब्रज भाषा में कविता लिखनी चाहिए। वे इसमें सक्षम लोग हैं।

खड़ी बोली ने अपनी यह यात्रा पूरी कर ली है कि अब यह गैर खड़ी बोली क्षेत्र में पद्य की भाषा भी है। लेकिन यह खड़ी बोली के आन्दोलन का आधा ही काम हुआ है। अगला आधा काम तब पूरा होगा जब हिन्दी के पाठ्य क्रमों में से सूर और तुलसी को हटाया जाएगा। तर्क वही है—गद्य और पद्य की भाषा में अन्तर नहीं रहना चाहिए। यदि नए साहित्य निर्माण के स्तर पर यह अन्तर समाप्त कर दिया गया है तो यह पुराने पाठ्य क्रम के स्तर पर कायम क्यों रखा जा रहा है? हिन्दी के नए कवियों की समस्या सुलझ गई है लेकिन हिन्दी के विद्यार्थियों की समस्या अभी तक ज्यों की त्यों बनी हुई है। उन्हें अभी तक भी अवधी और ब्रज भाषा का साहित्य पढ़ना पड़ रहा है।

जब किसी भाषा के गद्य और पद्य की भाषा एक ही रहनी चाहिए तो इसका अनिवार्य रूप से यह भी अर्थ निकलता है कि उस गद्य और पद्य का इतिहास भी एक सा खोजा जाना चाहिए। भाषा की दृष्टि से गद्य का इतिहास अलग और पद्य का इतिहास अलग नहीं होना चाहिए। किसी भाषा के इतिहास पर ऐसा आरोपण बुरी बात है। प्राचीन पाठ्य क्रम का उद्देश्य यही होना चाहिए कि हमारा भाषा पर आधुनिक ज्ञान बढ़े। पद्य साहित्य भाषा के स्तर पर अपने प्राचीन पद्य साहित्य से निकला हुआ होना चाहिए। अवधी और ब्रज के पढ़ने से कोई व्यक्ति यह अनुमान नहीं लगा सकता कि खड़ी बोली वाली हिन्दी की विभक्तियाँ और क्रियाएँ किस प्रकार विकसित हुई होंगी। यह तो स्वयं खड़ी बोली के प्राचीन इतिहास की खोज करने पर

ही जाना जा सकता है। इसमें ब्रज और अवधी के अरण्य विहार से कोई लाभ नहीं है।

जिस बात के लिए खड़ी बोली का आन्दोलन शुरू हुआ था अभी तक उस उद्देश्य की पूरी प्राप्ति नहीं हो सकी है। आज खड़ी बोली में हरिऔध, गुप्त, पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, दिनकर, अज्ञेय, मुक्तिबोध सरीखे अनेक कवि होने पर भी पाठ्य क्रमों में ये कवि नहीं पढ़ाए जाते हैं। बात वहीं की वहीं रह गई है। अयोध्या प्रसाद खत्री, श्रीधर पाठक, श्याम सुन्दर दास और महावीर प्रसाद द्विवेदी सरीखे विद्वानों की मेहनत आधे अंश में निष्फल हो रही है। उनका पूरा उद्देश्य हिन्दी साहित्य से ब्रज भाषा के काव्य को बाहर करने का था।

अयोध्या प्रसाद खत्री और श्रीधर पाठक के तर्क दूसरे थे, परन्तु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक नए ढंग से ब्रज भाषा पर प्रहार किया था। उनके अनुसार—"दस वर्ष की अज्ञात यौवना से ले कर पचास वर्ष की प्रौढ़ा तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बतला कर उनके हाव, भाव, विलासादि की सारी दिनचर्या वर्णन करके ही कविजन सन्तोष नहीं करते थे। दुराचार में सुकरता होने के लिए दूती कैसी होनी चाहिए, मालिन, नाइन, धोबिन इत्यादि में से इस काम के लिए कौन सबसे प्रवीण होती है इन सब बातों का भी वे निर्णय करते थे।" डाक्टर शिति कंठ मिश्र बताते हैं कि अपने इस लेख के अन्त में द्विवेदी जी ने लिखा था कि "इस प्रकार की पुस्तकों का बनना शीघ्र बंद हो जाना चाहिए और यही नहीं किंतु आज तक ऐसी ऐसी जितनी इस विषय की दूषित पुस्तकें बनी हैं उनका वितरण होना भी बन्द हो जाना चाहिए। इनके न होने से ही नव वयस्क मुग्ध मति युवा जनों का कल्याण है।" उन्होंने अपने समय के कवियों से कहा था—"बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है।" उनके इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए आज के संदर्भ में कहा जा सकता है कि कविता खड़ी बोली में रचना परन्तु विद्यार्थियों को ब्रज भाषा का साहित्य पढ़ाना प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है। आज जिस भाषा में काव्य सर्जन हो रहा है, भाषा के इतिहास में उसी भाषा का साहित्य पढ़ाया जाना चाहिए, भले ही वह इतिहास एक सौ वर्षों का छोटा सा ही और हलका क्यों न हो।

समाधान में ऐसा किया जाना बुरा नहीं रहेगा कि विद्यार्थी एम० ए० हिन्दी के साथ साथ एम० ए० ब्रज, एम० ए० अवधी, एम० ए० मैथिली और एम० ए० राजस्थानी करें। लेकिन इसके बजाय यह विकल्प अधिक उपयुक्त लगता है कि एम० ए० हिन्दी में विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं के कवियों को एक बटा आठ या कुछ और अधिक हिस्से में पढ़ाया जाए। इसमें कुछ भी बुरा नहीं है कि ब्रज क्षेत्र का विद्यार्थी एम० ए० हिन्दी करते समय अपने सोलह पेपरों में दो तीन पेपर ब्रज कवियों के ले ले। ऐसे ही अवधी क्षेत्र का विद्यार्थी अपने अवधी कवियों के ले सकता है।

लेकिन यह तो निश्चित रूप से बुरा है कि राजस्थान, मैथिल और भोज पुर क्षेत्र के सभी विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से अवधी के तुलसी और ब्रज के सूर पढ़ाए जाएँ। यह तो और भी बुरा हो जाता है जब हम हिन्दी के बहाने अवधी और ब्रज को केरल और तमिल नाडु में ले जाने का प्रयास करते हैं।

अन्त में कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी का विकास बहुत ही सभ्य तरीके से होता रहा है। जब कभी इस पर आपत्ति आई है तो ठीक समय पर लोगों ने आ कर उसका सही निराकरण किया है। जब इसे किसी मोड़ से गुजरना पड़ा है, अच्छे लोगों ने इसे सदा रास्ता दिया है। पिछली शताब्दी में अयोध्या प्रसाद खत्री और श्रीधर पाठक जैसे विद्वान इसे समयानुकूल सेवा के लिए मिले हैं। इस शताब्दी में भी राहुल सांकृत्यायन, आचार्य किशोरी दास वाजपेयी, डाक्टर शिति कंठ मिश्र और डाक्टर राम विलास शर्मा जैसे विद्वान रहे हैं। मैं समझता हूँ, नए भावी खतरों के लिए भी इसकी सेवा के लिए अच्छे लोग मिलते रहेंगे।

अध्याय—6

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल : हिंदी में विक्षेप

1

हम तनिक आचार्य राम चन्द्र शुक्ल द्वारा लिखे गए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पर विचार करें। इस पुस्तक का पहला वाक्य है —"प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का अविर्भाव माना जा सकता है।" यहाँ मेरा कहना है कि आचार्य शुक्ल का यह पहला वाक्य ही गलत हो गया है । जिस पुस्तक की शुरूआत गलत हो, इसके बहुत कम अवसर होते हैं कि वह पुस्तक अन्त तक ठीक ठीक चले । आचार्य शुक्ल ने साहित्य का इतिहास लिखने की वही स्थूल परम्परा निकाली है जो इस देश में समाज का इतिहास और राजनैतिक इतिहास लिखने की रही है। जबकि इस देश का सामाजिक इतिहास तथा राजनैतिक इतिहास भी नए सिरे से तथा नए ढंग से लिखा जाना चाहिए तो इस बात की बहुत जरूरत हो गई है कि साहित्य का इतिहास नई और सही सोच को ले कर लिखा जाए।

आचार्य शुक्ल ने माना है कि इस देश में किसी एक समय में कोई एक भाषा साहित्यिक भाषा रहती है। उन्हें यह स्वीकार करने में जोर पड़ेगा कि कम से कम उत्तर भारत में एक समय में एक से अधिक साहित्यिक भाषाएँ रही हैं । वे अपना सिर धुन लेंगे यदि उन्हें यह संभावना बताई जाए कि एक समय में ये साहित्यिक भाषाएँ आठ दस भी हो सकती हैं। उन्होंने राजनैतिक इतिहास के अनुरूप साहित्य का इतिहास लिखने का सीधा रास्ता पकड़ लिया है कि जैसे एक सम्राट के बाद दूसरा सम्राट आता है वैसे ही एक भाषा के बाद दूसरी भाषा आती है। यह उनकी वही बात है कि जाति वादी ब्राह्मण वर्ण ने किस समय किस भाषा को साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार किया है। उस ब्राह्मण वर्ण ने यह कभी नहीं चाहा था कि हिन्दुस्तान का साहित्य जन सामान्य की सम्पत्ति बने । एक समय में संस्कृत को देव वाणी कह कर इस वर्ण ने साहित्य को जन सामान्य से अलग कर दिया था । अब यदि पाली, प्राकृत या अपभ्रंश में से कोई भाषा आगे आई तो इन भाषाओं को न दबा पाने की स्थिति में इस वर्ण ने इन भाषाओं से ही संस्कृत का काम लेना आरम्भ कर दिया था। सामाजिक दृष्टि से दोनों बातों का एक ही अर्थ निकलता है —साहित्य को जन सामान्य से दूर रखने के लिए या तो संस्कृत को साहित्यिक भाषा बनाए रखो या जो संस्कृतेतर भाषा साहित्यिक भाषा बन गई है उसे संस्कृत निष्ठ और कठिन बना दो। अपनी चलती में जाति वादी ब्राह्मणों ने संस्कृत को ही साहित्यिक भाषा बनाए रखना चाहा था लेकिन दूसरे विकल्प में उन्होंने अन्य भाषाओं को ही संस्कृत बना लेना चाहा है।

इस प्रकार का साहित्य का इतिहास लिखने पर एक आरोप लगाया जा सकता है कि इस देश का साहित्य कभी भी बोल चाल की भाषा का साहित्य नहीं रहा है। जिद यह है कि आचार्य शुक्ल इस बात को सही मानते हैं परन्तु वे इसे आरोप नहीं मानते। वे एक प्रकार की भाषाई तानाशाही चलाते हैं, मानो कहते हैं—हम जन सामान्य से जुड़े हुए साहित्य को साहित्य नहीं मानेंगे अर्थात हम उसी साहित्य का इतिहास लिखेंगे जो सामान्य जनता से जुड़ा हुआ न हो। सीधी सी बात है--यह पाली, प्राकृत और अपभ्रंश काल का भी कठोर सत्य रहा है कि उस समय भी इस देश में शूद्रों को शिक्षा नहीं दी गई थी। बिना पढ़े कोई ब्रज भाषा नहीं सीख सकता था। भोज पुरी क्षेत्र में ब्रज भाषा को साहित्यिक भाषा बनाया गया था। इसलिए शिक्षा के अभाव में भोज पुर क्षेत्र के हर अनपढ़ शूद्र के लिए ब्रज भाषा संस्कृत सिद्ध हो गई थी। जब किसी व्यक्ति को न ही संस्कृत पढ़ने दी जाती है, न ही ब्रज भाषा पढ़ने दी जाती है, तो सामाजिक दृष्टि से उसके लिए संस्कृत और ब्रज में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। परिणाम यही निकलता है कि अछूतों के लिए साहित्यिक ब्रज भाषा भी निषिद्ध भाषा रही है। फिर ब्रज भाषा इस रूप में विकसित की गई थी कि ब्रज क्षेत्र का अछूत भी उस साहित्यिक भाषा को समझ नहीं सकता था।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में आचार्य शुक्ल का यह मन्तव्य बिल्कुल नहीं रहा था कि जिस भाषा में वे अपनी पुस्तक लिख रहे थे उस भाषा के साहित्य का इतिहास लिखा जाए। इसके लिए उन्होंने वही रास्ता पकड़ा कि कौन सी भाषा किस समय में साहित्य के रूप में जन सामान्य के लिए संस्कृत बनी हुई थी। ऐसी गलत दृष्टि को ले कर हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने से आज साहित्य के क्षेत्र में एक भाषाई उपद्रव सा खड़ा हो गया है। जब सूर ने ब्रज भाषा में अपने पद लिखे थे तब खड़ी बोली क्षेत्र के तत्कालीन शूद्र को यह भाषा नही सिखाई गई थी। फलतः आज खड़ी बोली क्षेत्र के शूद्र के बच्चे के लिए ब्रज भाषा की कोई परम्परा या इसका कोई क्रमिक तारतम्य नहीं है। नए संविधान के अनुसरण में सभी के लिए शिक्षा के द्वार खुल जाने से उसे अब सूर की पुरानी ब्रज भाषा पढ़नी पड़ती है। यहाँ यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि वह ब्रज और अवधी को उसी प्रकार पढ़ता है जैसे कक्षा में मास्टर से पिट पिट कर देव नागरी लिपी में बंगाली और मराठी पढ़ सकता है।

कुल मिला कर, साहित्य को जन सामान्य से दूर रखने के लिए हमारे पुराने सत्तासीन समाज ने दो काम एक साथ किए थे—पहले, लोक भाषाओं को साहित्यिक भाषाओं का दर्जा नहीं दिया गया; दूसरे जिस एक भाषा को साहित्यिक भाषा का सम्मान दिया गया उसे जन सामान्य के लिए पढ़ाने का कोई प्रबंध नहीं किया गया। इससे हर साहित्यिक भाषा जन सामान्य के लिए अपने आप संस्कृत बन जाती थी। यह पुराने सत्तासीन समाज का सामाजिक उद्देश्य भी था। अपभ्रंश भाषा के साहित्य के बारे में आचार्य शुक्ल स्वयं लिखते हैं—"इस अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी का अभिप्राय

यह है कि यह उस समय की ठीक बोल चाल की भाषा नहीं है जिस समय की इसकी रचनाएँ मिलती हैं। यह उस समय के कवियों की भाषा है। कवियों ने काव्य परम्परा के अनुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो लिए ही हैं जैसे पीछे की हिन्दी में तत्सम संस्कृत शब्द लिए जाने लगे, विभक्तियाँ, कारक चिह्न और क्रियाओं के रूप आदि भी वहुत कुछ अपने समय से कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। बोल चाल की भाषा घिस घिसा कर बिल्कुल जिस रूप में आ गई थी सारा वही रूप न ले कर कवि और चारण आदि भाषा का बहुत कुछ वह रूप व्यवहार में लाते थे जो उनमे कई सौ वर्ष पहले से कवि परम्परा रखती आती थी।"

आचार्य शुक्ल के इस कथन की कुछ अधिक व्याख्या की जाए कि "प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है।" विद्वानों का यह भी कहना है कि उत्तर अपभ्रंश संस्कृत निष्ठ हो गई थी। अब पूछे जाने वाली बात है—क्या जो भाषा अधिक संस्कृत निष्ठ हो गई थी उसमें से हिन्दी का आविर्भाव हुआ है? आचार्य शुक्ल ने स्वयं माना है कि जिस अपभ्रंश में कविता लिखी जा रही थी वह उस जन सामान्य की बोल चाल की भाषा नहीं थी। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अपभ्रंश ने खुद अपने गर्भ में से हिन्दी को जन्म दिया है। वास्तव में अपभ्रंश के जनता से पूरी तरह कट जाने पर अपभ्रंश मरी हुई भाषा हो गई थी। साहित्यिक भाषा के इस पद के खाली होने पर हिन्दी भाषा आगे आ गई। इसका मतलब यह नहीं हुआ कि अपभ्रंश ने किसी समझ दारी से यह पद हिन्दी को दिया था।

इस तथ्य से पता चलता है कि जैसे हमारे समाज में धर्म की भाषा देव वाणी संस्कृत हो गई थी, वैसे ही कवि की भाषा भी जन सामान्य की पहुँच से दूर रखी गई थी। जन सामान्य की भाषाएँ कोई रही हों, कवि भाषा को उनसे कुछ लेना देना नहीं था। जन सामान्य के उद्बोधन के लिए कोई कवि एक शब्द भी नहीं लिखता था। उन्हें अपनी बात जनता में फैलानी नहीं होती थी। या तो उन्हें राजाओं और जाति वादी ब्राह्मणों की प्रशंसा में काव्य रचने थे, या उन्हें अपने पक्षधर अवतार की भक्ति में पद गाने थे। जन सामान्य की चिन्ता करने के लिए कबीर और रैदास की सधुक्कड़ी और पंच मेल वाली खिचड़ी और निर्गुनिया भाषा को बदनाम करने के लिए छोड़ दिया गया था। इसी लिए कहा जा रहा है कि आज के लोक तन्त्र में यदि उन पुरानी निरी कवि भाषाओं को पढ़ाना बन्द कर दिया जाए जो अपने समय में भी लोक भाषाएँ नहीं रही हैं तो इससे हमारे विद्यार्थियों के सिर का बोझ हलका ही होगा।

हम यह जानने का प्रयत्न करें कि वह कौन सा तर्क है जिसके आधार पर आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "जिस प्रकार हिन्दी साहित्य 'बीसल देव रासो'

पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।" वे इसका तर्क रखते हुए अपनी इसी पुस्तक में लिखते हैं—"केवल भाषा शास्त्र की दृष्टि से कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्यिक सामग्री का विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली (वोकेब्युलरी) पर अवलंबित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिन्दी का एक ही साहित्य माना जाता।" वे इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं—"खड़ी बोली, बांगडू, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसावरी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलने वाले एक दूसरे की बोली समझते हैं। बनारस, गाजीपुर, गोरखपुर, बलिया आदि जिलों में 'आयल'—'आइल', 'गयल'—'गइल', 'हमरा'—'तोहरा' आदि बोले जाने पर भी वहाँ की भाषा हिन्दी के सिवाय दूसरी नहीं कही जाती। कारण है शब्दावली की एकता।" देखा जा सकता है कि यहाँ तक आचार्य शुक्ल की बात पूरी हो जाती है। इसमें आगे पूछने को कुछ शेष नहीं रह जाता है। आगे हम उनके इस वाक्यांश का विश्लेषण करेंगे। लेकिन विश्लेषण करते हुए उनके पक्ष के साथ पूरा न्याय किया जाना चाहिए। इसके लिए उनका एक और उद्धरण देना आवश्यक हो जाता है। खुसरो पर विचार करते समय आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'काव्य भाषा' का ढाँचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी ब्रज भाषा का ही बहुत काल से चला आता था।"

इस दूसरे उद्धरण के पूरे वाक्य से हमारा अपने विषय की दृष्टि से कुछ संबंध नहीं है लेकिन यहाँ से हम उनके केवल एक शब्द 'काव्य भाषा' को ले सकते हैं। यह ध्यान रहे कि यहाँ 'काव्य भाषा' को इन्वर्टेड कोमों में स्वयं आचार्य शुक्ल ने रखा है।

हिन्दी साहित्य के बारे में आचार्य शुक्ल की मूल स्थापनाएँ इस प्रकार हैं :

1. एक 'काव्य भाषा' होती है।
2. एक 'साहित्य सामग्री' होती है।
3. भाषा शास्त्र का साहित्य से कोई संबंध नहीं होता है।
4. कोई भाषा कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार किया जाना चाहिए।
5. भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली पर अवलंबित है। हिन्दी क्षेत्र की शब्दावली एक है।
6. खड़ी बोली क्षेत्र से ले कर अवध क्षेत्र तक के लोग आपस में एक दूसरे की बोली को समझ लेते हैं।
7. हिन्दी और उर्दू का एक ही साहित्य नहीं है।

आचार्य शुक्ल के पक्ष को इस रूप में रखने से पता चलता है कि सबसे पहले उनके पास एक साहित्य सामग्री है । हम मान कर चल सकते हैं कि आचार्य शुक्ल एक बहु भाषा भाषी विद्वान थे । वे कई भाषाओं को समझ लेते थे । उन्होंने एक भौगोलिक क्षेत्र बाँटा और उस क्षेत्र की बोलियों में जितना साहित्य मिला उस सबको अपनी साहित्य सामग्री कहा । उनका इस भौगोलिक क्षेत्र के साहित्य से ही सरोकार है, इस क्षेत्र के भाषा शास्त्र से उन्हें कुछ विशेष लेना देना नहीं है । लेकिन इस भौगोलिक क्षेत्र में भी उन्होंने अपने मन्तव्य की एक विभाजक रेखा खींची है। उन्हें डर था कि उर्दू भी इसी क्षेत्र में समानान्तर रूप से मौजूद है। इसलिए उर्दू को अपनी साहित्य सामग्री, से बाहर रखने के लिए उन्होंने शब्दावली का सहारा लिया है ।

इस विश्लेषण में उनके कुल शब्द इतने रह जाते हैं—काव्य भाषा, साहित्य सामग्री शब्दावली की एक रूपता और भाषा का समझना । इसमें 'काव्य भाषा' कोई अलग भाषा होती है ।

मेरे मत में, काव्य भाषा भी किसी भाषा के अधीन रहनी चाहिए । यहाँ ध्यान रहे कि यह केवल गद्य और पद्य की भाषा के अन्तर की बात नहीं है बल्कि आचार्य शुक्ल जिस 'काव्य भाषा' की बात करते हैं वह पश्चिमी परिभाषा के गद्य और पद्य दोनों से भिन्न है । उदाहरण के लिए खड़ी बोली का अपना गद्य साहित्य और अपना पद्य साहित्य है । विद्यार्थियों को पढ़ाई जाने वाली 'काव्य भाषा' सूर की ब्रज भाषा है। यह सूर की ब्रज भाषा 'काव्य भाषा' के रूप में खड़ी बोली क्षेत्र के विद्यार्थी के लिए उसके गद्य और पद्य दोनों प्रकार के साहित्य से भिन्न है । यह एक ही खड़ी बोली के दो कवियों—पन्त और निराला—की काव्य भाषाओं का अन्तर नहीं है ।

'साहित्य सामग्री' के बारे में मुझे यह कहना है कि आचार्य शुक्ल को उनके हाथ लगी साहित्य सामग्री में से छाँट करनी चाहिए थी । वे जिस भाषा में अपनी पुस्तक लिख रहे थे, उन्हें उस भाषा को इस विपुल 'साहित्य सामग्री' में से छाँट के लिए आधार बनाना चाहिए था । लेकिन साहित्य सामग्री की छाँट के लिए उनके पास भाषा और भाषा शास्त्र का कोई आधार नहीं था। उन्होंने केवल शब्दावली को आधार माना था। वास्तव में हर लोक भाषा में नई संस्कृतियों के प्रभाव से नई शब्दावली बनती या जुड़ती रहती है । कुछ पहली शब्दावली पीछे छूटती रहती है । यदि ऐसा नहीं है तो वह जड़ भाषा है। इसलिए शब्दावली किसी भाषा का एक बदलता आधार है, और इस रूप में यह एक कमजोर आधार है। कुछ संस्कृतज्ञों द्वारा लिखे गए टिपिकल मलयाली साहित्य में यदि सत्तर प्रतिशत शब्द संस्कृत के आ जाते हैं तो इस कारण वह साहित्य संस्कृत में या हिन्दी में नहीं पढ़ाया जाने लगेगा। फिर यदि शब्दावली की एकता की बात ही मुख्य होती है तो आचार्य शुक्ल को यह भी बताना चाहिए था कि उन्होंने बंगाली, नेपाली, गुजराती, मराठी और पंजाबी को

हिन्दी के अन्तर्गत क्यों नहीं माना। यह तो गनीमत रही कि आचार्य शुक्ल ने धर्म की एकता की बात नहीं उठाई, अन्यथा वे कन्नड़ और तेलगु को भी हिन्दी में पढ़वाने की वकालत कर सकते थे।

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास कार के जीवन का सबसे बड़ा झूठ यह लिख कर बोला है कि खड़ी बोली के क्षेत्र से ले कर अवधी और मैथिली प्रदेश तक के लोग एक दूसरे की बोली को समझ लेते हैं। कोई बहु भाषा विद ही होगा जो इस बड़े क्षेत्र की बोलियों को समझ सकता है। समाज का भाषाई सच यह है कि ये लोग एक दूसरे की बोली को नहीं समझ पाते हैं। एक दूसरे की बात ये खड़ी बोली के माध्यम से समझते हैं।

इस बारे में मुनि श्री नगराज का कथन आचार्य राम चन्द्र शुक्ल की दृष्टि के लिए एक अँधेरा बन कर उभरता है। मुनि श्री अपने 'आगम और त्रिपिटक, एक अनुशीलन: खण्ड 2 : भाषा और साहित्य' में लिखते हैं "राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा बिहार—ये सभी हिन्दी भाषी प्रान्त हैं। साहित्यिक स्तर और शिष्ट प्रयोग की दृष्टि से इन प्रदेशों के निवासियों की एक ही भाषा हिन्दी है जिसका पुराना नाम खड़ी बोली था। पर इसके साथ साथ इस अन्तर प्रान्तीय या शिष्ट भाषा की अनेक बोलियाँ हैं जो बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान के भिन्न भिन्न भागों में बोली जाती हैं। एक मध्य प्रदेशी, उत्तर प्रदेशी या राजस्थानी किसी बिहारी के साथ बात चीत करने में उस हिन्दी या खड़ी बोली का उपयोग करेगा जो दोनों प्रदेशों में शिक्षित जनों में समान रूप से व्यवहृत है। यही बात एक बिहारी के लिए भी है। वह भी यदि मध्य प्रदेश, राजस्थान या उत्तर प्रदेश में वहाँ के किसी व्यक्ति से बात चीत करेगा तो उसका माध्यम हिन्दी होगा न कि मध्य प्रदेश, राजस्थान या उत्तर प्रदेश की कोई एक क्षेत्रीय बोली। यद्यपि इन सभी प्रदेशों की क्षेत्रीय उप भाषाएँ या बोलियाँ हिन्दी की ही बोलियाँ कही जाती हैं पर वे बोलियाँ एक क्षेत्र विशेष तक सीमित होती हैं, अतः अन्तर प्रान्तीय दृष्टि या एक ही भाषा भाषी दो भिन्न प्रदेशों के व्यक्तियों के लिए यह सहज ही सम्भव नहीं होता कि वे उन भिन्न क्षेत्रों की बोलियों को ठीक ठीक समझ सकें।"

वास्तव में पंच मेल खिचड़ी ही इस समझने का आधार है जिस का आचार्य शुक्ल द्वारा काव्य भाषा में तिरस्कार किया गया है। फिर यदि ये लोग एक दूसरे की बोली समझ लेते हैं तो क्या इसका अर्थ यह भी है कि ये एक दूसरे की बोली बोल भी लेते हैं? मैं यह बात पुनः कह रहा हूँ कि बहु भाषा भाषी बने बिना यह बोलना नितान्त असंभव है। इससे भी आगे ये लोग एक दूसरे की बोली में काव्य सर्जन कर ही नहीं सकते। किसी भाषा को पढ़ने का अन्तिम उद्देश्य यही है कि हमारा ज्ञान केवल भाषा को समझने और पढ़ने तक सीमित न रहे बल्कि उपयोग की

दृष्टि से हम उस भाषा को बोल भी सकें और उसमें सर्जन भी कर सकें। सबसे अन्तिम बात यह है कि यदि हम उन बोलियों के आधुनिक रूपों को समझने का प्रयत्न भी करें तो क्या उनके पाँच सौ वर्ष पुराने रूप को भी समझें जिसे खुद उस क्षेत्र के वासिन्दे भी नहीं समझते हैं? बात एकदम स्पष्ट है – जब खड़ी बोली क्षेत्र का विद्यार्थी ब्रज भाषा में कविता रचने नहीं जा रहा है तो उसे ब्रज भाषा का काव्य साहित्य अनिवार्य रूप से क्यों पढ़ाया जाए ?

2

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल की पीस कुछ बारीक है। वे यह पता नहीं चलने देते हैं कि वे खड़ी बोली का किसी भी जगह विरोध कर रहे हैं। उन्होने खड़ी बोली की प्राचीनता को भी स्वीकारा है। उन्होंनें लिखा है—"किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में विद्यमान थी और अब भी बनी हुई है। साहित्य में कभी कभी कोई इसका व्यवहार कर देता था यह दिखाया जा चुका है।" वे मानते हैं—'भोज के समय से ले कर हम्मीर देव के समय तक अपभ्रंश काव्यों की जो परम्परा चलती रही उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की भी झलक अनेक पक्षों में मिलती है।" उन्होंने इसे प्रमाण सहित सिद्ध किया है। इन प्रमाणों में कबीर की 'सधुक्कड़ी' भाषा का भी सहारा लिया गया है। उन्होंने खड़ी बोली के साहित्य के बारे में लिखा है –"खड़ी बोली का ग्रहण देश के परम्परागत साहित्य में तो नहीं हुआ था उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। उक्त कथन में साहित्य से अभिप्राय लिखित साहित्य का है, कथित या मौखिक का नहीं। कोई भाषा हो, उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है। चाहे वह लिखित न हो, श्रुति परम्परा द्वारा ही चला आता हो। अतः खड़ी बोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुक बन्दियाँ खुसरो के पहले से अवश्य चली आती होंगी। खुसरो की सी पहेलियाँ दिल्ली के आस पास प्रचलित थीं जिनके नमूने पर खुसरो ने अपनी पहेलियाँ या मुकरियाँ कही।

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल जहाँ बात को गड़बड़ा देते हैं वह उनका दूसरा पक्ष है। खड़ी बोली की अति प्राचीनता को मानते हुए भी उन्होंने यह नहीं माना है कि मात्र खड़ी बोली ही हिन्दी है। उनके लिए जहाँ तक खड़ी बोली समझी जाती है वहाँ तक की सभी भाषाएँ हिन्दी हैं। उनके तर्क को आगे बढ़ाने पर यदि आज केरल देश में खड़ी बोली समझी जाने लगे तो मलयालम भी हिन्दी हो जाएगी। इसमें यह ठीक

है कि जब खड़ी बोली ब्रज और अवध क्षेत्र में गई होगी तो ब्रज और अवध क्षेत्रों की बोलियों का खड़ी बोली पर असर पड़ा होगा। तो फिर हिन्दी में खड़ी बोली पर वही असर पढ़ाया जाना चाहिए। यहाँ उस असर पर ध्यान न दे कर और खड़ी बोली को भुला कर समूची ब्रज भाषा और तमाम अवधी भाषा का साहित्य पढ़ाया जाता है। इतना ही नहीं बल्कि ब्रज और अवधी भाषाओं का प्राचीनतम साहित्य पढ़ाया जाता है।

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने खड़ी बोली के साहित्य पर आवरण और विक्षेप एक साथ चढ़ाए हैं। वे खड़ी बोली के प्राचीन साहित्य को श्रेष्ठ नहीं कह पाए। उन्होंने खड़ी बोली के प्राचीन साहित्य को मौखिक, श्रुति परम्परा वाला, कुछ गीतों, कुछ पदों और कुछ तुक बंदियों वाला माना है। इस प्रकार उन्होंने खड़ी बोली की प्राचीनता को अस्वीकार न कर के खड़ी बोली के प्राचीन साहित्य को अस्वीकार कर दिया है। उन्होंने खड़ी बोली के साहित्य को अपनी साहित्य समीक्षा से ढक कर रख दिया। यह आवरण हो जाता है। लेकिन वे खड़ी बोली को आवृत करके ही नहीं रह गए हैं। उन्होंने खड़ी बोली को नीचे ढक कर उसके ऊपर अन्य भाषाएँ रख दी हैं। इनमें ब्रज, अवधी, प्राचीन राजस्थानी तथा मैथिली भाषाएँ हैं। यह विक्षेप है। स्पष्ट है, किसी विद्वान के लिए आवरण और विक्षेप के ये दोहरे माप दण्ड तोड़ना बड़ा मुश्किल हो जाता है। यह आचार्य शुक्ल ने ब्रह्मा बन कर हिन्दी साहित्य के इतिहास में आवरण और विक्षेप के रूप में माया की सी सृष्टि की है। जो सत्य है, उसे पहले ढक दिया गया है। फिर उसके स्थान पर कुछ और रख दिया गया है जो असत्य है। ये दो झूठ एक साथ प्रचलित किए गए हैं। सत्य के खोजियों की पहुँच अब तक विक्षेप तक ही जाती है। वे प्राचीन हिन्दी साहित्य में ब्रज, राजस्थानी, अवधी और मैथिली का साहित्य पढ़ते हैं। वे सत्य से कोसों दूर इस लड़ाई में लगा दिए गए हैं कि सूर और तुलसी में से किस एक को बड़ा सिद्ध किया जाए। इस विक्षेप में हमें यह सोचने का अवसर भी नहीं मिलता कि भाषा के आधार पर सूर और तुलसी की तुलना नहीं की जा सकती। उनके सांस्कृतिक आधार की तुलना की जा सकती है लेकिन उनकी भाषाएँ अलग अलग हैं। इससे आगे आचार्य शुक्ल की सृष्टि का यह कमाल है कि यदि हिन्दी से, पुरानी राजस्थानी, अवधी, ब्रज और मैथिली भाषाओं का साहित्य निकाल दिया जाए तो फिर हिन्दी में निपट अँधेरा छा जाता है। फिर कहीं हिन्दी का पता नहीं चलता। हाथ खड़े करके घोषणा कर दी जाती है कि अब हिन्दी में कुछ नहीं बचा है। सच बात यह है कि खड़ी बोली के प्राचीन साहित्य को न तो किसी ने खोजने की कोशिश की है और न ही किसी ने उसे हिन्दी का साहित्य माना है जो खड़ी बोली का तो है परन्तु उनके धार्मिक मतलब का नहीं है अर्थात राम भक्ति शाखा या कृष्ण भक्ति शाखा या निर्गुण सम्प्रदाय के भक्त कवियों की ज्ञानाश्रयी शाखा या प्रेमाश्रयी शाखा में से एक को भी नहीं है। ऐसा करके आचार्य शुक्ल ने बालकों वाला

वह काम किया है जो दूसरे बालकों का खेल बिगाड़ देता है। वे हिन्दी के तालाब में खड़ी बोली के सूर्य का सही प्रतिबिम्ब देखने नहीं देते हैं। उन्होंने पहले तो पानी को गँदला कर दिया है। उन्होंने यही कह दिया कि प्राचीन खड़ी बोली में साहित्य नहीं रचा गया है। फिर उन्होंने इस गँदले पानी में भी हाथ से झगोले दे दिए हैं। इसमे खड़ी बोली का निश्चल जल में जो बिम्ब बनता था वह पूरी तरह नष्ट हो जाता है।

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल बहुत ही सभ्य और सुसंस्कृत भाषा का प्रयोग करने वाले विद्वान और मौलिक समीक्षक कहे जाते हैं लेकिन मेरे लिए उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहले ही गालियाँ लिख दी हैं। वे लिखते हैं—"खड़ी बोली पद्य का झंडा ले कर घूमने वाले स्वर्गीय बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री चारों ओर घूम घूम कर कहा करते थे कि अभी हिन्दी में कविता हुई कहाँ, सूर, तुलसी, बिहारी आदि ने जिसमें कविता की है वह तो 'भाखा' है 'हिन्दी' नहीं।" इससे आगे वे ठीक मेरे लिए लिखते हैं– "संभव है, इस सड़े गले ख्याल को लिए अब भी कुछ लोग पड़े हों।" मैं बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री के समान यह तो नहीं मानता कि प्राचीन खड़ी बोली में साहित्य का सृजन नहीं हुआ है, परन्तु इतना मैं भी कह रहा हूँ कि सूर, तुलसी और बिहारी हिन्दी भाषा के कवि नहीं हैं। अब चाहे आचार्य शुक्ल मुझे सड़े गले ख्यालों का कहें या कोई भी दूसरी गाली दें परन्तु ब्रज भाषा को हिन्दी कहने वालों के बारे में मैं ऐसा बदजबान नहीं होऊँगा। मैं केवल यह कहना चाहूँगा कि अवधी और ब्रज भाषाओं के रूप में महान साहित्य को जबर्दस्ती हिन्दी में पढ़वाने की वकालत करना ठीक नहीं है। तुलसी और सूर ने श्रेष्ठ साहित्य का सृजन किया है, यह माना जा सकता है, लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि वह आज की हिन्दी का प्राचीन साहित्य है। उसे हिन्दी में जबरन पढ़ाने से कोई भाषाई लाभ नहीं है। शायद आचार्य शुक्ल जैसे लोगों को सूर और तुलसी के साहित्य से भाषा के बजाय कुछ और तरह की संतुष्टि मिलती है।

3

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के पास कुछ पुस्तकें हैं जिन्हें उन्होंने 'साहित्य सामग्री' कहा है। यह उनकी अपनी परिभाषा की बात है कि वे किसे साहित्य सामग्री कहते हैं और किसे साहित्येतर सामग्री कहते हैं। एक तरह से यह उनकी मनमानी है। लेकिन मैं जिस बात को रखना चाह रहा हूँ वह यह है कि इतिहास कार को केवल इस बात पर निर्भर नहीं रहना चाहिए कि उसे क्या मिला है। प्राप्त साहित्य सामग्री पर

आधारित संकलन की समानता का ऐसा इतिहास लिख देना कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन एक सच्चे इतिहास कार को अधिक गहराई में उतरना चाहिए। उसे केवल प्राप्त साहित्य सामग्री पर निर्भर न रह कर यह भी जानना चाहिए कि सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक लड़ाइयों में विरोधी खेमों का साहित्य फूँक दिया जाता है तथा हारी हुई जातियों के किसी भी रूप के ऐतिहासिक स्मृति चिह्न मिटा दिए जाते हैं। सच्चे इतिहासकार का यह कर्तव्य है कि वह यह जाने कि वह क्या था जो मिटा दिया गया है। हो सके तो वह उसे खोज कर लाए। जिनकी समाज से जुड़ी अपनी महान दृष्टि होती है वे ही लोग देख पाते हैं कि भारतीय इतिहास की कई कड़ियाँ खुई हुई हैं। यदि केवल राजाओं और कवियों का संकलन करना हो तो दूसरी बात है, अन्यथा इन टूटी हुई इतिहास की कड़ियों को जोड़ने का काम इतिहास कार का होता है। यहीं पर एक इतिहास कार को अनुमान और कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। भारत का इतिहास लिखने में डाक्टर अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'अछूत—कौन और कैसे' के प्राक्कथन में इस कसौटी को मैक्सिम गोर्की के माध्यम से वैज्ञानिक बना कर रखा है।

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल की दृष्टि सम्पूर्णता की खोजी दृष्टि नहीं है। उन्होंने खड़ी बोली की प्राचीनता को प्राचीन खड़ी बोली के उर्दू से सम्बन्ध को ले कर स्वीकार किया है। उन्हें इस बात का डर हो गया था कि उर्दू खड़ी बोली को जन्म देने वाली भाषा न सिद्ध हो जाए। उनकी लड़ाई उर्दू से थी। ब्रज भाषा उर्दू से लड़ नहीं सकती थी। इसके लिए उन्होंने खड़ी बोली का सहारा लिया। वास्तव में उनकी सांस्कृतिक लड़ाई खड़ी बौली और उर्दू दोनों से थी। अपनी रण नीति में उन्होंने खड़ी बोली को उर्दू से लड़वा दिया। उर्दू को खड़ी बोली ने मारा, अब शेष खड़ी बोली को स्वयं आचार्य शुक्ल ने मार डाला। वे दोनों से एक साथ नहीं लड़ सकते थे।

यह हिन्दी साहित्य के इतिहास में बहुत बुरा हुआ है कि खड़ी बोली को उर्दू से लड़वाया गया है। उर्दू खड़ी बोली की अपनी सबसे प्यारी संतानों में से एक है। इसकी दूसरी संतान 'सधुक्कड़ी' और 'पंच मेल खिचड़ी' की हैं। दुख की बात है कि आचार्य शुक्ल ने अपनी रण नीति में माँ से ही बेटियों का कत्ल करवाया है। जो खड़ी बोली के श्रेष्ठ साहित्य की सर्वोत्कृष्ट सजावट थी उसे खड़ी बोली के क्षेत्र से निकाल दिया गया है। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में उर्दू को साहित्य निकाला दे रखा है। यह बिल्कुल देश निकाले के समान दण्ड है। इसमें उर्दू का अपराध केवल यह बताया गया है कि इसने फारसी की शब्दावली ले रखी है। यह विचित्र बात है कि जो हिन्दी भाषा का श्रेष्ठ गुण है, साहित्य में वही इसका सबसे बड़ा दुर्गुण बता दिया गया है। हिन्दी के साथ यह कितना बड़ा अन्याय है कि इसकी भाषा और इसके साहित्य में विरोध खड़ा कर दिया गया है। जो हिन्दी भाषा का सौन्दर्य है

वही हिन्दी साहित्य का कलंक कह दिया गया है। यही नहीं, बल्कि जो इसके राज भाषा बनने का कारण थां वह इसके राज भाषा के रूप में विस्तार का कारण नहीं माना जा रहा है।

आचार्य शुक्ल का जैसा दृष्टि कोण रहा था, यदि उनके सामने उर्दू की समस्या न आती तो वे खड़ी बोली की प्राचीनता को भी स्वीकार न करते। लेकिन खड़ी बोली की प्राचीनता को स्वीकार करके भी वे अपनी चाह का काम कर सके कि खड़ी बोली के सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य को नकार गए हैं। वे हमें इतिहास कार की जिम्मेदारी से यह बताने से तो रहे कि इतिहास में कौन सी सामग्री खुई हुई है, उल्टे जो सामग्री उपलब्ध थी उसे भी अपने मन्तव्य की काव्य भाषा की कसौटी पर नकार गए हैं।

यहाँ संस्कृत के इतिहास से प्रश्नों भरा उदाहरण रखा जा सकता है। इस प्रसंग में पहले बताया जा चुका है कि कल्हण ने अपनी 'राज तरंगिणी' में किन्हीं शूद्र महा कवि मतंग का नाम लिया है। उन्होंने लिखा है कि मतंग शूद्र होते हुए भी महा कवि थे। वह श्लोक इस प्रकार है :

अहं प्रभावो वाग्देवा यं मातंग दिवाकर :

शूद्रोऽपि वाण मयूर सम हर्षस्य सभा मध्ये शोभ्यते।

आज शूद्र समुदाय इतिहास के रखेरों से पूछ सकता है कि हमें कल्हण का मतंग महा कवि ला कर दो, हमारे मतंग महा कवि की रचनाएँ कहाँ गईं ? स्पष्ट है, शूद्र महा कवि मतंग की रचनाएँ किसी मुसलमान या ब्रिटिश शासक ने नष्ट नहीं की होंगी। वे रचनाएँ देशी शासकों ने ही नष्ट की हैं। फिर जब मुसलमान शासकों के आक्रमण के अनन्तर जाति वादी ब्राह्मणी साहित्य की काव्य रचनाएँ बच गई हैं तो संभावना से ब्राह्मण विरोधी शूद्र साहित्य की रचनाओं का क्या हुआ ?

हम जानते हैं, सबसे प्राचीनतम चार वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और षड दर्शन का हजारों पृष्ठों में फैला हुआ संस्कृत का सारा साहित्य बच गया है। बौद्धों का पाली साहित्य, जैनियों का प्राकृत में लिखा हुआ साहित्य और बाद में अपभ्रंश में लिखा हुआ साहित्य का विपुल भंडार भी बच गया है। लेकिन चार्वाकों का इस देश में कोई साहित्य नहीं बच सका है। कल्हण की राज तरंगिणी में वर्णित शूद्र महा कवि मतंग का एक भी श्लोक नहीं बच पाया है। क्या इस्लाम के शासकों का आक्रमण भारत में बचे हुए साहित्य के बजाय केवल उस साहित्य पर हुआ था जो नहीं बचा है ? सच्ची बात यह है कि जो साहित्य खो गया है उसे इस्लाम के आक्रमण कारियों ने नहीं बल्कि धरती पर धुंधुकार मचाने वाले देशी आक्रमण कारियों ने ही मिटाया था। मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि नालंदा के पुस्तकालय में इस्लाम के आक्रमण कारियों द्वारा जो बड़ी आग लगाई गई थी, चार्वाकों का साहित्य उससे पहले ही इस देश में फूंक

दिया गया था। चार्वाकों के साहित्य में आग लगाने वाले सम्प्रदाय का इतिहास में अभी तक कोई नाम नहीं खोजा गया है। इतिहास कारों के लिए यह एक शोध का विषय है कि क्या उंगली रख कर यह बताया जा सकता है कि चार्वाकों के साहित्य को फूंकने का यह घिनौना काम शुंग वंश के संस्थापक सम्राट पुष्य मित्र और उसकी परंपरा ने किया था।

हमारी समस्या संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखने की नहीं है। यहाँ हमारा सरोकार केवल हिन्दी साहित्य की समस्याओं से है। लेकिन संस्कृत साहित्य के इतिहास से इसमें यह लाभ लिया जा सकता है कि यह देखा जाए कि खड़ी बोली का साहित्य कभीं मिटाया तो नहीं गया था। कूँचले से आग जला कर तो इस समय खड़ी बोली का साहित्य जलाया हुआ नहीं कहा जा सकता लेकिन लेखनी के चातुर्य से यह कार्य आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने अवश्य किया है। जो खड़ी बोली का साहित्य था उसे उर्दू कह कर हिन्दी से निकाला दे रखा है। अपना राज है, अपनी मरजी है, किसी को गाली दें, किसी का अपमान करें, जिस को चाहे साहित्य निकाला दे दिया जाए, कोई कहने सुनने वाला नहीं है।

इतिहास यह मान कर लिखा जाना चाहिए था कि किसी साहित्य का कोई बचपन भी होता है। लेकिन आचार्य शुक्ल द्वारा लिखे गए हिन्दी साहित्य के इतिहास में हिन्दी के बचपन का कहीं पता नहीं चलता है। यदि हिन्दी का बचपन बताया जाता तो वह किसी समय तुतलाता हुआ भी दीखता, लेकिन यहाँ जहाँ भी देखे, हिन्दी प्रौढ़ा ही प्रौढ़ा है। अवधी के आरम्भिक तुतलाने से ले कर तुलसी के राम चरित मानस में वह एक साथ युवती और प्रौढ़ हो गई है। ऐसी ही बात ब्रज भाषा, पुरानी राजस्थानी और मैथिली की है। इन सब भाषाओं का प्रौढ़ साहित्य ही हिन्दी में पढ़ाया जाता है। मैं सोच सकता हूँ कि जब खड़ी बोली को मेरी आँखों के सामने नकारा जा रहा है तो अन्य गैर संस्कृत भाषाओं के इतिहास लिखने में, जो किसी प्रकार राजनीतिक कारणों से साहित्यिकता का स्तर पा गई थीं, दुष्प्रचार की कौन सी मनोवृत्ति काम कर रही होगी। इन भाषाओं के इतिहास में भी यही बताया जाता है कि कैसे एक भाषा के बाद दूसरी भाषा साहित्यिक हो गई थी। सच बात यही है कि इन गैर संस्कृत भाषाओं के साहित्य को भी संस्कृत के समान जनता से दूर रख दिया गया था।

थोड़ी देर के लिए हम आचार्य शुक्ल की यह बात मान भी लें कि हिन्दी का पुराना साहित्य ब्रज, अवधी, डिंगल और मैथिली से होता हुआ बना है, फिर भी किसी विद्यार्थी का मन यह जानने को अवश्य तरसता है कि यदि आज खड़ी बोली साहित्य के सर्वस्व पर छा गई है तो इसके बचपन का साहित्य कैसा रहा होगा। इतिहास कार के नाते आचार्य राम चन्द्र शुक्ल का यह कर्तव्य बनता था कि वे भाषा के यौवन की

भले ही कुछ भी व्याख्या करते रहते पर हमें खड़ी बोली के बचपन की एक झलक तो दिखा देते । लेकिन इसमें यही होता कि यदि वे खड़ी बोली के बचपन को स्वीकार करते तो उसमें उन्हें निर्गुणियों की मधुक्कड़ी और पंच मेल खिचड़ी की भाषा से भी परे झोपड़ियों में रहने वाले चमारों, कुम्हारों, धोबियों, और चांडालों के गीतों की खोज करनी पड़ जाती । आचार्य शुक्ल यही तो नहीं कर सकते थे । नील कान्त ने अपनी पुस्तक 'राम चन्द्र शुक्ल' में उन्हें उनकी पुस्तक 'चिन्ता मणि : भाग-3' से उद्धृत किया है । शुक्ल लिखते हैं— "रूमी बोल्शेविकों की बात सुनिए तो वे बड़ी उपेक्षा से अब तक के सारे साहित्य को ऊँचे वर्ग के लोगों का साहित्य बता कर लोहारों, बढ़ैयों और मजदूरों के साहित्य का आसरा देखने को कहेंगे ।" आचार्य राम चन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने बैठ गए थे लेकिन वे हिन्दी साहित्य का सच्चा इतिहास लिखने के लिए अपनी मनोवृत्ति में तैयार नहीं थे । वे हिन्दी साहित्य के साथ इससे बड़ा इतिहासपरक अपराध और क्या कर सकते थे कि हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य में तालमेल नहीं मानते हैं ।

मेरे एक मित्र ने जिन्होंने आचार्य राम चन्द्र शुक्ल पर शोध कार्य किया है मुझे बताया कि आचार्य राम चन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन के लिए एक दम अयोग्य व्यक्ति हो गए थे क्योंकि उन्होंने अपनी आँखें तुलसी को दे दी थीं । जो इतिहास कार किसी एक कवि को अपना आदर्श मान ले वह साहित्य का समग्र इतिहास नहीं लिख सकता । उन्होंने कहा कि आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में पूर्णतः अंधे हो गए थे । तुलसी के चौंधियाने में उन्हें कुछ और दीखा ही नहीं । उन्होंने मुझसे यहाँ तक कहा कि यदि आचार्य शुक्ल तनिक भी सच्चे होंगे तो स्वर्ग में उनकी आत्मा यह सोच कर रात दिन बेचैन रहती होगी कि वे धरती पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीर को नकारने का बहुत बड़ा अन्याय करके गए हैं ।

4

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने देश की ऐतिहासिक दुर्गति के लिए बौद्धों के वज्रयानी सम्प्रदाय और नाथों तथा सिद्धों को जिम्मेदार ठहराया है । उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास की पूर्व भूमिका में सारी जिम्मेदारी पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य कारों पर डाल दी है । ऐसी जिम्मेदारी डालते समय उन्हें अपनी ही मान्यता का यह भी ख्याल नहीं रहा कि वे हिन्दी साहित्य का इतिहास लिख रहे थे, देश के धर्मों का और पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का इतिहास नहीं । साफ बात

यह है कि बौद्ध साहित्य कार उनकी इच्छा की 'काव्य भाषा' में साहित्य सर्जन नहीं कर सकते थे। उन्होंने अपने साहित्य में पहले भी ऐसी रचनाएँ नहीं दी थीं। बौद्धों का साहित्य धार्मिक, दार्शनिक और समाज की सूचना देने वाला रहा है। बौद्धों ने अलग से आचार्य शुक्ल की सोच की 'काव्य भाषा' का निर्माण नहीं किया था। फिर आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने जब वज्रयानी बौद्धों को, जो बाद में नाथ और सिद्ध बन गए थे, और जिसकी वास्तविकता की जाँच मैंने अभी नहीं की है, साहित्यिक दुर्गति के लिए जिम्मेदार ठहराया है तो पूछा जाना चाहिए कि उन दिनों संस्कृत की परम्परा के साहित्य कार क्या कर रहे थे। देश संपूर्ण रूप में बौद्ध नहीं था। इस देश में संस्कृत की परम्परा समानान्तर रूप में लगातार चलती रही है। यहाँ ऐसा नहीं हुआ है कि जब बौद्ध रहे हों तो संस्कृत की परम्परा के ब्राह्मण समाप्त हो गए थे। क्या संस्कृत की परम्परा के वे साहित्य कार ऐसे समय देश की रक्षा के लिए, जो बाहर से आक्रमण हुए थे, उनसे जूझने के लिए राजा और प्रजा के उद्‌बोधन के लिए कोई श्रेष्ठ साहित्य सृजन कर रहे थे ? यदि वज्रयानी बौद्ध विलासिता में डूबे हुए थे तो क्या संस्कृत परम्परा के रचना कार उनसे भी अधिक विलासी और दम्भी नहीं थे ? इससे भी आगे यह पूछा जा सकता है कि जब हिन्दी साहित्य का आरंभ ईसा की दसवी शताब्दी से माना गया है तो ठीक दसवी शताब्दी से पीछे की ओर चल के तीसरी शताब्दी तक के साहित्य कार समाज को किस प्रकार की रचनाएँ दे रहे थे ? यह संस्कृत के लिए बहुत ही महत्व पूर्ण समय रहा है। इसमें केवल संस्कृत कवियों ने ही नहीं बल्कि संस्कृत के अनेक आचार्यो ने भी जन्म लिया है। फिर जब शंकराचार्य की बौद्धों पर दिग्विजय नौवी शताब्दी के पहले दशक में हो गई थी तो नौवीं और दशवी शताब्दियों में संस्कृत के साहित्य कारों को पुनः शक्ति प्राप्त होने के बाद नए सिरे से देश के लिए उद्‌बोधन देना चाहिए था। सच्ची बात यह है कि बौद्ध काल में भी ऐसा नहीं हो सका है कि शूद्रों, नारियों और अछूतों की सामान्य शिक्षा का राज्य या धर्म की ओर से कोई प्रबंध किया गया हो। हमने देखा है कि बौद्ध भिक्षु भी नारियों का पूरा सम्मान नहीं करते थे। उनके लिए बौद्ध विहार में धर्म दीक्षा की मनाही थी। इतनी स्वतन्त्रता जरूर रही कि बौद्ध काल में यदि कोई नारी शिक्षा प्राप्त करना चाहे तो उसके लिए सैद्धान्तिक रूप में मनाही नहीं थी। लेकिन इसमें यह सत्य नहीं भूलना चाहिए कि बौद्ध समाज अपने आदर्श रूप में केवल भिक्षु संघ तक सीमित रहा है। शेष समाज ज्यों का त्यों वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था और छूआछूत के भेदों उपभेदों में आपस में लड़ता झगड़ता रहा था। जो बौद्ध चिन्तन की स्वतंत्रता है उसे केवल दीवार से चिपका कर रख दिया गया था। उसका समाज पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। यह बात हिन्दू कोड बिल पर चर्चा करते समय सामने आई थी। डाक्टर अम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत किए गए इस बिल की कई समुदाय के लोगों ने तीखी आलोचना की थी। तब डाक्टर अम्बेडकर ने भारत के प्रथम कानून मन्त्री के रूप में उन

आलोचनाओं का उत्तर इस प्रकार दिया था—"हिन्दू कोड बिल का सिक्ख, बौद्ध तथा जैनों पर लागू करना ऐतिहासिक घटना है। समाज शास्त्र के अनुसार यह देर से हो रहा है। जब बौद्ध हिन्दुओं से अलग हुए तो उन्होंने रीति रिवाजों के विषय में नियम बनाए तथा हिन्दुओं के कानून सम्बन्धी मामलों को जैसा का तैसा छोड़ दिया। उन्होंने अपने धर्मावलम्बियों के लिए पृथक नियम नहीं बनाए। ऐसा ही महावीर और सिक्खों ने किया।" इस विषय को डी आर निम ने अपनी पुस्तक 'अम्बेडकर: जीवन दर्शन' में अधिक विस्तार से लिखा है। समाज बिना भिक्षुओं की सहायता के वर्ण व्यवस्था से स्वयं लड़ा है । मेरी समझ में नहीं आता कि बौद्ध भिक्षुओं ने इसमें कोई अगवानी की थी। बौद्ध भिक्षु भी अपने धार्मिक रूप में पुरोहित ही थे। समाज को बदलने से पहले उन्हें अपनी नई पुरोहित गिरी का हित साधन करना था। बौद्ध भिक्षुओं को मैं इसी रूप में देखता हूँ कि ब्राह्मण पुरोहितों के ही दो भाग हो गए थे—एक हिन्दू पुरोहित और दूसरा बौद्ध पुरोहित। इन दोनों में से किसी को भी राष्ट्र और समाज की चिन्ता नहीं थी। इसलिए आचार्य राम चन्द्र शुक्ल द्वारा वज्रयानी बौद्धों पर देश की दुर्गति के लिए जिम्मेदारी ठहराना हमारे मन्तव्य को नहीं साधता है।

5

इस समय साहित्य के क्षेत्र में एक पुनर्विचार का अवसर है कि हिन्दी साहित्य में क्या पढ़ाया जाए। अभी तक हिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी के पाठ्य क्रम में राजस्थानी का 'पृथ्वी राज रासो', अवधी का 'राम चरित मानस' और ब्रज का 'सूर सागर' पढ़ाया जा रहा है। लेकिन अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के विश्व विद्यालयों में केवल खड़ी बोली में लिखा गया साहित्य पढ़ाया जाता है । वहाँ राजस्थानी, अवधी और ब्रज को नहीं पढ़ाया जाता। इस प्रकार, हिन्दी साहित्य को विश्व विद्यालय के स्तर पर पढ़ाने में ये दो धाराएँ चल रही हैं। प्रश्न है इन दो बातों में से कौन सी एक बात तय की जाए ? यदि ये दोनों बातें चलाई जाएँ तो वह हमारा लोभ क्या है ?

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने अवधी और ब्रज भाषा को खड़ी बोली की बराबर की बहनें बताया है। खड़ी बोली का क्षेत्र इनके क्षेत्रों से मिला हुआ है। उन्होंने लिखा है—"अवधी तथा ब्रज भाषा का ही नहीं राजस्थानी का साहित्य भी 'हिन्दी साहित्य' समझा जाता है।" यदि हम इस धारा में आगे बढ़ें तो आचार्य किशोरी दास वाजपेयी कहते हैं—"पंजाबी साहित्य यदि नागरी लिपि में चले तो वह भी हिन्दी साहित्य का एक अंग समझा जाएगा। बहुत थोड़ा थोड़ा अंतर है। यही क्यों बंगला, उड़िया गुजराती तथा मराठी आदि प्रादेशिक भाषाएँ भी यदि नागरी लिपि में लिखी जाएँ

तो कल वे भी हिन्दी की या हिन्दी की बोलियाँ समझी जाने लगेंगी।" उन्होंने आशा व्यक्त की है कि जब कभी 'अंतर भारती व्याकरण' बनाने बनवाने का महा प्रयत्न किया जाएगा तब इन सब बातों का ऊहापोह होगा।

यह एक अच्छी बात है कि हिन्दी साहित्य में उत्तर भारत की लगभग सभी भाषाएँ पढ़ाई जाने लगेंगी। इसके लिए प्रयत्न भी किए जा सकते हैं। तभी हिन्दी को सचमुच में लाभ होगा। तब हिन्दी का संस्कृत की नसैनी को छोड़ कर आधुनिक भारतीय भाषाओं से सीधा रिश्ता जुड़ेगा। तब हिन्दी अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदों को आत्म सात कर सकेगी। संविधान के अनुच्छेद-351 की भावना के अनुरूप काम करने का यही मार्ग है।

यह जो ऊपर महा मार्ग बताया गया है, यह हिन्दी में स्नातकोत्तर की कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए बोझ नहीं बन जाना चाहिए। अभी हिन्दी क्षेत्र के विश्व विद्यालयों में हिन्दी में राजस्थानी, अवधी और ब्रज भाषा की पढ़ाई की जा रही है। इनमें भी ब्रज भाषा विशेष रूप से छाई हुई है। इसके कारण विद्यार्थियों को खड़ी बोली के आधुनिक साहित्य का पर्याप्त परिचय नहीं हो पाता है—उनका अधिकांश समय ब्रज और अवधी के प्राचीन साहित्य को पढ़ने में बीत जाता है। यहाँ अच्छा होता, यदि अवधी और ब्रज भाषा में लिखा हुआ नया आधुनिक साहित्य पढ़ाया जाता। लेकिन अब इन भाषाओं में नया साहित्य लिखा नहीं जा रहा है। इस कारण, हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों को अवधी और ब्रज क्षेत्र की आधुनिक सोच से सही परिचय नहीं हो पाता है। साहित्य के क्षेत्र में इस समय अवधी और ब्रज मृत भाषाएँ हैं। इससे यह अच्छा रहता कि हिन्दी में उन आधुनिक भारतीय भाषाओं को पढ़ाने पर अधिक जोर दिया जाता जिनमें आज भी साहित्य का सृजन हो रहा है। या तो वह साहित्य देव नागरी में लिप्यंतरण करके पढ़ाया जाए, नहीं तो थोड़े अभ्यास से सीधे उन लिपियों में पढ़ाया जाने लगे + कहने का मतलब यह भी है कि हिन्दी में उन भाषाओं का आधुनिक साहित्य ही पढ़ाया जाए, और पुराना साहित्य नहीं।

इस समय हिन्दी साहित्य का पाठ्य क्रम पुराने अप्रचलित साहित्य के बोझ से दबा पड़ा है। उस साहित्य का खड़ी बोली के आधुनिक साहित्य से कोई संबंध भी नहीं है। अवधी और ब्रज हिन्दी के लिए वैसी ही और उतनी ही दूर की या नजदीक की भाषाएँ हैं जितनी पंजाबी, गुजराती और मराठी हैं। हाँ, पंजाबी, गुजराती और मराठी इतनी अधिक उपयोगी हैं कि ये भाषाएँ अवधी और ब्रज की तुलना में मृत भाषाएँ नहीं हैं। इनमें आज भी साहित्य का निर्माण हो रहा है।

सोचा जा सकता है कि हिन्दी की स्नातकोत्तर कक्षाओं में तुलसी और सूर क्यों रखे गए होंगे। उस समय कुछ भी कारण रहा हो लेकिन आज की हिन्दी के लिए तुलसी और सूर प्रासंगिक नहीं रह गए हैं। अब हिन्दी के अपने कवि और साहित्य कार

हैं। उन्हें विस्तार में पढ़ाया जाना चाहिए। और यह कोई तुक नहीं है कि खड़ी बोली के कवि सूर और तुलसी के जोड़ के नहीं हैं। खड़ी बोली के कवि अपनी ही जोड़ के होते हैं। उनकी अवधी और ब्रज भाषा के कवियों से तुलना नहीं की जानी चाहिए। वे राम और कृष्ण की इतनी देर तक पूजा नहीं कर सकते कि इन विषयों पर महा काव्य भी रचेंगे।

दुख इस बात का है कि हिन्दी साहित्य के वर्तमान पाठ्य क्रम में समय अभाव के कारण प्रसाद की 'कामायनी' भी मनोयोग से नहीं पढ़ाई जा रही है। उसके दो तीन सर्ग कोर्स में रख दिए जाते हैं। कई विश्व विद्यालयों में दिनकर की 'उर्वशी' छेड़ी भी नहीं जाती है या उसका दूसरा अंक पढ़ा कर संतोष कर लिया जाता है। पन्त को कोर्स में रखेंगे तो निराला को गौण बना देंगे। फिर खड़ी बोली में इतना गद्य साहित्य है जिस पर पर्याप्त ध्यान नहीं जा पाता। विद्यार्थियों को तुलसी और सूर होश नहीं लेने देते हैं। हिन्दी साहित्य की आधे से अधिक आलोचना इस बात को सिद्ध करने में लगी हुई है कि सूर बड़े हैं या तुलसी। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल जैसे चिन्तकों ने शुरूआत ही गलत कर दी थी। जो बात किसी समय किसी कारण वश छेड़ दी गई थी, आधुनिक आलोचक भी उसी साँचे में पड़े हुए हैं। उन्हें यह ध्यान नहीं रहा है कि अब वह काम अप्रासंगिक हो गया है जिसे उनके पहले किसी ने शुरू किया था। अब यह तय किया जाना चाहिए कि प्रसाद बड़े हैं या दिनकर, निराला सच्चे हैं या अज्ञेय, या फैज और फिराक कौन थे, या मुक्ति बोध ने क्या कहा है।

हिन्दी की चारों ओर से यही मुसीबत है। इसे सब ने घेर रखा है। लोग स्पष्ट रूप से खड़ी बोली को सामने नहीं आने दे रहे हैं। यदि किसी को राज भाषा के रूप में हिन्दी पढ़नी है तो उसे जबरन संस्कृत का व्याकरण रटवाया जाता है और यदि किसी को साहित्य के रूप में हिन्दी पढ़नी है तो उसे अवधी और ब्रज का साहित्य विस्तार से पढ़ाया जाता है। लोग एक हिन्दी पढ़ें या हिन्दी के नाम में संस्कृत, अवधी और ब्रज भाषा पढ़ें? हिन्दी पढ़ने के लिए लोग इसलिए लालायित रहते हैं कि उससे यह पता चल सकेगा कि हिन्दी भाषी जनता आजकल क्या सोचती है। स्वयं हिन्दी भाषी लोग इस आस में हैं कि साहित्य के माध्यम से संविधान के अन्तर्गत अपेक्षित सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन किस प्रकार तेजी से लाए जाएँ। लेकिन उस बात की ओर समीक्षकों का अभी तक ध्यान नहीं गया है। उलटे सामाजिक एकता की बात भूल कर समीक्षक धार्मिक और सांस्कृतिक एकता की ऊपरी बात करने लगते हैं। हम समाज को वर्णों और जातियों में विभक्त करके उनमें ऊँच नीच के पुराने अन्तर को बरकरार रखते हुए अस्पृश्यता की जड़ को बिना मिटाए लोगों में छींटे की पुरानी ईसाइयत की तरह ऊपरी ऊपरी तौर पर छींटे की भारतीयता बाँटने में लगे हुए हैं।

संस्कृति की ऐसी हलकी फुलकी बातें कह देने से हमारे समाज का कोई विशेष

भला होने वाला नहीं है। संविधान अपनी सस्था के माध्यम से पुराने समाज में दखल चाहता है। क्या तुलसी की कही गई चौपाई—ढोल गँवार शूद्र पशु नारी सकल ताड़ना के अधिकारी—इस काम में हमारी कुछ भी सहायता करती है ? क्या हम तुलसी को इस लिए पढ़ाते हैं कि तुलसी गलत हैं या इसलिए कि तुलसी महान हैं ? भूमि सुधार और तुलसी की चौपाई एक साथ चलनी मुश्किल हो रही हैं। अभी तक हम चकबन्दी के बेनामी रोने लिए बैठे हैं।

गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा तुलसी दास की राम चरित मानस का बहुत प्रचार किया गया है। उसमें ऊपर उद्धृत की गई चौपाई की विस्तृत व्याख्या की गई है। उस व्याख्या के अनुसार हमें बताया जाता है कि इस पंक्ति में विशेष अलंकार और विशेष रस हैं। अजीब बात है—जब लोग साहित्य में समाज की बात पूछते हैं उन्हें अलंकारों की गिनती रटवाई जाने लगती है। तब समीक्षकों को भाव, अनुभाव और संचारी भाव याद आने लगते हैं। सच बात यह है कि समाज में समता की बात करने से अलंकार और रस मर नहीं जाएँगे। समता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्वता के समाज में भी साहित्यिक छन्दों को पराकाष्ठा तक पहुँचाया जा सकता है लेकिन तुलसी दास की चौपाइयों की ऐसी व्याख्या व्याख्या न हो कर गलत बात का बचाव, शोषण का प्रचार और सामाजिक धींगा मस्ती है। ऐसे कवि संविधान में अपेक्षित सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन को रोकने में पुराने समाज की पूरी पूरी सहायता करते हैं। इस लिए इन कवियों की ऐसी पैरवी की जाती है। तुलसी में साहित्यिकता कम, भेद भाव पर आधारित पुरानी जातिवादी ब्राह्मणी समाज व्यवस्था की बचाव में नाके बन्दी अधिक है।

मृदुल शर्मा द्वारा सम्पादित 'ज्योति कलश' नामक पुस्तक को मेरठ जन पद का काव्य कोष कहा गया है। आचार्य क्षेम चन्द सुमन ने 'हार्दिक अभिनन्दन' के शीर्षक से इसकी भूमिका लिखी है। इसमें आचार्य सुमन लिखते हैं—"हिन्दी के जिस स्वरूप को राष्ट्र भाषा के गौरवमय अभिधान से अभिनन्दित किया गया है वह न तो राम चरित मानस की भाषा है और न ही सूर सागर की। वह तो कुरु जन पद (मेरठ जन पद) के ग्रामीण अंचलों में पनपने वाली लोक संस्कृति से समन्वित खड़ी बोली ही है।" इस विचार धारा को आधार मान कर मैंने हिन्दी साहित्य में से सूर और तुलसी को निकालने की बात हिन्दी के एक विद्वान प्रोफेसर के सामने रखी। मैंने उनसे यह भी कहा कि हमारी आधुनिक बोलियों पर आधारित साहित्य सीधे हिन्दी में आना चाहिए। मुझे खूब याद है कि उन्हें मेरी बात अच्छी नहीं लगी थी। उन्होंने कहा कि फिर तो में हिन्दी फणीश्वर नाथ रेणु के 'मैला आँचल' की परम्परा का साहित्य रचा जाने लगेगा। मैं ने उनसे कहा कि मेरा मन्तव्य बिलकुल उसी प्रकार के साहित्य से सधता है। उन्होंने कहा कि वह साहित्य तो उनके लिए फ्रेंच और लैटिन

का साहित्य है। उसमें रेणु की मैथिली बोली के ऐसे ऐसे शब्द रखे गए हैं जो बिलकुल समझ में नहीं आते हैं। मैंने उनसे कहा कि हिन्दी के प्रोफेसरों को उन्हीं शब्दों को सीखने की आवश्यकता है जो हमारा जन समाज इस समय सोच रहा है। साहित्य के विद्यार्थी के नाते उन्हें उस चिन्तन का ज्ञान रहना चाहिए।

सूर और तुलसी इसी काम में रोड़े हैं। वे हमें अवधी और ब्रज क्षेत्रों की बोलियों के आधुनिक रूप से जान पहचान नहीं करने देते हैं। मान यह लिया गया है कि अवध क्षेत्र में हर बालक राम पैदा होता है और वह रावण को मारने लंका जाता है। लेकिन वास्तविक स्थिति इससे भिन्न हो सकती है। अब उस क्षेत्र में अब्दुल इस्लाम नाम के बालक भी जन्म लेते हैं। अब अवध देश की बहुएँ सीता बन कर दोबारा वनवास प्राप्त करना नहीं चाहती होंगी। हो न हो, नई सामाजिक चेतना के कारण शबरी भगतिन रह कर लक्ष्मण की विरोधी होकर राम राज्य से युद्ध कर रही हो। यह भी हो सकता है कि वहाँ अब शंबूक की संतान इस स्थिति में आ गई हो कि ऐसे रामों को राज गद्दी से उतार फेंके जिस परम्परा के राम ने उनके पुरखे का तपस्या करने पर किसी जाति वादी ब्राह्मण के कहने पर वध किया था।

यही बात ब्रज क्षेत्र के बारे में भी सही हो सकती है। वहाँ का बँधुआ मजदूर जमीदार से लड़ रहा होगा। प्रधानी के इलैक्शनों में गाँवों में दो दो गुट बँटते होंगे। अछूतों के हाथ का छुआ पानी न पिया जाना होगा। चमारों की बारात चढ़ने पर ठाकुरों द्वारा पीटी जाती होगी। उनका आपस में ब्रज की आधुनिक बोली में डायलाग होता होगा। दोनों कौमों के डकैत एक दूसरे की कौम पर कहर ढाते होंगे। लेकिन सूर के कारण मथुरा और वृन्दावन का परिचय केवल यही दिया जा रहा है कि वहाँ हर बच्चा कृष्ण पैदा होता है और हर लड़की राधा जन्म लेती है। हमें वही रास लीला और वे ही ग्वाल बाल दिखाए जाते हैं जबकि सही बात यह भी हो सकती है कि कृष्ण के साथी दिल्ली के होटलों में बर्तन मांज रहे हों।

गलती यही हो रही है कि साहित्य का उद्देश्य दूसरा हो गया है। वह साहित्य न रह गया बल्कि विद्वानों की बहस मुँह भाषा में रटे हुए शब्दों का वाक चातुर्य हो गया है। उन मेरे मित्र साहित्य कार प्रोफेसर ने कहा था कि उनकी हिन्दी किसी बोली पर आधारित नहीं है और शुद्ध हिन्दी है। वे कभी गाँव में नहीं रहे थे। मेरा उनसे यही निवेदन था कि हिन्दी के विद्वान के लिए यह गर्व की बात नहीं है। यह कोई अच्छी बात नहीं है कि गाँव से आए हुए हिन्दी के विद्यार्थियों से रेणु का 'मैला आँचल' न पढ़वा कर तुलसी की राम चरित मानस में आई हुई नवधा भक्ति के खुलासे रटवाए जाएँ। यदि हमारे शहरी विद्वानों के लिए रेणु का 'मैला आँचल' फ्रेंच और लैटिन है तो ग्रामीण विद्यार्थियों के लिए तुलसी की नवधा भक्ति सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्राप्त उस लिपि के बराबर है जो अभी तक किसी से पढ़ी नहीं गई है।

यहाँ केवल यह बात कही गई है कि सूर और तुलसी वर्तमान ब्रज और अवध वासियों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व भी नहीं करते हैं । हिन्दी के विद्यार्थियों को इस बात का ज्ञान नहीं है कि अवध और ब्रज में आज कौन सा सामाजिक परिवर्तन हो रहा है .।

यह बात हम पहले भी कह चुके हैं कि खड़ी बोली अवधी और ब्रज भाषा में से नहीं निकली है । जब खड़ी बोली इन भाषाओं में से नहीं निकली है तो खड़ी बोली के इतिहास की दृष्टि से इन भाषाओं का साहित्य इसमें नहीं पढ़ाया जाना चाहिए । हिन्दी का खड़ी बोली के रूप में अपना इतिहास है । उसी से हिन्दी भाषा के क्रमिक इतिहास का पता चल पाएगा । वह इतिहास बहुत पुराना और रोचक भी है । वह इतिहास बहुत पुराना और रोचक न भी हो लेकिन उसमें कुछ किया नहीं जा सकेगा । वह जैसा है वैसा ही स्वीकार करना पड़ेगा । ऐसा नहीं हो सकता कि यदि हमारी माँ अपने बचपन में सुन्दर लड़की नहीं रही थी तो दूसरों की माँ की जवानी को अपने माँ के बचपन पर आरोपित कर लें । वास्तव में, जिस समय की अवधी और ब्रज भाषा विश्व विद्यालयों में छात्रों को पढ़ाई जाती है वह उन भाषाओं का चरमोत्कर्ष काल है । हिन्दी में से यह हीनता का भाव निकाला जाना चाहिए कि हम हिन्दी साहित्य में इस देश में बारी बारी से प्रचलित साहित्य भाषाओं के यौवन काल को पढ़ाते रहेंगे ।

6

बाबू श्याम सुन्दर दास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में मराठा भक्त प्रवर नाम देव की खड़ी बोली में रची गई कविता उद्धृत की है । उसकी एक पंक्ति इस प्रकार है—'पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी ।' इसी पुस्तक में उन्होंने सन 1780 के सीतल कवि की खड़ी बोली की रचना भी उद्धृत की हैं ।

मैं यह कहने जा रहा हूँ कि खड़ी बोली का प्राचीन साहित्य भी कम गौरव पूर्ण नहीं है । हम में केवल इसके इतिहास को जानने की रुचि और सहने की मानसिक क्षमता होनी चाहिए । हम में यह साहस होना चाहिए कि कह सकें कि खड़ी बोली के ज्ञात आदि कवि अमीर खुसरो या कोई और मुसलमान हो सकते हैं । हम में इतनी ईमान दारी होनी चाहिए कि दक्खिनी हिन्दी को खड़ी बोली के इतिहास में शामिल कर सकें ।

य है । उसमें रेणु की मैथिली बोली के ऐसे ऐसे शब्द रखे गए हैं जो बिलकुल नहीं आते हैं । मैंने उनसे कहा कि हिन्दी के प्रोफेसरों को उन्हीं शब्दों को ो आवश्यकता है जो हमारा जन समाज इस समय सोच रहा है । साहित्य के के नाते उन्हें उस चिन्तन का ज्ञान रहना चाहिए ।

्र और तुलसी इसी काम में रोड़े हैं । वे हमें अवधी और ब्रज क्षेत्रों की ; आधुनिक रूप मे जान पहचान नहीं करने देते हैं । मान यह लिया गया है कि ' में हर बालक राम पैदा होता है और वह रावण को मारने लंका जाता है । स्तविक स्थिति इससे भिन्न हो सकती है । अब उस क्षेत्र में अब्दुल इस्लाम ालक भी जन्म लेते हैं । अब अवध देश की बहुएँ सीता बन कर दोबारा ाप्त करना नहीं चाहती होंगी । हो न हो, नई सामाजिक चेतना के कारण ातिन रह कर लक्ष्मण की विरोधी होकर राम राज्य से युद्ध कर रही हो । । सकता है कि वहाँ अब शंबूक की संतान इस स्थिति में आ गई हो कि ऐसे राज गद्दी से उतार फेंके जिस परम्परा के राम ने उनके पुरखे का तपस्या किसी जाति वादी ब्राह्मण के कहने पर वध किया था ।

ही बात ब्रज क्षेत्र के बारे में भी सही हो सकती है । वहाँ का बँधुआ मजदूर ो लड़ रहा होगा । प्रधानी के इलैक्शनों में गाँवों में दो दो गुट बँटते होंगे । हाथ का छुआ पानी न पिया जाता होगा । चमारों की बारात चढ़ने पर रा पीटी जाती होगी । उनका आपस में ब्रज की आधुनिक बोली में डायलाग । । दोनों कौमों के डकैत एक दूसरे की कौम पर कहर ढाते होंगे । लेकिन रण मथुरा और वृन्दावन का परिचय केवल यही दिया जा रहा है कि वहाँ कृष्ण पैदा होता है और हर लड़की राधा जन्म लेती है । हमें वही रास र वे ही ग्वाल बाल दिखाए जाते हैं जबकि सही बात यह भी हो सकती है ; साथी दिल्ली के होटलों में बर्तन मांज रहे हों ।

क़्ती यही हो रही है कि साहित्य का उद्देश्य दूसरा हो गया है । वह साहित्य न ल्क विद्वानों की वहस मुँह भाषा में रटे हुए शब्दों का वाक चातुर्य हो गया है । त्र साहित्य कार प्रोफेसर ने कहा था कि उनकी हिन्दी किसी बोली पर नहीं है और शुद्ध हिन्दी है । वे कभी गाँव में नहीं रहे थे । मेरा उनसे यही कि हिन्दी के विद्वान के लिए यह गर्व की बात नहीं है । यह कोई अच्छी ै कि गाँव से आए हुए हिन्दी के विद्यार्थियों से रेणु का 'मैला आँचल' न तुलसी की राम चरित मानस में आई हुई नवधा भक्ति के खुलासे रटवाए हमारे शहरी विद्वानों के लिए रेणु का 'मैला आँचल' फ्रेंच और लैटिन है विद्यार्थियों के लिए तुलसी की नवधा भक्ति सिन्धु घाटी की सभ्यता से लिपि के बराबर है जो अभी तक किसी से पढ़ी नहीं गई है ।

यहाँ केवल यह बात कही गई है कि सूर और तुलसी वर्तमान ब्रज और अवध वासियों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व भी नहीं करते हैं। हिन्दी के विद्यार्थियों को इस बात का ज्ञान नहीं है कि अवध और ब्रज में आज कौन सा सामाजिक परिवर्तन हो रहा है ।

यह बात हम पहले भी कह चुके हैं कि खड़ी बोली अवधी और ब्रज भाषा में से नहीं निकली है। जब खड़ी बोली इन भाषाओं में से नहीं निकली है तो खड़ी बोली के इतिहास की दृष्टि से इन भाषाओं का साहित्य इसमें नहीं पढ़ाया जाना चाहिए। हिन्दी का खड़ी बोली के रूप में अपना इतिहास है। उसी से हिन्दी भाषा के क्रमिक इतिहास का पता चल पाएगा। वह इतिहास बहुत पुराना और रोचक भी है। वह इतिहास बहुत पुराना और रोचक न भी हो लेकिन उसमें कुछ किया नहीं जा सकेगा। वह जैसा है वैसा ही स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि यदि हमारी माँ अपने बचपन में सुन्दर लड़की नहीं रही थी तो दूसरों की माँ की जवानी को अपने माँ के बचपन पर आरोपित कर लें। वास्तव में, जिस समय की अवधी और ब्रज भाषा विश्व विद्यालयों में छात्रों को पढ़ाई जाती है वह उन भाषाओं का चरमोत्कर्ष काल है। हिन्दी में से यह हीनता का भाव निकाला जाना चाहिए कि हम हिन्दी साहित्य में इस देश में बारी बारी से प्रचलित साहित्य भाषाओं के यौवन काल को पढ़ाते रहेंगे।

6

बाबू श्याम सुन्दर दास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में मराठा भक्त प्रवर नाम देव की खड़ी बोली में रची गई कविता उद्धृत की है। उसकी एक पंक्ति इस प्रकार है—'पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।' इसी पुस्तक में उन्होंने सन 1780 के सीतल कवि की खड़ी बोली की रचना भी उद्धृत की हैं।

मैं यह कहने जा रहा हूँ कि खड़ी बोली का प्राचीन साहित्य भी कम गौरव पूर्ण नहीं है। हम में केवल इसके इतिहास को जानने की रुचि और सहने की मानसिक क्षमता होनी चाहिए। हम में यह साहस होना चाहिए कि कह सकें कि खड़ी बोली के ज्ञात आदि कवि अमीर खुसरो या कोई और मुसलमान हो सकते हैं। हम में इतनी ईमान दारी होनी चाहिए कि दक्खिनी हिन्दी को खड़ी बोली के इतिहास में शामिल कर सकें।

क ... डा० परमानन्द पांचाल ने दक्खिनी हिन्दी पर अपना शोध कार्य किया है । इ... वश, यहाँ यह भी बताया जा सकता है कि डा० परमानन्द पांचाल दक्खिनी को अपनी भाषा बताते हैं । वे मेरठ के एक गाँव के निवासी हैं । दक्खिनी को पढ़ कर और आंध्र प्रदेश के उस क्षेत्र में वह भाषा सुन कर उन्होंने कहा ...ह तो मेरे गाँव की भाषा है । मजे की बात यह है कि डा० परमानन्द पांचाल ... पुस्तक का विमोचन भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय के ...ीन केबिनेट मन्त्री श्री नर सिंह राव ने किया था । नर सिंह राव आंध्र प्रदेश के वाले हैं । उन्होंने अपने विमोचन भाषण में कहा था कि जिस भाषा पर डा० ...नन्द पांचाल ने शोध कार्य किया है वह मेरी मातृ भाषा है । विचित्र स्थिति दोनों विद्वान उस भाषा को अपनी अपनी मातृ भाषा बताने का दावा कर रहे इस लिए कहा जा रहा है कि हो न हो इस दक्खिनी हिन्दी के साहित्य में खड़ी के इतिहास के स्वर्ण काल के कुछ पन्ने भी हों, लेकिन हम सूर और तुलसी की में इस महान संपत्ति को छोड़े हुए हैं ।

हम जानते हैं कि कोई कवि कभी कभी दो दो भाषाओं में कविताएँ लिखते अंग्रेजी के मिल्टन भी ऐसा करते थे । एक उनकी प्रेरक भाषा होती थी, और दूसरी ... मातृ भाषा होती थी । उर्दू के हमारे अधिकांश कवि ऐसे रहे हैं । गालिब ...ी भाषा में कविता लिख सकते थे जैसे तुलसी दास राम चरित मानस को ...त में लिख सकते थे । लेकिन आम भाषा से जुड़ने के लिए दोनों कवि अपनी ... मूल प्रेरक भाषाएँ छोड़ते हैं । इसके लिए गालिब उर्दू पर आते हैं । मुझे मेरे डा० परमानन्द पांचाल से पता चला है कि पहले गालिब अपने दीवान का नाम ...वी' रखना चाहते थे लेकिन अपने सीमित उद्देश्य के लिए हम मान सकते हैं कि लिए गालिब फारसी को छोड़ कर उर्दू पर आए थे । इसी के लिए तुलसी दास ...त को छोड़ कर अवधी पर आते हैं । अब हमारा काम यह रह जाता है कि खड़ी से साम्य की दृष्टि से गालिब की उर्दू भाषा और तुलसी की अवधी भाषा की ... की जाए कि इनमें से कौन खड़ी बोली के अधिक नजदीक बैठती है । सच बात ... कि उर्दू देव नागरी लिपि में आते ही मेरी अपनी भाषा बन जाती है । गालिब उर्दू के तमाम कवियों के साहित्य में से हमें भाषा के आधार पर चयन करना ...ए । यदि उन कवियों ने उर्दू के नाम पर कहीं फारसी लिख दी है तो वह साहित्यिक से कितनी भी अच्छी गजल हो, हिन्दी से निकाल दी जानी चाहिए ।

संविधान के अनुच्छेद-343 में लिखा है कि संघ की राज भाषा हिन्दी होगी उसकी लिपि देव नागरी होगी । संविधान के अनुसार हिन्दी भाषा के रूप में एक है तथा लिपि के रूप में दूसरी बात है । संविधान के इस अनुच्छेद का यह मतलब लना गलत है कि संविधान से पहले जो जो साहित्य देव नागरी लिपि में लिखा

गया था वही वही हिन्दी का हो सकता है । इसका अर्थ यह बिलकुल नहीं है कि जो साहित्य देव नागरी लिपि में नहीं लिखा गया है वह हिन्दी का नहीं हो सकता । इन दोनों बातों से भिन्न संविधान ने यह माना है कि हिन्दी कई लिपियों में लिखी जाती रही है। स्वयं मेरठ जिले में महाजनों की मुंडी लिपि चलती रही है । कुछ साधुओं ने अपनी अलग लिपि बना रखी थी। मैंने उन लिपियों को खुद पढ़वाया है और जाना है कि उनकी भाषा हिन्दी होती थी। यही बात फारसी लिपि के बारे में सच है। हिन्दी फारसी लिपि में लिखी जाती रही है । संविधान इस संभावना से इन्कार नहीं करता है। स्वयं मेरे पास तुलसी दास की राम चरित मानस के दो कांड 'अयोध्या' और 'लंका' पिछली शताब्दी की हस्त लिखित फारसी लिपि में मौजूद हैं । संविधान केवल यह कहता है कि आगे से हिन्दी को केवल देव नागरी लिपि में लिखा जाएगा। इसका साहित्य के क्षेत्र में यही अर्थ निकलता है कि फारसी लिपि में लिखे हुए हिन्दी साहित्य को नकारना नहीं है बल्कि उसे देव नागरी लिपि में लिप्यन्तरित करके हिन्दी में पढ़ाया जाना चाहिए। संविधान के अनुच्छेद-351 में जो यह लिखा गया है कि हिन्दी भारतीय भाषाओं को आत्म सात करती चलेगी तो उसमें उर्दू को आत्म सात करवाने का सरल मार्ग केवल यह है कि उसे एक बार देव नागरी लिपि में प्रस्तुत कर दिया जाए।

हिन्दी भाषा के इतिहास की दृष्टि से अमीर खुसरो, दक्खिनी हिन्दी, उर्दू और खड़ी बोली क्षेत्र के हिन्दी कवियों के साथ साथ जिस एक और साहित्य को पढ़ाया जाना चाहिए वह उन सन्तों का साहित्य है जिनकी भाषा को हिन्दी साहित्य के इतिहास में अब तक 'पंच मेल खिचड़ी' या 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा जाता रहा है। उस पंच मेल में कम से कम एक मेल तो खड़ी बोली का होता है। 'शुद्ध मेल अवधी' में या 'शुद्ध मेल ब्रज' में तो खड़ी बोली का एक मेल भी सम्मिलित नहीं है।

इस पंच मेल खिचड़ी के कवि चाहे पंजाबी में पढ़ाए जा रहे हों, चाहे मराठी में, चाहे गुजराती में, ये सब हिन्दी में पढ़ाए जाने चाहिए। दुख की बात थी कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने कबीर जैसे निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों को साहित्य से ही निकाल फेंका था। इस बात से पता चलता है कि आचार्य राम चन्द्र शुक्ल की कसौटी उनके अपने मन की थी, भाषा और हिन्दी की नहीं । यदि हिन्दी को छोड़ कर उन्हें अन्य भाषाओं में उनके मनोनुकूल साहित्य मिला तो वह उन्होंने हिन्दी भाषा का साहित्य बता दिया। इसके विपरीत, जो खुद हिन्दी भाषा का साहित्य था परन्तु उनके मनोनुकूल विचारों का नही था उसे उन्होंने हिन्दी साहित्य से निकाल फेंका था । आज गलत इतिहास लिखने की इस मनोवृत्ति पर रोक लगनी चाहिए । आखिर आचार्य शुक्ल को कबीर में साहित्य नहीं दीखा, कोई बात नहीं, कबीर की भाषा तो सूर और तुलसी की भाषाओं के मुकाबले में खड़ी बोली के अधिक से अधिक निकट थी । लेकिन आचार्य राम चन्द्र शुक्ल को खड़ी बोली और

कबीर की भाषा की यह नजदीकी बिलकुल नहीं दीखी थी। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय भाषा की दृष्टि से वे बिलकुल अन्धे हो गए थे।

प्रश्न यह है कि आचार्य राम चन्द्र शुक्ल में यह साहस क्यों नहीं आया कि वे कहते कि सूर और तुलसी में साहित्य तो बहुत ऊँचा है परन्तु वे हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते क्योंकि उनकी भाषा खड़ी बोली नहीं है।

हम यह जाने कि आचार्य राम चन्द्र शुक्ल की हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय कसौटी क्या है। स्वामी रामानन्द शास्त्री और वीरेन्द्र पांडेय की संयुक्त रूप से लिखी हुई एक पुस्तक 'संत रविदास और उनका काव्य' है। इसमें लेखक ने आचार्य राम चन्द्र शुक्ल को उद्धृत किया है। यह उदाहरण रैदास और कबीर आदि सन्तों के बारे में है। उदाहरण इस प्रकार है—"बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा क्योंकि इसके लिए न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता।"

यहाँ आचार्य राम चन्द्र शुक्ल और वर्णाश्रम व्यवस्था का सम्बन्ध देखा जाना उचित रहेगा। नील कान्त ने अपनी पुस्तक 'राम चन्द्र शुक्ल' में आचार्य शुक्ल को उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' से उद्धृत किया है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं— "भक्ति मार्ग में इनकी इस उदारता का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि रामानन्द जी वर्णाश्रम के विरोधी थे।" यहाँ देखा जा सकता है कि रामानन्द के सामाजिक विद्रोह को आचार्य शुक्ल ऐसा सिद्ध करने की जरूरत महसूस करते हैं कि वह वर्णाश्रम विरोधी नहीं है।

सधुक्कड़ी भाषा के बारे में आचार्य राम चन्द्र शुक्ल नाथ पंथ के कनफटे जोगियों का हवाला देते हुए अपने इतिहास ग्रंथ में लिखते हैं—"इस पंथ का प्रचार राजपुताने तथा पंजाब की ओर ही अधिक रहा। अतः जब मत प्रचार के लिए इस पंथ में भाषा के भी ग्रंथ लिखे गए तब उधर की ही प्रचलित भाषा का व्यवहार किया गया। उन्हें मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी। जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली थी। इस प्रकार नाथ पंथ के इन जोगियों ने परम्परागत साहित्य की भाषा या काव्य भाषा से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी' भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।"

ऊपर दिए गए इस उद्धरण से एक बार फिर यह पता चलता है कि आचार्य शुक्ल की धारणा की काव्य भाषा का व्यावहारिक प्रयोजन की दृष्टि से जनता से कोई सम्बन्ध नहीं बैठता है। यदि किसी सम्प्रदाय को अपने मत का प्रचार करना था तो

उसे जन समाज में 'काव्य भाषा' से भिन्न जन भाषा में बोलना पड़ता था। इससे यह भी पता चलता है कि उस समय राजपुताने, पंजाब, दिल्ली और दिल्ली के आस पास के हरियाणे और कुरु लोक की जनता में ब्रज भाषा बोली और समझी नहीं जाती थी। आचार्य शुक्ल को मेरे इस निष्कर्ष से कोई परेशानी भी नहीं है। उल्टे इससे वे प्रसन्न ही होंगे कि मैं उन्हीं के मत का प्रचार कर रहा हूँ। वे यही मान कर चले हैं कि काव्य भाषा का जन भाषा से कोई संबंध नहीं होता है। इसी के बल पर उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास में डिंगल, अवधी, ब्रज और मैथिली को पढ़वाया है। जब उनके कवि अपने समय में अप्रचलित भाषा में कविता करते रहे हैं तो उनका तर्क यही बनेगा कि आज के विद्यार्थियों को उसे पढ़ने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। न ही उनके कवि कभी जन भाषा से जुड़े हैं ओर न ही उनके विद्यार्थियों को कभी जन भाषा से जुड़ने की आवश्यकता है। सच में ऐसा साहित्य दो चार लोगों की विलासिता बन कर रह जाता है। आचार्य शुक्ल यही चाहते हैं। वे यह नहीं मान सकते कि भाषा वही सार्थक और बड़ी होती है जो अधिक लोगों तक पहुँचती है। यदि सधुक्कड़ी भाषा हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों धर्मों के लोगों के साथ बोली जा सकती थी तो काव्य भाषा के नाम पर केवल साहित्य कारों की रसिकता के लिए ब्रज भाषा के रूप में वल्लभ सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा को चलाए रखना ठीक नहीं था। भाषा किसी धर्म से, देश से, या वर्ग से बँध कर नहीं रहती है।

7

यह हरेक मनुष्य की संभावना है कि वह बच्चा, जवान और बूढ़ा हो सकता है। ऐसा नहीं हो सकता कि कुछ लोग बूढ़े होंगे परन्तु वे जवान नहीं होंगे। जवानी से पहले बचपन अनिवार्य है। लेकिन पुरोहितों ने आश्रम व्यवस्था द्वारा मनुष्य के इस प्राकृतिक विकास के साथ भी धोखा किया था। आश्रम की व्यवस्था देने वाले चिन्तकों की चल नहीं सकी लेकिन उन्होंने यही चाहा था कि कुछ लोगों का बचपन, उनकी जवानी और उनका बुढ़ापा सब एक कर दिए जाएँ। फिर भी ब्राह्मणों के लिए चार आश्रम, क्षत्रियों के लिए तीन आश्रम, वैश्यों के लिए दो आश्रम, और शूद्रों के लिए एक ही आश्रम का विधान दे कर आश्रम व्यवस्था का व्यवहार मानव की प्रकृति से लड़ने बैठ गया था। चार वर्ण बना कर भी भारतीय चिन्तन केवल मनुष्य से लड़ा है। हर आदमी में चारों वर्णों की सम्भावनाएँ हैं लेकिन हमारे स्मृति कारों ने ये सारी सम्भावनाएँ मिटाने की अधिनायकी दिखाई है।

जिस प्रकार आश्रम और वर्ण की व्यवस्थाओं में मानव की प्रकृति के चार

फाड़ किए गए हैं, साहित्य की व्यवस्था में उससे कुछ कम बुरा नहीं किया गया है। मनुष्य के लिए यह सारी सृष्टि काव्यमय तथा इसकी सारी सामग्री साहित्यिक है। लेकिन आचार्य शुक्ल ने भाषा में से 'काव्य भाषा' तथा सामग्री में से 'साहित्य सामग्री' को अलग छाँट कर रखा है। यह अनपढ़ मनुष्य भी जानता है कि गाने में और न गाने में क्या अन्तर होता है। लेकिन आचार्य शुक्ल का काम 'काव्य भाषा' तथा 'साहित्य सामग्री' को जनता से दूर रखने का था। इसके लिए उन्होंने पहले जनता को 'शिक्षित और अशिक्षित' के दो भागों में बाँट दिया था। उसी विभाजन की परम्परा के आधार पर वे लोगों को 'साहित्यिक' और 'असाहित्यिक' कह गए हैं। उनका तर्क इस प्रकार बनता है—सारे शिक्षित लोग साहित्यिक हैं तथा सारे अशिक्षित लोग असाहित्यिक हैं। इससे पता चलता है कि आचार्य शुक्ल वर्ण और आश्रम के समान साहित्य के क्षेत्र में भी मनुष्य के मूल स्वभाव से लड़ पड़े हैं।

अभी तक पुरानी हिन्दी में जितनी साहित्य सामग्री का पठन पाठन किया गया है वह केवल पुरोहित समाज की संस्कृति का पठन पाठन है। चाहे उसमें सूर हों, तुलसी हों या कबीर और रैदास हों, ये सारे कवि एक दूसरे से नप कर चलते हैं। इनकी सारी भाषा मन्दिर और घन्टे बजाने की भाषा हो गई है। इसी मन्दिर और पूजा घर की भाषा में एक कवि को श्रेष्ठ तथा दूसरे को अधम घोषित किया जाता रहा है। मेरी दृष्टि में, यह गलती स्वयं रैदास और कबीर की है कि वे बर्णों की बिछाई हुई बाजी में क्यों सम्मिलित हुए थे। कबीर को कपड़ा बुनना था, रैदास को जूते बनाने थे, सूर और तुलसी को ब्राह्मण गिरी करनी थी। इस लिए ब्राह्मण गिरी दिखाने में कबीर और रैदास सूर और तुलसी की बराबरी नहीं कर सकते थे। मन्दिर और पूजा, जो सूर और तुलसी का व्यवसाय था, उसमें दूसरे व्यवसाय के लोग इतनी आसानी से आगे नहीं निकल सकते थे। कबड्डी के खेल में दोनों पारियों की शक्तियों को देखा जाना चाहिए। पूजा घर के जितने शब्द सूर और तुलसी के पास थे, उतने रैदास और कबीर के पास नहीं थे। रैदास और कबीर को स्कूल में जाने नहीं दिया गया था, न ही उन्हें मन्दिरों पर चढ़ने दिया गया था। हाँ, जिस जगह सूर और तुलसी, रैदास और कबीर की बराबरी तो क्या उनके पाँवों की धूल भी सिद्ध नहीं हो सकते थे वह क्षेत्र दूसरा है। उसमें सूर और तुलसी बुरी तरह हारे हैं। कबीर और रैदास का काम था कि बजाय तुलसी और सूर के, व्यवसाय में जा कर उन्हें हराने के, वे तुलसी और सूर को अपने व्यवसाय के खेमे में ला कर पटक देते। एक सीमा तक उन्होंने ऐसा किया भी है लेकिन वे ज्यादा तर तुलसी और सूर के खेमे में जा कर लड़े हैं। यह कुरु क्षेत्र सगुण और निर्गुण का बन कर रह गया है। यह कमाने वालों और न कमाने वालों के भेद का बनना चाहिए था। सूर और तुलसी किसी दूसरे व्यवसाय की दृष्टि से निठल्ले ही थे। उन्हें रोजी रोटी की चिन्ता नहीं थी—अग्रहारिक ब्राह्मण होने के नाते वह उन्हें मन्दिरों में अपने आप सुलभ

थी। उनका काम केवल पद और चौपाई रचना था। कबीर और रैदास को अपनी श्रम शक्ति के अलग गीत गाने चाहिए थे। निस्संदेह उन्होंने ये गीत गाए हैं पर उन्हें ऐसे गीत अधिक संख्या में गाने चाहिए थे। सूर और तुलसी को इसका क्या पता हो सकता था कि जूतियों में 'चरर मरर' की आवाज करवाने के लिए किस पेड़ के बीज भरे जाते हैं।

ऐसा नहीं होता है कि एक सामाजिक वर्ग की भाषा साहित्यिक होती है और दूसरे सामाजिक वर्गों की भाषा साहित्यिक नहीं होती है। यह गलत सामाजिक विभाजन है कि ब्राह्मण पुरोहित की भाषा साहित्यिक होती है तथा गैर ब्राह्मण श्रमिकों की भाषा असाहित्यिक होती है। यह उतना ही गलत विभाजन है कि ईश्वर, मन्दिर, पूजा, सगुण, निर्गुण, वर्ण, आश्रम की बात करने की भाषा 'काव्य भाषा' होती है, परन्तु शेष सारी भाषा 'अकाव्य भाषा' होती है। मैं ऐसा विभाजन कर सकता हूँ—धोबियों की काव्य भाषा, नाईयों की काव्य भाषा, जुलाहों की काव्य भाषा, चमारों की काव्य भाषा, कुम्हारों की काव्य भाषा, गड़रियों की काव्य भाषा और ब्राह्मणों की काव्य भाषा। विषय की दृष्टि से मैं ऐसा विभाजन कर सकता हूँ—खेत की कविता, कारखाने की कविता, मशीन की कविता, बसूले की कविता, मन्दिर की कविता और पूजा की कविता। अब किसी साहित्य शास्त्री का यह कहना कि ब्राह्मणों की काव्य भाषा जुलाहों की काव्य भाषा से श्रेष्ठ है, या जुलाहों की कोई काव्य भाषा नहीं होती, यह उसकी दुर्भावना ही है। इसमें यह फिर मन की दुर्भावना है कि मन्दिर पर लिखी गई कविता खेत पर लिखी गई कविता से श्रेष्ठ होती है या खेत पर लिखी गई कविता कविता ही नहीं होती। अब साहित्य के क्षेत्र में ऐसी कोई भी चौधराहट नहीं टिक सकेगी।

यह माना जा सकता है कि एक भक्त कवि की भाषा दूसरे भक्त कवि से श्रेष्ठ और सरल है। इसी प्रकार, यह भी माना जा सकता है कि एक मजदूर कवि से दूसरे मजदूर कवि की भाषा अधिक प्रांजल और सटीक है। इस प्रकार की भाषाई और साहित्यिक तुलनाओं की मनाही नहीं हो सकती। यदि समीक्षक की नीयत साफ हो तो एक भक्त कवि की दूसरे मजदूर कवि की भाषा से भी तुलना की जा सकती है। लेकिन किसी भी तुलना से परे यह निर्णय एकदम गलत है कि भक्त कवि की भाषा ही साहित्यिक होती है और मजदूर कवि की भाषा साहित्यिक नहीं होती है। आचार्य शुक्ल ने ऐसी साहित्यिक चौधराहट अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में यह लिख कर दिखाई है—"यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि 84 सिद्धों में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़ हारे, दरजी तथा बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे। अत: जाति पाँति के खंडन तो वे आप ही थे। नाथ सम्प्रदाय भी जब फैला, तब उसमें भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत से लोग आए जो शास्त्र ज्ञान सम्पन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था। पर अपने को

रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रज्ञ पंडितों और विद्वानों को फटकारना भी वे जरूरी समझते थे।"

मनुष्य का सम्मान करते हुए यह मान कर चला जाना चाहिए कि हर मनुष्य में साहित्यिकता होती है। यदि काव्य साहित्य के शास्त्र में विद्वानों ने नौ रसों की गिनती गिनाई है तो उन्हें साथ ही यह भी घोषित करना चाहिए था कि ये नौ के नौ रस हर मनुष्य की निजी सम्पत्ति हैं। यह स्वयं व्यक्ति मनुष्य पर निर्भर है कि वह अपने जीवन में एक या एक से अधिक किन रसों को महत्व देता है। मानव के मूल स्वभाव में किसी शिक्षित या अशिक्षित का अन्तर नहीं है। नील कांत ने भी अपनी पुस्तक 'राम चन्द्र शुक्ल' में लिखा है—"जनता को शिक्षित और अशिक्षित में विभाजित करना, विकृत समाज शास्त्रीय दृष्टि कोण है, क्योंकि अशिक्षित भी शिक्षित बनाए जा सकते हैं। स्पष्ट है कि इनमें निरपेक्ष भेद नहीं, सापेक्ष भेद है।" फिर जन सामान्य की शिक्षा भी अपने आपको साहित्यिक और भूदेव कहने वाले लोगों ने ही रोकी थी।

ऊपर दिए गए इस उद्धरण से आचार्य राम चन्द्र शुक्ल का मन्तव्य पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। ऐसा लग रहा है कि जैसे वे हिन्दी साहित्य का इतिहास न लिख कर संस्कृत साहित्य का इतिहास लिख रहे हों। जो काम शब्द कोश के निर्माण में डा० रघु वीर ने किया है वही काम आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने साहित्य के क्षेत्र में बहुत पहले कर दिया था। इन दोनों विद्वानों ने हिन्दी का नाम ले कर हिन्दी को नकारा है। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने रैदास और कबीर जैसे सन्तों को यहाँ तक गिराया है कि उन्हें सुधारक भी नहीं माना है। उन्होंने अपने परेशान मन से लिखा है कि पाश्चात्यों ने इन्हें धर्म सुधारक ही उपाधि दी है। इस आरोप के उत्तर में स्वामी रामानन्द शास्त्री और वीरेन्द्र पान्डे ने अपनी पुस्तक 'संत रविदास और उनका काव्य' में लिखा है—"जहाँ तक शिष्ट और शिक्षित समाज के लिए नई बात और नए आकर्षण के न होने का प्रश्न है उसे हम मानते अवश्य हैं किन्तु इसी लिए नहीं कि संत काव्य में किसी प्रकार का अभाव है, वरन उसके कारण कुछ और ही थे। सन्त कवि अपने समय की धार्मिक और सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं के विरुद्ध आवाज उठाने वाले उस समय की सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति के अग्रदूत थे। धर्म, समाज और शिक्षा में द्विजों का आधिपत्य था। अतः जन क्रान्ति के इन महान व्यक्तियों का धर्म, शिक्षा और समाज के कथित ठेकेदारों द्वारा पग पग पर तिरस्कार और संघर्ष होता रहा। ऐसी परिस्थिति में शुक्ल जी का यह कथन कि 'सन्त कवियों के प्रति शिष्ट और शिक्षित समुदाय में कोई आकर्षण न था, उस पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा'—ठीक उसी प्रकार का है, जैसे कोई मनचला कह उठे 'स्वतन्त्रता संग्राम में कांग्रेस का कोई महत्व नहीं क्योंकि आजादी के पहले अंग्रेज शासकों में से कोई उसका भक्त न था।"

उलटे यह नहीं माना जा सकता कि तुलसी दास का उनके समय में अपने जन

सामान्य पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा था। 'राम चरित मानस' केवल एक धार्मिक ग्रन्थ था, इससे अधिक कुछ नहीं। आज जो राम चरित मानस का हौवा खड़ा किया गया है यह हमारी उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की देन है। यह आतंक केवल कागज और छापे खाने के कारण है। मेरे पास जोग जीत द्वारा रचित जो जैमन पुराण है, सन 1819 में उसकी हस्त लिखित प्रति तैयार करवाने के लिए दस रुपए दिए गए थे। यह आज से पौने दो सौ वर्ष पहले की बात है। मुझे पता है कि मेरे गाँव के खेती हर मजदूर को आज से पैंतीस साल पहले एक कृषि फार्म में काम करने पर सवा रुपए रोज की मजदूरी मिलती थी। इससे समझा जा सकता है कि आज से दो सौ, तीन सौ, चार सौ और पाँच सौ वर्ष पहले तुलसी दास की राम चरित मानस की हस्त लिखित प्रति तैयार करने में कितना धन खर्च होता होगा। क्या यह किसी भी जन सामान्य के बल बूते की बात रही होगी? यही बात मैं कालिदास की 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' के बारे में कहना चाहता हूँ। ये सारे ग्रन्थ जनता की पकड़ से हर समय बाहर रहे हैं। उधर कबीर का समाज पर इतना प्रभाव पड़ा है कि वहाँ सब कुछ शिष्य परम्परा से मौखिक चला है। उन्हें किताबें लिखने की जरुरत नहीं थी। उन्हीं का निर्धन समाज पर पूरा पूरा असर पड़ा है। कबीर पंथ और रैदासी सम्प्रदाय तुलसी और सूर के व्यक्तिगत नामों की तुलना में हजार गुना अधिक प्रभाव शाली हैं।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी को हिन्दी के रूप में जानने की कोशिश नहीं की है; उन्होंने हिन्दी में वही जगह ढूँढी है जहाँ उसमें संस्कृत की चिप्पी लगी हुई मिलती है। हिन्दी में संस्कृत की इस कसौटी का एक सामाजिक प्रभाव पड़ता है। असल बात उस सामाजिक प्रभाव की है, न कि भाषा की। यदि रैदास और कबीर ब्राह्मणी धर्म को चुनौती न देते, बल्कि ब्राह्मण की देवता मान कर पूजा करते तो पक्के विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल रैदास और कबीर को भी महान साहित्य कार घोषित कर देते। उनके लिए मुसीबत यही थी कि रैदास और कबीर ब्राह्मणी धर्म को पग पग पर चुनौती देते हैं। इस लिए वश न चलते उन्होंने हिन्दी में से रैदास और कबीर को बाहर निकालने का रास्ता संस्कृत की कसौटी का खोज निकाला था। फिर इस निकालने में उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं थी कि हिन्दी में उनकी संस्कृत की कसौटी कितनी सही और कितनी गलत है।

वास्तव में यह भाषा की लड़ाई दो विचार धाराओं की लड़ाई थी। रैदास गाते हैं :

रैदास बामन मत पूजियो जो होवे गुण हीन :
पाँव पूज चंडाल के जो हो ज्ञान प्रवीण।

बिलकुल इसके विरोध में उनके बाद के कवि तुलसी दास लिखते हैं :

पूजिए विप्र ज्ञान गुन हीना; नहि शूद्र गुन ज्ञान प्रवीणा।

यह विषय दो बातों में से एक के छाँटने का है। इन दोनों उदाहरणों में एक से ही शब्द हैं। बस, तुलसी दास जिसे विप्र कहते हैं, रैदास उसे 'बामन' कहते हैं। केवल इतने अन्तर से तुलसी दास को महान साहित्य कार तथा रैदास के बारे में यह कह देना कि उनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटांग है, शुक्ल को साहित्य का इतिहास लिखने की गरिमा से च्युत कर देता है। इतना ही नहीं, भाषा और संस्कृति की दृष्टि से जो हिन्दी की विशेषता है, आचार्य शुक्ल ने उसे ही हिन्दी का दुर्गुण मान लिया है। पहले बताए गए लेखक द्वय ने रैदास की भाषा के बारे में लिखा है—"उनके काव्य में पूर्वी अवधी का समावेश अधिक है। अवधी शब्दों के अतिरिक्त प्रारम्भ से अंत तक अवधी के कारक चिह्नों का प्रयोग भी पाया जाता है। कहीं कहीं ब्रज भाषा और खड़ी बोली की विभक्तियाँ तथा उर्दू फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। भ्रमण के दौरान में सामने आने वाले स्थानीय शब्दों का प्रयोग कहीं कहीं दृष्टि गोचर होता है। पंजाबी भाषा के शब्दों का प्रयोग भी बहुत ही कम है, किन्तु पदों में अनेक स्थलों पर पंजाबी पन अवश्य आ गया है।" फिर ऐसी हिन्दी को हिन्दी न कह कर तुलसी दास की शुद्ध एक मेल 'अवधी' को हिन्दी कहना, साहित्य का इतिहास लिखने में आचार्य शुक्ल की निश्चित रूप से सामाजिक पक्ष धरता सिद्ध होती है।

कुल मिला कर रैदास और तुलसी दास के काव्य का अंतर श्रमिक संस्कृति और गैर श्रमिक संस्कृति का अंतर है। तुलसी दास कभी मेहनत कर के नहीं खाते थे। उन्हें जब क्रोध आता है तो वे यही कहते हैं—'मांग के खाइबो।' इधर, रैदास का राम भजन बिना हाथ से काम करने के पूरा नहीं होता है। वे घोषणा करके कहते हैं—'रवि दास स्रम करि खाइहि।' उनके चिन्तन को समझने के दोहे इस प्रकार हैं :

जिह्वा सो ओंकार जप, हत्थन सों कर कार।
राम मिलहिं घर आई कर, कहि 'रवि दास' विचार॥

करम बंधन मंह रमि रह्यो, फल कौ तज्यो न आस।
करम मनुष को धरम है, सत भाखै 'रवि दास'॥

जिह्वा भजै हरि नाम नित, हत्थ करहिं नित काम।
'रवि दास' भए निहचिंत हम, मम चित करेंगे राम॥

'रवि दास' स्रम करि खाईहि, ज्यौं लौं पार बसाय।
नेक कमाई जउ करइ, कबहुँ न निहफल जाय॥

स्रम कउ ईसर जानि कै, जउ पूजहिं दिन रैन।
'रवि दास' तिनहहि संसार महँ, सदा मिलहिं सुख चैन॥

यह एक तुलना करने की बात है कि रवि दास के 'जिह्वा सो ओंकार जप,

हत्थन सो कर कार' और नरोत्तम दास के 'सुदाम चरित' में 'भीख माँगि भोजन करै हिये जपत हरि नाम' में से कौन वास्तविक जीवन जी रहा है। सूर दास ने भी तुलसी दास और नरोत्तम दास के ही समान 'सुदामा चरित्र' में लिखा है—"भिच्छा वृत्ति उदर नित भरे, अहर्निसि हरि हरि सुमरन करे।"

प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि हर मनुष्य को अपने आत्म सम्मान की रक्षा करनी चाहिए। लेकिन आचार्य शुक्ल का आत्म सम्मान ब्राह्मण के रूप में चमार की तुलना में ही उजागर हुआ था। टेक चन्द शर्मा और कँवर सेन शर्मा की एक संयुक्त पुस्तक 'शुक्ल समीक्षा' है। इसमें बतांया गया है कि आचार्य शुक्ल की कम पैसे की नौकरी के कारण उनकी पत्नी ने उन्हें दो चार बात कही। इस पर शुक्ल जी तत्काल बोले थे :

चीथड़े लपेटे चने चाबेंगे चौखाट पर,
चाकरी करेंगे नहीं चौपट चमार की।

काव्य की यह एक पंक्ति आचार्य शुक्ल की पूरी सामाजिक मनोवृत्ति को उजागर कर देती है। दुःख इस बात का है कि उनका अनुप्रास अलंकार उनके काव्य में 'चमार' शब्द के आने से ही सजता है।

शुक्ल की यह साम्प्रदायिक विचार धारा केवल शूद्रों तक सीमित नहीं है। उनकी यह साम्प्रदायिक द्वेष की भावना मुसलमानों तक फैली हुई है। मध्य प्रदेश प्रगति शील लेखक संघ ने धनंजय वर्मा के सम्पादन में 'वसुधा विशेष : आचार्य राम चन्द्र शुक्ल' प्रकाशित किया है। इसमें डा० माजदा असद का एक लेख 'मुसलमान होते हुए भी मनुष्य होने का परिचय' छपा है। इस लेख में आचार्य राम चन्द्र शुक्ल को 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका' से इस प्रकार उद्धृत किया गया है—"कुतवन मियाँ एक ऐसी कहानी ले कर जनता के सामने आए जिसके द्वारा उन्होंने मुसलमान होते हुए भी अपने मनुष्य होने का परिचय दिया।" इस पर डा० माजदा असद ने अपनी सख्त टिप्पणी इस प्रकार की है—"शुक्ल जी के इन कथनों से एक बात तो उभरती है कि मुसलमान और मनुष्यता के सम्बन्ध में उन्हें संदेह है। मुसलमान से वह मनुष्यता की आकांक्षा नहीं रखते, नहीं तो इस प्रकार वक्तव्य न देते कि मुसलमान होते हुए भी अपने मनुष्य होने का परिचय दिया।"

तीसरा भाग

अध्याय—7

संविधान का अनुच्छेद-351 : हिन्दी को वरदान

1

हमारे राज्य ने अपने एक निश्चित उद्देश्य के लिए हिन्दी भाषा की प्रसार वृद्धि तथा इसके विकास के काम को अपने अनेक महत्त्व पूर्ण कामों में से एक समझा है। इस काम को करने का राज्य ने मार्ग भी बताया है। सबसे पहले इसमें यह स्वीकार किया गया है कि हिन्दी भाषा की अपनी एक आत्मीयता है। फिर यह कहा गया है कि हिन्दी की इस आत्मीयता में हस्तक्षेप करने का अधिकार किसी को नहीं है। इसमें आगे यह भी कहा गया है कि हिन्दी भाषा के प्रसार में हिन्दुस्तानी और अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और अभिव्यक्ति को आत्मसात किया जाता रहेगा। इन सब शर्तों के रहते हुए संविधान में लिखा गया है कि जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो, हिन्दी भाषा के शब्द भंडार के लिए पहले संस्कृत से तथा उसके बाद अन्य भाषाओं से शब्द लिए जाएँगे। यह बात संविधान को बहुत महत्व पूर्ण लगी है। पहली बात यही है कि दूसरी भाषाओं से शब्द तभी लिए जाएँ जब वे आवश्यक हों या वांछनीय हों अर्थात जहाँ शब्द लेने की आवश्यकता महसूस न की गई हो वहाँ वे न लिए जाएँ। इस बात का अभी तक कोई नियम नहीं बनाया जा सका है कि हिन्दी में नए शब्द की आवश्यकता कब पड़ती है और कब नहीं। अंग्रेजी के इन 'नेसेसरी' तथा 'डिजायरेबल' शब्दों के अर्थों पर बिना ध्यान दिए इनका मनचाहा प्रयोग किया जाता है। जहाँ आवश्यकता नहीं है वहाँ भी दूसरी भाषाओं से शब्द लिए जा रहे हैं। किसी भी शब्द की वांछनीयता पर ध्यान नही दिया जाता है। हर शब्द को आवश्यक और वांछनीय बनाया जा रहा है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं, मानो संविधान में आवश्यक और वांछनीय शब्द न लिख कर इन दोनों जगह 'अनिवार्य' शब्द लिख दिया गया हो।

संविधान में यह कहा गया है कि यदि ऐसे शब्द आवश्यक या वांछनीय प्रतीत होते हों तो उन्हें पहले संस्कृत से लेना है। संविधान के इस दिशा निर्देश में कोई संदेह नहीं है और यह सर्वथा उचित है। यदि किसी एक कार्य के लिए कई भाषाओं में कई शब्द प्रयुक्त हों और उसकी आवश्यकता महसूस की जा रही है या वह शब्द चल सकता है तो उसे छाँट कर संस्कृत में से ले लिया जाना चाहिए। लेकिन यदि वह शब्द संस्कृत में नहीं है या यदि वह हिन्दी की आत्मीयता में हस्तक्षेप करता है तो फिर वह शब्द अन्य भाषाओं में से लिया जाना चाहिए। अन्य भाषाओं में किसी भाषा विशेष

का नाम नहीं दिया गया है। तब हिन्दी के लिए विश्व की सारी भाषाएँ अपनी हैं। फिर उसके सामने सारे द्वार खुले हैं। फिर अरबी भी उसकी है, फारसी भी अंग्रेजी भी और फ्रेंच भी।

इसमें हमें तीन बातें निश्चित करके चलनी हैं। पहली यह कि यदि हिन्दी संविधान में केन्द्र की राज भाषा नहीं बनती तब भी वह एक देशीय भाषा थी। हिन्दी इस लिए नहीं है क्योंकि वह संविधान में है बल्कि संविधान से पहले भी हिन्दी है। कहा जाना चाहिए कि संविधान में राज भाषा के रूप में चलते हुए यह भाषा के रूप में संविधान से स्वतन्त्र एक भाषा है। हिन्दी थी और संविधान ने इसे अपनाया है। ऐसा नहीं है कि हिन्दी नहीं थी और संविधान ने इसे बनाया है। संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित पन्द्रह भाषाओं में हिन्दी भी एक भाषा है। वही हिन्दी आगे बढ़ने और विकसित होने वाली हिन्दी के लिए प्रमाण और कसौटी है। यह संविधान में आने के बाद संविधान से अलग रह रह कर भी आगे बढ़ रही है। संविधान ने भी इसे आगे बढ़ाने का काम किया है लेकिन इसकी आत्मीयता में बिना हस्तक्षेप किए इसे आगे बढ़ाने का वचन हिन्दी जनता को दिया है। इस वचन बद्धता के कारण भारत सरकार भारत की जनता को हिन्दी का ऐसा विकास करके नहीं देगी जिसे हिन्दी ही न कहा जाए। संविधान ने विश्वास दिया है कि अपने हाथों में वह हिन्दी के साथ कुछ भी गलत सलत नहीं होने देगा। वह हिन्दी को हिन्दी के अनुरूप ही विकसित करेगा।

दूसरी बात हिन्दी भाषा के लिए समय की सीमा रेखा बाँधने की है। यह सीमा संविधान के लागू होने के दिन अर्थात 26 जनवरी, 1950 की माननी उचित रहेगी। संविधान के लागू होने के पहले वर्ष में संविधान में उल्लिखित सभी भारतीय भाषाओं के शब्द कोशों को प्रमाण माना जा सकता है। उस समय के जो हिन्दी भाषा के शब्द कोश हैं उन्हें हिन्दी के लिए आधार माना जाना चाहिए। इसी प्रकार संस्कृत के लिए संस्कृत के तत्कालीन शब्द कोशों को आधार मानना चाहिए।

तीसरी बात यह है कि संविधान में यह कहा गया है कि अपने शब्द भंडार के लिए हिन्दी पहले संस्कृत से तथा उसके बाद अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करेगी। इसका अर्थ यह है कि यदि संस्कृत भाषा में कोई शब्द है तो उसे लिया जा सकता है लेकिन यदि वह शब्द संस्कृत भाषा में नहीं है तो फिर उसे अन्य भाषाओं में से लिया जा सकता है। यहाँ ध्यान रहे कि संविधान ने संस्कृत से या दूसरी भाषाओं से शब्द लेने भर की बात कही है लेकिन यदि शब्द निर्माण की बात आती है तो इसे फिर हिन्दी के स्वभाव पर छोड़ दिया गया है।

आज शब्द भंडार तथा शब्द रचना दोनों को एक मान कर चला जा रहा है

जबकि इन दोनों में गहरा अन्तर है । अब शब्द भंडार के लिए भी शब्द रचना की जा रही है । हिन्दी में जिस अर्थ के लिए संस्कृत में शब्द नहीं है उस शब्द की ढूँढ़ के लिए उसे दूसरी भाषा में जाने का अवसर नहीं मिलता है । संविधान में स्पष्ट लिखा है कि सबसे पहले संस्कृत से शब्द लीजिए लेकिन यदि वह शब्द वहाँ नहीं मिलता है या वह हिन्दी की आत्मा के अनुरूप नहीं है तो उसके लिए दूसरी भाषाओं से शब्द ले लिया जाना चाहिए । लेकिन आज संस्कृत ने दूसरी भाषाओं से शब्द लेने का हिन्दी का मूल अधिकार छीन लिया है । एक प्रकार से संस्कृत ने ठेका ले लिया है कि वह हिन्दी के लिए हर शब्द देगी । यदि संस्कृत के पास वह शब्द नहीं है तो संस्कृत उसे बना कर देगी । यह शब्द बना कर देने की बात जँच सकती है लेकिन संस्कृत ने कह रखा है कि यदि वह शब्द उससे बन नहीं पाएगा तो यह फिर भी उसे घड़ कर देगी । यूँ संस्कृत ने हिन्दी का स्वाभाविक विकास रोक दिया है। आज लोगों को महसूस हो रहा है कि संस्कृत हिन्दी की सहज प्रगति को बल पूर्वक रोके खड़ी है । हिन्दी के विकास के नाम पर हिन्दी में संस्कृत का पेट फूलता जा रहा है । यह हिन्दी का सहज रूप नहीं है ।

संविधान ने संस्कृत को यह सम्मान दिया है कि वह हिन्दी की सेवा करे लेकिन वह हिन्दी पर अधिकार रखने वाली एक मात्र रानी बनना चाह रही है। संस्कृत हिन्दी को इसकी आत्मा के अनुरूप शब्द अपनाने नहीं दे रही है। हिन्दी संस्कृत की इतनी ही ऋणी है कि इसने संस्कृत से कुछ शब्द ग्रहण किए हैं । लेकिन इस प्रकार हिन्दी ने अरबी, फारसी और अंग्रेजी से भी शब्द ग्रहण किए हैं । अरबी, फारसी और अंग्रेजी की तुलना में संस्कृत को इतना ही बड़प्पन प्राप्त है कि वह हिन्दी के सम्पर्क में इनसे पहले आई है । इससे अधिक संस्कृत का हिन्दी पर दूसरा कोई अधिकार नहीं बनता है । संस्कृत हिन्दी की माँ, दादी या परदादी में से कुछ नहीं है। बस इतना कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में हिन्दी का प्राचीन रूप संस्कृत के सम्पर्क में रहा है ।

2

यह बात इस समय भुलाई जा रही है कि हिन्दी ने संस्कृत के शब्दों को भी अपनी प्रकृति के अनुसार बना कर लिया है। यदि कोई शब्द बोलने में कठिन नहीं है तो उसे ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है, अन्यथा उसमें आवश्यक परिवर्तन कर लिया है। यह तत्सम और तद्भव का भेद बहुत पुराना है । आज हिन्दी को संस्कृत से जितने शब्द दिए जा रहे हैं उनमें से एक भी तद्भव न हो कर नियम से सारे तत्सम हैं। संस्कृत भाषा के अनुरूप शब्द निर्माण करके हिन्दी में चलाए जा रहे हैं । संस्कृत राज भाषा न बनी, न सही, उसका बदला इस प्रकार लिया जा रहा है।

एक शब्द 'लाटरी' को देखा जा सकता है । यह हिन्दी में बहुत दिन पहले से खपा हुआ शब्द है । प्रत्येक हिन्दी भाषी इसे और इसके अर्थ को पूरी तरह जानता है । इसके लिखने में उसे कोई परेशानी नहीं है । यह हिन्दी में कभी कभार प्रयोग होने वाला शब्द नहीं है । प्रेम चन्द ने आज से पचास वर्ष से भी पहले इसे ज़न सामान्य का शब्द माना है । यह इतना सामान्य शब्द है कि उन्होंने अपनी एक कहानी का शीर्षक 'लाटरी' रखा है । लेकिन यदि आज संस्कृत वाले इसके लिए नया शब्द 'भाग्यदा' बना कर देते हैं तो इससे हिन्दी का शरीर अवश्य टूट जाता है ।

हिन्दीं में संकर शब्दावली की भरमार है । इसमें कोई कोई शब्द कई भाषाओं के मेल से बनता है । ऐसे संकर शब्द फारसी हिन्दी, अरबी हिन्दी, अंग्रेजी हिन्दी, तुर्की हिन्दी, हिन्दी फारसी, अरबी फारसीं, अंग्रेजी फारसी, तुर्की फारसी, हिन्दी अरबी, अंग्रेजी अरबी, हिन्दी अंग्रेजी और फारसी अंग्रेजी के हजारों हैं । लेकिन अब संस्कृत ने अपना संकुचित दायरा हिन्दी पर थोप दिया है । अब हिन्दी को एक भी अरबी, फारसी या अंग्रेजी का शब्द नहीं लेने दिया जाता है । इतना ही नहीं, जो हिन्दी में उर्दू शैली के शब्द पहले से प्रचलित हैं उन्हें लगातार हटाया जा रहा है । यह हिन्दी की आत्मा के साथ हस्तक्षेप करने की चरम सीमा है संस्कृत हिन्दी की प्रकृति के बिलकुल अनुरूप पहले से प्रयुक्त हो रहे हिन्दी के शब्दों को भी हिन्दी से निकाल रही है । खड़ी बोली हिन्दी के मेरठ जिले का कबड्डी खेलने की आयु वाला हर निरक्षर और साक्षर बालक 'गारन्टी' और 'गारन्टी शुदा' शब्दों को खूब जानता है । वह अपने खेल में गारन्टी से जीतने की बात करता है । फिर भी अंग्रेजी के 'गारंटिड' शब्द को 'गारन्टी शुदा' न कह कर 'प्रत्याभूत' कहा जा रहा है । मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इस 'प्रत्याभूत' शब्द को एक भी हिन्दी भाषी नहीं समझता है ।

एक नियम बना लिया जाना चाहिए कि सन 1950 तक हिन्दी शब्द कोशों में यदि कोई शब्द प्रचलित था तो उसे हिन्दी में से न निकाला जाए और यदि कोई शब्द सन 1950 तक संस्कृत के शब्द कोशों में था तो उसे लिया जाए अन्यथा बाद के कृत्रिम शब्द कोशों का न लिया जाए । संस्कृत में शब्द न मिलने पर उसे तुरन्त दूसरी भाषाओं से ले लिया जाए । यदि हिन्दी के लिए शब्द निर्माण की आवश्यकता पड़ती है तो शब्द निर्माताओं का चयन करते समय उस व्यक्ति का चयन नहीं किया जाना चाहिए जो संस्कृत भाषा को हिन्दी से ऊँची भाषा मानता है । संस्कृत की अति को देखते हुए हिन्दी भाषा के शब्द निर्माण के लिए संस्कृत का ज्ञान छूत का रोग घोषित कर देना चाहिए । जिन शब्दों का हिन्दी में अनुवाद न प्राप्त हो अथवा अनुवाद बहुत निकृष्ट हो उन्हें उसी स्वरूप में देव नागरी लिपि में अपनाया जाना चाहिए चाहे वे किसी भी विदेशी भाषा के हों । प्रयास यह रहना चाहिए कि ऐसे शब्द सम्मिलित किए जाएँ जो हिन्दी भाषियों को उनकी जिह्वा के अनुसार मान्य हों और सरलता से अपनाए जा सकें ।

हिन्दी भाषा बिना पढ़ाए लिखाए जन भाषा के आधार पर विकसित होती थी—इस लिए इसमें कुछ बातें बहुत अच्छी हो गई हैं। इससे हमें यह जानने का आधार मिलता है कि हिन्दी का स्वभाव क्या है। अनपढ़ हिन्दी भाषियों के मुख सुख द्वारा अपनाए गए शब्दों का प्रकार देखा जा सकता है। पहली बात हिन्दी ने केवल संस्कृत से ही शब्द ग्रहण नहीं किए हैं बल्कि इसके शब्द अनेक भाषाओं से आए हैं। इसमें ये शब्द तत्सम या तद्भव रूप में स्वीकार किए गए हैं। इससे हमारे सामने हिन्दी के शब्दों की एक मजबूत पकड़ आती है । हम फारसी, संस्कृत, अरबी, तुर्की या अंग्रेजी भाषाओं से लिए गए शब्दों के नमूने देख सकते हैं। इस कसौटी का भी एक खतरा है कि आज जो संस्कृत के शब्द हिन्दी में तत्सम माने गए हैं वे केवल आज की बनावटी हिन्दी के हैं ।

हिन्दी न संस्कृत है, न फारसी और न अंग्रेजी। इन सबसे अलग हिन्दी संविधान की आठवी अनुसूची में उल्लिखित एक जन भाषा है। इसकी अपनी एक जीनियस है। इसके शब्द भंडार के लिए हिन्दी में अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को हिन्दी की परम्परा के अनुरूप तद्भव बना कर या ज्यों के त्यों तत्सम रूप में अपनाने की तनिक भी कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

हिन्दी में शब्द निर्माण के लिए संस्कृत का बंधन ठीक नहीं है । संस्कृत से कोई ऐसा शब्द जो सन्धि से बनाया जाता है हिन्दी में नहीं लिया जाना चाहिए। उपसर्ग तथा प्रत्यय लगा कर शब्दों के निर्माण की हिन्दी की प्रकृति नहीं है । हिन्दी में संस्कृत से वे ही शब्द लेने पर विचार किया जा सकता है जिनमें सन्धि, उपसर्ग तथा प्रत्यय न हों । इस कसौटी के बाद उन शब्दों को हिन्दी के उच्चारण के प्रति खरा उतरना चाहिए । अगली कसौटी उनके सरल और सहज होने की है । ये हिन्दी की कसौटियाँ हैं जिन पर हिन्दी चलती आई है। हिन्दी की जीनियस में हस्तक्षेप न होने देने के लिए एक नियम बना लिया जाना चाहिए कि कोई भी पाँच मात्राओं से बड़ा शब्द हिन्दी को नहीं दिया जाएगा ।

हिन्दी दो कारणों से कठिन बन जाती है। पहला, प्रत्येक अंग्रेजी शब्द का अनिवार्य रूप से अनुवाद किया जाना, दूसरा, अनुवाद में लिया गया प्रत्येक शब्द अनिवार्य रूप से संस्कृत का तत्सम होना। ये दोनों अनिवार्यताएँ हिन्दी के हित में समाप्त कर दी जानी चाहिए।

मूल उद्देश्य यह बताना है कि यह न समझा जाए कि हिन्दी भाषा अंग्रेजी और फारसी से घृणा करती है तथा संस्कृत से प्यार करती है। भाषा के नाते हिन्दी इनमें से किसी से भी घृणा नहीं करती है, न ही वह इनमें से किसी एक से विशेष प्यार करती है। हिन्दी के लिए अंग्रेजी, फारसी और संस्कृत तीनों एक समान दूरी

पर हैं। इस चिन्तन को धर्म के क्षेत्र में बहुत पहले रैदास बखूबी कह गए हैं "मस्जिद सो घिन्न नहीं, मन्दिर सो नहिं प्यार।" हिन्दी के इन तीनों भाषाओं से संबंध इस प्रकार दिए जा सकते हैं :

क. हिन्दुस्तानी के रूप में फारसी को आत्म सात कर लेना;

ख. अंग्रेजी की अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली को अपना लेना;

ग. संकल्पनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए संस्कृत से शब्द लेना।

इस वर्गी करण से देखा जा सकता है कि राज भाषा के रूप से यह इनमें से किसी भी भाषा का निरादर नहीं करती है।

कुछ लोग कानून में अपने हित की बात पढ़ कर रह जाते हैं। संविधान ने यह क्या कह दिया कि अपने शब्द भंडार के लिए हिन्दी पहले संस्कृत से शब्द ग्रहण करेगी—इससे हिन्दी में सब जगह संस्कृत के खूँटे और तम्बू तान दिए गए हैं। वे संविधान के इस अनुच्छेद को इस प्रकार पढ़ते हैं मानो उसमें केवल ये ही शब्द लिखे गए हों। उसमें जो यह लिखा गया है कि शब्द केवल तभी लिए जाएँ जब आवश्यक या वांछनीय हों; उसे ऐसा पढ़ते हैं मानो वह लिखा ही न गया हो। उसमें जो आगे यह लिखा गया है कि दूसरी अन्य भाषाओं से भी शब्द लिए जाएंगे, उसे भी ऐसा पढ़ते हैं मानो वह भी संविधान में न लिखे गए हों। 'दूसरे' का अनुवाद अपने उद्देश्य के लिए 'गौणतः' कर लिया गया है।

संविधान के इस अनुच्छेद को पढ़ने वाले लोगों को ध्यान रखना चाहिए कि यदि इसमें संस्कृत का विशेष रूप से नाम ले कर उल्लेख किया गया है तो संस्कृत से भी पहले हिन्दुस्तानी का विशेष रूप से नाम ले कर उल्लेख आया है। इसके सिवा जहाँ संस्कृत से मात्र शब्द लेने की बात कही गई है, वहाँ हिन्दुस्तानी के रूप शैली और पदावली तक को आत्म सात करने की शर्त रखी गई है। इससे पता चलता है कि हिन्दी पहले हिन्दुस्तानी के पास आती है—संस्कृत से वह अपना संबंध बहुत बाद में जोड़ती है। हिन्दुस्तानी के बाद हिन्दी को अन्य भारतीय भाषाओं से मेल जोल बढ़ाना है।

मौहम्मद मसऊद खाँ का 'भाषा त्रैमासिक' जून 1967 की पत्रिका में एक लेख 'देव नागरी लिपि ही क्यों ?' छपा है। इसमें उन्होंने भारत के संविधान की भाषा संबंधी पृष्ठ भूमि दी है। उन्होंने बताया है कि 1937 में एक पटना पैक्ट हुआ था। उस पैक्ट में बाबू राजेन्द्र प्रसाद और डाक्टर मौलवी अब्दुल हक ने हस्ताक्षर किए थे। समझौते का मुख्य अंश इस प्रकार दिया गया है —"हम इस बात पर सहमत हैं कि भारत की सामान्य भाषा हिन्दुस्तानी होनी चाहिए तथा वह उर्दू और देव नागरी की दोनों लिपियों में लिखी जानी चाहिए जो राज काज तथा शैक्षिक दोनों उद्देश्यों के लिए स्वीकृत की जानी चाहिए।" यहाँ देखा जा सकता है कि बिहार में हिन्दी की

पृष्ठ भूमि हिन्दुस्तानी की है। विवाद केवल लिपि का था, भाषा का नहीं। यहाँ पर यह भी देखा जा सकता है कि जब दिल्ली से दूर बिहार की भाषा हिन्दुस्तानी मानी गई थी तो खुद दिल्ली की और दिल्ली से चल कर बिहार से पहले पड़ने वाले उत्तर प्रदेश की भाषा हिन्दुस्तानी के सिवा कुछ दूसरी नहीं हो सकती थी। यह हिन्दुस्तान के विभाजन की दुःखद घटना का परिणाम है कि हम हिन्दुस्तानी शब्द को उतना महत्व नहीं दे सके जितना इसे दिया जाना चाहिए था।

संस्कृत की जो विशेषता है उसे हिन्दी ने पहले ही स्वीकार कर लिया है। इससे आगे संस्कृत अपनी लड़ाई को हिन्दी में आ कर क्यों लड़ती है? संस्कृत की संसार की अन्य सभी भाषाओं से लड़ाई चल रही है। उस लड़ाई को संस्कृत अपने बल पर लड़ती रहे। उसे अपने शब्द कोश में 'खुदा' शब्द नहीं रखना है तो न रखे, उसे ऐसा करने के लिए कोई कहता नहीं है। यह उसकी अपनी सोच है। उसमें अब्राह्मणों, अनार्यों और अद्विजों का हस्तक्षेप नहीं चलेगा। लेकिन दुःख इस बात का है कि अंग्रेजी और फारसी से अपनी लड़ाई को वह हिन्दी में आकर लड़ती है। संस्कृत ने हिन्दी को कुरु क्षेत्र बना दिया है। इससे हिन्दी का बेहद नुकसान हो रहा है। हिन्दी अंग्रेजी, फारसी और संस्कृत को आत्म सात कर लेना चाहती है लेकिन संस्कृत अंग्रेजी और फारसी से लड़ने लगती है। यह स्वयं प्रतिष्ठित होने के लिए अंग्रेजी और फारसी समेत स्वयं हिन्दी की प्रतिष्ठा को भी हानि पहुँचाती है। संस्कृत का भला केवल इसमें नहीं है कि संस्कृत का शब्द लिया जाए, इसे खुशी तब मिलती है जब हिन्दी का अपना प्रचलित शब्द हिन्दी में से हटाया जाता है। यह वही मनोवृत्ति है जिसमें पुराने जाति वादी ब्राह्मणों का भला इतने भर से नहीं होता है कि ब्राह्मण का भला हो, बल्कि ब्राह्मण का भला तभी माना जाता है जब उसमें शूद्र का बुरा साथ साथ हो।

3

हिन्दी भाषा संविधान की आठवी अनुसूची में सम्मिलित है। हिन्दी भाषा संविधान के 351 वे अनुच्छेद में उल्लिखित है। कुछ विद्वानों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि 8 वी अनुसूची में सम्मिलित हिन्दी संविधान के 351 वे अनुच्छेद में उल्लिखित हिन्दी से भिन्न है। उन्होंने दो प्रकार की हिन्दी की कल्पना की है। इतना ही बल्कि नहीं उन्होंने दोनों प्रकार की हिन्दी को आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी अलग अलग स्तर की निर्धारित की है। उनके अनुसार, 8 वी अनुसूची में सम्मिलित हिन्दी को विकसित करने का काम हिन्दी भाषी क्षेत्रों की राज्य सरकारों का है तथा 351 वे

अनुच्छेद में उल्लिखित हिन्दी को आगे बढ़ाने का काम भारत की संघ सरकार का है।

यह पता नहीं चलता कि ऐसे विद्वान दो प्रकार की हिन्दी का तर्क किन उद्देश्यों को ध्यान में रख कर करते हैं। आन्ध्र प्रदेश के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश गोपाल राव एकबोटे ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्र भाषा विहीन राष्ट्र' में दो प्रकार की हिन्दी की वकालत की है। चूंकि वे एक अहिन्दी भाषी प्रान्त के निवासी हैं इस लिए उनकी एक भिन्न मनो भूमि हो सकती है। हो सकता है कि वे ऐसा तर्क इस लिए देते हैं कि अहिन्दी भाषियों के मन में यह शंका न उठे कि उन पर हिन्दी भाषी राज्यों की हिन्दी थोपी जा रही है। वे अहिन्दी भाषियों का चिन्तन इस आधार पर उदार बनाना चाहते हों कि उन्हें जो हिन्दी सिखाई जाएगी वह हिन्दी भाषी राज्यों की हिन्दी से भिन्न एक नई हिन्दी होगी। उन्होंने कहा भी है कि अखिल भारतीय स्तर पर स्कूल और कालेजों में बच्चों को जो हिन्दी पढ़ाई जाएगी वह किसी राज्य विशेष की हिन्दी नहीं होगी। उन्होंने हिन्दी भाषी राज्यों की हिन्दी को क्षेत्रीय हिन्दी कहना चाहा है। यदि उनका तर्क इस प्रकार के उद्देश्य को ले कर है जो ऊपर रखा गया है तो इसमें कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इसमें हिन्दी भाषी राज्यों का भी यही उद्देश्य है कि हिन्दी सबके लिए सुलभ हो सके। लेकिन यदि जस्टिस एकबोटे का यह विचार हो कि सच में ही हिन्दी दो प्रकार की है तो यह माने जाने वाली बात नहीं है। हमारे देश में इस समय सात राज्य हिन्दी भाषी हैं। ये राज्य जिस हिन्दी को मानते हैं, संविधान के 351 वे अनुच्छेद में उल्लिखित हिन्दी उससे भिन्न नहीं है। वास्तव में, हिन्दी संविधान के बनाने के पहले से ही इस देश में बोली जा रही थी। संविधान ने उसे बनाया नहीं है। क्या जस्टिस एकबोटे यह कहना चाहते हैं कि यदि संविधान के अनुच्छेद 351 में हिन्दी का उल्लेख किया जाना था तो उसे 8 वी अनुसूची में नहीं रखा जाना था? फिर क्या संविधान के अनुच्छेद 351 में उल्लिखित संस्कृत भी 8 वी अनुसूची में सम्मिलित संस्कृत से भिन्न है? सच बात यह है कि जो संस्कृत 8 वी अनुसूची में है वही संस्कृत अनुच्छेद 351 में है। इसी प्रकार, जो हिन्दी 8 वी अनुसूची में सम्मिलित है, संविधान के अनुच्छेद 351 में भी उसी हिन्दी को विकसित करने की बात कही गई है।

संविधान के 351 वे अनुच्छेद में हिन्दी की जीनियस की बात कही गई है। उसमें कहा गया है कि हिन्दी को विकसित करने में हिन्दी की जीनियस के साथ हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। इसके लिए जस्टिस एकबोटे ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि हिन्दी की प्रकृति क्या है। उन्होंने बतलाया है कि संविधान ने हिन्दी भाषा की प्रकृति और हिन्दी भाषा के स्वरूप में फर्क किया है। उनकी व्याख्या के अनुसार प्रकृति आत्मा के समान है और रूप शरीर की तरह है। प्रकृति को परिभाषित करने के लिए उन्होंने साहित्य कारों के कथनों का सहारा लिया है कि भाषा की प्रकृति की पहचान

परम्परा और प्रयोग से की जानी चाहिए। इसमें उन्होंने तीन बातें गिनाई हैं —परम्परा, प्रभाव और भाषा बोलने का क्षेत्र। इसके बाद उन्होंने हिन्दी की प्रकृति की सात विशेषताएँ तय की हैं—सार्वदेशिकता, पुरातनत्व, सरल समावेशकता, भिन्न भिन्न और अनेक स्रोतों से उसकी व्युत्पत्ति, इस भाषा का उदारतावादी दृष्टिकोण, भारतीय संस्कृति अर्थात समन्वित संस्कृति की अभिव्यक्ति, क्षमता और बोधगम्यता। कुल मिला कर उन्होंने कहा है कि हिन्दी की प्रकृति अखिल भारतीयता की प्रकृति है।

इस तर्क में उन्होंने कुछ भी गलत नहीं कहा है, लेकिन केवल एक चालाकी खेली है कि उन्होंने विषय को बदल दिया है। जब हिन्दी की प्रकृति अखिल भारतीयता की है, और जब इसे भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनना है, तो फिर यह समझ में नहीं आता कि हिन्दी की इस प्रकृति में कौन हस्तक्षेप करेगा। क्या हिन्दी भाषी लोग जो आज तक इसे अखिल भारतीय बनाते आ रहे हैं अपना रास्ता बदल कर आगे इसे अखिल भारतीय स्तर की भाषा नही रहने देना चाहेंगे ? सच बात यह है कि हिन्दी की जीनियस का मामला वह नहीं है जो जस्टिस एकबोटे ने उठाया है। जिस प्रकार उन्होंने भाषा की प्रकृति की परिभाषा दी है वह इसकी परिभाषा नहीं है। यह सच है कि हिन्दी सदैव अखिल भारतीयता की ओर जाती है, लेकिन संविधान ने हिन्दी की जिस जीनियस में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया है वह अखिल भारतीयता वाली बात नहीं है। शायद जस्टिस एकबोटे ने यह सोचा हो कि हिन्दी की प्रकृति को अखिल भारतीयता से जोड़ने पर यदि कोई हिन्दी की प्रकृति का विरोध करेगा तो उसे भारतीयता का भी विरोध करना पड़ेगा, जिसे कोई नहीं करना चाहेगा, इस लिए उन्होंने हिन्दी की प्रकृति का प्रश्न ही उलझा दिया है। वास्तव में, जब संविधान में हिन्दी की प्रकृति की बात कही जा रही है वह इसकी भाषा संबंधी प्रकृति की बात है। वह इसकी विभक्तियों, लिंग विधान और वाक्य रचना की बात है। यह प्रकृति आठवी अनुसूची में उल्लिखित हिन्दी के पास पहले से ही है। संविधान के निर्माताओं को डर यह था कि जब हिन्दी अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में चरण रखेगी तो कहीं ऐसा न हो जाए कि इसके लिंग विधान या वाक्य रचना पर अहिन्दी भाषियों द्वारा कोई घातक सुधार वादी दृष्टि कोण अपना लिया जाए।

इसकी बहुत संभावना रहती है कि अहिन्दी भाषी लोग हिन्दी भाषा में अनेक संशोधन करना चाहते हैं। जब उन्हें हिन्दी भाषा के लिंग भेद समझ में नहीं आते हैं तो वे उन्हें सीखने के बजाय उनमें एकरूपता लाने की बातें करने लगते हैं। लेकिन इसी को संविधान ने हिन्दी की जीनियस कह कर सुरक्षित रखना चाहा है। ऐसा अंग्रेजी के साथ भी होता है। जो अंग्रेजी सीखते हैं, वे आरम्भ में अंग्रेजी भाषा में कमियाँ गिना कर उसमें कई प्रकार के सुधार लाने की बात आगे रखते हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि जब पी-यु-टी पुट होता है तो बी-यू-टी बुट न हो कर बट क्यों हो जाता है। अंग्रेजी

की इस प्रकृति को अंग्रेज ही जानते हैं । वे अपनी भाषा के संबंध में लगाए गए इस प्रकार के आरोपों का कोई उत्तर नहीं देते हैं । यह अन्तर ध्वनि उच्चारण के नियम से अवैज्ञानिक है या लिपि की दृष्टि से जटिल है---वे इन बातों पर ध्यान नहीं देते हैं । क्या आज कोई भी अंग्रेजी वर्ण माला के छब्बीस अक्षरों में से एक भी अक्षर घटा सकता है या एक भी अक्षर बढ़ा सकता है ? अंग्रेज जाति संसार की किसी भी जाति को ऐसा करने का अधिकार नहीं देगी । अंग्रेज जाति का संसार के अनेक देशों में राज रहा है, उनका अनेक देशों में बोली जाने वाली भाषाओं के उच्चारण से घनिष्ठ संबंध रहा है, उन्होंने अनेक भाषाओं के ग्रन्थों का अपनी भाषा में अनुवाद किया है, लेकिन यह सारा काम करने के बाद भी उन्होंने अपनी वर्ण माला को नहीं बदला है । अनेक नए और छोटे बड़े चिह्न लगा कर उन्होंने अन्य भाषाओं की वर्ण मालाओं का रोमन वर्ण माला में लिप्यंतरण किया है । कहीं बिन्दी लगाई है, कहीं नई नई तरह के अन्य चिह्न ईजाद किए हैं । लेकिन वे चिह्न उनकी रोमन लिपि में बाहर के ही बन कर रह सके हैं । उनमे से किसी भी चिह्न को अंग्रेजी की वर्ण माला में सम्मानित, स्थाई या आवश्यक स्थान नहीं मिला है । संविधान ने जब हिन्दी की जीनियस की बात कही है, वह इसी प्रकार के सुधारों, संशोधनों और परिवर्तनों को देखते हुए कही है । संविधान के निर्माताओं का यह भय सच्चा था कि कहीं ये सुधार हिन्दी की जीनियस के लिए हस्तक्षेप न बन बैठे ।

जस्टिस एकबोटे से संविधान के 351 वे अनुच्छेद तथा संविधान की आठवी अनुसूची को पढ़ने में जो गलती हुई है वह हिन्दी को बोलियों के रूप में देखने के कारण हुई है । उन्होंने उत्तर भारत में चार हिन्दी भाषिक समूह प्रचलित होने की बात सामने रखी है । उन्होंने कहा है कि हिन्दी मैथिली, मागधी, भोजपुरी, राजस्थानी, उर्दू, ब्रज तथा अवधी की बोलियों तक फैली हुई है । उन्होंने लिखा है कि संविधान में इन बोलियों में से किसी का भी उल्लेख न करना स्पष्टतया यह बतला रहा है कि अनुच्छेद 343 तथा अनुच्छेद 351 की हिन्दी इन,बोलियों से बिलकुल ही अलग है । उन्होंने आगे यह भी कहा है कि इन सब बोलियों को ढीले ढाले तौर पर सामान्यतया हिन्दी ही कहा जाता है । उन्होंने खड़ी बोली को भी राष्ट्र भाषा हिन्दी के रूप में स्वीकार करने के तर्क को बेबुनियाद बताया है । इसी आशा में उन्होंने पी० देसाई के कथन को अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है । यह इस प्रकार है—"संविधान द्वारा स्वीकृत हिन्दी जो देश के स्कूलों में सिखाई जाएगी वह उत्तर प्रदेश की क्षेत्रीय हिन्दी न होगी जो कि आठवी सूची में अंकित भाषाओं में से एक है । फिर भी वह उर्दू तथा अन्य सूची अन्तर्गत भाषाओं के साथ निश्चित ही संघ की राज भाषा के विकास में सहायक होगी । पर इस हिन्दी को संविधान द्वारा स्वीकृत राष्ट्र भाषा के साथ न जोड़ें और न ही वह इसके बराबर की होगी । संविधान द्वारा स्वीकृत हिन्दी

समस्त देश वासियों के सामूहिक तथा सर्वकश प्रयत्नों के कारण तीव्र गति से विकसित हुई है और हमारे समन्वित जीवन तथा संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम तथा वाहक बनेगी। यह होगी वह राष्ट्र भाषा हिन्दी जो समस्त देश के स्कूलों में सिखाई जाएगी।"

इसमें न्याय मूर्ति एकबोटे का वही तर्क चल रहा है जिसकी चर्चा पहले की गई है। उन्होंने लिखा है—"यह स्पष्ट तथा निर्विवाद बात है कि संविधान द्वारा स्वीकृत हिन्दी भाषाएँ दो हैं। एक क्षेत्रीय हिन्दी जो उन राज्यों की भौगोलिक सीमा में प्रचलित है जो कि हिन्दी भाषी हैं और उसके विकास का भार उन्हीं हिन्दी भाषी राज्यों पर है। दूसरी है राष्ट्रीय हिन्दी जिसके विकास, समृद्धि तथा प्रसार के वास्ते खास तौर से सभी भारतीय भाषाओं की मदद ली जाएगी।" उनके कहने का मूल तात्पर्य यह है कि अनुच्छेद 351 की तमाम बातें साफ बतला रही हैं कि राष्ट्र भाषा हिन्दी क्षेत्रीय हिन्दी से बिलकुल अलग है।

न्याय मूर्ति एकबोटे हमें एक तर्क में उलझाना चाहते हैं। लेकिन जब उनका पक्ष खुल कर सामने आया है तो यह नहीं माना जा सकता कि वे हिन्दी को अहिन्दी भाषियों में लोक प्रिय बनाने के लिए ऐसा कह रहे हैं। उन्होंने हिन्दी की जीनियस की बात को छोड़ कर उसे एक ऐसी सच्चाई से जोड़ना चाहा है जिसका भारत में कोई भी विरोध नहीं करेगा। कम से कम कोई हिन्दी भाषी अखिल भारतीयता वाली इस हिन्दी का विरोध नहीं करेगा। इसमें हिन्दी भाषियों का मत बहुत पहले से स्पष्ट है। हिन्दी अखिल भारतीयता के रूप में पहले से ही विकसित होती रही है लेकिन चिन्तन के रूप में भी हमारे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन 1905 में अपनी 'सरस्वती' पत्रिका में लिखा था जिसे आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने अपने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में उद्धृत किया है। यह इस प्रकार है—"हिन्दी को कालसह बनाने के लिए बहुत जरूरी है कि इसकी रचना व्याकरण विरुद्ध न हो और इसमें सिर्फ ऐसे शब्दों का प्रयोग हो, जो विशेष व्यापक हों अर्थात जिन्हें अधिक प्रान्तों के आदमी समझ सकें। देश भर में एक भाषा होगी या नहीं; और होगी तो कब होगी; यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परन्तु तब तक हिन्दी को अधिक व्यापक बनाने में लाभ है इस बात को सभी स्वीकार करेंगे। अतएव हिन्दी के साहित्य में प्रान्तीय (प्रादेशिक) और क्षण भंगुर शब्दों का आना अच्छा नहीं। जो शब्द किसी विशेष प्रान्त के ही लोग समझ सकते हों, उन्हें 'प्रान्तज' और जो किसी कारण विशेष से थोड़े ही दिनों के लिए उत्पन्न हो गए हों, उन्हें 'क्षण भंगुर' कहते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग न होना चाहिए। संस्कृत के सरल शब्द और ऐसे विदेशी शब्द जिन्हें सब लोग समझते हैं प्रयुक्त होने चाहिए। संस्कृत तक में विदेशी शब्द हैं। शब्द चिरस्थायी और सब के समझने लायक होने चाहिए।"

जस्टिस एकबोटे का मन्तव्य कुछ दूसरा लगता है। वे सच में दो प्रकार की हिन्दी की बात मानते हैं । इसके उत्तर में उन्हें यह देखना चाहिए कि कोई भी हिन्दी भाषी प्रदेश संघ सरकार द्वारा प्रचारित की जा रही हिन्दी से विरोध प्रकट नहीं कर रहा है । फिर तर्क के लिए न्याय मूर्ति एकबोटे कुछ भी कहते रहें, पर जो हिन्दी भारत के स्कूलों में पढ़ाई जा रही है, ऐसा नहीं है कि हिन्दी भाषी राज्यों के स्कूलों में उससे भिन्न कोई हिन्दी पढ़ाई जा रही है । संविधान में सबसे पहले संघ सरकार का कर्तव्य हिन्दी भाषा के प्रसार की वृद्धि करने का बताया गया है। इसे विकसित करने की बात बाद की है । यदि कोई चीज पहले से ही अस्तित्व में है तभी उसका प्रसार हो सकता है । इसलिए संविधान ने हिन्दी भाषा के निर्माण की बात कहीं नहीं कही है । वह पहले से ही विद्यमान हिन्दी भाषा को एक निश्चित दिशा में विकसित करने की बात सामने रखता है । हिन्दी भाषा की प्रकृति और उसके स्वरूप की जो बात कही गई है वह भी न्याय मूर्ति एकबोटे की अपनी कल्पना है। संविधान हिन्दी की आत्मिकता की बात कह कर चुप रह गया है । संविधान में जो रूप, शैली और पदावली की बात है वह हिन्दुस्तानी तथा आठवी अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के संबंध से है। शायद जस्टिस महोदय इस अनुच्छेद को ठीक तरह से नहीं पढ़ पाए हैं । उनके एक जस्टिस होने के नाते कम से कम उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि उन्हें संविधान और कानून को जनता के सामने ठीक ठीक रखना चाहिए ।

4

हमारे संविधान का उद्देश्य हिन्दी को राज भाषा बनाने का रहा है, हिन्दी के माध्यम से संस्कृत को राज भाषा बनाने का नहीं । यदि कुछ लोग यह मानते हों कि शुरू में संस्कृत इस देश की राज भाषा नहीं बन सकती थी इसलिए संविधान ने उसे धीरे धीरे राज भाषा बनाने का रास्ता पकड़ा है तो उन्हें अपने मत को बदल देना चाहिए। उन्हें सच में ही हिन्दी को राज भाषा स्वीकार कर लेना चाहिए । संविधान ने हिन्दी के साथ ऐसा कोई धोखा नहीं रखा है । हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि हिन्दी राज भाषा न बनाई जाती तो संस्कृत इस पर धावा बोलना नहीं चाहती । हिन्दी के राज भाषा बनने के कारण ही संस्कृत इस पर आक्रमण करना चाहती है । इसके लिए संस्कृत हिन्दी में से हिन्दी के शब्द हटाती है। इसके लिए कई तर्क देती है—कभी कहती है कि संस्कृत के मुकाबले में हिन्दी के शब्द हलके पड़ते हैं—कभी अखिल भारतीयता का सहारा लेती है । इन सब तर्कों के पीछे असली मुद्दा यह है कि संस्कृत को राज भाषा बनने की चाह है, नहीं तो संस्कृत को जन साधारण

में जाने से किसने रोका है ? राज भाषा के सिवा हिन्दी का एक बहुत बड़ा पक्ष जन भाषा का है, संस्कृत हिन्दी के उस जन आधार में दखल और पहल क्यों नहीं करती ? वहाँ जा कर जनता को अपनी बात समझाए, राज भाषा के रूप में ही यह हिन्दी के पीछे क्यों पड़ती है ?

किसी भी संस्कृत के पक्ष धर को बहुत जल्दी में कही गई बात होती है कि दक्षिण भारतीय लोग उर्दू वाली हिन्दी को नहीं समझ पाते हैं । उनका कहना होता है कि वे संस्कृत निष्ठ हिन्दी समझ लेते हैं । वे अपनी बात कहते समय इस बात का तनिक भी ध्यान नहीं रखते कि वे दक्षिण भारत के पुरोहितों की बात कर रहे हैं या दक्षिण भारत के गैर पुरोहितों की बात कर रहे हैं । दक्षिण भारत में केवल पुरोहित नहीं रहते हैं । वहाँ भी हिन्दी भाषियों के समान शूद्र और नारियाँ रहती हैं जिन्हें संस्कृत नहीं पढ़ने दी गई थी । दक्षिण भारत की मूल भाषाओं का संस्कृत से केवल ऊपरी संबंध है । यदि हम दक्षिण भारत के गैर पुरोहितों की बात सुनें तो पता चलेगा कि संस्कृत उनकी भाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करती है । जब उत्तर भारत में स्वयं हिन्दी संस्कृत से अपमानित हो कर चली है तो दक्षिण भारत में संस्कृत ने तमिल का सम्मान नहीं किया होगा । सच्ची बात यह हो सकती है कि जिस प्रकार उत्तर भारत में हिन्दी ने संस्कृत से सांस्कृतिक भाषा का पद छीना है वैसे ही दक्षिण भारत की भाषाएँ भी संस्कृत से अपने अपने सांस्कृतिक भाषा के पद छीन रही हैं । यदि ऐसा नहीं है तो फिर यही माना जाएगा कि अभी दक्षिण भारत का जन समाज करवट नहीं ले सका है । फिर दिल्ली में तमिल भाषा का प्रतिनिधित्व करने वाले वे ही लोग होते होंगे जो जहाजों में उड़ कर आते हैं । वह संस्कृत परम्परा का सुविधा भोगी प्रतिनिधित्व है । उसका वहाँ की जनता से लगाव नहीं है । विश्व विद्यालयों के ऐसे अनेक विद्वान केवल अपने लिए संस्कृत पढ़ते रहे हैं । इस लिए भाषा के मामले में वहाँ का सच्चा प्रतिनिधित्व जन साधारण को शिक्षित करने के बाद ही आ पाएगा ।

यदि अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सीखनी है तो वे हिन्दी सीख लेंगे । वे ऐसा नहीं कहेंगे कि वे हिन्दी को मिटा कर हिन्दी सीखेंगे या हिन्दी सीखने में हिन्दी को बिगाड़ कर रख देंगे । कोई भी अच्छा मनुष्य दूसरी भाषा को सीखते समय ऐसा दुराग्रह नहीं रखता । फ्रैंच सीखने में कोई गैर फ्रैंच कहेगा यह नहीं कि पहले फ्रैंच को मेरे अनुकूल बनाओ । यदि वह ऐसा कहता है तो फ्रैंच नहीं सीख पाएगा । यही बात हिन्दी के बारे में है । यदि हिन्दी उर्दू निष्ठ भाषा है तो गैर हिन्दी भाषी हिन्दी सीखने में उर्दू निष्ठ हिन्दी अवश्य सीखेंगे । हिन्दी कैसी है, उन्हें इससे कोई एतराज नहीं होना चाहिए । वास्तव में 'हिन्दी कैसी हो' का झगड़ा अहिन्दी भाषी प्रान्तों के पुरोहितों का नाम ले कर उत्तर भारत के पुरोहितों ने ही खड़ा किया है । हिन्दी भाषी और गैर हिन्दी भाषी प्रान्तों का गैर पुरोहित वर्ग इस झगड़े में नहीं पड़ता है ।

पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृत के प्रचार प्रसार और संस्कृत की अनिवार्यता से हमें बचना चाहिए। भारत की संवैधानिक ड्यूटी हिन्दी के प्रति है, संस्कृत के प्रति नहीं है। इसलिए स्कूलों में बजाय संस्कृत के कोई आधुनिक भारतीय भाषा पढ़ाई जानी चाहिए। त्रिभाषा सूत्र की यही व्याख्या है। हिन्दी भाषी राज्यों में संस्कृत त्रिभाषा सूत्र के मार्ग में रुकावट है। संस्कृत किसी आधुनिक भाषा की कीमत पर पढ़ाई जाती है। यह हिन्दी के हक में नहीं है कि जब हिन्दी के प्रचार प्रसार की बात कही जाती है, तो शर्त में, उससे पहले संस्कृत के प्रचार प्रसार की बात रख दी जाती है ।

इसके बुरे परिणाम निकल रहे हैं । यदि हिन्दी के साथ संस्कृत पढ़ाने की अनिवार्यता समाप्त हो तो उत्तर भारत में दक्षिण भारत की भाषाओं को स्थान मिले। दक्षिण भारत के लोग अंग्रेजी, हिन्दी और अपनी प्रान्तीय भाषाएँ पढ़ते हैं, लेकिन उत्तर भारत में अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत पढ़ाई जाती हैं । उत्तर में संस्कृत दक्षिण भारतीय भाषाओं का विकल्प बना दी जाती है। इस रूप में भी संस्कृत भारतीय भाषाओं का हक छीन रही है। इससे हिन्दी में तथा शेष भारतीय भाषाओं में जो पारस्परिक सौहाद्र बनना चाहिए था उसमें कमी आती है। यदि हिन्दी भाषियों को अन्य भारतीय भाषाएँ पढ़ने का अवसर मिले तो अहिन्दी भाषी भी हिन्दी को दुगने उत्साह से पढ़ना चाहेंगे।

जब भारतीय भाषाओं में समान शब्दावली को ढूँढा जाए उसमें मात्र संस्कृत को आधार न बनाया जाए। यदि कोई अंग्रेजी का या फारसी मूल का शब्द अधिकांश भाषाओं में एक समान प्रयोग किया जा रहा है तो उसे भी हिन्दी की सम्पत्ति घोषित किया जाना चाहिए। भारतीय भाषाओं में फारसी मूल के शब्द कम नहीं हैं। इस समय भारतीय भाषाओं में अंग्रेजी मूल की समान शब्दावली सबसे बढ़ कर है। डर यह है कि संस्कृत मूल के शब्दों की समान शब्दावली कहीं अंग्रेजी और फारसी मूल के शब्दों द्वारा फैलाई गई हमारी भाषाई एकता की जड़ को काटने न बैठ जाए । इसके अतिरिक्त, संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी की समान शब्दावलियों के सिवा भारतीय भाषाओं की अपनी देशज समान शब्दावली है। यह इस देश में अंग्रेजी, फारसी और संस्कृत के आने से पहले की एकता है। किसी भी नए संस्कार में वह पुरानी एकता मिट नहीं जानी चाहिए।

संविधान के अनुच्छेद 351 में यह नहीं कहा गया है कि हिन्दी के लिए शब्दावली का निर्माण किया जाएगा। उसमें केवल यह कहा गया है कि हिन्दी के लिए शब्दावली ली जाएगी। यदि ऐसा नहीं है, और हिन्दी के लिए संस्कृत से शब्दावली का निर्माण किया जाएगा तो फिर संविधान में जो यह कहा गया है कि 'सेकन्डरली' हिन्दी अपनी शब्दावली अन्य भाषाओं से ग्रहण करेगी, उसका क्या मतलब रह जाता है ?

क्या हम अन्य भाषाओं में भी शब्दावली का निर्माण करके उसे हिन्दी में लेंगे ? यदि शब्दावली का निर्माण ही होना है तो संस्कृत को छोड़ कर अन्य भाषाओं से शब्दावली का निर्माण किस प्रकार होगा ? यदि इसकी संभावना है तो अब तक हम ने हिन्दी के लिए कितने ऐसे शब्दों का निर्माण किया है ? मैं कहता हूँ कि एक शब्द का भी नहीं । फिर तो इसका यह अर्थ निकलेगा कि पहले हम अंग्रेजी में कोई शब्द बनाएँगे, और फिर उसे हिन्दी में लेंगे । ऐसे ही, हम फारसी, रूसी और जर्मन में शब्द बनाएँगे और बाद में उन्हें हिन्दी में स्वीकार करेंगे । यह सब अकल्पनीय है ।

संविधान का मूल उद्देश्य यह है कि हिन्दी के लिए संस्कृत की शब्दावली को ग्रहण किया जाना है । संस्कृत कोई आधुनिक भाषा नहीं है जिसका विकास हो रहा है । समाज में इसका अर्थ जानने की दृष्टि से यह एक मृत भाषा है । यह हिन्दुस्तान में किसी भी नागरिक की मातृ भाषा नहीं है । भारत में मातृ भाषा अपने सच्चे अर्थों में वही होती है जिस भाषा में बालक की माँ उसे चिमटे फूँकनी से रोटियाँ बना कर और खाने को उसके टुकड़े तोड़ कर देती है । कम से कम, संस्कृत भाषा के लोभ में मातृ भाषा की परिभाषा नहीं बदली जानी चाहिए । भारत का कोई भी बच्चा संस्कृत में अपने साथियों से कबड्डी और खो खो नहीं खेलता है ।

संविधान के अनुच्छेद 351 में यह लिखा गया है कि जहाँ जरूरी और ठीक जान पड़े वहाँ हिन्दी की शब्दावली को पहले संस्कृत से ग्रहण किया जाए । यदि संस्कृत से जरूरत पूरी नहीं होती है तो फिर संसार की अन्य भाषाओं से शब्द लिए जाएँ । इस शर्त में यह बात पहले ही मान ली गई है कि जिन अर्थों के लिए हिन्दी के अपने शब्द उपलब्ध हों, उनके लिए संस्कृत समेत अन्य भाषाओं से शब्द न लिए जाएँ । सबसे पहले हिन्दी को अपने शब्द प्रयोग में लाने है । हिन्दी के लिए, हिन्दी के शब्दों को छोड़ कर संस्कृत समेत अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करना संविधान की दृष्टि से अनावश्यक और अवांछनीय है । विद्वानों की इस प्रवृत्ति को रोका जाना चाहिए ।

संविधान का यह अनुच्छेद हिन्दी के लिए दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करने की बात करता है । इसका यह गलत अर्थ निकालना हो जाएगा कि हिन्दी के लिए शब्दों का नया निर्माण किया जाना है । वास्तव में, हिन्दी शब्दों का निर्माण नहीं करती है बल्कि दूसरी भाषाओं के शब्दों को तत्सम या तद्भव रूप में ग्रहण करती है । यह उन शब्दों का मूल अर्थ सुरक्षित रखती है । हिन्दी में मस्जिद मस्जिद ही है, उसका देवालय या मंदिर के रूप में अनुवाद नहीं किया जाता । जितना मंदिर और मस्जिद में अंतर है, उसका मस्जिद को मस्जिद कहने से पता चलता है । उसे मंदिर कहने से मस्जिद का मूल अर्थ समाप्त हो जाता है । इस प्रकार, हिन्दी अपने कृत्रिम शब्द नहीं बनाती है । फिर कहने लायक बात यह है कि जब यह स्वयं अपने कृत्रिम शब्द नहीं बनाती है तो यह इसके साथ अन्याय करना हो जाएगा कि दूसरी भाषाओं के कृत्रिम

शब्दों को इसके शब्द बनाया जाए। आज संस्कृत भाषा इसे कृत्रिम और अप्रचलित शब्द ही दे रही है। हिन्दी इस प्रकार के बनावटी पन से सदा विद्रोह करती रही है।

संस्कृत भाषा से शब्द ग्रहण करने का मतलब यह है कि वह शब्द संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ होना चाहिए। कोई भी संस्कृत का शब्द भाषा में उदाहरण के रूप में दिया जाना चाहिए। जब कम्प्यूटर को संस्कृत में 'संगणक' कहा जाता है तो बताया जाना चाहिए कि संस्कृत के किस प्राचीन विद्वान ने अपने किस प्राचीन ग्रन्थ में इसका इस अर्थ में प्रयोग किया है।

सच्ची बात यह है कि हिन्दी के लिए अन्य भाषाओं से शब्दों की ढूँढ़ की जानी चाहिएं। लेकिन भारतीय एकता और विश्व एकता का यह सच्चा काम छोड़ कर कुछ विद्वान शब्दों का निर्माण करने बैठ जाते हैं। यह हिन्दी के हित में नहीं है। जब हिन्दी ने बहुत पहले घोषित कर रखा है कि 'हर जुबां का लफ्ज खप जाए वो कुव्वत इसमें है', फिर हिन्दी को संस्कृत भाषा के आधार पर शब्दों का कृत्रिम निर्माण करके इसे कृत्रिम भाषा नहीं बनाया जाना चाहिए। यदि अखिल भारतीयता का नाम लिया जाता है तो आज भारत में अंग्रेजी के शब्द सबसे अधिक अखिल भारतीय हैं। लेकिन अंग्रेजी के उन अखिल भारतीय शब्दों का संस्कृत में कृत्रिम अनुवाद करके प्रशासन और तकनीकी के क्षेत्र में भ्रम पैदा किया जाता है। हमारा एकमात्र उद्देश्य इतना सा है कि हमें अंग्रेजी से हिन्दी और भारतीय भाषाओं पर आना है। इस समय अंग्रेजी सब जगह प्रचलित है। इस भाषा के शब्दों को राज काज में लगे सभी लोग समझते हैं। हमें केवल शब्द ही लेने हैं। ऐसे समय, उन शब्दों का कृत्रिम अनुवाद करने के बजाय हमें वे शब्द ज्यों के त्यों या थोड़ी फेर बदल के साथ हिन्दी में सीधे ले लेने चाहिए।

अब तक संस्कृत की ढेर सारी कृत्रिम शब्दावली का निर्माण हो चुका है। आवश्यकता इस बात की नहीं है कि उस शब्दावली का लोगों से बल पूर्वक प्रयोग करवाया जाए। होना यह चाहिए कि हिन्दी में उस कृत्रिम शब्दावली का प्रयोग करना या न करना राजकाज में लगे हुए लोगों की इच्छा पर छोड़ दिया जाए। भाषा के मामले में ऐसा बल प्रयोग ठीक नहीं है। भाषा के प्रवाह को लोगों को साथ ले कर आगे बढ़ने देना चाहिए, नहीं तो लोग पीछे छूट जाएँगे और पुरानी संस्कृत के समान हिन्दी भाषा सामान्य लोगों के किसी रोग की दवा नहीं रह जाएगी। फिर कृत्रिम शब्दावली में संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होते रहते हैं। अब तक ऐसा कई बार हुआ

है कि शब्द निर्माताओं को जन सामान्य के सामने झुक कर अपने कृत्रिम शब्द छोड़ने पड़े हैं ।

5

खड़ी बोली वाली हिन्दी के भारत की संघ सरकार की राज भाषा बनने के बाद मेरा डर यह रहा है कि मुझ से मेरी भाषा ले कर बदले में मुझे मेरी भाषा के नाम से ऐसी भाषा न दे दी जाए जिसे मैं न समझ सकूँ । संस्कृत को समझने में शूद्रों और नारियों को हजारों वर्ष से मूर्ख घोषित किया जाता रहा है, पर आज की स्थिति में यह किसका दम्भ है जो उन्हें उनकी भाषा में भी मूर्ख घोषित करना चाहता है ? कोई भी हिन्दी भाषी उस प्रकार के मूर्ख बनने से बचना चाहता है । चाह यही है कि ऐसा समय न आए कि हिन्दी को लोग छोड़ दें । जन तन्त्र के रहते ऐसा नहीं होना चाहिए । लेकिन यदि ऐसा हो जाए कि हिन्दी को राज भाषा के पद से उतरना पड़े, तो कम से कम यह खड़ी बोली के क्षेत्र में लोगों के दिल की भाषा बनी रहे । कहीं राज भाषा बनने के चक्कर में ऐसा न हो कि यह घर की रहे न घाट की ।

खड़ी बोली हिन्दी का यह त्याग कम नहीं है कि इसने प्रान्तीय भाषा के रूप में अपनी अलग पहचान तक खो रखी है । यह चुपचाप सबके शासन सहती चली आई है । यदि यह हिन्दुस्तान के मध्य देश से दूर होती और मेरठ और दिल्ली की भाषा न होती तो यह भी अपने एक अलग प्रान्त की राज रानी बनी रहती । लेकिन इस क्षेत्र की भाषा का अलग से पंजाबी, गुजराती या बंगाली की तरह कोई नाम नहीं रहा है । इसे जो नाम दिया गया है वह पूरे हिन्दुस्तान की हिन्दी है । इसे हिन्दवी और हिन्दुस्तानी भी कहा गया है । यही इसके लिए गौरव की बात बन गई है ।

माना जा सकता है कि एक समय था जब इस क्षेत्र के लोग ही इस क्षेत्र पर राज्य करते थे । यदि पुराणों और महा काव्यों में कुछ सच है तो वह महा भारत का काल था। तब मेरठ जिले में हस्तिनापुर को पुरानी राज धानी तथा दिल्ली में इन्द्र प्रस्थ को नई राज धानी बनाने का महान काम हुआ था । वे भाई भाई आपस में लड़ थे किन्तु वह युद्ध मात्र कुरु क्षेत्र का न रह कर सारे भा रत का हो गया था । तब भी इस क्षेत्र के बाशिन्दों की समस्या भारत में सार्वदेशिक हो गई थी । मौर्य काल का अशोक का शिला लेख मेरठ क्षेत्र में मिला है । इससे ज्ञात होता है कि तब भारत के केन्द्र की शक्ति मगध और पाटलिपुत्र में चले जाने पर भी यह विशेष महत्व का स्थान रहा है । ईसा की दसवी शताब्दी से खड़ी बोली का गद्य और पद्य साहित्य इतिहास कारों को

मिल ही गया है । लेकिन इसके आधुनिक जगत में आदि प्रवर्तक अमीर खुसरो मिलते हैं । अमीर खुसरो तुर्क थे और उनकी मातृ भाषा फारसी थी लेकिन उन्होंने खड़ी बोली को अपनी कविता का माध्यम बनाया था । कारण यह था कि वे दिल्ली में रहते थे। उनका काम अपने गुरु निजामुद्दीन औलिया के फारसी कलाम को दिल्ली में बोली जाने वाली जन भाषा में आम लोगों को समझाने का था । इस लिए वे काशी के घुमक्कड़ निर्गुणी सन्तों की तुलना में भी अधिक मौलिक खड़ी बोली का प्रयोग कर गए हैं ।

दिल्ली में मेरी कई मेरठ वासियों से बात हुई है । हिन्दी के संबंध में उनके विचार जान कर आश्चर्य होता है। वे चाहते हैं कि हिन्दी को राज भाषा न बनने देने के लिए एक आन्दोलन चलाया जाए । वे कहते हैं कि हिन्दी को राज भाषा बनने देने से हिन्दी का नुकसान हो रहा है। उनके अनुसार, फिर हिन्दी की उम्र कम रह जाएगी । उनको भय है कि हिन्दी के राज भाषा बनने से हिन्दी मरती जा रही है ।

यह अजीब बात है कि एक ओर कुछ अहिन्दी भाषी यह कहते हैं कि उन पर हिन्दी जबर्दस्ती थोपी जा रही है, तो दूसरी ओर मेरठ वासियों के दिल में हिन्दी के बढ़ने से हिन्दी के मिट जाने का भय है । संविधान, कानून और सरकार हिन्दी की जीनियस को न मिटने देने का आश्वासन दे चुके हैं, लेकिन मेरठ वासी हिन्दी को हिन्दी भाषियों से हटाने की प्रक्रिया महसूस कर रहे हैं। इसके लिए, यदि मेरठ वासियों का विश्वास बचाए रखना है तो हिन्दी भाषा की किसी भी प्रसार वृद्धि में, कहीं से भी शब्दावली लेने में, किसी भी भारतीय भाषा के रूप, शैली और पदावली को आत्म सात करने में हिन्दी की जीनियस में हस्तक्षेप नहीं होने देना चाहिए। हिन्दी आगे बढ़ने के लिए सभी कुछ करेगी लेकिन अपनी जीनियस के अनुरूप करेगी ।

प्रश्न उठता है कि हिन्दी की जीनियस को कौन तय करेगा ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि इसे खड़ी बोली क्षेत्र के शहरी और देहाती लोग तय करेंगे । संस्कृत वालो, फरसी वालो या अंग्रेजी वालो को हिन्दी की जीनियस तय करने का अधिकार नहीं है । यदि संस्कृत के लोग आचार्य किशोरी दास वाजपेयी की तरह बौद्धिक ईमान दारी और नैतिक साहस का परिचय दें तो बात दूसरी है अन्यथा यह भरोसा हिन्दी भाषियों को नुकसान देह सिद्ध हो सकता है ।

किसी भी दशा में हिन्दी की जीनियस को तय करने वाले वे लोग नहीं हो सकते जो हिन्दी भाषा को जानते नहीं हैं । हिन्दी को जानने वाले ही बता सकते हैं कि हिन्दी की जीनियस क्या है। कुछ भी हो, हिन्दी की जीनियस वह नहीं हो सकती जो इसके बारे में हिन्दी भाषी नहीं जानते हैं । असल में संविधान में हिन्दी भाषा की जीनियस को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेने के बाद भी कुछ लोग इसे मानने को

तैयार नहीं हैं। इसमें उन्होंने इसकी जीनियस को स्वीकार न करने का अप्रत्यक्ष रूप पकड़ा है। यह तरीका यही है कि हिन्दी की जीनियस की परिभाषा बदल दी जाए।

किसी भाषा की जीनियस को दो रूपों में स्वीकार किया जाता है—पहला, वह भाषा एक भौगोलिक क्षेत्र के लोगों द्वारा बोली जाती है, दूसरा उस भाषा का कोई इतिहास होता है। दुर्भाग्य से आज कई भाषा विदों द्वारा खड़ी बोली के संबंध से इन दोनों बातों में से एक बात भी स्वीकार नहीं की जाती है। उनके लिए खड़ी बोली का इतिहास एक सौ वर्ष पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से शुरू होता है या उनसे पहले पौने दो सौ वर्ष पूर्व लल्लू लाल से शुरू होता है जो दिल्ली से अधिक आगरे के थे। उनके अनुसार खड़ी बोली अवधी और ब्रज भाषा में से निकली है तथा इसका क्षेत्र ब्रज प्रदेश, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा पंजाब है।

यह हिन्दी की जीनियस पर दोहरा आक्रमण है। यह तर्क देना कि किसी भी घर में खडी बोली अपने शुद्ध रूप में नहीं बोली जाती है इसके भौगोलिक क्षेत्र को अस्वीकार कर देना है। साथ में यह तर्क रखना कि खड़ी बोली को कोई इतिहास नहीं है इसकी प्राचीनता को मिटा देना है। ऐसे लोगों का एक उद्देश्य है—जब खड़ी बोली को अपने घरों में बोलने वाले कोई न मान जाएँगे तथा जब इसकी प्राचीनता असिद्ध कर दी जाएगी तो फिर इसकी जीनियस के बारे में कोई भी प्रश्न चिह्न न उठा सकेगा। फिर इसे गैर खड़ी बोली क्षेत्र के लोग तथा अहिन्दी भाषी प्रदेशों के विद्वान जैसा चाहेंगे अपनी ओर खींच कर ले जाएँगे। लेकिन बाबू श्याम सुन्दर दास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में चन्द्र धर शर्मा गुलेरी के माध्यम से यह प्रमाण दिया है कि 'मुसलमानों में बहुतों के घर की बोली खड़ी बोली है।'

अजीब बात है कि सौ बातें बना कर कुछ भाषा विदों ने खड़ी बोली वाले क्षेत्र के लोगों का मुँह बन्द करना चाहा है। कुछ न कुछ बात ऐसी कह दी जाती है कि हिन्दी की खड़ी बोली वाली जीनियस के प्रति कोई कुछ कह न सके। कभी हिन्दी संस्कृत से निकलती है, कभी पाली से, कभी प्राकृत से, कभी अपभ्रंश से और कभी ब्रज से। हिन्दी न हो गई, सारी भाषाओं की अहसान मन्द एक गरीबनी हो गई। विचित्र स्थिति है कि जो विद्वान जिस भाषा का ज्ञाता होता है उसी से हिन्दी को निकली हुई घोषित कर देता है। एक बात ईमान दारी से नहीं मानी जाती कि खड़ी बोली का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी हो सकता है। कम से कम इतना तो माना जाए कि इसे कुछ लोग अपने घर में अवश्य बोलते होंगे। आखिर इतना मानने से किसी का क्या विशेष बिगड़ जाएगा कि खड़ी बोली का अपना इतिहास दो हजार वर्ष पुराना भी हो सकता है? ऐसा सिद्ध होता है या नहीं होता है यह बाद की बात है लेकिन विद्वान लोग मन से तो तैयार रहें कि ऐसा हो सकता है। वे अपनी विद्वत्ता में केवल ईमान दारी का परिचय दें। यह कोई बात नहीं हुई कि पहले हिन्दी को एक क्षेत्रीय

बोली मान कर इसे हिन्दुस्तान की राज भाषा स्वीकार करने में आनाकानी की गई थी, और अब जब यह संघ सरकार की राज भाषा स्वीकृत हो गई है तो इसकी क्षेत्रीयता स्वीकार नहीं की जाती है। हिन्दी भाषियों को इस बात से कोई परेशानी न भी होती लेकिन इन तर्कों का आधार ले कर हिन्दी को हिन्दी नहीं रहने दिया जाता है। हिन्दी की जीनियस को मिटते देख कर ही डा० वासुदेव शरण अग्रवाल की भाषा बोलनी पड़ती है कि "गंगा यमुना के बीच में लगभग मेरठ कमिश्नरी का इलाका असली कुरु राष्ट्र था। इसे खड़ी बोली का मूल क्षेत्र समझना चाहिए।"

हिन्दी भाषियों का यह डर सच्चा है कि कहीं उनसे उनकी प्यारी हिन्दी न छिन जाए। यदि किसी प्रशासनिक, पारिभाषिक, वैज्ञानिक या तकनीकी शब्दावली का नाम ले कर हिन्दी को सरल न रहने दे कर कठिन बना दिया गया तो निश्चित रूप में यह हिन्दी भाषियों से छिन जाएगी। फिर हिन्दी भाषियों को हिन्दी से भिन्न अपनी एक अलग सरल भाषा बनानी पड़ेगी क्योंकि भाषा की जटिलता में फिर यह हिन्दी नाम भी उनसे छिन जाएगा। विश्व भाषाओं के इतिहास में अब तक यही होता रहा है। लेकिन इस बात को ध्यान में रख कर इस बार कुछ आशावान होना पड़ता हैं कि आगे शिक्षितों और अशिक्षितों का अन्तर नहीं रह जाएगा। विशेष कर हिन्दी भाषा के आगामी इतिहास में ऐसी संभावना नहीं है कि विद्वत समाज सामान्य समाज से भिन्न रहेगा। विश्वास किया जा सकता है कि सभी के लिए शिक्षा का द्वार खोल कर तथा प्रत्येक नागरिक के लिए शिक्षा अनिवार्य करके इस संविधान के अधीन बनी भावी सरकारें इस अन्तर को बढ़ने नहीं देंगी।

संविधान में यह भी लिखा हुआ है कि हिन्दी अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली तथा पदावलियों को समाहित करती चली जाएगी। यह बात सही है लेकिन इसमें यह जानने की बहुत आवश्यकता है कि समाहित करने की यह प्रक्रिया क्या होगी। यह प्रक्रिया हिन्दी भाषियों और अहिन्दी भाषियों—दोनों की ओर से होगी लेकिन इसमें अधिक योग दाम अहिन्दी भाषियों का रहेगा। जब अहिन्दी भाषी हिन्दी भाषा में लिखना आरम्भ करेंगे तो वे अपनी अपनी मातृ भाषाओं के असर अपने उस हिन्दी लेखन में छोड़ेंगे। वे हिन्दी में सभी प्रकार के प्रयोग करेंगे लेकिन हिन्दी में क्या सजेगा और क्या खपेगा, यह फिर हिन्दी भाषियों पर निर्भर रहेगा। हिन्दी में ग्रहण करने की या ग्रहण न करने की अन्तिम कसौटी हिन्दी भाषी ही रहेंगे। यह अहिन्दी भाषियों की मातृ भाषा बनने नहीं जा रही है।

शायद अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के विद्वान यह सोचते होंगे कि हिन्दी उनकी प्रान्तीय भाषाओं से आगे कैसे निकल रही है। उनका विचार हो सकता है कि उनकी प्रान्तीय भाषाओं की अभिव्यक्ति भी अखिल भारतीय स्तर पर होनी चाहिए। लेकिन यही तो हिन्दी भी चाहती है। हिन्दी चाहती है कि उसका भारतीय भाषाओं से सीधा सम्पर्क बढ़े। यह उन भाषाओं के खपाने लायक शब्दों और शैलियों को अपने मिजाज

में आत्म सात करने के लिए प्रयत्न शील है। लेकिन प्रान्तीय भाषाओं के उन लोगों को यह पता चलना चाहिए कि हिन्दी के लिए उन भाषाओं का प्रतिनिधित्व संस्कृत करके रह जाती है। उन्हें संस्कृत की सीढ़ी को छोड़ कर सीधे हिन्दी से सम्पर्क बनाना चाहिए। उन्हें यह ध्यान होना चाहिए कि भारत की सारी आधुनिक भारतीय भाषाएँ गैर संस्कृत भाषाएँ हैं। उन्हें 'गैर संस्कृत' शब्द को बहुत गहराई से समझना चाहिए।

असल में, जैसा पहले कहा जा चुका है, उत्तर भारत की भाषाओं को भारतीय आर्य भाषाएँ नाम देना ही गलत है। ऐसे शब्दों का प्रयोग ही आपत्ति जनक है। यह आर्य और अनार्य का झगड़ा ही बुरा है। हाँ, संस्कृत ने भारतीय भाषाओं के साथ जैसा बुरा सलूक किया था, जैसे इसने समाज में और समाज से बाहर शूद्रों, नारियों और अछूतों की रचना की थी, उसके आधार पर भारत की भाषाओं का एक सम्यक वर्गी करण यह किया जा सकता है कि इन्हें संस्कृत और गैर संस्कृत भाषाओं में बाँटा जाए। भाषा विज्ञान अपने दूसरे वर्गी करण मानता रहे लेकिन समाज दर्शन के वर्गी करण की दृष्टि से इस देश में भाषा के दो ही रूप निश्चित होते हैं— संस्कृत भाषा और गैर संस्कृत भाषाएँ।

गैर खड़ी बोली क्षेत्र के हिन्दी विद्वानों से भी यही कहा जाना है कि वे अपनी अपनी बोलियों का हिन्दी में अधिक से अधिक प्रयोग करें। अब तक जो हिन्दी साहित्य में पुरानी अवधी और ब्रज भाषा के साहित्य की भरमार है, वह इसे इसकी कही जाने वाली अपनी दूसरी बोलियों से दूर रखे जा रही है। हिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी के प्रसार की सार्थकता इसी में है कि पुरानी अवधी और ब्रज की तुलना में आधुनिक कुमाउँनी, गढ़ वाली, राज स्थानी, हरियानवी, डोगरी, भोज पुरी और मैथिली आदि भाषाएँ भी इसमें अपनी महत्ता स्वीकार करवा दें। यदि हिन्दी साहित्य और हिन्दी साहित्य का इतिहास इसी रूप में पढ़ाया जाना है जिस रूप में यह अब तक पढ़ाया जा रहा है तो हिन्दी में अवधी और ब्रज भाषा की सर्वोपरिता को अन्य बोलियों द्वारा चुनौती दी जानी चाहिए। हिन्दी में अन्य बोली वाले लोगों की लड़ाई अवधी और ब्रज भाषा को पढ़ाते रहने तक सीमित नही रह जानी चाहिए। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में प्रान्तीय भाषाओं के हिन्दी से सम्पर्क को संस्कृत तक तथा हिन्दी क्षेत्रों में बोलियों के हिन्दी से सम्पर्क को अवधी और

ब्रज भाषा तक सीमित रखना हिन्दी भाषा के भविष्य के लिए सबसे अनहोनी स्थिति है। इससे प्रयत्न करके बचा जाना चाहिए क्योंकि ऐसा सतम प्रयत्न करके ही किया जा रहा है।

6

हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में इस विषय को ले कर जो मेरी राय बनी है वह इस प्रकार है। ये जो कई तरह की हिन्दी की बात उठ रही हैं, कारण कुछ भी हो, पर ये सब हिन्दुस्तानी कही जाने वाली भाषा में खप जाती हैं। असल में संविधान के अनुसार आज हिन्दी को हिन्दी होने के लिए केवल दो बातों का होना आवश्यक है— देव नागरी लिपि और इसका व्याकरण। इन दो बातों के सिवा शब्द भंडार के लिए हिन्दी किसी से चिढ़ नहीं रखे बैठी है। इसमें कोई संस्कृत शब्दों की बहुलता रख सकता है, इसमें कोई फारसी शब्दों की बहुतायत बरत सकता है, इसमें कोई अंग्रेजी की संज्ञाएँ भर सकता है। संस्कृत, फारसी, और अंग्रेजी का शब्द भंडार इसे बोल चाल की भाषा बना कर इसे गति देता है। शब्दों के लिए हम रुके न, झिझक न खाने लगें, इसके लिए किन्हीं भी शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है।

मातृ भाषा में हर मनुष्य की अपनी एक निजी भाषा शैली होती है। कहने का अर्थ है कि मातृ भाषा भी अपने सारे भाषा पुत्रों के लिए एक समान नहीं होती। खड़ी बोली क्षेत्र की एक कहावत है—'कोस कोस पर पानी बदले आठ कोस पर बानी।' हिन्दी अपने विस्तार में एक बड़ी मातृ भाषा है। इसमें समाज के वर्गों की अनेक शैलियों के उभरने की संभावना है। अभी इसके साहित्य में समाज के दो चार वर्गों ने ही अपना योग दान दिया है। अभी समाज के कई वर्ग चुप हैं। जब वे अपनी निद्रा से टूटेंगे तब एक ही गाँव में दो तरह की भाषाएँ दीखेंगी। अभी इसमें कुछ ही घरों की, उनके विश्वासों की तथा संस्कृत अनुवादों की भाषा का प्रचलन रहा है। इन्हीं लोगों का आधिपत्य है। इस लिए इन्ही लोगों की भाषा को हिन्दी की साहित्यिक भाषा मान लिया गया है। जो दूसरे वर्गों से लोग आए वे साहित्यिक क्षेत्र में अलग अलग होने के कारण गिनती में कम थे। इस लिए अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाने के बजाय वे भी इन्हीं संस्कृत अनुवादों की भाषा की कसौटी पर खरा उतरना चाहने लगे। पर जैसे जैसे उनकी संख्या बढ़ेगी या सामाजिक विवशताओं के कारण शताब्दियों से मूक बने सच्चे लोग ज्ञान ध्यान के क्षेत्र में उतरेंगे, हिन्दी वैसी नहीं रह जाएगी जैसी यह आज संस्कृत के पौराणिक साहित्य का ढेर बना कर दिखा दी जाती है।

हिन्दी में यह लड़ाई उर्दू वालों की, पंजाबियों की या गुजरातियों की ही नहीं

है, बल्कि यह इसके दलित और पीड़ित लोगों की भी है। अभी यही कहा जा सकता है कि उन्हें कौन मना करता है कि वे देव नागरी लिपि में फारसी के शब्दों को ले कर हिन्दी के व्याकरण में अपनी रचनाएँ न करें। यदि हिन्दी में अवधी, ब्रज और मैथिली का अध्ययन किया जाता है तो उर्दू और पंजाबी इसके लिए पराई भाषाएँ नहीं कही जा सकतीं।

हिन्दी को ध्यान में रखते हुए मुझे इसके तीन रूप एक साथ दीखते हैं जिनमें एक बोल चाल की हिन्दी का है। यह हर किसी को मानना पड़ेगा कि यह आज भी हिन्दुस्तानी हिन्दी है। मैंने मेरठ क्षेत्र में, जो आधुनिक खड़ी बोली वाली हिन्दी का जन्म स्थान और गढ़ कहा जाता है, किसी को भी हिन्दुस्तानी से भिन्न भाषा बोलते हुए नहीं देखा।

इसका दूसरा रूप इसकी साहित्यिक भाषा का है। यह अपनी अपनी चाह की बात है कि कोई लेखक भाषा के किस चुनाव या शैली को अपनाता है। पुरोहितों के घर में उत्पन्न जनेऊ धारी, छापे तिलक वालों और मन्दिर में जप तप और स्तुतियाँ गाने वालो की भाषा, खेत में काम करने वालो की भाषा से भिन्न होगी। चूंकि शूद्रों से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार छीन लिया गया था इस लिए अभी इस भाषा में पुरोहित वर्ग की भाषा का ही दबदबा बना हुआ है। जब सच्चा शूद्र आएगा वह अपनी भाषा को साहित्यिक बनवा लेगा।

इसका तीसरा रूप सरकारी भाषा का है। भारत सरकार ने हिन्दी के लिए एक भाषा नीति अपना रखी है। यह केवल विधि की भाषा है जो अपने अर्थों में जटिल हो जाती है। वकील बाल की खाल निकालने के लिए ही होते हैं। फिर भी केन्द्र सरकार को पत्र देव नागरी लिपि में कोई सी भी हिन्दी में लिखा जा सकता है। उसका अर्थ सरकारी फाइलों में समझ लिया जाएगा। सरकार की ओर से अधिकारियों को यही आदेश है कि उत्तर सरल से सरल हिन्दी में दिए जाएँ, लेकिन भाषा के अधिकारी अधिकतर इन बातों पर नहीं चला करते हैं। अंग्रेजी की ही बात लें। जिसे जितनी अंग्रेजी आती है वह उसके उतने ही अप्रचलित रूप का प्रयोग करता है। यहाँ अप्रचलित से मेरा तात्पर्य बडप्पन वाली भाषा से है।

भाषा क्यों सीखी जाती है? इसका यही उत्तर है कि उस भाषा में दक्षता प्राप्त की जाए। स्नातकोत्तर परीक्षा पास किए हुए हिन्दी भाषी का स्तर हाई स्कूल उत्तीर्ण वाले हिन्दी भाषी से भिन्न होगा। इस लिए जब हम हिन्दी को कठिन कह कर इसकी बुराई करते हैं तो यह भी देख लिया जाना चाहिए कि कहीं हम हिंन्दी में स्नातकोत्तर परीक्षा पास किए हुए व्यक्ति का विरोध तो नहीं कर रहे हैं? वास्तव में जो अंग्रेजी का पक्ष ले कर हिन्दी को दुरुह बताते है, वे ऐसे लोग भी हैं। मैंने हर उच्च

अधिकारी के कार्यालय में और घर में अंग्रेजी भाषा के एक या एक से अधिक शब्द कोश मेज पर या अलमारियों में सजे देखे हैं। कई अधिकारी अपने साथ एक जेबी डिक्शनरी भी रखते हैं। पर क्या कोई भी अधिकारी अपने दफ्तरों में या घरों में हिन्दी का शब्द कोश रखता है ?

प्रश्न उठता है—यदि अंग्रेजी सरल भाषा है तो आप बुढ़ापे में भी अंग्रेजी शब्द कोश क्यों खरीद कर रखते हैं, और यदि हिन्दी कठिन भाषा है तो आपने उसे सीखने के लिए कौन सा नया शब्द कोश खरीदा है ? हिन्दी को लोगों ने यह मान लिया है कि यह भाषा बिना पढ़े लिखे अपने आप आ जानी चाहिए, जबकि अंग्रेजी को वे बिना प्रयत्न किए नहीं सीख पाते हैं।

किसी भी उर्दू बोलने वाले को कोई भी हिन्दी भाषी यह नहीं कहेगा कि मैं आपकी बात समझा नहीं। लेकिन जिस भाषा में वह उत्तर देगा वह तो उसकी अपने संस्कारों की हिन्दी होगी। दूसरों को चाहिए कि वे भी उसकी हिन्दी को समझने का प्रयास करें। इसी तरह से भाषा का मेल मिलाप और विकास होता है। पर इससे हमें यह तर्क नहीं निकालना चाहिए कि हर हिन्दी भाषी को गालिब के शेरों का अर्थ कंठस्थ रहना चाहिए। ये चीजें साहित्यिक गहराइयों की हैं, इनके अर्थ कभी कभी खुद गालिब भी भूल जाते हैं।

अब उर्दू निष्ठ और संस्कृत निष्ठ हिन्दी भाषा की लड़ाई आमने सामने लड़ी जा रही है, पर इसका एक तीसरा पक्ष भी है जिसकी संभावना उन्नीसवी शताब्दी में देख ली गई थी। इसमें उर्दू निष्ठ और संस्कृत निष्ठ दोनों हिन्दी भाषियों को ललकारा जा रहा है कि हिन्दी को सारे बोझों से मुक्त करो। यह देहात से जुड़ कर सीधी खड़ी बोली पनपेगी। यह उन लोगों की भाषा है जो न मस्जिद में अजान देना जानते हैं और न मन्दिर में जल चढ़ाने जाते हैं। यह सीधे हिन्दुस्तान के खेत खलिहानों और दस्तकारों की भाषा है। गालिब के शेरों के दस दस अर्थ निकालने वाले तथा राम चरित मानस की चौपाइयों में सैकड़ों अलंकारों की खोज करने वाले विद्वान इन दस्तकारों की भाषा को अपने लिए विदेशी तक मानते हैं।

हिन्दी भाषा पर रोक नहीं लगनी है। गलती यह है कि जो भी हिन्दी की सेवा करना चाहते हैं, पहले वे एक विचार बना लेते हैं कि हिन्दी ऐसी होनी चाहिए। फारसी की पृष्ठ भूमि वाले इसे फारसी बना देना चाहते हैं और संस्कृत के श्लोक रटने वाले इसे संस्कृत बना देना चाहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि वे सभी इसके अलग अलग सेवक हैं। हिन्दी इन सब को ले कर आगे बढ़ रही है। हिन्दी में साहित्य रचने की किसी को मनाही नहीं है। हिन्दी पत्रिकाओं में अनेक स्तरों की कहानियाँ तथा लेख छपते हैं। कुछ पत्रिकाएँ फारसी शब्दों से परहेज नहीं करतीं और कई अपने स्तर को शुद्ध संस्कृत की पृष्ठ भूमि का बनाए रखती हैं।

इन पत्रिकाओं की अपनी अपनी ग्राहक संख्याएँ हैं। अब इसमें किसी को यह शिकायत नहीं होनी चाहिए कि सरिता और कादम्बिनी की पत्रिकाओं में भाषाओं का यह अन्तर क्यों है ? हिन्दी सब कुछ दे रही है, आप अपनी चाहत का छाँट लीजिए। दूसरी पत्रिका के ग्राहक दूसरी विचार धारा के हो सकते हैं। हमारे लिए भाषा के सम्बन्ध में इतनी स्वतंत्रता लेनी और देनी आवश्यक है। इसी प्रकार हिन्दी में गजलों का चलन चल निकला है। इन हिन्दी गजलों को देख कर संस्कृत की समास बहुल शैली की कविताएँ पढ़ने के अभ्यस्त लोगों को यह नहीं सोचना चाहिए कि गजल से हिन्दी भाषा की पवित्रता को कलुषित किया जा रहा है। वास्तव में जिसे हम हिन्दी कहते हैं और जो हमारे संविधान में हिन्दी मानी गई है वह इतनी छोटी हिन्दी नहीं है जैसी लोग इसे मान लेते हैं। हिन्दी सेवियों का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वे भारत की तथा भारत से बाहर की अन्य समकालीन जीवित भाषाओं का आदर सत्कार करते हुए उन्हें अपने हृदय में स्थान दें।

अध्याय—8

हिन्दी की जीनियस

1

राज काज में हिन्दी आ रही है। यदि इसमें किसी को सन्देह हो तो वह कुछ समय के लिए इन्तजार कर सकता है। जिस दिन राज काज संबंधी अंग्रेजी के मैनुअलों का हिन्दी में अनुवाद का काम पूरा हो जाएगा उस दिन उन्हें अवश्य विश्वास हो जाएगा लेकिन हमारा मुद्दा दूसरा है। हमारा मुद्दा यह है कि राज काज में जो भाषा आ रही है वह हिन्दी है या कुछ और है ? इसकी शैली में जो बनावटी पन और शब्दों के अर्थों में जो दुरूहता आई है उसे देख कर कहा जा सकता है कि यह असली हिन्दी नहीं है। हिन्दी भाषी उस हिन्दी का स्वागत करेंगे जिसे दफ्तरों में फाइल लिखने से पहले अधिकारी और कर्मचारी आपस में बहस और चर्चा के दौरान इस्तेमाल करते हैं। उस भाषा को ज्यों की त्यों लिख दिया जाए वही सच्ची हिन्दी है। यदि उसमें कुछ अटपटा पन दीख पड़ता है तो उसी में से आगे उसका सीधा पन भी निकल आएगा। वह सहज हिन्दी होगी। फाइल पर नोट लिखने से पहले बात चीत में जिस भाषा का प्रयोग होता है उसमें पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग होता है। जो पारिभाषिक शब्दावली चर्चा के समय बोली जाती है वही लिखते समय लिख दी जानी चाहिए। इसका सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि हम पारिभाषिक शब्दावली के अधिकांश भाग के लिए अनुवाद करने से बच जाएँगे।

संस्कृत भाषा के पुराने शब्दों को अखिल भारतीयता के स्तर पर एकरूपता लाने के लिए प्रयोग करना संभव नहीं है। पुराने समय में संस्कृत जिस रूप में विकसित हुई है उसने भारत को भौगोलिक दृष्टि से दो फाड़ कर दिया था। इससे संस्कृत के शब्दों के दो दो अर्थ हो गए हैं। यह अकारण नहीं है कि वे अर्थ विरोधी स्वभाव तक के होते हैं। जबकि उत्तर भारत में 'शिक्षा' का अर्थ ज्ञान प्रदान करने से है, महाराष्ट्र से शुरू हो कर पूरे दक्षिण भारत में इसका अर्थ 'दण्ड देना' होता है।

हिन्दी इस लिए दुरूह होती जा रही है क्योंकि राज काज में कर्मचारी इसका प्रयोग नहीं करते हैं। जो अपने घर में और दफ्तर में हिन्दी बोलते हैं, जो अपने भाई बंदों और रिश्ते दारों के साथ केवल हिन्दी भाषी हैं, वे यह महसूस करते हैं कि उन्हें राज भाषा हिन्दी नहीं आती है। यह आश्चर्य की बात है कि सरकार से बाहर के हिन्दी भाषी लोग सरकार में आते ही हिन्दी में काम करने से डरने लगते हैं। उन्हें अपने हिन्दी

भाषी होने पर शंका होने लगती है। इसका सारा कारण संस्कृत है। दफ्तरों में उन्हें जिस भाषा को हिन्दी बताया जाता है, वास्तव में, उस हिन्दी से उनका परिचय नहीं हुआ होता है। इसके लिए हिन्दी भाषियों में यह साहस पैदा होना चाहिए कि वे अपने हक में कह सकें कि हिन्दी संस्कृत नहीं है, और वह पुराणों के पंडितों की संस्कृत तो बिल्कुल नहीं है। यह बात पुनः कही जाए कि संस्कृत को यह घमण्ड बिल्कुल त्याग देना चाहिए कि वह सब भारतीय भाषाओं की जननी है। यह किसी दूसरी भाषा की सहायता तभी कर सकती है जब खुद सहायता करने लायक बन सकेगी। यह पहले आधुनिक बने, तभी आधुनिक भाषाओं की सहायिका बन सकती है। अपने को प्राचीन कहने के घमण्ड में यह अन्य भाषाओं को पीछे की ओर ले जाती है।

हिन्दी को आधुनिक भारतीय भाषाओं के विरोध में रख कर नहीं देखा जाना चाहिए। भाषाओं की ऐसी स्थिति किसी भी भारतीय के हक में नहीं है। यदि हम भारतीय संविधान के अनुच्छेदों का सम्यक दृष्टि से अध्ययन करें तो उनसे पता चलता है कि सभी आधुनिक भारतीय भाषाएँ एक जुट हो कर अंग्रेजी से लड़ रही हैं। यह केवल एक भौगोलिक स्थिति का अन्तर है कि कोई भाषा इस प्रान्त में और कोई भाषा दूसरे प्रान्त में अंग्रेजी से लड़ रही है। इनमें सबकी मूल भावना एक है कि बोल चाल की सरल भारतीय भाषाओं में राज काज होना चाहिए। देखा जाए तो यह भी एक चालाकी खेली जा रही है कि जब भारतीय भाषाओं की एक जुट लड़ाई अंग्रेजी, फारसी और संस्कृत से चल रही है, तब इन भारतीय भाषाओं को आपस में लड़ा दिया जाता है। कारण स्पष्ट है, ये जितना अधिक आपस में लड़ेंगी, अपने मुख्य लक्ष्य से उतना ही दूर हटेंगी।

हिन्दी भारत में संघ सरकार की राज भाषा इसलिए बनाई गई है कि सरकार का अधिक से अधिक काम जनता की भाषा में हो। पुनः इसे संस्कृत की ओर ले जाने का अर्थ होगा कि जनता का काम जनता की भाषा में न हो। गौतम बुद्ध अपने समय में भाषा की ऐसी समस्या से पूर्ण परिचित थे। डा० भरत सिंह उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'पालि साहित्य का इतिहास' में इसका जिक्र किया है। उन्होंने लिखा है—"विनय पिटक के चुल्ल वग्ग में एक कथा है, जिसमें दो ब्राह्मण भिक्षु (यमेलु और तेकुल) इस बात पर बड़े क्षुब्ध होते दिखाए गए हैं कि नाना जाति और गोत्रों के मनुष्य अपनी अपनी भाषा में बुद्ध वचनों को रख कर उन्हें दूषित करते हैं, '(सकाय निरुत्तिया बुद्ध वचनं दूसेन्ति)'। वे जा कर भगवान को इस बात की सूचना देते हैं और प्रार्थना करते हैं—"भन्ते, अच्छा हो हम बुद्ध वचन को छन्दस में कर दें। (हन्द मयं भन्ते बुद्ध वचनं छन्दसो आरोपेमाति)।" भगवान उन्हें कहते हैं कि ऐसा करना तो 'दुष्कृत' अपराध होगा। बाद में विधानात्मक आदेश देते हैं—"भिक्षुओ, अपनी अपनी भाषा में बुद्ध वचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ।" (अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्ध वचनं

परियापुणितु)।" घटना का अर्थ स्पष्ट है—ब्राह्मण भिक्षुओं को संस्कार वश अभी तक वेदों की प्राचीन भाषा (छन्द) में पवित्रता की गंध आती थी। अपनी वाणी (सका निरुत्ति) जिसमें सामान्य भिक्षु बुद्ध वचनों को सीखते थे, उन्हें वैदिक भाषा की अपेक्षा अधम लगती थी। अतः उसमें बुद्ध वचनों को रखना उन्हें उनका अपमान लगता था। इसी लिए उन्होंने बुद्ध वचनों को वेद की पवित्र भाषा या 'छन्द' में रखने का प्रस्ताव किया था।

डा० भरत सिंह उपाध्याय इस संबंध में आगे लिखते हैं—"जनपद निरुक्तियों अर्थात भाषा के स्थानीय प्रयोगों में तथागत को कोई अभिनिवेश नहीं था। किसी एक भाषा प्रयोग में उनका आग्रह नहीं था।" मज्झिम निकाय के अरण विभंग सुत्त का उदाहरण देते हुए डा० उपाध्याय लिखते हैं— 'तथागत ने स्वयं कहा है कि एक ही वस्तु 'पात्र' के लिए किसी जन पद में 'पाति', किसी में 'पत्त,' किसी में 'वित्थ', किसी में 'सराव', किसी में 'धारोप', किसी में 'पोण', किसी में 'पिसील' शब्द का प्रयोग होता है, तो भिक्षुओं को किसी एक शब्द को ही ले कर यह समझ कर नहीं बैठे रहना चाहिए कि यही प्रयोग ठीक है और सब गलत। बल्कि उन्हें तो अपने भी जनपद के प्रयोग के प्रति ममता न रख कर जहाँ जैसा प्रयोग चलता हो वहाँ उसी के अनुसार बरतना चाहिए।"

इसमें किसी को शक नहीं होना चाहिए कि संस्कृत की तुलना में पाली भाषा सरल ही रही है। डा० भदंत आनंद कौसल्यायन ने अपने 'पालि हिन्दी कोश' में इस बात को प्रामाणिक रूप में रखा है कि "संस्कृत की अपेक्षा पालि निश्चयात्मक रूप से आसान है। संस्कृत के पाणिनि व्याकरण में जहाँ लगभग चार हजार सूत्र हैं, वहाँ पालि के सबसे बड़े व्याकरण मोग्गल्लान व्याकरण की सूत्र संख्या आठ सौ के ही आस पास है।" सच भी है, यदि ऐसा न होता तो गौतम बुद्ध छन्दस के विरोध में न जाते।

2

मुझे लगा है कि संस्कृत ने खुद हिन्दी पर आक्रमण कर दिया है। नए शब्द रचने के उत्साह में हिन्दी में से हिन्दी के शब्द हटाने की कोशिश की है। ऐसी स्थिति एक हिन्दी भाषी के लिए मुश्किल की हो जाती है।

बात बड़ी स्पष्ट है। संस्कृत एक श्रेष्ठ भाषा है तो रहे, हम इसकी श्रेष्ठता का इसके नजदीक रहने के कारण अपनी आवश्यकता के अनुसार भरपूर लाभ उठा लेंगे, पर इसके कारण हम अपनी हिन्दी को नहीं छोड़ देंगे। कल को यदि यह सिद्ध हो

जाए कि संसार में जर्मन भाषा श्रेष्ठतम और पूर्ण वैज्ञानिक है तो हम इसी कारण हिन्दी को छोड़ कर जर्मन सीखनी आरम्भ नहीं कर देंगे। फिर संस्कृत को श्रेष्ठ भाषा कौन कहते हैं ? केवल संस्कृत के विद्वान ही। लेकिन हिन्दी भाषियों को पता है कि संस्कृत उनके मतलब की भाषा कभी नहीं रही है। आज के हिन्दी भाषियों के पुरखों ने अपने जीवन में कभी संस्कृत नहीं बोली है।

हिन्दी के साथ यह बड़ा अन्याय है कि हिन्दी में से हिन्दी निकाली जा रही है। यह काम भाषा और साहित्य के सभी स्तरों पर किया जाता है। भाषा के नाम पर इसमें संस्कृत पढ़ाई जाती है और साहित्य के नाम पर इसमें अवधी और ब्रज भाषा का साहित्य पढ़ाया जा रहा है। सच्ची हिन्दी को सधुक्कड़ी, हिन्दुस्तानी या उर्दू कह कर पीछे छोड़ दिया जाता है। जो अवधी और ब्रज भाषाएँ आज अपने बूते पर खड़ी नहीं हो सकती थीं उन्हें खड़ी बोली के साथ मिला कर पढ़ाया जा रहा है। जिस संस्कृत को स्वयं जाति वादी ब्राह्मणों के बच्चों ने पढ़ना छोड़ दिया था उसका जबरन प्रचलन किया जा रहा है।

भाषा और साहित्य की दृष्टि से डा० राम विलास शर्मा के इस कथन का कुछ अर्थ होना चाहिए कि "हिन्दी भी एक जाति की भाषा है। इसकी दो साहित्यिक भाषाएँ हैं, हिन्दी और उर्दू।" लेकिन इस सच को स्वीकार न करके, संस्कृत निष्ठ हिन्दी लिख कर इस भाषा के स्वरुप की टांग तोड़ दी जाती है तथा अवधी और ब्रज के कारण साहित्य के क्षेत्र में इसे लूली भी बना दिया जाता है। एक सही बात स्वीकार नहीं की जा रही है जो डा० राम विलास शर्मा ने कही है कि "हिन्दुस्तानी जाति का गठन सबसे पहले हिन्दी भाषा के द्वारा हुआ। भले ही इसे साहित्यिक रूप देने वाले मुसलमान रहे हों, भले ही उन्होंने उर्दू (या फारसी) लिपि का प्रयोग किया हो, उनकी भाषा हिन्दी है।"

जब मैं हिन्दी को संस्कृत से भिन्न भाषा मानता हूँ तो यह अवश्य जान लिया जाए कि मैं इसे फारसी से भी भिन्न मानता हूँ। जैसे हिन्दी संस्कृत के उच्चारण की कायल नहीं है वैसे ही यह फारसी के उच्चारण से भी बँधी नहीं है। हिन्दी ने संस्कृत की वर्ण माला के कई अक्षर अपने लिए समाप्त कर रखे हैं। यह संस्कृत के शब्दों का अपनी तरह से उच्चारण करती है। आज हिन्दी भाषियों से 'यज्ञ' शब्द जबरन इस रूप में लिखवाया जा रहा है, लेकिन उच्चारण में तमाम हिन्दी भाषियों ने इस लिपि को झुठला रखा है। वे इसे एक स्वर से 'यग्य' ही बोलते हैं। संस्कृत में शोध करने वाले इसे भले ही पच्चीसवी शताब्दी के लिए विदेशी मुद्रा के कागज पर 'यज्ञ' अंकित करके सुरक्षित रख लें, लेकिन यह सच नहीं है। वे लिपि के प्रमाण पर यही सिद्ध करते रहेंगे कि बीसवी शताब्दी में इसे यज्ञ उच्चरित किया जाता था लेकिन यह झूठ ही है। ऐसे ही गलत प्रमाणों से भाषा के इतिहास को चकमे देने का प्रयत्न किया जाता है।

फारसी ध्वनियों के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। डा० राम विलास शर्मा ने इसे संक्षेप में बताया है—"हिन्दी में अरबी फारसी की ध्वनियाँ बदल गई हैं। स्वाद का उच्चारण स रूप में होता है। अलिफ और ऐन की ध्वनियों में भेद नहीं किया जाता। ग़ैन, ग़ाफ़, क़ाफ आदि की ध्वनियाँ हिन्दी में प्रचलित नहीं हुईं। ज़ और ख़ की ध्वनियाँ पढ़े लिखे लोगों की भाषा में सुनाई देती हैं, जन पदीय बोलियों में कहीं उनका अस्तित्व नहीं है।"

भारत सरकार ने भी डा० राम विलास शर्मा के इसी विचार को अपनी मोहर दी है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित पुस्तिका 'देव नागरी लिपि तथा हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण' में लिखा गया है—"अरबी फारसी या अंग्रेजी मूल के वे शब्द जो हिन्दी के अंग बन चुके हैं और जिनकी विदेशी ध्वनियों का हिन्दी ध्वनि में रूपांतर हो चुका है, हिन्दी रूप में ही स्वीकार किए जा सकते हैं, जैसे—कलम, किला, दाग आदि (क़लम, क़िला, दाग़ नहीं)। पर जहाँ उनका शुद्ध विदेशी रूप में प्रयोग अभीष्ट हो अथवा उच्चारणगत भेद बताना आवश्यक हो वहाँ उनके हिन्दी में प्रचलित रूपों में यथा स्थान नुक्ते लगाए जाएँ जैसे—खाना : ख़ाना, राज : राज़, फन : हाइफ़न। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि अरबी-फारसी एवं अंग्रेजी की मुख्यतः पाँच ध्वनियाँ (क़, ग़, ख़, ज़, और फ़) हिन्दी में आई हैं जिनमें से दो (क़ और ग़) तो हिन्दी उच्चारण (क,ग) में परिवर्तित हो गई हैं, एक (ख़) लगभग हिन्दी 'ख' में खपने की प्रक्रिया में है और शेष दो (ज़, फ़) धीरे धीरे अपना अस्तित्व खोने बनाए रखने के लिए संघर्षरत हैं।"

3

यहाँ संस्कृत की बार बार इस लिए चर्चा हो जाती है क्योंकि जब मैं हिन्दी की बात करता हूँ मुझे संस्कृत हर बार अपना मुँह दिखाती है। हर हालत में हिन्दी को अहिन्दी होने से बचाया जाना है। यदि यह काम संस्कृत करना चाहेगी तो उसे अवश्य रोका जाएगा। यदि आज फारसी पुनः युवती बन कर हिन्दी पर धावा बोलने लगेगी तो संस्कृत से बचाव की हमारी बात गौण हो जाएगी। फिर फारसी को हिन्दी के घर में राज रानी बनने से रोका जाएगा। उधर भी हिन्दी की लड़ाई उतनी ही है। अन्तर केवल इतना है कि वह लड़ाई हिन्दी भाषियों के पुरखों ने पहले लड़ ली है। पुराने हिन्दी भाषियों का फारसी वालों से यही कहना था कि तुमने हमारे राज छीन लिए सो छीन लिए, कम से कम हमारी भाषा हम से मत छीनो। फारसी राज भाषा

बना ली, सो बना ली, लेकिन हिन्दी को फारसी युक्त बना कर मत मिटाओ। हिन्दी की उसी लड़ाई का इतिहास साक्षी है कि हिन्दी क्षेत्र में फारसी राज भाषा हो कर चली गई, लेकिन यहाँ के सभी लोग हिन्दी बोलते हैं। फारसी आई और चली गई लेकिन हिन्दी नहीं गई है।

हिन्दी पर अब यह आक्रमण संस्कृत की ओर से हो रहा है। जो कोई हिन्दी के घर पर हमला करेगा उसे हिन्दी की बेचैनी भी देखनी पड़ेगी। हिन्दी किसी को उनके घर में जा कर मारने नहीं जा रही है। उलटे, इसकी आदत है कि यह दूसरी भाषाओं के पास मित्र भाव से जाती है। हिन्दी सबसे सीख कर अपने आपको विकसित करती है। यह हिन्दी का गुण है। अब यदि कोई हिन्दी की सहायता के नाम पर हिन्दी को मिटाने लगे तो यह बात ठीक नहीं है।

भाषा के नाम पर एक प्रकार से छल सा किया जाता है। एक मित्र ने एक छोटी पत्रिका चला रखी है। उन्होंने उसके एक अंक में भारतीय भाषाओं में ऋतुओं के नाम दे रखे हैं। भारतीय भाषाओं में हिन्दी, पंजाबी, उर्दू, कश्मीरी, सिंधी, मराठी, गुजराती, बंगाली, असमिया, उड़िया, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ के नाम गिनाए गए हैं। उन्होंने इस सूची में तमिल और संस्कृत के नाम नहीं लिए हैं। इसमें हिन्दी में ऋतुओं के नाम—शिशिर, शरद हेमन्त, बसंत, ग्रीष्म और वर्षा बताए गए हैं। पता नहीं, इस तालिका के किन संकलन कर्त्ता को मेरठ के किस गाँव या मौहल्ले में किस मेरठ वासी ने ऋतुओं के नाम इस प्रकार बताए थे। हम दिल्ली में जामा मस्जिद से ले कर कुतुब मीनार तक घूम आएँ, पर कोई सड़क पर या कारखाने में काम करने वाला इन शब्दों के अर्थ नहीं बता पाएगा। इस क्षेत्र के किसानों और मालियों में से जिनका संबंध इन बातों से अधिक पड़ता है, इनका कोई अर्थ नहीं बता पाएगा। लेकिन जाने कहाँ से आँकड़े इकट्ठे करके दे दिए गए हैं।

जब मेरठ जिले में बच्चे को मास्टर छह ऋतुओं के नाम बताया करता है वह इस प्रकार बताता है—जाड़ा, गरमी और बरसात, शिशिर, हेमन्त और बसंत। इनमें बच्चा गरमी और बरसात के अर्थ बहुत जल्दी समझ जाता है। उसे शिशिर, हेमन्त और बसंत में बसंत का अर्थ समझ में आता है, लेकिन शिशिर और हेमन्त के अर्थ वह बूढ़ा हो कर शमशान जाने तक भी नहीं समझ पाता है। उर्दू में इन छह ऋतुओं के नाम इस प्रकार दिए गए हैं—सरदी, (सर्दी) जाड़ा, खिजा, बसंत, गरमी, बरसात। मेरठ और दिल्ली क्षेत्रों में लोग इन्हीं शब्दों को अधिक जानते हैं। उनके लिए एक खिजा शब्द अनजान पड़ता है। वे खिजा की जगह पतझड़ का प्रयोग करते हैं। फिर मेरठ वाले 'रितु' शब्द को केवल 'सावन' के साथ जोड़ कर समझ पाते हैं। 'ऋतु' के लिए उनका अपना शब्द मौसम है। यूँ समझें कि खडी बोली क्षेत्र के हिन्दी भाषियों

फारसी ध्वनियों के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। डा० राम विलास शर्मा ने इसे संक्षेप में बताया है—"हिन्दी में अरबी फारसी की ध्वनियाँ बदल गई हैं। स्वाद का उच्चारण स रूप में होता है। अलिफ और ऐन की ध्वनियों में भेद नहीं किया जाता। ग़ैन, ग़ाफ़, क़ाफ आदि की ध्वनियाँ हिन्दी में प्रचलित नहीं हुई। ज़ और ख़ की ध्वनियाँ पढ़े लिखे लोगों की भाषा में सुनाई देती हैं, जन पदीय बोलियों में कहीं उनका अस्तित्व नहीं है।"

भारत सरकार ने भी डा० राम विलास शर्मा के इसी विचार को अपनी मोहर दी है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित पुस्तिका 'देव नागरी लिपि तथा हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण' में लिखा गया है—"अरबी फारसी या अंग्रेजी मूल के वे शब्द जो हिन्दी के अंग बन चुके हैं और जिनकी विदेशी ध्वनियों का हिन्दी ध्वनि में रूपांतर हो चुका है, हिन्दी रूप में ही स्वीकार किए जा सकते हैं, जैसे—कलम, किला, दाग आदि (क़लम, क़िला, दाग़ नहीं)। पर जहाँ उनका शुद्ध विदेशी रूप में प्रयोग अभीष्ट हो अथवा उच्चारणगत भेद बताना आवश्यक हो वहाँ उनके हिन्दी में प्रचलित रूपों में यथा स्थान नुक्ते लगाए जाएँ जैसे—खाना : ख़ाना, राज : राज़, फन : हाइफ़न। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि अरबी-फारसी एवं अंग्रेजी की मुख्यतः पाँच ध्वनियाँ (क़, ग़, ख़, ज़, और फ़) हिन्दी में आई हैं जिनमें से दो (क़ और ग़) तो हिन्दी उच्चारण (क,ग) में परिवर्तित हो गई हैं, एक (ख़) लगभग हिन्दी 'ख' में खपने की प्रक्रिया में है और शेष दो (ज़, फ़) धीरे धीरे अपना अस्तित्व खोने बनाए रखने के लिए संघर्षरत हैं।"

3

यहाँ संस्कृत की बार बार इस लिए चर्चा हो जाती है क्योंकि जब मैं हिन्दी की बात करता हूँ मुझे संस्कृत हर बार अपना मुँह दिखाती है। हर हालत में हिन्दी को अहिन्दी होने से बचाया जाना है। यदि यह काम संस्कृत करना चाहेगी तो उसे अवश्य रोका जाएगा। यदि आज फारसी पुनः युवती बन कर हिन्दी पर धावा बोलने लगेगी तो संस्कृत से बचाव की हमारी बात गौण हो जाएगी। फिर फारसी को हिन्दी के घर में राज रानी बनने से रोका जाएगा। उधर भी हिन्दी की लड़ाई उतनी ही है। अन्तर केवल इतना है कि वह लड़ाई हिन्दी भाषियों के पुरखों ने पहले लड़ ली है। पुराने हिन्दी भाषियों का फारसी वालों से यही कहना था कि तुमने हमारे राज छीन लिए सो छीन लिए, कम से कम हमारी भाषा हम से मत छीनो। फारसी राज भाषा

बना ली, सो बना ली, लेकिन हिन्दी को फारसी युक्त बना कर मत मिटाओ। हिन्दी की उसी लड़ाई का इतिहास साक्षी है कि हिन्दी क्षेत्र में फारसी राज भाषा हो कर चली गई, लेकिन यहाँ के सभी लोग हिन्दी बोलते हैं। फारसी आई और चली गई लेकिन हिन्दी नहीं गई है।

हिन्दी पर अब यह आक्रमण संस्कृत की ओर से हो रहा है। जो कोई हिन्दी के घर पर हमला करेगा उसे हिन्दी की बेचैनी भी देखनी पड़ेगी। हिन्दी किसी को उनके घर में जा कर मारने नहीं जा रही है। उलटे, इसकी आदत है कि यह दूसरी भाषाओं के पास मित्र भाव से जाती है। हिन्दी सबसे सीख कर अपने आपको विकसित करती है। यह हिन्दी का गुण है। अब यदि कोई हिन्दी की सहायता के नाम पर हिन्दी को मिटाने लगे तो यह बात ठीक नहीं है।

भाषा के नाम पर एक प्रकार से छल सा किया जाता है। एक मित्र ने एक छोटी पत्रिका चला रखी है। उन्होंने उसके एक अंक में भारतीय भाषाओं में ऋतुओं के नाम दे रखे हैं। भारतीय भाषाओं में हिन्दी, पंजाबी, उर्दू, कश्मीरी, सिंधी, मराठी, गुजराती, बंगाली, असमिया, उड़िया, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ के नाम गिनाए गए हैं। उन्होंने इस सूची में तमिल और संस्कृत के नाम नहीं लिए हैं। इसमें हिन्दी में ऋतुओं के नाम—शिशिर, शरद हेमन्त, बसंत, ग्रीष्म और वर्षा बताए गए हैं। पता नहीं, इस तालिका के किन संकलन कर्ता को मेरठ के किस गाँव या मौहल्ले में किस मेरठ वासी ने ऋतुओं के नाम इस प्रकार बताए थे। हम दिल्ली में जामा मस्जिद से ले कर कुतुब मीनार तक घूम आएँ, पर कोई सड़क पर या कारखाने में काम करने वाला इन शब्दों के अर्थ नहीं बता पाएगा। इस क्षेत्र के किसानों और मालियों में से जिनका संबंध इन बातों से अधिक पड़ता है, इनका कोई अर्थ नहीं बता पाएगा। लेकिन जाने कहाँ से आँकड़े इकट्ठे करके दे दिए गए हैं।

जब मेरठ जिले में बच्चे को मास्टर छह ऋतुओं के नाम बताया करता है वह इस प्रकार बताता है—जाड़ा, गरमी और बरसात, शिशिर, हेमन्त और बसंत। इनमें बच्चा गरमी और बरसात के अर्थ बहुत जल्दी समझ जाता है। उसे शिशिर, हेमन्त और बसंत में बसंत का अर्थ समझ में आता है, लेकिन शिशिर और हेमन्त के अर्थ वह बूढ़ा हो कर शमशान जाने तक भी नहीं समझ पाता है। उर्दू में इन छह ऋतुओं के नाम इस प्रकार दिए गए हैं—सरदी, (सर्दी) जाड़ा, खिजा, बसंत, गरमी, बरसात। मेरठ और दिल्ली क्षेत्रों में लोग इन्हीं शब्दों को अधिक जानते हैं। उनके लिए एक खिजा शब्द अनजान पड़ता है। वे खिजा की जगह पतझड़ का प्रयोग करते हैं। फिर मेरठ वाले 'रितु' शब्द को केवल 'सावन' के साथ जोड़ कर समझ पाते हैं। 'ऋतु' के लिए उनका अपना शब्द मौसम है। यूँ समझें कि खडी बोली क्षेत्र के हिन्दी भाषियों

पर संस्कृत थोप दी गई है। शब्द संकलन कर्त्ता ने अपने घर में बैठ कर मेरठ और दिल्ली वासियों का प्रतिनिधित्व स्वयं कर लिया है। इसी प्रकार, मराठी, गुजराती, बंगला, असमिया, उड़िया, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ के बारे में बताया गया है कि उनकी ऋतुओं के नाम भी शिशिर, शरद, हेमन्त, बसन्त, ग्रीष्म और वर्षा हैं।

पहली बात यही है कि जिन भाषाओं में ऋतुओं के ये छह नाम गिनाए गए हैं, उन भाषाओं की जलवायु में ये ऋतुएँ होती हैं, यह अनिवार्य नहीं है। मलयालम भाषा का उदाहरण दिया जा सकता है कि केरल में छह ऋतुएँ नहीं होती हैं। जब वहाँ छह ऋतुएँ नहीं होती हैं, फिर उनके यहाँ ऋतुओं के छह नाम कैसे मिल सकेंगे ? कोई संस्कृत साहित्य का पढ़ा लिखा केरल वासी षड ऋतु वर्णन के आधार पर वहाँ के फिल्मी गीतों में हेमन्तम् और शिशिरम् कह कर संगीत की लय बैठाता रहे, लेकिन केरल वासी केरल में रह कर लाख कल्पनाएँ करें कि शरद ऋतु क्या होती है, उनकी कुछ समझ में नहीं आएगा। कुछ समय पहले केरल में सत्तर वर्षों के बाद बाजरे के दाने जैसा ओला पड़ा था। उसके भी कुछ क्षेत्र के कुछ लोग ही दर्शन कर सके थे। अन्यथा लोग यूँ ही बूढ़े हो कर मर जाते हैं।

कन्नड़ भाषा में कुल चार ऋतुएँ होती है। वे गर्मी, बरसात, सर्दी और बसन्त को क्रमशः बेसिगेकाल, मलेकाल, चलिकाल और बसन्त काल कहते हैं। उनके यहाँ शिशिर और हेमन्त नहीं होते हैं। वे अपने बारह महीनों में यह नहीं बता सकते कि शिशिर कब होता है और हेमन्त कब आता है। इन शब्दों के लिए उनकी भाषा में कोई पर्याय वाची शब्द भी नहीं हैं।

तमिल भाषा में कुल चार ऋतुएँ होती हैं। इन्हें इलैयुदिर कालम, कोड़े कालम, मलै कालम और कुलिर कालम कहा जाता है। मलयालम में मुख्य रूप से चार ऋतुएँ होती हैं लेकिन ये वहाँ खींचतान कर छह बना दी गई हैं। मलयालम में बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर को क्रमशः पूक्कालम, वेनलक्कालम, मषक्कालम, शरदक्कालम, मञ्ञुकालम और इलपोषियुकालम कहा जाता है। इसमें यह भी सही है कि हर कोई मलयाली इन छह ऋतुओं को नहीं जानता है। जो साहित्य कार हैं वे भी इन्हें भूले रहते हैं। बड़ी मुश्किल से उन्हें ये शब्द याद आ पाते हैं।

हिन्दी, कन्नड़, तमिल और मलयालम के इन उदाहरणों से पता चलता है कि अखिल भारतीय स्तर पर संस्कृत की शब्दावली को जबरन थोपा जाता है। हिन्दी के अपने प्रामाणिक शब्दों को उर्दू के बता दिया गया है। शायद ऐसा सभी भाषाओं में किया जा रहा है। प्रान्तीय भाषाओं के मूल शब्द सामने नहीं आने दिए जा रहे हैं। उनके मूल शब्द पीछे छिपा दिए जाते हैं। जब ऐसा स्वयं हिन्दी के साथ किया गया है तो अन्य भाषाओं को भी माफ नहीं किया गया होगा। भारत में पुरोहित गिरी संस्कृत से

चलती है। हर प्रान्त में पुरोहित वर्ग है। वे संस्कृत के पत्रे पढ़ते हैं। शायद ऐसे पुरोहितों से ही पूछ पूछ कर प्रान्तीय भाषाओं की शब्दावली एकत्रित कर ली जाती है। यही हिन्दी में और सारी भारतीय भाषाओं में संस्कृत निष्ठता का आधार है। केरल में देहाती लोग ऐसी मलयालम बोलते हैं जिसका पुरोहित वर्ग की संस्कृत से पूरा पूरा अन्तर है। हिन्दी में ऐसी हिन्दी को उर्दू कह दिया गया है, मलयालम और तमिल में उन्हें क्या कहा जाएगा ?

प्रश्न गंभीर और गहराई से सोचने का है।

संविधान बनाने के समय देश में एक आम चर्चा थी कि संघ की राज भाषा हिन्दुस्तानी होनी चाहिए। यह माना जाता था कि हिन्दुस्तानी हिन्दी और उर्दू को एक कर देती है। कुछ तात्कालिक ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण संविधान के निर्माताओं ने हिन्दुस्तानी और उर्दू की तुलना में 'हिन्दी' शब्द को तरजीह दे कर अपनाया, लेकिन उसमें यह लिख दिया गया था कि हिन्दी सबसे पहले हिन्दुस्तानी को आत्म सात करती चलेगी। उसके बाद ये भी निर्देश दिए गए थे कि हिन्दी संविधान की आठवी अनुसूची में उल्लिखित सभी भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदों को भी आत्म सात करेगी।

इस आठवी अनुसूची में उर्दू भी एक भाषा है। आज यह प्रश्न विचारणीय है कि राज भाषा के रूप में हिन्दी ने अपने सबसे अधिक नजदीक वाली उर्दू के रूप, शैली और पदावली को कितना आत्म सात किया है। कितने का प्रश्न बाद में किया जा सकता है, इस समय केवल इतना ही पूछा जाए कि क्या हिन्दी उर्दू के रूप, शैली और पदावली को आत्म सात करने की प्रकिया में है ? प्रक्रिया की बात भी छोड़ी जाए, केवल इतना जानना पर्याप्त होगा—क्या हिन्दी उर्दू को आत्म सात करने के मूड में है ?

इसी लिए कहा जा रहा है कि यदि संस्कृत के मोह जाल में फँस कर हिन्दी उर्दू को, जिसके बारे में डा० राम विलास शर्मा सरीखे हिन्दी विद्वान ने यहाँ तक कहा है कि "हिन्दी उर्दू दो भाषाएँ नहीं हैं, क्योंकि उनका व्याकरण एक है, उनका मूल शब्द भंडार एक है, दोनों का एक सामान्य आधार है, बोल चाल की खड़ी बोली," आत्म सात नहीं कर रही है तो यह सोचा जाना चाहिए कि यह अन्य भारतीय भाषाओं के रूपों, शैलियों और पदों को कैसे आत्म सात करेगी। प्रश्न है—एक संस्कृत के लोभ में हिन्दी के लिए शेष सभी भारतीय भाषाओं के दरवाजे बन्द क्यों रहने चाहिए ?

सच आरोप लगाने वालों के या आरोपों का सही उत्तर देने वालों के पास हो सकता है, लेकिन डा० राम विलास शर्मा ने बहुत बड़ी बात कही है कि "हिन्दू सम्प्रदाय वाद की यह विशेषता है कि वह भारतीय संस्कृति में मुसलमानों के योग को

स्वीकार नहीं करता है ।" ऐसी ही बात राजेन्द्र यादव ने गत वर्ष 'हिन्दी दिवस' पर अपने एक लेख में कही थी । यदि डा० राम विलास शर्मा और राजेन्द्र यादव का यह आरोप झूठा है तो बहुत अच्छा, लेकिन यदि इसमें कुछ भी सच्चाई है तो यह बहुत बुरी बात है ।

मैं एक ऐसे विद्वान से, जिन्हें राज भाषा हिन्दी का कानून संबंधी अच्छा ज्ञान है, बातें कर रहा था । मैंने उन्हें बताया कि मैं भारत के संविधान के अनुच्छेद 351 की बहुत प्रशंसा करता हूँ । मेरी एक बात भी सुने बिना उन्होंने तत्काल मुझ से कहा कि मैं संविधान के उस अनुच्छेद की प्रशंसा किस प्रकार कर सकता हूँ क्योंकि उस अनुच्छेद में नेहरू ने हिन्स्दुतानी शब्द डलवा दिया है ? उनके अनुसार इस अनुच्छेद में हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग हिन्दी पर कलंक के समान है ।

4

यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जानी चाहिए कि भारत में हिन्दी को इस लिए संघ की राज भाषा नहीं बनाया गया है कि यह कोई बहुत अच्छी भाषा है । इसके साथ.ही, यह बात भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जानी चाहिए कि संस्कृत को पूजने की दृष्टि से संविधान के अनुच्छेद 351 में नहीं रखा गया है। इस अनुच्छेद के कारण हिन्दी वाले हिन्दी के साथ तथा संस्कृत वाले संस्कृत के साथ अपने मनों में कोई विशेष घमण्ड न जोड़ लें ।

संविधान ने जो हिन्दी को संघ की राज भाषा बनाया है, उससे हिन्दी भाषियों को न दुख है और न सुख है । दुख इस लिए नहीं है क्योंकि संविधान ने हिन्दी को राज भाषा के रूप में विकसित करने का जो रास्ता अपनाया है वह हिन्दी के अनुकूल है। हिन्दी भाषियों को संविधान में हिन्दी का सुख इस लिए नहीं है क्योंकि हिन्दी भाषियों में यह दंभ नहीं है कि उनकी भाषा को दूसरों की भाषाओं की तुलना में राज भाषा का स्थान मिला है । इसमें हिन्दी भाषा का संविधान से यही कहना है कि यदि मैं इस देश के किसी अच्छे काम आ सकूँ तो सेवा के लिए हाजिर हूँ । हिन्दी भाषी लोग संविधान में हिन्दी को राज भाषा के रूप में स्वीकृत किए जाने को अपने लिए एक बड़ी जिम्मे दारी मानते हैं । वे राष्ट्र सेवा के इस पुनीत काम को ईमान दारी से निभाना चाहते हैं । हिन्दी राज भाषा के रूप में अपने आपको ताज पहनी हुई भाषा का अनुभव नहीं करती है ।

हिन्दी भाषियों का केवल यह कहना है कि यदि हिन्दी किसी दिन राज भाषा

के रूप में उपयुक्त भाषा सिद्ध न हो सके तो हमें हमारी हिन्दी उसकी मौलिकता के समेत वापिस लौटा दी जाए। हिन्दी के विकास का अर्थ यह नहीं है कि हिन्दी हिन्दी न रहे। हिन्दी भाषी हिन्दी के ऐसे विकास को विकास कहना नहीं चाहेंगे।

उद्देश्य यह नहीं है कि हिन्दी भाषा का अहिन्दी भाषियों में प्रचार हो। यह भी नहीं कहा जा रहा है कि हिन्दी भाषा का अहिन्दी भाषियों में प्रचार न हो। न यही कामना है कि हिन्दी की कोई प्रशंसा करे। और न यही विचार है कि हिन्दी को कोई गाली दे। इस मूल मंत्र को सामने रखते हुए यह बात कही जा रही है कि हिन्दी की आत्मा बची रहे।

हिन्दी भाषा को संघ की राज भाषा बनाया गया था। यह निर्णय 26 जनवरी, 1950 से लागू हुआ था। प्रश्न उठता है कि हिन्दी भाषा को यह दर्जा क्यों दिया गया? इस प्रश्न का उत्तर इस बात को ध्यान में रखते हुए भी दिया जाना है कि भारत की अन्य भाषाएँ यह दर्जा क्यों प्राप्त नहीं कर सकीं।

कंस्टिट्यूशनल असेम्बली की बहसों में इस पर काफी कुछ कहा गया है। असेम्बली के सभी सदस्यों को पता था कि तब तक भारत की बंगला भाषा को साहित्य के क्षेत्र में विश्व का सबसे बड़ा नोबल पुरस्कार मिल चुका था। उस समय अन्य भाषाएँ भी अपने अपने क्षेत्रों में बहुत ऊँचाई पर पहुँची हुई थीं। इतिहास की दृष्टि से सबसे पुरानी जीवित भाषा तमिल भी उनके पास थी। लेकिन उनमें से कोई भी भाषा संघ सरकार की राज भाषा नहीं बन सकी थी। वास्तव में, राज भाषा बनाने के लिए किसी भाषा का बहुत पुरानी होना या उसके साहित्य के महान होने की कसौटी नहीं थी। यह कसौटी केवल यह थी कि उस भाषा को समझने वाले और बोलने वाले लोगों की संख्या कितनी है। उस समय यह तय पाया गया था कि हिन्दी भाषा को बोलने और समझने वाले सबसे अधिक संख्या में हैं।

हिन्दी भाषा को इतने अधिक लोग क्यों बोलते थे? जो हिन्दी भाषा को बोलते थे क्या उन सबकी मातृ भाषा हिन्दी थी? इसमें कोई झूठ नहीं चल सकता कि उन सबकी भाषा अनिवार्य रूप से हिन्दी नहीं थी। मैं यह भी कहना चाह रहा हूँ कि उस समय अवधी, ब्रज, मैथिली, भोजपुरी या अन्य क्षेत्रों के लोगों की मातृ भाषा हिन्दी नहीं थी। जिस हिन्दी को अंगीकार किया गया था वह केवल मेरठ और दिल्ली के क्षेत्र की मातृ भाषा ठहरती थी। प्रश्न बनता है कि मेरठ और दिल्ली के क्षेत्र को छोड़ कर अन्य बोलियों के लोगों ने भी अपनी मातृ भाषा हिन्दी क्यों बताई थी? इसका मतलब यह नहीं था कि सच में उनकी मातृ भाषा मेरठ और दिल्ली के क्षेत्र में बोली जाने वाली खड़ी बोली थी। उस समय आज के हिन्दी भाषी क्षेत्रों के लोगों ने

मातृ भाषा है । उसमें मुख्य मुद्दा यह था कि कौन भाषा अपने मातृ भाषियों से बाहर भी समझी और बोली जाती है । उस समय अवधी केवल अवध प्रान्त में बोली और समझी जाती थी—वह उनकी मातृ भाषा भी थी । ब्रज केवल ब्रज प्रदेश में बोली और समझी जाती थी—वह उस क्षेत्र की मातृ भाषा भी थी । यही सच्चाई मैथिली और दूसरी बोलियों के बारे में थी । अवधी अवध क्षेत्र से बाहर बोली और समझी नहीं जाती थी । ब्रज भी ब्रज क्षेत्र से बाहर बोली और समझी नहीं जाती थी । खड़ी बोली की ही यह विशेषता थी कि यह कुरु प्रदेश की मातृ भाषा थी परन्तु कुरु देश से बाहर ब्रज, अवध, और मैथिल प्रान्त में भी बोली और समझी जाती थी । इस लिए, यदि अवध प्रान्त के लोग अपनी मातृ भाषा अवधी लिखते तो भी उन्हें यह बताना पड़ता कि क्या वे खड़ी बोली को बोलते और समझते हैं । तब उन्हें यह सच कहना ही पड़ता कि वे खड़ी बोली को बोलते और समझते हैं । इससे पता चलता है कि खड़ी बोली को संघ सरकार की राज भाषा का दर्जा पहले राउन्ड में नहीं मिल गया था । पहले राउन्ड में यह केवल मेरठ और दिल्ली क्षेत्र के लोगों की मातृ भाषा थी लेकिन दूसरे राउन्ड में यह तथा कथित हिन्दी समूह की सभी बोलियों को तथा सभी अन्य प्रान्तीय भाषाओं को पीछे छोड़ गई थी ।

यह कुछ बुरा नहीं हुआ है कि भारत सरकार की साहित्य अकादमी ने राजस्थानी और मैथिली आदि भाषाओं में भी साहित्यिक पुरस्कार देने आरम्भ कर दिए हैं । इससे खड़ी बोली वाली हिन्दी का कोई अहित नहीं होता है । खड़ी बोली का उद्देश्य न तो अपनी तथा कथित साथी बोलियों को मिटाने का है और न यह भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं को मिटाना चाहती है । यह भारत की दूसरे राउन्ड की भाषा है जो कहीं आकाश में से नहीं निकली है बल्कि इसको अपनी मातृ भाषा के रूप में बोलने वालों का एक भौगालिक क्षेत्र है । इस बात को पुनः दोहरा लिया जाए कि खड़ी बोली भाषा के मामले में दूसरे राउन्ड की गिनती किए जाने पर भारत की बिना किसी प्रयास के अपने आप लिंग्वा फ्रैन्का है । इसमें दूसरे राउन्ड की लिंग्वा फ्रैन्का होने के कारण खड़ी बोली के संघ सरकार की राज भाषा होने के दावे को कोई भी चुनौती नहीं दे सकता । साहित्य अकादमी द्वारा राजस्थानी या अन्य भाषाओं में लिखित साहित्य को प्रोत्साहन देने के कारण खड़ी बोली भारत की सम्पर्क भाषा बनने की अपनी क्षमता से पीछे नहीं हट जाती है ।

5

संविधान में इस मुद्दे पर बहुत बहस हुई थी कि संघ की राज भाषा क्या हो । उस पर बहुत से लोगों ने अलग अलग सोचा था । अन्त में हिन्दी को राज भाषा के

रूप में चुना गया था। यहाँ मेरा कहना यह है कि इसे राज भाषा का यह रूप नहीं मिल पाता यदि लोगों को यह पता होता कि हिन्दी को संस्कृत निष्ठ बनाया जाएगा। सरदार हुकुम सिंह ने हिन्दी के पक्ष में अपना मत दिया था लेकिन इस मत को देने में उनकी अपनी शर्त भी थी। यदि उन्हें विश्वास होता कि हिन्दी संस्कृत निष्ठ बनाई जाएगी तो वे हिन्दी के पक्ष में अपना मत कदापि न देते। उन्होंने असेम्बली की बहसों के दौरान जो कहा था उसका हिन्दी अनुवाद नीचे दिया जा रहा है। उन्होंने कहा था :

> "जब मैंने हिन्दी का समर्थन किया था मैं यह समझ चुका था कि यह जन जन की भाषा है। इसे भारत की सामान्य जनता बोलती और समझती है। निश्चय ही मैं अभी भी उसी जन भाषा के पक्ष में खड़ा हूँ।
>
> "मैंने हिन्दी के प्रबल समर्थकों की मंचीय भाषा सुनी है। यहाँ सदन में भी उनके हिन्दी के भाषण सुने हैं। उनकी भाषा सुनने के बाद मुझे भय है कि वे इस भाषा के स्वतः विकास को रोक रहे हैं और इसे सामान्य भाषा की तरह बढ़ने नहीं दे रहे हैं। वे भाषा को संस्कृत निष्ठ बना कर थोड़े से लोगों की सम्पत्ति बना रहे हैं। यहाँ मैं पुनः यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं संस्कृत भाषा का विरोधी नहीं हूँ और यदि सीधे सीधे उसे लिया जाए तो मैं उसका समर्थन ही करूँगा, लेकिन मैंने यह महसूस किया है कि सदन का ऐसा झुकाव नहीं है। इसलिए हमें ईमान दारी पूर्वक यह स्पष्ट कर ही लेना चाहिए कि क्या हम किसी शास्त्रीय भाषा को चाह रहे हैं और उसे हिन्दी का नाम देंगे या हम ऐसी भाषा चाहते हैं जो भारत में अधिकांश लोगों द्वारा समझी और बोली जाती है।
>
> "विभाजन के पूर्व राष्ट्र भाषा के प्रश्न पर हिन्दी और उर्दू का विवाद चला था। विवाद ही, नहीं बल्कि अनुमति हो तो मैं कहूँगा कि दो दुराग्रह थे। उर्दू भाषा अरबी और फारसी से शब्द ले रही थी और हिन्दी भाषा संस्कृत से। तब यह विरोध बड़ा प्रबल था। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसी लिए एक आम भाषा विकसित करने की आवश्यकता समझी गई और उस भाषा को हिन्दुस्तानी कहा गया। हमारे कुछ सदस्यों और कुछ बाहर के लोगों के मन में यह भय आ गया कि हिन्दुस्तानी उर्दू का ही दूसरा नाम है। मैं समझता हूँ कि अब यह भय नहीं रह गया है। विभाजन के बाद अब कोई भाषा अरबी और फारसी शब्दों को इतनी आजादी से नहीं ले पाएगी। अरबी और फारसी की उपेक्षा नहीं होगी लेकिन किसी अन्य भाषा का मुख्य स्रोत वे नहीं रहेंगी। अरबी और फारसी का आतंक हिन्दी में नहीं रह गया है। लेकिन अब एक आशंका यह होने लगी है कि भाषा को हिन्दी कहा जा सकता है लेकिन वह हिन्दी सच में संस्कृत निष्ठ हो जाएगी।"

कन्स्टिट्यूशनल असेम्बली के कुछ अन्य सदस्यों के विचार भी आगे दिए जा रहे हैं।

जय पाल सिंह ने कहा था :

"आज की बोली जाने वाली भाषा को संस्कृत निष्ठ बना कर समृद्ध करने का विचार रखने वाले लोगों का यह निर्णय नितांत आतुरता पूर्ण है। यह काल चक्र को पीछे घुमाना है।"

मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कहा था :

"हिन्दी को विकृत होने से बचा पाना अब भी इस देश के लोगों के ही हाथ में है। हिन्दी को कृत्रिम भाषा के बजाय आसान और समझ में आ पाने वाला माध्यम वे लोग ही बना सकते हैं।"

फ्रैंक एन्थोनी ने इस बहस में कहा था :

"मैं हिन्दी भाषा प्रदेश का हूँ। इस भाषाई विवाद के उठने से पहले बिना साहित्यिक पुट की और आसानी से समझ में आने वाली हिन्दी को ही हिन्दी माना जाता था। हमने उस हिन्दी को स्वीकार किया था जो अपने आपको साहित्यिक हिन्दी से जोड़ने वाले व्यक्तियों की नहीं बल्कि साधारण लोगों द्वारा समझी जाने वाली भाषा थी। हमने माना था कि हिन्दी भाषा में एक स्पष्टता होती है। आज क्या दीख रहा है? दुराग्रह और कट्टर पंथी के इस युग में अनावश्यक शुद्धता की प्रक्रिया चल रही है। मेरा अपना मानना है कि कट्टर और दुराग्रह पूर्ण आन्दोलन के फल स्वरूप ऐसी हिन्दी उभर कर सामने आ रही है जो हिन्दी भाषी हिन्दुओं को भी बोधगम्य नहीं है। यह संस्कृत निष्ठ हिन्दी हिन्दी से भिन्न है।"

एन० गोपाल स्वामी आयंगर ने, जिन्होंने यह भाषा सूत्र दिया था, इस बहस को शुरू करते हुए कहा था :

"मुझे हिन्दी की कोई जानकारी नहीं है। सदन में होने वाली कार्यवाइयों में मैंने हिन्दी के अनुवाद देखे हैं। मैं यह कहने को बाध्य हूँ कि मुझे जो थोड़ी बहुत हिन्दी आती है वह भी मुझे उस अनुवाद का कोई अर्थ नहीं समझा पाती। शायद हिन्दी की ज्यादा जानकारी रखने वाले लोग इसे समझ सकें। संस्कृत शब्दों की बहुलता के कारण मैं भी अनुवादों के कुछ कुछ अर्थ जान लेता हूँ लेकिन यह वह हिन्दी नहीं हो सकती जिसका प्रयोग अदालत या अन्य विधायी कार्यों के लिए किया जा सके।"

संविधान के अनुच्छेद 351 का आधिकारिक अनुवाद इस प्रकार है ।

"हिन्दी भाषा की प्रसार वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी और आठवीं अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्म सात करते हुए तथा जहाँ तक आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यत: संस्कृत से तथा गौणत: अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा ।"

प्रोफेसर सिब्बन लाल सक्सेना ने संविधान के इस अनुच्छेद 35। का कन्स्टिट्यूशनल असेम्बली की बहसों में एक संशोधन प्रस्तुत किया था । यह इस प्रकार था :

"यह संघ का कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी के प्रसार को बढ़ावा दे, इसे इस प्रकार विकसित करे ताकि यह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा इसकी समृद्धि को अन्य भारतीय भाषाओं के रूपों, शैलियों और पदावलियों को इसमें आत्म सात करते हुए सुनिश्चित करे, तथा जहाँ कहीं आवश्यक या वांछनीय हो, इसकी शब्दावली को मुख्य रूप से संस्कृत से ग्रहण करे ।"

प्रोफेसर सिब्बल लाल सक्सेना ने इसमें यह भी जोड़ा था :

"यह संघ का कर्त्तव्य होगा कि वह समूचे भारत की टेरिटरी में संस्कृत के अध्ययन को बढ़ावा दे क्योंकि यह भारत की अन्य भाषाओं का स्रोत है ।"

इस संशोधन में देखा जा सकता है कि प्रोफेसर सिब्बन लाल सक्सेना ने अनुच्छेद 351 के मूल पाठ में नीचे लिखे परिवर्तन किए थे :

1. हिन्दी की जीनियस नहीं मानी गई थी ।
2. 'हिन्दुस्तानी' शब्द को निकाल दिया गया था ।
3. 'गौणत :' शब्द को अपने वाक्यांश समेत निकाल दिया गया था ।
4. संस्कृत के अध्ययन को भी बढ़ावा देने की बात रखी गई थी ।

असेम्बली में इस संशोधन पर वोट पड़ी थी । यह संशोधन मतों की गणना में हार गया था । यह संशोधन स्वीकार नहीं किया गया था ।

यदि कन्स्टिट्यूशनल असेम्बली की बहसों को देखा जाए तो उनमें बी० एम० गुप्त की दलील भी बहुत महत्व पूर्ण है । उन्होंने एन० गोपाल स्वामी आयंगार के सूत्र को ठीक ठीक समझा था । बी० एम० गुप्त ने कहा था :

"आदेश पत्र पर कुछ संशोधन है। ये संशोधन संस्कृत निष्ठ हिन्दी के पक्ष में हैं। इन संशोधनों के अलावा कुछ प्रभाव शाली खेमों में भी हिन्दी को अत्यन्त कठिन और संस्कृत शब्दों की बहुलता से लाद देने की वकालत है। शायद इसी कारण इस भाषा को राज भाषा स्वीकृत करने में कठिनाई आ रही है। इस भाषा की वकालत करने वाले लोग इस निर्देशक वाक्यांश का फायदा ले रहे हैं कि शब्दावली के लिए संस्कृत ही मुख्य स्रोत रहेगी। इस प्रस्ताव से मेरी कोई असहमति नहीं है। लेकिन किसी को भी इस प्रस्ताव का नाजायज फायदा नहीं उठाना चाहिए। यह एक समझौता है और इसे समझौते के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। मैं संस्कृत विरोधी नहीं हूँ। हममें से ज्यादातर लोग संस्कृत विरोधी हो भी नहीं सकते। यह भाषा हमारे रक्त में है। केवल इतना ही नहीं कि मैं संस्कृत विरोधी नहीं हूँ बल्कि मैं संस्कृत साहित्य का प्रशंसक भी हूँ। संस्कृत भाषा में उदात्त दर्शन, सूक्ष्म विचार और अभिभूत कर देने वाला काव्य है जिसे विश्व साहित्य में गौरव से गिना जा सकता है। लेकिन संस्कृत की इस भव्यता के प्रति पूर्ण आदर होते हुए भी मैं यह स्वीकार करता हूँ कि संस्कृत निष्ठ हिन्दी भाषा जन जन में नहीं पैठ सकती। मताधिकार और लोक तन्त्र के युग में भाषा के प्रश्नों पर विचार करते समय हमें जन भाषा का ही ध्यान रखना होगा।"

यहाँ मेरा निवेदन है कि यदि अब हमारे कार्य से यही सिद्ध हुआ कि संविधान के अनुच्छेद का क्रियान्वयन ऐसा किया जाए मानो प्रोफेसर सिब्बन लाल सक्सेना का संशोधन संविधान की सभा में मान लिया गया था तो यह हमारे संविधान को धोखा दिया जाना ही कहा जाएगा।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग हिन्दी के लिए शब्द निर्माण का काम करता है। अच्छा होगा, यदि शब्द निर्माण करने से पहले यह निश्चित कर लिया जाए कि कुछ शब्दों का कोई अनुवाद नहीं किया जाएगा। संविधान में यह लिखा गया है कि संस्कृत से शब्दावली तभी ली जाए जब वह आवश्यक और वांछनीय हो। इस संवैधानिक निर्देश की सन्तुष्टि के लिए पहले यह तय कर लिया जाए कि अब तक जो शब्दावली का निर्माण हुआ है उसमें अनावश्यक और अवांछनीय अंश कितना है। नियम यह है कि यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय शब्द फ्रेंच, स्पेनिश, जर्मन, रूसी और अंग्रेजी की पाँच यूरोपीय भाषाओं में से तीन या तीन से अधिक भाषाओं में एक ही रूप में इस्तेमाल हो रहा है तो उसका हिन्दी में अनुवाद न किया जाए। लेकिन यहाँ फिर भी 'कम्प्यूटर' के लिए 'संगणक' शब्द रखने की कोशिश की जाती है।

भारत सरकार के गृह मंत्रालय के राज भाषा विभाग ने सरकारी काम काज में सरल हिन्दी के प्रयोग के लिए 17 मार्च, 1976 को एक कार्यालय ज्ञापन निकाला

संविधान के अनुच्छेद 351 का आधिकारिक अनुवाद इस प्रकार है ।

"हिन्दी भाषा की प्रसार वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी और आठवी अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्म सात करते हुए तथा जहाँ तक आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यत : संस्कृत से तथा गौणत : अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा ।"

प्रोफेसर सिब्बन लाल सक्सेना ने संविधान के इस अनुच्छेद 351 का कन्स्टिट्यूशनल असेम्बली की बहसों में एक संशोधन प्रस्तुत किया था । यह इस प्रकार था :

"यह संघ का कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी के प्रसार को बढ़ावा दे, इसे इस प्रकार विकसित करे ताकि यह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा इसकी समृद्धि को अन्य भारतीय भाषाओं के रूपों, शैलियों और पदावलियों को इसमें आत्म सात करते हुए सुनिश्चित करे, तथा जहाँ कहीं आवश्यक या वांछनीय हो, इसकी शब्दावली को मुख्य रूप से संस्कृत से ग्रहण करे ।"

प्रोफेसर सिब्बल लाल सक्सेना ने इसमें यह भी जोड़ा था :

"यह संघ का कर्त्तव्य होगा कि वह समूचे भारत की टेरिटरी में संस्कृत के अध्ययन को बढ़ावा दे क्योंकि यह भारत की अन्य भाषाओं का स्रोत है ।"

इस संशोधन में देखा जा सकता है कि प्रोफेसर सिब्बन लाल सक्सेना ने अनुच्छेद 351 के मूल पाठ में नीचे लिखे परिवर्तन किए थे :

1. हिन्दी की जीनियस नहीं मानी गई थी ।
2. 'हिन्दुस्तानी' शब्द को निकाल दिया गया था ।
3. 'गौणत :' शब्द को अपने वाक्यांश समेत निकाल दिया गया था ।
4. संस्कृत के अध्ययन को भी बढ़ावा देने की बात रखी गई थी ।

असेम्बली में इस संशोधन पर वोट पड़ी थी । यह संशोधन मतों की गणना में हार गया था । यह संशोधन स्वीकार नहीं किया गया था ।

यदि कन्स्टिट्यूशनल असेम्बली की बहसों को देखा जाए तो उनमें बी० एम० गुप्त की दलील भी बहुत महत्व पूर्ण है । उन्होंने एन० गोपाल स्वामी आयंगार के सूत्र को ठीक ठीक समझा था । बी० एम० गुप्त ने कहा था :

"आदेश पत्र पर कुछ संशोधन है। ये संशोधन संस्कृत निष्ठ हिन्दी के पक्ष में हैं। इन संशोधनों के अलावा कुछ प्रभाव शाली खेमों में भी हिन्दी को अत्यन्त कठिन और संस्कृत शब्दों की बहुलता से लाद देने की वकालत है। शायद इसी कारण इस भाषा को राज भाषा स्वीकृत करने में कठिनाई आ रही है। इस भाषा की वकालत करने वाले लोग इस निर्देशक वाक्यांश का फायदा ले रहे हैं कि शब्दावली के लिए संस्कृत ही मुख्य स्रोत रहेगी। इस प्रस्ताव से मेरी कोई असहमति नहीं है। लेकिन किसी को भी इस प्रस्ताव का नाजायज फायदा नहीं उठाना चाहिए। यह एक समझौता है और इसे समझौते के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। मैं संस्कृत विरोधी नहीं हूँ। हममें से ज्यादातर लोग संस्कृत विरोधी हो भी नहीं सकते। यह भाषा हमारे रक्त में है। केवल इतना ही नहीं कि मैं संस्कृत विरोधी नहीं हूँ बल्कि मैं संस्कृत साहित्य का प्रशंसक भी हूँ। संस्कृत भाषा में उदात्त दर्शन, सूक्ष्म विचार और अभिभूत कर देने वाला काव्य है जिसे विश्व साहित्य में गौरव से गिना जा सकता है। लेकिन संस्कृत की इस भव्यता के प्रति पूर्ण आदर होते हुए भी मैं यह स्वीकार करता हूँ कि संस्कृत निष्ठ हिन्दी भाषा जन जन में नहीं पैठ सकती। मताधिकार और लोक तन्त्र के युग में भाषा के प्रश्नों पर विचार करते समय हमें जन भाषा का ही ध्यान रखना होगा।"

यहाँ मेरा निवेदन है कि यदि अब हमारे कार्य से यही सिद्ध हुआ कि संविधान के अनुच्छेद का क्रियान्वयन ऐसा किया जाए मानो प्रोफेसर सिब्बन लाल सक्सेना का संशोधन संविधान की सभा में मान लिया गया था तो यह हमारे संविधान को धोखा दिया जाना ही कहा जाएगा।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग हिन्दी के लिए शब्द निर्माण का काम करता है। अच्छा होगा, यदि शब्द निर्माण करने से पहले यह निश्चित कर लिया जाए कि कुछ शब्दों का कोई अनुवाद नहीं किया जाएगा। संविधान में यह लिखा गया है कि संस्कृत से शब्दावली तभी ली जाए जब वह आवश्यक और वांछनीय हो। इस संवैधानिक निर्देश की सन्तुष्टि के लिए पहले यह तय कर लिया जाए कि अब तक जो शब्दावली का निर्माण हुआ है उसमें अनावश्यक और अवांछनीय अंश कितना है। नियम यह है कि यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय शब्द फ्रेंच, स्पेनिश, जर्मन, रूसी और अंग्रेजी की पाँच यूरोपीय भाषाओं में से तीन या तीन से अधिक भाषाओं में एक ही रूप में इस्तेमाल हो रहा है तो उसका हिन्दी में अनुवाद न किया जाए। लेकिन यहाँ फिर भी 'कम्प्यूटर' के लिए 'संगणक' शब्द रखने की कोशिश की जाती है।

भारत सरकार के गृह मंत्रालय के राज भाषा विभाग ने सरकारी काम काज में सरल हिन्दी के प्रयोग के लिए 17 मार्च, 1976 को एक कार्यालय ज्ञापन निकाला

था। वह कार्यालय ज्ञापन राज भाषा विभाग द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी के प्रयोग संबंधी आदेशों का संकलन' में संकलित है। इसका एक अंश इस प्रकार है :

"केन्द्रीय सरकार सरकारी कामकाज में इस्तेमाल की जाने वाली हिन्दी के स्वरूप के बारे में अपनी नीति कई बार स्पष्ट कर चुकी है। इसके बावजूद इस सम्बन्ध में भ्रम पूरी तरह से दूर नहीं हो पाया है और लोगों के मन में यह विचार है कि सरकारी हिन्दी कोई अलग किस्म की हिन्दी होती है। इसी कारण वे अपने कामकाज में हिन्दी का इस्तेमाल करने में हिचकिचाते हैं।

"जैसा कि इसके पहले भी कई बार कहा जा चुका है, सरकारी कामकाज में इस्तेमाल की जाने वाली हिन्दी सरल और सुबोध होनी चाहिए, जटिल और बोझिल नहीं। इस सम्बन्ध में नीचे लिखे मुद्दों को ध्यान में रखना उपयोगी होगा :

(1) क्या नोट लिखने में और क्या पत्र लिखने में, सरल हिन्दी का ही प्रयोग किया जाना चाहिए ताकि उसे सभी आसानी से समझ सकें। अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने के लिए सिर्फ इतना ही काफी नहीं है कि लिखने वाला खुद समझ सके कि उसने क्या लिखा है, जरूरी तो यह है कि पढ़ने वाले को भी समझ में आ जाए कि आखिर लिखने वाला कहना क्या चाहता है।

(2) सरकारी काम में आमफहम शब्दों का ज्यादा से ज्यादा उपयोग किया जाना चाहिए। और लिखते वक्त दूसरी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का उपयोग करने में जरा भी हिचक नहीं होनी चाहिए।

(3) जहाँ कहीं भी यह लगे कि पढ़ने वाले को हिन्दी में लिखे किसी तकनीकी शब्द या पद नाम (डेजिग्नेशन) को समझने में कठिनाई हो सकती है, वहाँ उस शब्द का पद नाम के सामने कोष्ठक में अंग्रेजी रूपान्तर भी लिख देना उपयोगी होगा।"

इस कार्यालय ज्ञापन का अगला अंश भी बहुत महत्त्व पूर्ण है। इसमें कहा गया है :

"हिन्दी लिखते वक्त हिन्दी लिखने की कोशिश करें न, तो संस्कृत और न देव नागरी लिपि अंग्रेजी ही। कहने का मतलब यह है कि हिन्दी का वाक्य विन्यास उसकी प्रकृति के अनुसार ही होना चाहिए और यह ठीक नहीं होगा कि वह संस्कृत के दुरूह समस्त पदों की लड़ी हो या अंग्रेजी मूल का अटपटा अनुवाद मात्र। अंग्रेजी में मसौदा लिख कर उसका हिन्दी में अनुवाद करने के बजाय बेहतर यह होगा कि मसौदा मूल रूप में ही हिन्दी में तैयार किया जाए और वह भी हिन्दी की प्रकृति के अनुसार। ऐसा करने से भाषा न

सिर्फ स्वाभाविक होगी और उसमें रवानी आएगी, बल्कि बीच बीच में नए या अनजाने शब्दों के इस्तेमाल के बावजूद वह सहज ही सभी को समझ में आ सकेगी।"

भारत सरकार के राज भाषा विभाग को यह लगातार महसूस होता रहा है कि केन्द्रीय सरकार के अनुवादकों द्वारा अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करते समय सरल और सुबोध हिन्दी का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके लिए राज भाषा विभाग ने दिनांक 27-4-88 को एक कार्यालय ज्ञापन निकाला है। इसमें लिखा गया है :

"इस विभाग के 17 मार्च, 1976 के कार्यालय ज्ञापन संख्या 11/13034/23/75—रा० भा० (ग) द्वारा ये अनुदेश दिए गए थे कि नोट या पत्र लिखते समय सरल हिन्दी का ही प्रयोग किया जाना चाहिए ताकि उसे सभी आसानी से समझ सकें। सरकारी काम में प्रचलित शब्दों का ही अधिक से अधिक प्रयोग किया जाना चाहिए और लिखते समय दूसरी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। जहाँ कहीं भी ऐसा लगे कि पढ़ने वालों को हिन्दी में लिखे किसी तकनीकी शब्द या पद नाम को समझने में कठिनाई हो सकती है वहाँ उस शब्द के पद नाम के सामने कोष्ठक में अंग्रेजी रूपान्तर भी लिख देना उपयोगी होगा।

"केन्द्रीय हिन्दी समिति की 2 दिसम्बर, 1987 की बैठक में कुछ सदस्यों ने ये विचार व्यक्त किया कि हिन्दी में किए गए अनुवाद में सरल और स्वाभाविक भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए। जैसा उपरोक्त 17 मार्च, 1976 के कार्यालय ज्ञापन से विदित है, केन्द्रीय सरकार की शुरू से ही ये नीति रही है कि सरकारी कामकाज में सरल और सुबोध हिन्दी का प्रयोग किया जाए। इसलिए सभी मंत्रालय विभागों से ये अनुरोध किया जाता है कि केन्द्रीय हिन्दी समिति में दिए गए उपरोक्त सुझाव के अनुसार सभी सम्बन्धित अधिकारियों कर्मचारियों को ये आदेश दिए जाएँ कि अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद के समय सरल तथा सुबोध हिन्दो का प्रयोग किया जाए जिससे वो व्यक्ति भी जिन्हें कम हिन्दी आती है, इसे आसानी से समझ सकें। अनुवाद में न केवल सरल और सुबोध शब्द प्रयोग किए जाने चाहिए बल्कि जहाँ तक हो सके वाक्य भी छोटे छोटे बनाए जाएँ और प्रत्येक शब्द का अनुवाद करने की बजाय वाक्य या उस अंश के भाव को हिन्दी भाषा की शैली में लिख दिया जाए। अंग्रेजी या दूसरी भाषाओं के प्रचलित शब्दों के कठिन हिन्दी पर्याय इस्तेमाल करने की बजाय उन शब्दों को देव नागरी लिपि में लिखने में भी कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। संक्षेप में ये

प्रयत्न करना चाहिए कि अनुवाद की भाषा ऐसी हो जो आम व्यक्ति को आसानी से समझ में आ जाए।''

यहाँ जस्टिस आर० एस० सरकारिया की चेयर मैनी में केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध में गठित आयोग की रिपार्ट का प्रथम खंड देखा जा सकता है। इसमें लिखा गया है :

''अनुच्छेद 351 का आदेश है कि हिन्दी को विकसित करते समय यह न तो वांछनीय है और न ही यह आवश्यक है कि कठिन संस्कृत निष्ठ शब्दों के द्वारा सामान्य रूप से समझे जाने वाले शब्दों को हटाया जाए। निस्संदेह संस्कृत को अन्तिम स्रोत बनाया जाना है लेकिन यह तभी जब साधारण बोलचाल की हिन्दुस्तानी या भारत की अन्य भाषाओं में उसके लिए शब्द उपलब्ध न हो। इस अनुच्छेद का यह स्पष्ट उद्देश्य है कि हिन्दी को भारत की सामासिक संस्कृति का प्रभावी माध्यम बनने के लिए इसे आठवी अनुसूची की सभी भाषाओं और हिन्दुस्तानी से उदारता पूर्वक शब्द लेने चाहिए।

'हिन्दुस्तानी' शब्द की संविधान में या जनरल क्लाजेज एक्ट में कोई परिभाषा नहीं दी गई है। लेकिन सामान्य अर्थ में, इसका मतलब अधिकांश लोगों द्वारा, विशेष कर उत्तर भारत में, बोलचाल की भाषा से है। यह ध्यान देने लायक बात है कि यह साधारण और लोक प्रिय भाषा जिसकी गांधी जी ने वकालत की है तथा जिसका नेता जी सुभाष चन्द्र बोस द्वारा आजाद हिन्द सरकार में प्रयोग किया गया था, अपनी शब्दावली में बहुत समृद्ध है क्योंकि इसने अपने शब्द आवश्यक परिवर्तन के द्वारा भारत की दूसरी भाषाओं से तथा अंग्रेजी, फ्रेंच, पुर्तगाली, फारसी, अरबी जैसी विदेशी भाषाओं से लिए हैं। हिन्दुस्तानी मूल रूप से एक मिश्रित भाषा है जिसका कालिजों और अकादमियों में जन्म नहीं हुआ था। इसकी विशेषता यह है कि इसके पास अभिव्यक्ति और रूपों के प्रयोग का ऐसा खजाना है जो लम्बे समय से प्रयोग में आने के कारण इस बड़े देश की विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाने वाली अनेक भाषाओं का हिस्सा बना हुआ है।

''अनुच्छेद 351 में बताया गया राज भाषा का विकास सही मायनों में तब हो पाएगा जब यह विद्वान लोगों की भाषा बनने के बजाय सामान्य लोगों की भाषा बनती जाएगी। यह संविधान के आदेशों का उल्लंघन हो जाएगा यदि राज भाषा का विकास करने की प्रक्रिया में भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के तथा अंग्रेजी के जो हिन्दुस्तानी से जुड़ गई है, रूपों, शैलियों और पदावलियों का तिरस्कार किया जाता है। वास्तव में ऐसा गलत प्रयास सामान्य भाषा

के विकास को रोक ही देगा। हमारा विचार है कि राज भाषा की बढ़ोतरी अनुच्छेद 351 को शब्द और अर्थ के दोनों रूपों में की जाएगी।"

आयोग ने संविधान के अनुच्छेद 351 के विपरीत संस्कृत निष्ठ हिन्दी के कारण देश के लिए खतरों की भी चेतावनी दी है।

दैनिक 'नव भारत टाइम्स' के एक सितम्बर, 1986 के अंक में 'हिन्दी का हक' शीर्षक से एक संपादकीय लेख छपा है। संपादकीय अपने ढंग से लिखता है :

"हिन्दी की संभावित प्रगति से खुश होने से पहले हमें हिन्दी वालों में ही छिपे हुए हिन्दी के शत्रुओं को जानना चाहिए। हिन्दी का सबसे बड़ा शत्रु वह हैं जो इसे सिर्फ हिन्दुओं की भाषा मानता है और इसे सिर्फ संस्कृत से जोड़ कर देखता है। आज जो जीवंत हिन्दी हमें मिली है वह चंद चुटियलों और दढ़ियलों की जागीर नहीं, वह देश की जनता और नाथों सिद्धों से ले कर कबीर, नानक, मीरा, तुलसी, मीर, गालिब, प्रेमचन्द, निराला, मुक्तिबोध और नागार्जुन जैसे महाप्राण लोगों की देन है। वह हिन्दू, बौद्ध, सिख, जैन पारसिक, मुसलमान, क्रिस्तानी सभी की भाषा है। दुर्भाग्यवश, हिन्दी को बहुत बड़ा नुकसान उन मुट्ठी भर दुकानदार पंडितों और आचार्यों ने भी पहुँचाया है जो कुछ हिन्दी विभागों पर सवार बैंठे हुए हैं। वे ऐसी समितियों में भी चूहों की तरह घुस जाते है और हिन्दी की बोरी को कुतरते खाते रहते हैं। इनके हाथों अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर हिन्दी की दुर्दशा ही होगी। ऐसे हिन्दी वालों से हिन्दी को बचाने के लिए हिन्दी के प्रबुद्ध व प्रगति कामी साहित्य कारों, प्राध्यापकों और पत्र कारों को ही पहल करनी होगी।"

संस्कृत को अहमन्यता की दृष्टि से न देख कर उपयोग की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। स्वयं संस्कृत अपने विषय में कुछ भी सोचे, हिन्दी के लिए वह एक मतलब की भाषा है। जहाँ तक हिन्दी के लिए संस्कृत किसी मतलब को साधने की सुविधा है वहाँ तक हिन्दी भाषी इसका उपयोग अवश्य करना चाहेंगे। यदि संस्कृत वाले न चाहें तो भी आज हिन्दी भाषी लोग जबर्दस्ती संस्कृत का अपने हित में लाभ उठाएँगे। प्राचीन समय में ऐसा भले ही होता रहा हो कि संस्कृत को पवित्र बता कर इसे जनता से दूर रखा गया हो लेकिन यदि आज संस्कृत हिन्दी के किसी भी मर्ज की दवा हो सकती है तो हिन्दी भाषियों को इसका लाभ उठाने से वंचित नहीं किया जा सकेगा। इसमें किसी भी संस्कृतज्ञ की नहीं सुनी जाएगी।

हिन्दी के लाभ की दृष्टि से संस्कृत की केवल एक विशेषता इसके शब्द भंडार की है। इस शब्द भंडार के सिवाय संविधान के अनुच्छेद 351 ने संस्कृत की अलग

के विकास को रोक ही देगा। हमारा विचार है कि राज भाषा की बढ़ोतरी अनुच्छेद 351 को शब्द और अर्थ के दोनों रूपों में की जाएगी।"

आयोग ने संविधान के अनुच्छेद 351 के विपरीत संस्कृत निष्ठ हिन्दी के कारण देश के लिए खतरों की भी चेतावनी दी है।

दैनिक 'नव भारत टाइम्स' के एक सितम्बर, 1986 के अंक में 'हिन्दी का हक' शीर्षक से एक संपादकीय लेख छपा है। संपादकीय अपने ढंग से लिखता है :

"हिन्दी की संभावित प्रगति से खुश होने से पहले हमें हिन्दी वालों में ही छिपे हुए हिन्दी के शत्रुओं को जानना चाहिए। हिन्दी का सबसे बड़ा शत्रु वह है जो इसे सिर्फ हिन्दुओं की भाषा मानता है और इसे सिर्फ संस्कृत से जोड़ कर देखता है। आज जो जीवंत हिन्दी हमें मिली है वह चंद चुटियलों और दढ़ियलों की जागीर नहीं, वह देश की जनता और नाथों सिद्धों से ले कर कबीर, नानक, मीरा, तुलसी, मीर, गालिब, प्रेमचन्द, निराला, मुक्तिबोध और नागार्जुन जैसे महाप्राण लोगों की देन है। वह हिन्दू, बौद्ध, सिख, जैन पारसिक, मुसलमान, क्रिस्तानी सभी की भाषा है। दुर्भाग्यवश, हिन्दी को बहुत बड़ा नुकसान उन मुट्ठी भर दुकानदार पंडितों और आचार्यों ने भी पहुँचाया है जो कुछ हिन्दी विभागों पर सवार बैठे हुए हैं। वे ऐसी समितियों में भी चूहों की तरह घुस जाते है और हिन्दी की बोरी को कुतरते खाते रहते हैं। इनके हाथों अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर हिन्दी की दुर्दशा ही होगी। ऐसे हिन्दी वालों से हिन्दी को बचाने के लिए हिन्दी के प्रबुद्ध व प्रगति कामी साहित्य कारों, प्राध्यापकों और पत्र कारों को ही पहल करनी होगी।"

संस्कृत को अहमन्यता की दृष्टि से न देख कर उपयोग की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। स्वयं संस्कृत अपने विषय में कुछ भी सोचे, हिन्दी के लिए वह एक मतलब की भाषा है। जहाँ तक हिन्दी के लिए संस्कृत किसी मतलब को साधने की सुविधा है वहाँ तक हिन्दी भाषी इसका उपयोग अवश्य करना चाहेंगे। यदि संस्कृत वाले न चाहें तो भी आज हिन्दी भाषी लोग जबर्दस्ती संस्कृत का अपने हित में लाभ उठाएँगे। प्राचीन समय में ऐसा भले ही होता रहा हो कि संस्कृत को पवित्र बता कर इसे जनता से दूर रखा गया हो लेकिन यदि आज संस्कृत हिन्दी के किसी भी मर्ज की दवा हो सकती है तो हिन्दी भाषियों को इसका लाभ उठाने से वंचित नहीं किया जा सकेगा। इसमें किसी भी संस्कृतज्ञ की नहीं सुनी जाएगी।

हिन्दी के लाभ की दृष्टि से संस्कृत की केवल एक विशेषता इसके शब्द भंडार की है। इस शब्द भंडार के सिवाय संविधान के अनुच्छेद 351 ने संस्कृत की अलग

से कोई भी खूबी स्वीकार नहीं की है। आवश्यकता पड़ने पर हिन्दी को संस्कृत की उस खूबी का पूरा पूरा लाभ उठाने का संविधान ने हक दिया है। कहना तो यह चाहिए कि पुराने जमाने में हिन्दी भाषा को संस्कृत का इस प्रकार लाभ उठाने का अवसर प्राप्त नहीं था। कहीं संस्कृत वाले आज भी इस भाषा की शब्दावली से हिन्दी भाषियों को वंचित न कर दें इस दृष्टि को ध्यान में रख कर संविधान के इस प्रावधान को देखा जाना चाहिए। इस दृष्टि से हिन्दी भाषा के संबंध में संविधान का यह कदम संस्कृत भाषा पर एक धावा ही समझा जाना चाहिए। आज कोई पुराना वेद पाठी ब्राह्मण शूद्र और नारियों से यह नहीं कह सकता कि उन्हें संस्कृत पढ़ने का अधिकार नहीं है।

संविधान के अनुच्छेद 351 में हिन्दी के साथ संस्कृत एक लौकिक चीज है। कोई इसमें संस्कृति की खोज करना चाहे वह कर ले, लेकिन हिन्दी भाषियों के लिए यह वैसी संस्कृति की चीज नहीं है जिसने हमारे देश को विदेशियों का दास बनाया था। हिन्दी एक सामासिक संस्कृति की भाषा है जो इस देश को किसी भी रूप में साम्प्रदायिक न होने दे कर एक शक्ति शाली राष्ट्र बनाती है। यदि संस्कृत की परम्परा शूद्र और नारियों से द्वेष रख कर तथा अन्त्यजों और चांडालों से छूतछात का व्यवहार करके देश को कमजोर करती रही है तो हिन्दी का ऐसी संस्कृत से कोई रिश्ता नहीं बैठता है। घृणा देश को कमजोर करती है। हिन्दी सामासिक संस्कृति के लिए सर्वथा उपयुक्त भाषा है। यह पुराने जाति वादी ब्राह्मणों की शूद्र विरोधी परम्परा के विरोध में भारतीय संतों की झोली का प्रसाद है। ऐसा हुआ है कि शूद्र विरोधी पुराने जाति वादी ब्राह्मणों ने लोक भाषाओं में आ कर भी घृणा और द्वेष के डंके बजाए हैं। लेकिन फिर भी लोक भाषाओं में उनकी उतनी नहीं चल सकी जितनी उन्होंने संस्कृत को जनता से अलग रख कर अपनी चलाई थी।। यूँ हिन्दी के साथ संस्कृत कोई देव वाणी नहीं है। इसे ऐसी ही लौकिक भाषा रहने दिया जाना चाहिए। मतलब यह है कि आज न तो हिन्दी भाषियों पर संस्कृत थोपी जा सकती है, और न ही यह हिन्दी भाषियो से छीनी जा सकती है। इस समय यह हिन्दी भाषियों की सम्पत्ति है। यह उनकी मर्जी है कि वे इसका लाभ अपने हित में किस प्रकार उठाएँगे। इस काम के लिए हिन्दी भाषियों को स्वतंत्र छोड़ दिया जाना चाहिए।

वास्तव में भारतीय विद्वानों के लिए हिन्दी अन्धों का हाथी हो गई है। जो जिस भाषा या बोली का विद्वान होता है हिन्दी को उसी से निकली हुई बताने लगता है। यह सच है कि हिन्दी वैसी भी है पर हिन्दी की अपनी एक आत्मिकता है जिसे हाथी कहते हैं। पैर को पकड़ कर खम्भ कह देने में, कान को पकड़ कर छाज कह देने में, पूँछ को पकड़ कर रस्सी कह देने में हाथी नहीं होता है। हाथी की पूँछ रस्सी जैसी है पर हाथी की पूँछ रस्सी नहीं है। हाथी के कान छाज जैसे हैं पर हाथी और हाथी के कान

छाज नहीं हैं। हाथी के पैर खम्भ जैसे हैं पर वे खम्भ जैसे ही हैं खम्भ नहीं हैं।

हिन्दी के सन्दर्भ से कलकत्ता के बोटेनिकल गार्डन के बरगद का पेड़ याद किया जा सकता है। उसका मूल तना गायब है और पेड़ खड़ा है। पेड़ की कई सौ जटाएँ धरती में गड़ कर पानी खींचने का काम कर रही हैं। लेकिन बोटेनिकल गार्डन वालों ने वहाँ यह लिख रखा है कि इसका एक मूल तना था। वह तना एक समय पहले बीमारी के कारण काट दिया गया था। अब वह एशिया का सबसे बड़ा बरगद का पेड़ बिना मूल तने के हरा भरा खड़ा है। गार्डन वालों ने उस जगह एक स्मारक बना रखा है जहाँ उसका मूल तना था। हिन्दी के बारे में कहा जा सकता है कि इसका मूल तना गायब नहीं हुआ है। अभी मेरठ और दिल्ली की मूल जातियाँ मिट नहीं गई हैं। हिन्दी का बरगद भारत में और भारत से बाहर संसार में अपनी जटाएँ फैला कर अपने मूल तने को मेरठ और दिल्ली में सुरक्षित रखे हुए है। इसके मूल तने को अभी संस्कृत की, फारसी की या अंग्रेजी की दीमक की कोई घातक बीमारी नहीं लगी है।

प्रयत्न करना चाहिए कि अनुवाद की भाषा ऐसी हो जो आम व्यक्ति को आसानी से समझ में आ जाए ।''

यहाँ जस्टिस आर० एस० सरकारिया की चेयर मैनी में केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध में गठित आयोग की रिपार्ट का प्रथम खंड देखा जा सकता है । इसमें लिखा गया है :

''अनुच्छेद 351 का आदेश है कि हिन्दी को विकसित करते समय यह न तो वांछनीय है और न ही यह आवश्यक है कि कठिन संस्कृत निष्ठ शब्दों के द्वारा सामान्य रूप से समझे जाने वाले शब्दों को हटाया जाए । निस्संदेह संस्कृत को अन्तिम स्रोत बनाया जाना है लेकिन यह तभी जब साधारण बोलचाल की हिन्दुस्तानी या भारत की अन्य भाषाओं में उसके लिए शब्द उपलब्ध न हो । इस अनुच्छेद का यह स्पष्ट उद्देश्य है कि हिन्दी को भारत की सामासिक संस्कृति का प्रभावी माध्यम बनने के लिए इसे आठवी अनुसूची की सभी भाषाओं और हिन्दुस्तानी से उदारता पूर्वक शब्द लेने चाहिए ।

'हिन्दुस्तानी' शब्द की संविधान में या जनरल क्लाजेज एक्ट में कोई परिभाषा नहीं दी गई है । लेकिन सामान्य अर्थ में, इसका मतलब अधिकांश लोगों द्वारा, विशेष कर उत्तर भारत में, बोलचाल की भाषा से है । यह ध्यान देने लायक बात है कि यह साधारण और लोक प्रिय भाषा जिसकी गांधी जी ने वकालत की है तथा जिसका नेता जी सुभाष चन्द्र बोस द्वारा आजाद हिन्द सरकार में प्रयोग किया गया था, अपनी शब्दावली में बहुत समृद्ध है क्योंकि इसने अपने शब्द आवश्यक परिवर्तन के द्वारा भारत की दूसरी भाषाओं से तथा अंग्रेजी, फ्रेंच, पुर्तगाली, फारसी, अरबी जैसी विदेशी भाषाओं से लिए हैं । हिन्दुस्तानी मूल रूप से एक मिश्रित भाषा है जिसका कालिजों और अकादमियों में जन्म नहीं हुआ था । इसकी विशेषता यह है कि इसके पास अभिव्यक्ति और रूपों के प्रयोग का ऐसा खजाना है जो लम्बे समय से प्रयोग में आने के कारण इस बड़े देश की विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाने वाली अनेक भाषाओं का हिस्सा बना हुआ है ।

''अनुच्छेद 351 में बताया गया राज भाषा का विकास सही मायनों में तब हो पाएगा जब यह विद्वान लोगों की भाषा बनने के बजाय सामान्य लोगों की भाषा बनती जाएगी । यह संविधान के आदेशों का उल्लंघन हो जाएगा यदि राज भाषा का विकास करने की प्रक्रिया में भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के तथा अंग्रेजी के जो हिन्दुस्तानी से जुड़ गई है, रूपों, शैलियों और पदावलियों का तिरस्कार किया जाता है । वास्तव में ऐसा गलत प्रयास सामान्य भाषा

के विकास को रोक ही देगा। हमारा विचार है कि राज भाषा की बढ़ोतरी अनुच्छेद 351 को शब्द और अर्थ के दोनों रूपों में की जाएगी।"

आयोग ने संविधान के अनुच्छेद 351 के विपरीत संस्कृत निष्ठ हिन्दी के कारण देश के लिए खतरों की भी चेतावनी दी है।

दैनिक 'नव भारत टाइम्स' के एक सितम्बर, 1986 के अंक में 'हिन्दी का हक' शीर्षक से एक संपादकीय लेख छपा है। संपादकीय अपने ढंग से लिखता है :

> "हिन्दी की संभावित प्रगति से खुश होने से पहले हमें हिन्दी वालों में ही छिपे हुए हिन्दी के शत्रुओं को जानना चाहिए। हिन्दी का सबसे बड़ा शत्रु वह है जो इसे सिर्फ हिन्दुओं की भाषा मानता है और इसे सिर्फ संस्कृत से जोड़ कर देखता है। आज जो जीवंत हिन्दी हमें मिली है वह चंद चुटियलों और दढ़ियलों की जागीर नहीं, वह देश की जनता और नाथों सिद्धों से ले कर कबीर, नानक, मीरा, तुलसी, मीर, गालिब, प्रेमचन्द, निराला, मुक्तिबोध और नागार्जुन जैसे महाप्राण लोगों की देन है। वह हिन्दू, बौद्ध, सिख, जैन पारसिक, मुसलमान, क्रिस्तानी सभी की भाषा है। दुर्भाग्यवश, हिन्दी को बहुत बड़ा नुकसान उन मुट्ठी भर दुकानदार पंडितों और आचार्यों ने भी पहुँचाया है जो कुछ हिन्दी विभागों पर सवार बैठे हुए हैं। वे ऐसी समितियों में भी चूहों की तरह घुस जाते है और हिन्दी की बोरी को कुतरते खाते रहते हैं। इनके हाथों अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर हिन्दी की दुर्दशा ही होगी। ऐसे हिन्दी वालों से हिन्दी को बचाने के लिए हिन्दी के प्रबुद्ध व प्रगति कामी साहित्य कारों, प्राध्यापकों और पत्र कारों को ही पहल करनी होगी।"

संस्कृत को अहमन्यता की दृष्टि से न देख कर उपयोग की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। स्वयं संस्कृत अपने विषय में कुछ भी सोचे, हिन्दी के लिए वह एक मतलब की भाषा है। जहाँ तक हिन्दी के लिए संस्कृत किसी मतलब को साधने की सुविधा है वहाँ तक हिन्दी भाषी इसका उपयोग अवश्य करना चाहेंगे। यदि संस्कृत वाले न चाहें तो भी आज हिन्दी भाषी लोग जबर्दस्ती संस्कृत का अपने हित में लाभ उठाएँगे। प्राचीन समय में ऐसा भले ही होता रहा हो कि संस्कृत को पवित्र बता कर इसे जनता से दूर रखा गया हो लेकिन यदि आज संस्कृत हिन्दी के किसी भी मर्ज की दवा हो सकती है तो हिन्दी भाषियों को इसका लाभ उठाने से वंचित नहीं किया जा सकेगा। इसमें किसी भी संस्कृतज्ञ की नहीं सुनी जाएगी।

हिन्दी के लाभ की दृष्टि से संस्कृत की केवल एक विशेषता इसके शब्द भंडार की है। इस शब्द भंडार के सिवाय संविधान के अनुच्छेद 351 ने संस्कृत की अलग

से कोई भी खूबी स्वीकार नहीं की है। आवश्यकता पड़ने पर हिन्दी को संस्कृत की उस खूबी का पूरा पूरा लाभ उठाने का संविधान ने हक दिया है। कहना तो यह चाहिए कि पुराने जमाने में हिन्दी भाषा को संस्कृत का इस प्रकार लाभ उठाने का अवसर प्राप्त नहीं था। कहीं संस्कृत वाले आज भी इस भाषा की शब्दावली से हिन्दी भाषियों को वंचित न कर दें इस दृष्टि को ध्यान में रख कर संविधान के इस प्रावधान को देखा जाना चाहिए । इस दृष्टि से हिन्दी भाषा के संबंध में संविधान का यह कदम संस्कृत भाषा पर एक धावा ही समझा जाना चाहिए। आज कोई पुराना वेद पाठी ब्राह्मण शूद्र और नारियों से यह नहीं कह सकता कि उन्हें संस्कृत पढ़ने का अधिकार नहीं है।

संविधान के अनुच्छेद 351 में हिन्दी के साथ संस्कृत एक लौकिक चीज है। कोई इसमें संस्कृति की खोज करना चाहे वह कर ले, लेकिन हिन्दी भाषियों के लिए यह वैसी संस्कृति की चीज नहीं है जिसने हमारे देश को विदेशियों का दास बनाया था। हिन्दी एक सामासिक संस्कृति की भाषा है जो इस देश को किसी भी रूप में साम्प्रदायिक न होने दे कर एक शक्ति शाली राष्ट्र बनाती है। यदि संस्कृत की परम्परा शूद्र और नारियों से द्वेष रख कर तथा अन्त्यजों और चांडालों से छूतछात का व्यवहार करके देश को कमजोर करती रही है तो हिन्दी का ऐसी संस्कृत से कोई रिश्ता नहीं बैठता है। घृणा देश को कमजोर करती है। हिन्दी सामासिक संस्कृति के लिए सर्वथा उपयुक्त भाषा है। यह पुराने जाति वादी ब्राह्मणों की शूद्र विरोधी परम्परा के विरोध में भारतीय संतों की झोली का प्रसाद है। ऐसा हुआ है कि शूद्र विरोधी पुराने जाति वादी ब्राह्मणों ने लोक भाषाओं में आ कर भी घृणा और द्वेष के डंके बजाए हैं। लेकिन फिर भी लोक भाषाओं में उनकी उतनी नहीं चल सकी जितनी उन्होंने संस्कृत को जनता से अलग रख कर अपनी चलाई थी। । यूँ हिन्दी के साथ संस्कृत कोई देव वाणी नहीं है। इसे ऐसी ही लौकिक भाषा रहने दिया जाना चाहिए। मतलब यह है कि आज न तो हिन्दी भाषियों पर संस्कृत थोपी जा सकती है, और न ही यह हिन्दी भाषियो से छीनी जा सकती है। इस समय यह हिन्दी भाषियों की सम्पत्ति है। यह उनकी मर्जी है कि वे इसका लाभ अपने हित में किस प्रकार उठाएँगे। इस काम के लिए हिन्दी भाषियों को स्वतंत्र छोड़ दिया जाना चाहिए।

वास्तव में भारतीय विद्वानों के लिए हिन्दी अन्धों का हाथी हो गई है। जो जिस भाषा या बोली का विद्वान होता है हिन्दी को उसी से निकली हुई बताने लगता है। यह सच है कि हिन्दी वैसी भी है पर हिन्दी की अपनी एक आत्मिकता है जिसे हाथी कहते हैं। पैर को पकड़ कर खम्भ कह देने में, कान को पकड़ कर छाज कह देने में, पूँछ को पकड़ कर रस्सी कह देने में हाथी नहीं होता है। हाथी की पूँछ रस्सी जैसी है पर हाथी की पूँछ रस्सी नहीं है। हाथी के कान छाज जैसे हैं पर हाथी और हाथी के कान

छाज नहीं हैं। हाथी के पैर खम्भ जैसे हैं पर वे खम्भ जैसे ही हैं खम्भ नहीं हैं।

हिन्दी के सन्दर्भ से कलकत्ता के बोटेनिकल गार्डन के बरगद का पेड़ याद किया जा सकता है। उसका मूल तना गायब है और पेड़ खड़ा है। पेड़ की कई सौ जटाएँ धरती में गड़ कर पानी खींचने का काम कर रही हैं। लेकिन बोटेनिकल गार्डन वालों ने वहाँ यह लिख रखा है कि इसका एक मूल तना था। वह तना एक समय पहले बीमारी के कारण काट दिया गया था। अब वह एशिया का सबसे बड़ा बरगद का पेड़ बिना मूल तने के हरा भरा खड़ा है। गार्डन वालों ने उस जगह एक स्मारक बना रखा है जहाँ उसका मूल तना था। हिन्दी के बारे में कहा जा सकता है कि इसका मूल तना गायब नहीं हुआ है। अभी मेरठ और दिल्ली की मूल जातियाँ मिट नहीं गई हैं। हिन्दी का बरगद भारत में और भारत से बाहर संसार में अपनी जटाएँ फैला कर अपने मूल तने को मेरठ और दिल्ली में सुरक्षित रखे हुए है। इसके मूल तने को अभी संस्कृत की, फारसी की या अंग्रेजी की दीमक की कोई घातक बीमारी नहीं लगी है।

अध्याय—9

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी : हिन्दी के प्रहरी

1

राहुल सांकृत्यायन ने आचार्य किशोरी दास वाजपेयी के विषय में एक ऐतिहासिक लेख लिखा है। इसमें राहुल लिखते हैं—"आचार्य किशोरी दास वाजपेयी समझने लगे थे कि हिन्दी एकदम संस्कृत की चेरी नहीं है इसीलिए उस पर हर समय संस्कृत के व्याकरण को लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। संस्कृतज्ञ हिन्दी लेखक अब भी इस धींगा मुश्ती से बरी या बाज नहीं आते। वस्तुतः इस दृष्टि कोण को छोड़े बिना वे अनेक हिन्दी-शब्दों का ठीक से निर्वचन नहीं कर पाते हैं। जब उनका सामना हिन्दी शब्दों से पड़ता है तो वे यह नहीं समझ पाते कि हम संस्कृत सार्वभौम के किसी छोटे मोटे मांडलिक के सामने नहीं खड़े हैं। हिन्दी अपने क्षेत्र में स्वयं सार्वभौम सत्ता रखती है। यहाँ उसके अपने नियम कानून लागू होते हैं। हिन्दी में जो तत्सम (शुद्ध संस्कृत) शब्द आते भी हैं वे संस्कृत की नहीं बल्कि हिन्दी की प्रजा है और इसलिए हर समय संस्कृत (व्याकरण) के कानून की दुहाई नहीं देनी चाहिए।" इसके साथ ही राहुल यह भी बता देते हैं कि किसी संस्कृत के पण्डित से यह आशा करनी मुश्किल है कि वह इन बातों को समझेगा।

यहाँ राहुल सांकृत्यायन ने वस्तु स्थिति को बहुत अच्छे शब्दों में रख दिया है। उन्होंने संस्कृतज्ञों की मूल मनोवृत्ति को पकड़ लिया है। उन्होंने अन्तिम वाक्य में अपनी पूरी बात कह डाली है कि किसी संस्कृत के पंडित से यह आशा करना मुश्किल है कि वह संस्कृत की तुलना में हिन्दी को महत्व देगा। यदि यह बात सच है जो राहुल सांकृत्यायन ने ऊपर कही है तो फिर हिन्दी भाषियों की ओर से यह मांग उठाना अनुचित नहीं है कि संस्कृत के किसी विद्वान को हिन्दी की जीनियस में हस्तक्षेप करने का अधिकार न दिया जाए। हिन्दी बने या बिगड़े, पर इसे संस्कृतज्ञों की कृपा से दूर ही रखना चाहिए। वे इस पर कृपा के बहाने अपनी कोप दृष्टि ही बरपाते हैं। संस्कृतज्ञ हिन्दी को मिटाने की फिराक में रहते हैं। उन्हें यह सहन नहीं है कि हिन्दुस्तान में संस्कृत के सिवा कोई अन्य भाषा राज काज की भाषा बने।

भारत वासियों का यह डर सच्चा है कि संस्कृतज्ञ भाषा को दुरूह बना कर

सामने रखते हैं । अपने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में स्वयं आचार्य किशोरी दास वाजपेयी बताते हैं कि उनके लिए काशी नागरी प्रचारिणी सभा का निर्देश था कि 'हिन्दी शब्दानुशासन' ग्रंथ की भाषा ऐसी गुरु गंभीर होनी चाहिए जैसी की शास्त्रों की होती है । आचार्य वाजपेयी ने सभा के इन निर्देशों को नहीं माना । उन्होंने सोचा कि "कठिन विषय के नवीन तत्व यदि वैसे गुरु (बोझिल) भाषा में प्रकट किए जाएँ तो समझने वालों पर आफत हो जाएगी । सरल सहज भाषा में कठिन तत्व भी अच्छी तरह झलकते हैं ।" इस बात से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के पक्ष धरों के पास एक निश्चित और सोची समझी हुई हठ है । वे जान बूझ कर भाषा को कठिन बनाते हैं ।

जब तक आचार्य किशोरी दास वाजपेयी के 'हिन्दी शब्दानुशासन' से अच्छा व्याकरण हिन्दी को नहीं मिल पाता है तब तक हिन्दी व्याकरण के लिए इसी ग्रन्थ को प्रमाण माना जाना चाहिए । आज तक के हिन्दी व्याकरणों के बीच इस ग्रंथ को 'व्याकरण शिरोमणि' कहा जा सकता है । इस व्याकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह संस्कृत भाषा के मोह जाल, प्रभाव और दबदवे से मुक्त है । यह हिन्दी भाषा का स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ है । इसके रचना कार को हिन्दी का वैयाकरण कहलवाने में गौरव का अनुभव होता है । इस पुस्तक में संस्कृत की तुलना में हिन्दी की महानता को खुशी से स्वीकार किया गया है ।

आज पारिभाषिक शब्दावली के कारण हिन्दी में संस्कृत के उपसर्गों का बहुत बोलबाला है । संस्कृत के इस नगाड़े के सामने स्वयं हिन्दी भाषा के उपसर्ग केवल तूती की आवाज बन कर रह गए हैं । फिर हिन्दी में अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने की अपनी व्यवस्था है । हिन्दी की इस व्यवस्था को जानना बहुत जरूरी है । इसमें आचार्य किशोरी दास वाजपेयी हमारी पूरी पूरी सहायता करते हैं ।

नियम खोजते हुए आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है कि "एक सिद्धान्त हिन्दी की विकास पद्धति में यह दिखाई देता है कि 'अपने' या तद्भव शब्दों में हिन्दी संस्कृत के तद्रूप उपसर्ग नहीं लगाती है ।" आगे उन्होंने लिखा है कि "संस्कृत में 'प्रहार' 'विहार' आदि कृदन्त शब्दों में ही नहीं, 'प्रहरति' 'विहरति' आदि आख्यात (क्रिया) शब्दों में भी उपसर्ग लगते हैं—खूब लगते हैं। परन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं होता । 'खाता है, 'पीता है' आदि के साथ कोई उपसर्ग नहीं लगता । क्रियाएँ हिन्दी की सब तद्भव है, इसलिए संस्कृत के उपसर्ग तो स्वभावतः लग ही नहीं सकते, पर हिन्दी के अपने 'नि', 'उ' उपसर्ग भी नहीं लगते ।" उन्होंने इसका कारण बताया है कि "ऐसा जान पड़ता है, स्पष्टता और संक्षेप प्रियता के ही कारण हिन्दी ने पृथक उपसर्ग क्रिया आदि में नहीं पसन्द किए । जब 'होता है' और 'करता है' ये दो क्रिया रूप बन गए तब 'भवति' 'अनुभवति' की तरह एक ही धातु में उपसर्ग प्रयोग से अर्थ

भद करना बेकार हैं।" यही नहीं है कि हिन्दी ने संस्कृत के उपसर्गों को नहीं अपनाया है बल्कि उसने संस्कृत से शब्द ग्रहण करते समय संस्कृत के उपसर्गों से निर्मित शब्दों में से उन उपसर्गों को हटाया भी है। हिन्दी ने अपने नीर क्षीर विवेक का परिचय देते समय सार सार को गहा है और थोथा उड़ा दिया है। आचार्य वाजपेयी इसका उदाहरण देते हैं—"उपविष्ट' के 'उप' को हटा कर 'विष्ट' मात्र से 'बैठ' धातु हिन्दी ने बनाई। संस्कृत में 'हरति' के साथ 'वि' 'सम' 'प्र' आदि उपसर्ग लगा कर 'विहार करना' 'संहार करना' 'प्रहार करना' आदि अर्थ प्रकट किए जाते हैं। हिन्दी ने झमेला नहीं बढ़ाया। अपनी किसी धातु में उपसर्ग लगा लगा कर अर्थ भेद नहीं किया।" परसर्ग के सम्बन्ध में आचार्य वाजपेयी और अधिक मुखर हो कर लिखते हैं कि जो हिन्दी ऋकारान्त, व्यंजनान्त तथा विसर्गान्त शब्दों को काट छाँट कर लेती है, उसके सिर ये भाषा विज्ञानी यह कूड़ा कचरा थोप रहे हैं, कि 'पढ़' आदि हलन्त धातु है।"

आचार्य वाजपेयी का मत एकदम स्पष्ट है। वे हिन्दी में संस्कृत के उपसर्गों को झमेला और झंझट कहते हैं। यदि हिन्दी को उपसर्ग लगाने का शौक होता तो यह अपने शब्दों में उपसर्ग लगा लेती। फिर इसे संस्कृत के शब्दों में उपसर्ग लगाने की मोहताजी की आवश्यकता नहीं पड़ती। पर जब हिन्दी को अपने शब्दों के साथ भी ऐसा व्यवहार और सहयोग पसन्द नहीं है तो फिर इस पर संस्कृत के शब्द तथा संस्कृत के उपसर्गों को थोपना ही कहा जा सकता है।

2

तद्धित प्रत्ययों की बात शुरू करने से पहले आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने अपने मूल मंत्र को पुनः दोहराया है। वे लिखते हैं—"हम पीछे अनेक बार कह आए हैं कि हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है, इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसके अपने नियम हैं, अपने कानून हैं। संस्कृत से इस का अविच्छेद्य सम्बन्ध है, जैसा कि अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं का, परंतु इसका यह मतलब नहीं कि संस्कृत के सब विधि निषेध यहाँ ज्यों के त्यों चलें।" अपने मत को स्पष्ट रूप से सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'एकत्रित' शब्द पर चर्चा की है। संस्कृत वाले कह सकते हैं कि इस शब्द की रचना नियमों के अनुसार नहीं है। वाजपेयी जी ने माना है कि संस्कृत व्याकरण से 'एकत्रित' शब्द नहीं बनता है। उन्होंने सलाह दी है कि जो लोग संस्कृत व्याकरण का ही राज हिन्दी पर चाहते हैं, वे 'एकत्रित' न लिख कर 'इकट्ठा, इकट्ठे इकट्ठी' लिखें। उन्होंने संस्कृत वालों को सिद्ध करके बताया है कि संस्कृत व्याकरण

के अनुसार 'एकत्र' का प्रयोग भी अशुद्ध है । जहाँ तक हिन्दी की बात है, उसने 'एकत्र' में 'इत' प्रत्यय लगा कर 'एकत्रित' शब्द बनाया है । उन्होंने लिखा है—"संस्कृत का अव्यय और संस्कृत का ही 'इत' तद्धित प्रत्यय । दोनों को मिला कर 'एकत्रित' अपना शब्द । किसान के यहाँ से दूध लिया, वहीं से शक्कर ली और हलवाई ने बढ़िया कलाकन्द तैयार कर दिया । किसान के यहाँ कलाकन्द नहीं बनता, न बने । इससे हलवाई कलाकन्द बनाना बन्द न कर देगा ।" आचार्य वाजपेयी से किसी ने पूछा होगा कि फिर 'सर्वत्र' से 'सर्वत्रित' क्यों नहीं होता ? इसके जवाब में आचार्य वाजपेयी ने लिखा है—"उत्तर है कि नहीं होता है, बस ! संस्कृत में ही 'तत्र' से 'तत्रत्य' होता है, पर 'सर्वत्र' से 'सर्वत्रत्य' क्यों नहीं होता ? शब्द स्वभाव एव: ! भाषा की प्रकृति ! किसी का जोर नहीं ।" और जहाँ तक हिन्दी के स्वभाव की बात है, आचार्य वाजपेयी ने लिखा है कि हिन्दी शब्द भ्रम को पसन्द नहीं करती है । अब यदि कुछ लोग संस्कृत के उपसर्ग, प्रत्यय और समासों का प्रयोग करके इसमें जबरन शब्द भ्रम पैदा करना चाहे तो यह हिन्दी की जीनियस में हस्तक्षेप ही है ।

कृदन्त प्रत्यय की बात करते हुए आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी और संस्कृत के अन्य अन्तर बताए हैं । उन्होंने बताया है कि संस्कृत में भी भाव वाचक संज्ञाएँ स्त्री लिंग होती है जैसे प्रवर्तना । इनमें 'न' को 'ना' कर दिया जाता है । लेकिन हिन्दी में इसके उलटे, 'ना' की जगह 'न' स्त्री लिंग में होता है : 'ना' पुलिग में—'जलन' स्त्री लिंग तथा 'जलना' पुल्लिग है । मूल प्रश्न यह है कि जो लोग हिन्दी के लिए संस्कृत से शब्द बना कर दे रहे हैं, क्या वे हिन्दी की जीनियस के बारे में कुछ अधिकार से जानते हैं ? उन्हें संस्कृत का आधार ले कर संस्कृत के लिए उपसर्ग, प्रत्यय तथा समास के द्वारा शब्द निर्माण की कला आती हो, पर क्या उन्हें हिन्दी भी आती है ? यदि उन्हें हिन्दी नहीं आती है तो उनसे शब्द निर्माण का यह महत्व पूर्ण काम नहीं करवाया जाना चाहिए । हिन्दी आने के कई स्तर हो सकते हैं, लेकिन व्याकरण के स्तर पर इसका एक आधार यह होना चाहिए कि उन्होंने आचार्य किशोरी दास वाजपेयी के 'हिन्दी शब्दानुशासन' को पढ़ा हो । इस पढ़ने का पता लग सकता है यदि इस ग्रन्थ पर स्कूल कालेजों की परम्परा के प्रश्न पत्र तैयार करके उनकी परीक्षा ली जाए ।

आज केवल शब्द निर्माण हो रहा है । इसमें दूसरी प्रक्रिया के बारे में लोगों को चिन्ता नहीं है कि शब्द ग्रहण भी हो रहा है कि नहीं । भट्टे पर ईंटें पक रही हैं । इन्हें आग में पकने के लिए छोड़ दिया गया है । यह किसी को ध्यान नहीं कि पकने के बाद वे ईंटें किसी के काम की होंगी कि नहीं । यह बात सच है कि जब हिन्दी भाषी जनता उन्हें उपयोग में लाएगी तो सोच समझ कर उपयोग में लाएगी और बेकार की ईंटों को छोड़ देगी, लेकिन यह सारा काम केवल प्रयोग पर नहीं छोड़ा

जाना चाहिए । ईंट बनाने वालो को भी पता होना चाहिए कि ईंट किसके लिए बन रही हैं । उसी आवश्यकता के अनुरूप भट्टे वालो को मिट्टी का चयन करना चाहिए । यदि आवश्यकता को ध्यान में रख कर मिट्टी का चयन नहीं किया गया तो वे ईंटें बिक नहीं पाएँगी । यदि हिन्दी के साइज के शब्द नहीं दिए गए तो हिन्दी भाषी उन्हें अस्वीकार कर देंगे । इस लिए संस्कृतज्ञों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हिन्दी के लिए संस्कृत के उपसर्गों, प्रत्ययों, संधियों और समास की पदावली के लम्बे लम्बे भारी भरकम शब्द नहीं बनाए जाने चाहिए, नहीं तो हिन्दी में हिन्दी की जीनियस के प्रतिकूल बने ऐसे शब्दों का बहिष्कार होने लगेगा ।

यदि हिन्दी वाले हिन्दी भाषा की जीनियस के विपरीत बने शब्दों का बहिष्कार कर देंगे तब भी बात बन जाएगी । पर इसके सिवा, हिन्दी भाषा को जो डर है वह भी सच्चा है कि कहीं ये शब्द उस पर थोप न दिए जाएँ । कभी कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि जैसी भी ईंट मिलती हैं लोगों को उन्हीं से अपने घर बनवाने पड़ते हैं, फिर चाहे वे घर कितने भी कमजोर क्यों न बनें और चाहे पहली बरसात में ही गिर जाएँ ।

डा० भोला नाथ तिवारी देश विदेश में हिन्दी के प्रोफेसर रहे हैं । उन्होंने हिन्दी भाषा पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं । वे हिन्दी के एक अधिकारी विद्वान हैं । अब यदि उन्हें भी यह कहना पड़े कि अंग्रेजी से राज भाषा हिन्दी में जो अनुवाद किए जाते हैं वे बहुत अधिक अटपटे होते हैं तो राज भाषा के लिए यह स्थिति शोचनीय हो जाती है । उन्होंने कहा भी है—"आज की राज भाषा हिन्दी अपनी प्रकृति में, सहज हिन्दी से कहीं अधिक, अनुवाद की छाया से युक्त हिन्दी है, जो कभी कभी तो ऐसी हो जाती है कि उसे समझना असंभव सा हो जाता है । वस्तुतः राज भाषा हिन्दी का यह सबसे दुखद पक्ष है ।" उन्होंने लिखा है कि राज भाषा हिन्दी में लिखे गए बहुत से पत्र, प्रारूप, विज्ञापन तथा सूचनाएँ आदि ऐसी होती हैं, जिनको समझना सामान्य लोगों के बस का तो नहीं ही होता, सुशिक्षितों के बस का भी नहीं रह जाता । उदाहरण के लिए उन्होंने भारतीय दंड संहिता की धारा 420 का अधिकृत अनुवाद पेश किया है । यदि उनकी बात में सच्चाई है तो फिर हिन्दी को हिन्दी के विद्वान भी नहीं समझ पाएँगे । क्या अंग्रेजी के हटने के बाद आने वाली हिन्दी भी केवल वकीलों की भाषा रहेगी, और उनके मुवक्किलों की भाषा नहीं ? क्या मुवक्किल पहले की ही तरह किसी वकील का मुवक्किल बन कर रह जाएगा ? क्या मुवक्किल को वकील करना अनिवार्य बना रहेगा ? क्या अदालत में हिन्दी के

आने से वकीलों के पेशे पर कोई बुरा असर नहीं पड़ने दिया जाएगा ? हिन्दी को विकसित करते समय इन प्रश्नों के उत्तर अवश्य दिए जाने चाहिए ।

3

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने हिन्दी की प्रकृति को पूरी तरह से समझा है । वे हमें बताते हैं कि हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध क्या है । उन्होंने बताया है कि हिन्दी में जो संस्कृत के शब्द लिए गए हैं वे ज्यों के त्यों लिए गए हैं । वे शब्द कैसे बने हैं, इससे हिन्दी को कुछ लेना देना नहीं है । हिन्दी ने अनेक शब्द अंग्रेजी से भी लिए हैं । उन शब्दों को हिन्दी ज्यों के त्यों समा लेती है । हिन्दी इस चिन्ता में नहीं रहती कि मूल भाषा में वे शब्द कैसे बने होंगे । यह उनकी शब्द व्युत्पत्ति मूलक व्याख्या करने का झंझट मोल नहीं लेती । ऐसे ही, अरबी, फारसी तथा अन्य भाषाओं से शब्द लेने की बात है । हिन्दी किसी भी भाषा के शब्द लेने में नहीं झिझकती, लेकिन उन भाषाओं के व्याकरण जानने की समस्या में भी नहीं पड़ती । यह बने बनाए शब्द लेती है या उन्हें उच्चारण और लिपि में अपनी प्रकृति के अनुरूप ढाल लेती है । जब हिन्दी का सभी भाषाओं के साथ ऐसा व्यवहार है तो संस्कृत इसका अपवाद क्यों बनाई जाती है ? हिन्दी संस्कृत से ऐसे ही शब्द लेती है जैसे किसी अन्य भाषा से । जब अन्य भाषाओं का व्याकरण हिन्दी पर नहीं थोपा जाता तो संस्कृत का व्याकरण इस पर क्यों थोपा जाता है ?

हिन्दी विद्यार्थियों के साथ यह बहुत बुरा किया जा रहा है कि संस्कृत का सारा व्याकरण उन्हें जबरन पढ़ाया जाता है । जिन बातों से उन्हें कुछ लेना देना नहीं है वे उन पर लादी जा रही हैं । आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने बताया है कि वेद मन्त्रों की भाषा से हिन्दी बहुत दूर पड़ गई है लेकिन अभी भी हिन्दी के छात्रों को वेद मन्त्रों के व्याकरण गत भेद रटवाए जाते हैं । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि हिन्दी का व्याकरण कोई तमाशा या भानमति का पिटारा नहीं है कि जहाँ सब कुछ हो । इसमें हिन्दी की जीनियस की दृष्टि से अनावश्यक तथा विजातीय तत्त्व (फारेन मेटर) दूर रखा जाएगा ।

यह तय हो जाना चाहिए कि हिन्दी के छात्रों को हिन्दी पढ़ाई जानी है या संस्कृत । हिन्दी के विद्यार्थियों को हिन्दी इस लिए नहीं पढ़ाई जाती है कि वे संस्कृत के अर्थ निकालने लगेंगे । यदि ऐसा होता तो फिर वे संस्कृत पढ़ते, हिन्दी नहीं । हिन्दी में ऐसा बहुत कुछ है जो संस्कृत के व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है । लेकिन

यह संस्कृत वालो का दुस्साहस ही कहा जाएगा यदि वे हिन्दी की प्रकृति को अशुद्ध बताना चाहेंगे । यह हिन्दी भाषा के विद्यार्थियों को सहन नहीं है ।

हिन्दी ने फारसी से अपनी लड़ाई करीब करीब पूरी कर ली है । अब हिन्दी में फारसी के शब्दों को वर्णों के नीचे बिन्दी लगा लगा कर लिखने पर जोर नही दिया जाता । साथ ही, हिन्दी ने फारसी के कई हजार शब्द अपना लिए हैं । हिन्दी को शब्द लेने में किसी भाषा से परहेज़ नहीं है । ऐसे ही, हिन्दी ने अंग्रेजी भाषा से भी अपना संबंध निश्चित कर लिया है । हिन्दी में अंग्रेजी के 'डॉक्टर' को डाक्टर ही लिखा जाएगा । हिन्दी ने संसार की सारी भाषाओं की ध्वनियों को ज्यों की त्यों बोलने का ठेका नहीं लिया है । हिन्दी के विद्यार्थियों को, हिन्दी जिन जिन भाषाओं से शब्द ग्रहण करती है, उन सभी भाषाओं के व्याकरण और शब्द रचना शास्त्र नहीं पढ़ाए जाने हैं । हिन्दी की वर्ण माला में यह क्षमता अधिक से अधिक है कि यह अन्य भाषाओं की अधिकांश ध्वनियों को लिपि बद्ध कर सके लेकिन उन सबका उच्चारण हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं भी हो सकता । जैसे कोई छन्द बनता है वैसे ही हिन्दी की प्रकृति की बात है । मात्र 16 मात्राएँ रखने से ही चौपाई के छंद का निर्माण नहीं हो जाता है । उसके लिए शब्दों की एक निश्चित लय में बुनावट की जाती है । इस प्रकार, सभी भाषाओं की अपनी अपनी प्रकृति होती है । हिन्दी में जितने स्वर और व्यंजन हैं, हिन्दी भाषियों द्वारा उन्हें जैसे चाहे मिला कर बोलने की क्षमता को मान लेना एक बड़ी भूल है । यदि ऐसा होता तो फिर गणित शास्त्र का सहारा ले कर शब्दों का निर्माण किया जा सकता था । गणित में फैक्टोरियल का नियम है जो यह बता सकता है कि कुल वर्णों को कितने कितने ले कर कुल कितने शब्द बन सकते हैं । कम्प्यूटर ने इस गणना को बहुत आसान कर दिया है ।

4

हिन्दी के संबंध में यह भी कहा जाता है कि यह भाषा जैसी लिखी जाती है वैसी ही बोली जाती है । लेकिन यदि यह नियम टूटता है तो वह कई बार संस्कृत के कारण टूटता है । संस्कृत के शब्दों को आज हिन्दी वालो से अनिवार्य रूप से तत्सम रूप में लिखवाया जाता है । हिन्दी ने जो शब्द बहुत पहले तद्भव बना कर अपने बनाए थे उन्हें भी अब तत्सम बनाया जाता है । हमसे उनके मूल उच्चारण खो गए हैं, हम उन्हें तद्भव रूप में बोलने के आदी हैं, किन्तु उन्हें लिखावट में तत्सम रूप में लिखाए जाने का आग्रह किया जाता है ।

हिन्दी ने जब किसी शब्द को तद्भव बनाया था तो उसे केवल बोलने में नहीं बल्कि लिखावट में भी तद्भव लिखा था। इसमें उच्चारण के अनुरूप हिन्दी की लिखावट भी बदली थी। हिन्दी में संस्कृत के शब्द 'यज्ञ' का कहीं भी तत्सम उच्चारण नही किया जाता है। लेकिन हिन्दी शब्द कोशों में इसका स्थान हिन्दी में इसके उच्चारण के कारण नहीं बल्कि संस्कृत में इसकी वर्तनी के कारण रखा जाता है। हिन्दी का हर विद्यार्थी इसे वर्ण माला क्रम में 'य' व्यंजन तय करके 'ग' के बाद तथा 'घ' के पहले ढूँढना चाहता है। लेकिन हिन्दी शब्द कोशों में यह उसे उस स्थान पर नहीं मिलेगा। हिन्दी भाषी इसे 'यग्य' बोलते हैं लेकिन यह शब्द उनसे संस्कृत के हस्तक्षेप के कारण 'यज्ञ' जिसका गोलमोल संयुक्त रूप 'यज्ञ' है—लिखवाया जाता है। इसके उच्चारण में हिन्दी भाषी के सामने किसी संस्कृत वाले की नही चल सकी है लेकिन लिखावट के रूप में संस्कृत वाले हिन्दी भाषियों के साथ अंदरूनी करतूत करके छोड़ देते हैं।

हिन्दी में संस्कृत के शब्दों के केवल उच्चारण ही नहीं बदले हैं बल्कि लिखावट में तत्सम रूप रहते हुए भी उनके लिंग तक बदल जाते हैं। सभी जानते हैं कि हिन्दी में संस्कृत के 'स्त्री' शब्द का उच्चारण 'इस्त्री' होता है। लेकिन आजकल की हिन्दी में इसे 'स्त्री' ही लिखवाया जाता है। 'इस्त्री' लिखने पर इसे स्कूल के अध्यापक द्वारा अशुद्ध ठहराया जाएगा जबकि जोग जीत ने अपने 'जैमन' ग्रंथ में संस्कृत के 'स्थान' को 'अस्थान' तथा 'स्नान' को 'अस्नान' लिखा है। हिन्दी की प्रकृति को देखते हुए 'असनान' उचित भी है।

'स्नान' को 'अस्नान' लिखने से खड़ी बोली की छन्द समस्या भी सुलझ जाती है। अब तक यह पूर्णतया निश्चित हो चुका है कि वार्णिक छन्द खड़ी बोली के स्वभाव मे मेल नहीं खाते हैं। इसमें मात्रिक छन्द ही सजते हैं। मात्रिक छन्दों के लिए मात्राओं की गिनती होती है। लिपि के नियमानुसार 'स्नान' में तीन तथा 'अस्नान' में पाँच मात्राएँ होती हैं। कवि की समस्या 'अस्नान' के पाँच मात्रा वाले उच्चरित शब्द को तीन मात्रा वाले 'स्नान' लिखने पर एक दम बढ़ जाती है। इसी लिए आधुनिक हिन्दी का जिम्मेदार कवि छन्द के रचने में ऐसे शब्दों से बचना चाहता है जिनकी लिपि संस्कृत की है और उच्चारण हिन्दी का है। उदाहरण के लिए 'ज्योत्स्ना' शब्द को लिया जा सकता है। यह संस्कृत का शब्द है। इसमें मात्रा की गिनती से कुल चार मात्राएँ हैं। आरम्भ का आधा ज, य के साथ उच्चरित हो जाता है, लेकिन आगे आधे त तथा आधे स के उच्चारण का क्या होता है ? इनमें से प्रत्येक बोला जाता है लेकिन गिनती में नहीं आता। इसी कारण हिन्दी अपनी प्रकृति के अनुरूप ऐसे शब्दों को तद्भव बना लेती है। इससे हिन्दी सरल हो जाती है। संस्कृत के छात्र दूर्वा को दूर्वा लिखने और बोलने का अभ्यास करें लेकिन हिन्दी में इसे दूरवा ही चलने देना चाहिए। हिन्दी उसे भी छोटा बना कर केवल दूब बोलती और दूब लिखती है।

हिन्दी में लिंग की व्यवस्था हिन्दी की अपनी विशेषता है। लेकिन इसमें जो समस्या बन गई है, उसका एक कारण संस्कृत है। संस्कृत में तीन लिंग हैं लेकिन हिन्दी में कुल दो लिंग हैं। संस्कृत की जबर्दस्ती है कि उसका प्रत्येक शब्द हिन्दी में लिया जाना है। कहने का मतलब यह है कि तीन लिंगों को दो लिंगों में समाना पड़ता है। सबसे अधिक कठिनाई संस्कृत के नपुंसक लिंग से पैदा होती है। जब हिन्दी में कोई नपुंसक लिंग नहीं है तो यह उस पर थोपा नहीं जाना चाहिए। फिर हिन्दी की अपनी बुनावट है कि वह संस्कृत के किस शब्द को स्त्री लिंग और किस शब्द को पुल्लिग करके लेगी। हिन्दी में 'हवा' चलती है, ऐसे ही 'वायु' भी चलती है। हिन्दी में पवन भी स्त्री लिंग है। स्वयं इस जैमन ग्रंथ में पवन का स्त्री लिंग के रूप में प्रयोग हुआ है—'सकल पवन दई रोक'-- या, 'महा पवन इक इम उठी तिन दोऊ दिए उड़ा।' ऐसे ही संस्कृत का 'यज्ञ' शब्द है। इसे हिन्दी में 'यग्य' उच्चरित किया जाता है। इससे पहले इसे 'जग्य' उच्चरित किया जाता रहा है। खड़ी बोली क्षेत्र के गाँवों में इसे आज भी 'जग' कहते हैं। वहाँ यह स्त्री लिंग में प्रयुक्त है। जोग जीत ने भी इसका स्त्री लिंग में प्रयोग किया है—'वे अन ईश्वर जग्य थीं।'

खड़ी बोली क्षेत्र में कुछ अर्थ स्त्री लिंग तथा पुल्लिग दोनों रूपों में प्रयोग होते हैं। 'दुपहरी भर रही है' तथा 'दुपहरा हो गया है'—दोनों सही है। इसके साथ ही—'मैं दुपहर में वहाँ गया था'—भी शुद्ध हैं। लेकिन इसका तीनों रूपों में अर्थ एक ही रहता है। बर्छा और बरछी तथा कटार और कटारी में अन्तर नहीं है। कुल्हाड़ी तथा कुल्हाड़े में अन्तर बताया जा सकता है लेकिन वह भी अधिक सार्थक नहीं है। लठ और लाठी में भी एक स्थान ऐसा आ जाता है जहाँ अन्तर नहीं रहता है।

हिन्दी के अपने स्त्री लिंग और पुल्लिग होते हैं। सभी लोग जानते हैं कि हिन्दी में 'चांदनी' स्त्री लिंग शब्द है, लेकिन खड़ी बोली क्षेत्र में इसका पुल्लिग रूप 'चांदना' बहुत चलता है। रात को चमकते चांद के कारण रास्तों में कबड्डी चांदने में खेली जाती है। यदि अंधेरे में कोई चीज खो जाए तो उसे ढूँढने के लिए कहा जाता है—थोड़ा चांदना कर दो। एक दिये से यह चांदना हो जाता है। यदि किसी ओट के कारण अंधेरा हो रहा है तो उसे हट जाने के लिए कहना होता है– थोड़ा चांदना छोड़ दो। इसका अन्तिम उदाहरण वह गुस्सा हैं जिसमें कहा जाता है-- मुँह पर तमाचा लगा दिया तो चांदना सा खिल जाएगा। संत कवि घीसा दास का जन्म मेरठ जिले के खेकड़े गाँव में सन 1803 में हुआ था। उनका निधन सन 1868 में हुआ था। उनका एक दोहा इस प्रकार आरम्भ होता है—'घीसा ज्ञान चांदना हो रहा, दरशा चमन विवेक।' इसमें चांदनी' का पुल्लिग रूप 'चांदना' देखा जा सकता है। ऐसे ही 'आरती' स्त्री लिंग शब्द है लेकिन खड़ी बोली क्षेत्र में इसका पुल्लिग रूप 'आरता' भी चलता है। विशेषकर, जब भाई बहन के घर पर भात भरने जाता है तब बहन भाई का आरता ही

करती है, आरती नहीं। जोग जीत ने भी इसे पुल्लिग रूप में प्रयोग किया है—मस्तग सूंघ गात उर लायो, बहुर आरतौ कर सुख पायो।

5

यदि यह पूछा जाए कि खड़ी बोली हिन्दी की जीनियस में क्या क्या आता है तो उनमें से एक यह गिनाई जा सकती है कि खड़ी बोली क्षेत्र में स्थान नामों के बाद 'से' लगने से स्थान नामों के अन्तिम 'आ' को 'ए' हो जाता है। मेरठ जिले की एक तहसील का नाम मवाना है। यदि हमें उस शहर में जाना हो तो कहना पड़ेगा—'मवाने जा रहा हूँ।' यदि उस शहर से आ रहे हैं तो कहना पड़ेगा -- 'मवाने से आ रहा हूँ।' 'मवाना को जा रहा हूँ' और मवाना से आ रहा हूँ' ये दोनों प्रयोग अटपटे लगते हैं।

खड़ी बोली क्षेत्र के अन्य ग्रामों या नगरों या प्रान्तों के उदाहरण दिए जा सकते हैं-- सरधना, बहसूमा, पिलखुवा, हरियाणा को क्रमशः अपने आप सरधने, बहसूमे, पिलखुवे, हरियाणे हो जाता है। ऐसे ही खड़ी बोली के लोग आगरा और कलकत्ता को इस संदर्भ में प्रयोग करते समय क्रमशः आगरे और कलकत्ते बोलेंगे और लिखेंगे। लेकिन मथुरा को मथुरा ही रहने दिया जाएगा, उसका मथुरे नहीं बनेगा। द्वारिका को भी द्वारिका ही रहेगा। यह स्थान नामों के साथ स्त्री लिंग के भेद के कारण है। ऐसा स्थान नामों के साथ ही नहीं है। दो सौ वर्ष पुराने हस्त लिखित ग्रन्थ 'जैमन' में जोग जीत ने इसके प्रयोग किए हैं—'सालग राम आसरे रहई।' यहाँ 'आसरा' को 'आसरे' हो गया है।

मैं एक दिन अपने बच्चों को एक बाग में घुमाने ले गया था। चूँकि बाग में शाम तक रहना था इसलिए दोपहर की रोटी भी ले गया था। जब बच्चे रोटी खा रहे थे तो वहाँ एक गिलहरी आ गई। बच्चों ने गिलहरी को रोटी दी। वह रोटी के टुकड़े को अपने दोनों हाथों में ले बैठ कर उसे खाने लगी। फिर वहाँ पाँच छह गिलहरियाँ और आ गईं। बच्चों ने उन्हें अपने अपने हिस्से की रोटियाँ बर्तानी शुरू कर दीं। फिर वहाँ कई घुर्सलें आ गईं। घुर्सलों के बाद ऊपर पेड़ की डाल पर कौवे जमा हो गए। अन्त में जो एक पक्षी आया मैंने बच्चों को उसका नाम 'बनिया' बताया। वह बच्चों में पहचान के लिए नया पक्षी और नया नाम था। मेरा जो बच्चा छह वर्ष का था वह उसे पुकार कर बोला—'बनिया, इधर आ।' मेरी जो बच्ची आठ वर्ष की थी वह बोली—'बनिए, इधर आ।' मेरा लड़का कह रहा था 'बनिया ने

रोटी खा ली।' मेरी लड़की कह रही थी—'बनिए ने रोटी खा ली।' यह सब कुछ बिना बताए अपने आप था। तब मैंने सोचा कि मेरी बेटी खड़ी बोली के स्वभाव को समझ गई है। डा० नामवर सिंह से भी यह भूल उनकी पुस्तक 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' में हुई है जब उन्होंने लिखा है कि "उत्तरी अपभ्रंश की केवल एक कृति मिलती है, जिसकी रचना किसी बनिया ने 15 वीं शती में की थी।" आचार्य किशोरी दास वाजपेयी खड़ी बोली क्षेत्र के न होते हुए भी खड़ी बोली के इस स्वभाव को बहुत कुछ समझ गए थे। 'हिन्दी शब्दानुशासन' में उनका यह वाक्य 'आगरे के एक बाजार का नाम राजा मंडी है' देख कर मैं खुशी से गदगद हो गया था। मुझे भय था कि कहीं आचार्य वाजपेयी खड़ी बोली के इस सूक्ष्म स्वभाव को समझ पाए हों कि नहीं क्योंकि लिंग आदि में उनसे कहीं कहीं खड़ी बोली से भेद हो गया है। उदाहरण के रूप में खड़ी बोली क्षेत्र में कलाकंद बनाई जाती है और वाजपेयी के व्याकरण का बनाया नहीं जाता।

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी के 'हिन्दी शब्दानुशासन' से कुछ और प्रयोग लिए जा सकते हैं। उन्होंने लिखा है—"लड़का से' गलत है, 'लड़के से' शुद्ध। परन्तु समास में—'डंडा—बेड़ी' शुद्ध है। डंडेदार बेड़ी—'डंडा—बेड़ी'। इसी तरह 'गुंडा—हथकंडा' 'मठा—मिठास' में 'आ' को 'ए' न होगा। प्रत्यय परे हो तो अशुद्ध रूप 'ठेकादारी, दावादार, डंडा वाला, आगरा से' के शुद्ध रूप क्रमशः 'ठेकेदारी, दावेदार, डंडे वाला, आगरे से' होंगे।" एक अन्य उदाहरण लिया जा सकता है—अशुद्ध रूप—'मेला में लाखों आदमी आए थे' का शुद्ध रूप—'मेले में लाखों आदमी आए थे' होता है। इसमें यह ध्यान रहे कि ऐसे उदाहरण दे कर यहाँ हिन्दी के व्याकरण की पुस्तक लिखने का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है बल्कि केवल हिन्दी की आत्मा की अलग पंहचान बताई जा रही है कि खड़ी बोली में 'आ' का 'ए' बनने का नियम बहुत व्यापक है। यह केवल शहरों के नाम तक सीमित नहीं है बल्कि इसका क्रियाओं में एक छत्र राज है। हिन्दी में 'आने जाने का' उच्चारण होता है 'आना जाना का' उच्चारण नहीं किया जा सकता।

6

जहाँ तक आचार्य किशोरी दास वाजपेयी के अलावा अन्य हिन्दी विद्वानों का सम्बन्ध है, डॉ० राम विलास शर्मा ने भी अपनी पुस्तक 'भाषा और समाज' में हिन्दी और संस्कृत की प्रकृतियों को भिन्न भिन्न बताया है। उन्होंने लिखा है:

(क) "हिन्दी की प्रकृति को लें। हिन्दी को संयुक्ताक्षर कम पसन्द हैं, वह स्मरण को सुमिरन, विस्मरण को बिसरना कहना ज्यादा पसन्द करेगी : उसकी यह प्रकृति बहुत पुरानी है। इसी के प्रभाव से संस्कृत में चरित और चरित्र जैसे दो रूप मिलते हैं। चरित्र की अपेक्षा चरित हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है। श, ष,स वर्णों का ह, छ, ख आदि ध्वनियों में परिवर्तन भी बहुत पुराना है। श की तुलना में स, व की तुलना में ब, ण की तुलना में न हिन्दी को अधिक प्रिय हैं।

(ख) "हिन्दी में लिंग भेद अधिकांश क्रिया रूपों में मिलता है। हिन्दी में उठ बैठा, आ गया, चल पड़ा, जैसी संयुक्त क्रियाओं का खूब प्रयोग होता है।

(ग) "हिन्दी में मुहावरों की भरमार है (आँख चुराना, आँख फेरना, आँखें बिछाना, आँखों में समाना इत्यादि)। संस्कृत में लोकोक्तियाँ हैं, इस तरह के मुहावरे कम हैं।"

ऐसी स्थिति में सोचने की बात है कि जब हिन्दी और संस्कृत में इतना मौलिक अंतर है तो यह कहना कहाँ तक उचित रह जाता है कि हिन्दी संस्कृत में से निकली है।

संस्कृत भाषा अपनी शैली के रूप में नव्य न्याय दर्शन में चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई बताई गई है। आज की संस्कृत इसी शैली से जुड़ी हुई है। इस शैली के बारे में डॉ० इन्द्र चन्द्र शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'पालि भाषा और साहित्य' में लिखा है— "क्रियाओं के स्थान पर विशेषण एवं भाव वाचक संज्ञाओं के प्रयोग ने अंत में जा कर क्रियाओं को सर्वथा उड़ा दिया और यह समास एवं भाव प्रधान नामों की भाषा बन गई।" डा० शास्त्री ने आगे लिखा है—"यदि सभी लोग विचार एवं अभिव्यक्ति में नव्य नैयायिकों का अनुकरण करने लगें तो संस्कृत से क्रियापद सर्वथा लुप्त हो जाएँ। अव्ययों का प्रयोग भी बंद हो जाए। विभक्तियों में प्रथमा और पंचमी के अतिरिक्त कोई विभक्ति न रहे।"

संस्कृत में ऐसी शैली को नाम प्रधान शैली कहा गया है। डॉ० शास्त्री ने धातु में दो तत्व 'क्रिया' और 'प्रकार' बना कर लिखा है कि "यदि प्रकार को निकाल दिया जाए तो क्रिया 'अस्ति', 'भवति' या 'करोति' के रूप में सामान्य बन जाती है और इनका प्रयोग संस्कृत में आवश्यक नहीं माना जाता। प्रयोग के बिना ही इनका अध्याहार हो जाता है।" इस शैली के उदाहरण देते हुए डा० शास्त्री हमें बताते हैं— "सुबंधु, दंडी, और बाण भट्ट का गद्य इसका उदाहरण है। इसमें क्रिया पद बहुत कम हो गए और लम्बे लम्बे समास भाषा का सौंदर्य माने जाने लगे। मध्य काल में नाटक, गद्य एवं सभी ग्रन्थ इसी शैली को प्रकट करते हैं।" इसके बाद डा० शास्त्री ने

इस शैली के बारे में लिखा है—"यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की संस्कृत बोल चाल की भाषा नहीं हो सकती ।"

संस्कृत में जो भाषा लिखी जाती है वह 'विष्णु सहस्रनाम' और 'शिव सहस्रनाम' के ग्रन्थों की है । उसमें किसी क्रिया रखने या वाक्य बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है । बस, विष्णु या शिव के केवल एक एक हजार नाम रटते जाओ और उन नामों के अर्थ अन्य भाषाओं में पूरे पूरे वाक्य बना कर खोलते जाओ ।

एक बार इस झूठ को सच माना जा सकता है कि संस्कृत में से पाली, पाली में से प्राकृत, प्राकृत में से अपभ्रंश निकली हों, लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि संस्कृत में से खड़ी बोली वाली हिन्दी निकली है । हाँ, आज जिस प्रकार हिन्दी में संस्कृत अँधाधुंध भरी जा रही है, सौ पचास वर्ष बाद ऐसा अवश्य माना जाएगा कि हिन्दी भी संस्कृत में से निकली है । हिन्दी संस्कृत में से नहीं निकली है लेकिन इसे आगे केवल संस्कृत में से निकाला अवश्य जा रहा है । और तो और, इसके लिए हिन्दी में से हिन्दी के शब्द हटाए जा रहे हैं । प्राचीन काल में ऐसा ही सलूक पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साथ किया गया था । तभी वे भाषाएँ मजदूरों और किसानों की नहीं रह सकी हैं । दक्षिण में तमिल भाषा इसलिए अपनी प्राचीनता में सुरक्षित रह सकी क्योंकि तमिल देश में राज भाषा बनते समय उस पर संस्कृत नहीं छा सकी, लेकिन उत्तर भारत की पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं को संस्कृत अपने प्रभाव के कारण मृत भाषाएं बना चुकी है । संस्कृत उत्तर भारत की भाषाओं के लिए ऐसी आकाश बेल है जो धरती से जुड़े हरे भरे पेड़ों को पनपने नहीं देती है । संस्कृत कभी अपने बलबूते पर नहीं पनप सकी है, यह सदा परजीवी भाषा रही है । यह औरों को मारती हुई आगे बढ़ती है । यह भारत की हर भाषा को बारी बारी से समाप्त करती आई है । पाली, प्राकृत और अपभ्रंश का जो अन्त हुआ है वह सबके सामने है । इस बार संस्कृत का यह लोभ हिन्दी पर लगा है । जो जन भाषा राज भाषा या साहित्यिक भाषा के रूप में आगे बढ़ती है, यह अपनी जीभ फैला कर उसे लील लेती है । संस्कृत भारतीय भाषाओं के लिए मकड़ी का जाला है जिसमें मक्खी का खून चूस कर ही उसे छोड़ा जाता है । हिन्दी को इस शोषण और बदनामी से बचाया जाना है ।

यही डर है जो आज के हिन्दी भाषी को खाए जा रहा है । क्या संस्कृत हिन्दी को भी पुरानी पाली के समान निगल जाएगी ? डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री ने कहा है कि बोली के बदलने के साथ साथ पाली बदलती नहीं रही थी । इसी कारण वह जनता से दूर हो गई थी । पर सच्ची बात यह हो सकती है कि पाली की बोली में परिवर्तन न भी आया हो, वास्तव में संस्कृत ने पाली को गोद ले लिया होगा । यह पाली को गोद लेने की नीयत पूतना बन कर और दूध में जहर पिला कर उसे मिटाने की थी । ऐसा हिन्दी के साथ भी हो सकता है । डॉ० राम विलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भाषा और समाज' में इसकी चेतावनी देते

हुए कहा है—"यदि किसी भाषा में संस्कृत शब्दों की बेहद ठूसमठाँस की जाएगी तो उस भाषा का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा।" उन्होंने शब्द लेने के लिए एक तरीका बताया है कि "यदि दूसरी भाषाओं से हम उचित मात्रा में शब्द लें, उनका रूप विकार अपने नियमों के अनुसार करें, उन्हें अपने मूल शब्दों का स्थान न लेने दें तो इससे भाषा समृद्ध होती है।" लेकिन यहाँ इस षडयन्त्र का डर है कि पहले हिन्दी को संस्कृत निष्ठ बना कर इसे जनता से दूर कर दिया जाएगा। इसमें ऐसे तत्सम, समास बहुल शैली के कठिन संधियों के उपसर्गों और प्रत्ययों के शब्द भर दिये जाएँगे कि खड़ी बोली के हिन्दी भाषी लोग इसे अपनी भाषा नहीं कह सकेंगे। हिन्दी न हिन्दी रहेगी और न ही संस्कृत रहेगी। यह एकदम बनावटी भाषा बन जाएगी। ऐसी हिन्दी से हिन्दी भाषी प्रेम करना छोड़ देंगे। ऐसी हिन्दी पर जब कोई चोट पड़ेगी, हिन्दी भाषी उसे बचाना नहीं चाहेंगे। उनका ऐसी हिन्दी में कुछ भी अपनत्व शेष नहीं रह जाएगा। तभी संस्कृत वाले उसे पूरी चोट देंगे। ऐसी हिन्दी कों हटाने में फिर किसी की ओर से हाय हाय न हो सकेगी। ऐसी हिन्दी का आसानी से किसी भी कमेले में तकिया कलाम पढ़ दिया जाएगा। संस्कृत वालो की ओर से फिर उपयुक्त अवसर देख कर एक जोर का नारा दिया जाएगा—"संस्कृत निष्ठ हिन्दी क्यों, जब हमारे पास शुद्ध संस्कृत है तो शुद्ध संस्कृत क्यों नहीं?" यही चेतावनी है कि यदि हिन्दी को संस्कृत निष्ठता की ओर ले जाने से नहीं रोका गया तो यह अनहोनी घटना एक दिन अवश्य होगी। फिर संस्कृत के पुराने श्लोक भारत के आकाश में गूँज उठेंगे कि यदि कोई शूद्र संस्कृत को सुन ले तो उसके कानों में पिघला हुआ गर्म शीशा उँडेला जाए, यदि वह संस्कृत का उच्चारण कर ले तो उसकी जीभ काट ली जाए। यदि देश का इतिहास गलत ढंग से चला तो कुल सौ पचास साल की इन्तजार शेष है। वह संस्कृत निष्ठ हिन्दी के नाम से कर ली जाएगी। आज संस्कृत सीधे हिन्दी पर आक्रमण नहीं कर सकेगी।

संस्कृत के विद्वानों ने भाषा में वहीं आतंक मचा रखा है जो कुछ धार्मिकों ने धर्म के बारे में मचा रखा है। ऐसे लोग मानते हैं कि वेद संसार के सभी धर्मों का मूल स्रोत हैं। वे यह कहना चाहते हैं कि हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म एक हैं। ऐसे लोग अन्य सभी धर्मों की पहचान मिटाना चाहते हैं। वास्तव में, जिस प्रकार हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म एक नहीं हैं, उसी प्रकार संस्कृत भाषा, हिन्दी भाषा और अन्य भारतीय भाषाएँ एक नहीं हैं। देखा जाए तो जितनी गलत फहमियाँ फैली हैं, उन्हें देख कर यही कहना ठीक है कि भारतीय आर्य भाषाओं को यह 'भारतीय आर्य भाषा' नाम देना ही गलत हो गया है। इन्हें एक सामान्य नाम देना संस्कृत के पक्ष में इनके स्वतंत्र अस्तित्व को मिटा देना सिद्ध हो रहा है।

कहा जा सकता है कि आज संस्कृत भाषा हिन्दी के व्याकरण में कोई हस्तक्षेप नहीं कर रही है। यह केवल हिन्दी के शब्द भंडार में वृद्धि कर रही है। यह सच है

कि संस्कृत हिन्दी को अपनी विभक्तियाँ नहीं दे रही है, लेकिन यह हिन्दी को हिन्दी की अपनी विभक्तियाँ प्रयोग में लाने का अवसर भी नहीं दे रही है। इसने हिन्दी की विभक्तियाँ हिन्दी के घर में आ कर समाप्त कर दी हैं। संस्कृत के उपसर्ग, प्रत्यय, समास और संधियों के बाद हिन्दी को अपनी विभक्तियों की जरूरत नहीं रह जाती है। ऐसा हो गया है कि हिन्दी के घर में संस्कृत रहने लगी है। खड़ी बोली क्षेत्र में इसके लिए एक पुरानी कहावत चली आ रही है- नाम तेरा गाँव मेरा'। वास्तव में, हिन्दी को हिन्दी रहने का अवसर तभी प्राप्त होता है जब इसकी विभक्तियों का प्रयोग होता है। लेकिन संस्कृत की तत्समता, संस्कृत की समास बहुत शैली, संधियों की जटिलता, शब्दों के निर्माण में उपसर्गों और प्रत्ययों की भरमार, निश्चित रूप से हिन्दी की जीनियस में हस्तक्षेप है।

संस्कृतज्ञों को इस बात की कतई चिन्ता नहीं है कि राज काज की भाषा इस देश की जनता की भाषा बने। उनकी भारतीयता की लड़ाई किन्हीं दूसरे मिथकों की है। उनकी राष्ट्रीयता की कल्पना कुछ दूसरी तरह की चीज है। यदि ऐसे लोग हिन्दी को राज काज की भाषा के रूप में जनता से काट कर अलग थलग कर सकें तो वे अपनी परम्परा के अनुरूप अपने मिशन में सफल हो जाएँगे। राज भाषा हिन्दी को जन भाषा हिन्दी से अलग करने के उनके पास सौ बहाने हैं। उन्होंने इन बहानों का अभी से लाभ उठाना भी आरम्भ कर दिया है कि राज काज की भाषा तकनीकी भाषा होती है और तकनीकी शब्दावली भाषा के सामान्य शब्दों से भिन्न होती है। अभी यह अन्तर आइस बर्ग के समान पानी में एक बटा नौ का दीखता है जब कि मानसिकता की मूल प्रवृत्ति के अनुसार यह पूरा नौ बटा नौ का अन्तर है। बढ़ते बढ़ते यह अन्तर एक दिन सामान्य भाषा हिन्दी को कठिन बना कर तथा लोक तन्त्र की धारा के विरुद्ध चल कर उसे पूरी तरह ग्रस सकता है। संस्कृत की दुरूहता के कारण एक ऐसी हिन्दी की कल्पना कर लेना मुश्किल नहीं है जो भारतीय जनता में से किसी की भी समझ में न आए। जैसे संस्कृत भाषा पुराने पुरोहित वर्ग की एक कोड भाषा बन गई थी वैसे ही हिन्दी भी नए राज कर्मचारियों की कोड भाषा बन सकती है। यदि राज कर्मचारी भ्रष्ट होंगे तो यह उनके बड़े लाभ की चीज बन जाएगी। और यदि यह सही है कि शूद्र को पुराने जमाने में शास्त्रों के अनुसार निजी सम्पत्ति रखने

का अधिकार नहीं दिया गया था क्योंकि उससे वह विप्रों को दुःख पहुँचा सकता था तो फिर यह सारी बात मनुस्मृति के अनुसार कानून सम्मत भी हो जाएगी ।

7

हिन्दी भाषा का उन लोगों द्वारा कोई अहित होने वाला नहीं है जो हिंन्दी को पढ़ना नहीं चाहते हैं । यदि वे हिन्दी को सीख लेते हैं तो इससे हिन्दी का कोई नुकसान भी नहीं होने वाला है । पर रोजी रोटी की बात होती है कि लोग नौकरी दिलवाने वाली भाषा को सीखने लगते हैं । लेकिन किसी भाषा का विकास और उसके साहित्य की वृद्धि उसके बोलने वाले मातृ भाषियों द्वारा अधिक होती है ।

हिन्दी भाषा का नुकसान वे लोग अधिक कर सकते हैं जो हिन्दी को बोलते हैं । बात साफ हो जानी चाहिए कि यदि अफ्रीका वासी और अमरीका के लोग हिन्दी नहीं बोलते हैं तो यह हिन्दी का नुकसान नहीं है । हिन्दी का अहित काशी के रहने वाले हिन्दी भाषी कर सकते हैं । यहाँ कहा जा सकता है कि जो लोग भाषा को अपनी घरेलू और निजी सम्पत्ति समझते हैं उन लोगों की भारतीय समाज में कमी नहीं है । इसे संस्कृत के इतिहास से जोड़ कर पूरी तरह समझा जा सकता है । यह इतिहास इतना बल शाली और प्रभावी रहा है कि इसे संस्कृत की मानसिकता तक कहा जा सकता है ।

कुछ लोगों ने स्वतन्त्र भारत के लिए संस्कृत को राज भाषा बनाना चाहा था । लेकिन उनकी यह बात नहीं मन सकी और उनकी इच्छा उनके मन की मन में रह गई थी । अब उनके लिए इतिहास का पन्ना उलट गया था । उनके दुर्दिन आ गए थे । उन्होंने जन तांत्रिक राज्य व्यवस्था में धार्मिक तन्त्र की बात रखनी चाही थी । वे एक ओर संस्कृत को राज भाषा बनाना चाहते थे और दूसरी ओर संस्कृत को भारतीय जनता के लिए सर्व सुलभ करना नहीं चाहते थे । वे अभी भी वेदों को पवित्र मान कर काशी विश्व विद्यालय में उन पर शूद्रों और अछूतों की छाया नहीं पड़ने दे रहे थे । वे स्वयं परेशान थे कि क्या करें । यदि उनकी मानसिकता जन तांत्रिक होती तो संस्कृत नए भारत की राज भाषा घोषित हो सकती थी लेकिन उन्होंने ऐसा करना नहीं चाहा । वे इजरायल के लाख उदाहरण दें कि वहाँ हजारों वर्ष पुरानी यहूदियों की मातृ भाषा हिब्रू को राज्यादेश द्वारा एक दिन में राज भाषा बना दिया गया था – लेकिन वे इस देश में शूद्रों और नारियों से अपनी द्रोह नीति त्याग नहीं सकते थे । इसलिए संस्कृत भाषा के लिए उनका प्रलाप और रुदन व्यर्थ का था । कुछ दिन के लिए ऐसे लोगों ने संस्कृत को विश्व विद्यालयों में जमाए रखा है लेकिन वहाँ भी अब इसकी लोक प्रियता घटती जा

रही है। स्थिति यह हो गई है कि जो संस्कृत भाषा शूद्रों और नारियों को पढ़ाई नहीं जाती थी, अब उस भाषा को पढ़ने वालों के नाम के लाले पड़ गए हैं। जिस भाषा ने जन सामान्य का अपमान किया था अब वह स्वयं जन सामान्य द्वारा अपमानित हो रही है। जन सामान्य द्वारा संस्कृत भाषा का यह अपमान आज का नहीं है बल्कि प्राकृत और अपभ्रंश के रूप में बहुत पुराना है। हमारे संतों ने भी संस्कृत को अन्धा कूप जल बताया है।

जब संस्कृत का पक्ष लेने वालों की बात नहीं मन सकी तो ऐसे लोगों ने एक नया उपाय खोज लिया है। इन्होंने केन्द्र सरकार की राज भाषा हिन्दी बन जाने पर हिन्दी भाषा पर कब्जा कर लेना चाहा है। यही कारण है कि आज जो हिन्दी भाषा की समस्याएँ गिनाई जाती हैं उनमें से हिन्दी भाषा की अपनी एक भी समस्या नहीं है। ये सारी संस्कृत की समस्याएँ हैं जो हिन्दी को कलंकित कर रही हैं। हिन्दी सीधे सादे लोगों की सीधी सादी भाषा है लेकिन इसमें संस्कृत की चालाकियाँ जोड़ी जा रही हैं।

हिन्दी संस्कृत की बेटी पोती नहीं है। इसे संस्कृत ने पाल पोस कर बड़ी नहीं किया है। इससे संस्कृत का कभी मेल मिलाप नहीं रहा है। संस्कृत और हिन्दी में कभी प्यार नहीं रहा है। हिन्दी संस्कृत में से नहीं निकली है। हिन्दी उन लोगों की भाषा है जिन्हें संस्कृत पढ़ने नहीं दी गई है। हिन्दी की शब्दावली पर उन लोगों का अधिकार है जो संस्कृत की शब्दावली से अनभिज्ञ रखे गए थे। हिन्दी जिस परम्परा से निकल कर आई है संस्कृत भाषा में उसे सदा दूर दूर रखा गया था। आज यह क्या बात हो गई है कि हिन्दी के हर शब्द को संस्कृत की कसौटी पर कसा जाता है ? आज हिन्दी के साँस साँस पर संस्कृत का नियन्त्रण क्यों रखा जा रहा है ? हिन्दी को और हिन्दी की परम्परा की भाषा को गँवारों की, असभ्यों की और म्लेच्छों की भाषा बताया जाता रहा था, अब यह अचानक संस्कृत का हिन्दी के लिए इतना प्रेम कैसे उमड़ पड़ा है ? साफ बात है—यह हिन्दी के लिए प्रेम नहीं है बल्कि उसके साथ घुसपैठ और षडयन्त्र है।

हिन्दी की ओर से संस्कृत को दो टूक जवाब है – यदि संस्कृत को जीवित रहना है तो वह अपने बल पर जीवित रहे, अपने बल पर आगे बढ़े, हिन्दी के साथ जुड़ कर हिन्दी को अपने सिर मढ़े ऐतिहासिक कलंकों से कलंकित न करे। संस्कृत ने धर्म तन्त्रों में धर्म शासिका तथा राज तन्त्रों में राज रानी बन कर हिन्दी को कभी सम्मान नहीं दिया था और इसे नीचों की भाषा बताया था। अब जन तन्त्र में उस पर अधिकार रखने वाली हो कर उसे चैन से साँस नही लेने दे रही है। हिन्दी संस्कृत से हाथ जोड कर कह रही है कि महारानी, मेरा पीछा छोड़, मैं तेरी क्या लगती हूँ। तू मुझे न तब जीने देती थी और न अब जीने दे रही है।

यह दुख की बात है कि जो हिन्दी भाषा की विशेषताएँ है, वे इसकी भाषाई समस्याएँ बन गई हैं। हिन्दी का अपना व्याकरण है लेकिन इस व्याकरण को संस्कृत के व्याकरण की नकेल पहनाई जा रही है; हिन्दी की वाक्य रचना का अपना स्वरूप है लेकिन इसे संस्कृत के खाँचों में बाँधा जा रहा है; हिन्दी का अपना शब्द रचना संसार है लेकिन इस पर संस्कृत की कृत्रिम शब्दावली लादी जा रही है। हिन्दी में संस्कृत के कृत्रिम शब्दों को बुलवाया जा रहा है। हिन्दी बार बार सिर हिला कर मना करती है कि मेरे रचना संसार के अनुसार ये शब्द बोझिल और अर्थ हीन हैं, कि मैं इन्हें नहीं ढो पाऊँगी, लेकिन डंडों से मार पीट कर उससे पाणिनि का भारी भरकम बोझ जबरन ढुलवाया जा रहा है।

हिन्दी के साथ जो संस्कृति की बात जुड़ गई है वह भी संस्कृत के कारण है। दक्षिण भारत में हिन्दी को संस्कृत मान कर हिन्दी से लड़ाई चलती है। वे हिन्दी और संस्कृत को एक ही मानते हैं। वहाँ 'हिन्दी का हौवा' संस्कृत का हौवा है। वे इसे द्रविड़ जातियों पर आर्य जातियों का आक्रमण समझते हैं।

डा० प्रभाकर माचवे ने गुड़गाँव में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 43वें अधिवेशन में राष्ट्र भाषा परिषद के सभा पति के नाते एक भाषण दिया था। उसका संक्षेप दैनिक पत्र नव भारत टाइम्स में 'हिन्दी के शत्रु: सत्ता, सम्पत्ति एवं संस्थाएँ' शीर्षक से छपा है। उसमें डा० माचवे ने लिखा है --"दक्षिण में उत्तर भारत, संस्कृत, आर्य, ब्राह्मण और हिन्दी का विरोध एक साथ किया जाता है।" यूँ हिन्दी के साथ संस्कृत का पुराना कलंक जुड़ जाता है। इसमें हिन्दी की ओर से द्रविड़ भाषाओं को यह बताया जाना शेष है कि जैसे उन भाषाओं का संस्कृत से युद्ध छिड़ा है, वैसे ही हिन्दी का भी संस्कृत से युद्ध छिड़ा हुआ है। अपने ऐतिहासिक कार्य की दृष्टि से हिन्दी और द्रविड़ भाषाएँ सहयोगिनी भाषाएँ हैं।

संस्कृत भाषा भारत में छुआछूत को जन्म देने वाली भाषा है। इसका दृष्टि कोण कभी उदार नहीं रहा है। बहुत प्राचीन काल में इसमें दूसरी भाषाओं के शब्द जुड़े हों लेकिन पिछले हजार वर्ष से ऊपर के समय में इसमें दो चार शब्द भी नए नहीं जुड़े होंगे। हिन्दुस्तान में पिछले एक हजार वर्ष से मस्जिदों में अल्ला और खुदा का नाम ले कर करोड़ों लोगों द्वारा अजानें दी जा रही हैं लेकिन संस्कृत के शब्द कोशों में ये शब्द कभी नहीं आ सके हैं। इसके विपरीत हिन्दी का दृष्टि कोण ऐसा नहीं है— इसमें नबी और पैगम्बर हैं, पीर और फकीर भी हैं, मौलवी और मुल्ला भी हैं। हिन्दी नबी और पैगम्बर को अनुवाद करके नहीं लेती वल्कि ज्यों के त्यों अपने स्वभाव में समाहित किए हुए है।

फिर किसी भाषा का राज्य से उतना ही संबंध होता है जहाँ तक वह राज भाषा होती है। राज भाषा के सिवा भाषा के कई आयाम होते हैं जहाँ राज्य का

अधिकार नहीं होता। जहाँ तक हमारे आधुनिक जन तन्त्र का संबंध है उसमें राज भाषा को भी जन भाषा होना पड़ता है। इस प्रकार, या तो जन भाषा और राज भाषा का बहुत कम संबंध होता है, और यदि आज जन तन्त्र में उनका संबंध गहरा बना है तो इसमें राज भाषा को जन भाषा से आदेश ले कर आगे बढ़ना पड़ेगा। संयोग से हमारे संविधान के निर्माताओं ने इस बात को अच्छी तरह से समझा था। लेकिन यह जान कर आश्चर्य होता है कि आज संविधान के लागू होने के 39 वें वर्ष में भी पिछले तीस वर्षों से राज भाषा हिन्दी को पढ़ाने वाले हिन्दी अध्यापक मुझ से पूछते हैं कि क्या राज भाषा को सचमुच ही जन भाषा होना पड़ेगा ? वे यह सोचे बैठे हैं कि राज भाषा को जन भाषा बनाने की बात तो केवल संविधान में लिखने भर की बात थी। वे इस देश के सामाजिक इतिहास में फैले हुए कथनी और करनी के अन्तर को राज भाषा के नाते भी बरकरार रखना चाहते है।

8

क्या इस दुःख से छुटकारे का कोई उपाय है ? हमारे देश का वर्तमान संविधान ही इसका उपाय है। वास्तव में संस्कृत के सम्बन्ध से हिन्दी को एक अलग भाषा बताने की यह बात इस संविधान के बाद ही कही जा सकती थी। सन 1950 में जब संविधान सभा की बैठक में मसौदा तैयार करने के लिए हिन्दी के बारे में चर्चा की जा रही थी उस समय इस देश का शूद्र, अछूत और नारी समाज ऐतिहासिक थपेड़ों की मार से मरा पड़ा था। हिन्दी का सच्चा स्वरूप बताने वाले लोग वे ही हो सकते थे जिन्हें संस्कृत भाषा पढ़ाई नहीं गई थी। पिछड़ी जातियों के रूप में शूद्रों, अछूतों और नारियों की शिक्षा संविधान के लागू होने के बाद ही आरम्भ होनी थी।

इसमें हिन्दी क्षेत्र के सभी शूद्र और अछूत आचार्य वाजपेयी के ऋणी हैं। डा० राम विलास शर्मा ने आचार्य वाजपेयी के चिंतन को आगे बढ़ाया है। सभी वर्णों के लोग अपनी बौद्धिक ईमान दारी और साहस का परिचय देते हुए शूद्रों और नारियों का ऐसा साथ इस देश में प्राचीन काल से देते आ रहे हैं। बौद्ध काल में ब्राह्मणों ने बौद्ध बन कर शूद्रों को दीक्षा दी थी, उन्होंने भक्ति काल में अनेक शूद्रों को अपने प्रिय शिष्य बनाया था। आधुनिक संविधान के बाद फिर वही मिलन का समय आया है। शूद्रों के लिए बहुत लम्बी और कठिन इन्तजार के बाद यह समय आया है कि ब्राह्मण और शूद्र के बीच का भेद और घृणा घटी है। संयोग से इस समय इस संविधान के तहत सारे सामाजिक वर्गों में सहयोग और मैत्री की भावना पनपी है। भारत वासियों के लिए

यह सहयोग संयोग मात्र नहीं है। इस देश में ईमान दार लोग सदा से रहे हैं पर उनकी संख्या में अवश्य कमी रही थी।

अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए एक जगह आचार्य किशोरी दास वाजपेयी कहते हैं—"मैं बहुत कुछ 'सनातनी' भी तो हूँ। इस सम्बन्ध में अपने कुछ 'संस्कार' हैं जो जोर मारते हैं। तर्क सिद्ध बात भी संस्कार कभी कभी नहीं ग्रहण करते।" इस बात को ध्यान में रखते हुए डा० राम विलास शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'भाषा और समाज' में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी की उचित प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है—"संस्कृत के पंडित होते हुए वाजपेयी जी का यह कहना कि हिन्दी संस्कृत की पुत्री नहीं है, बौद्धिक ईमान दारी की एक अनुकरणीय मिसाल है।" डा० शर्मा ने इससे भी बढ़कर कहा है कि ईमान दारी के अलावा यह साहस का भी काम है क्योंकि संस्कृत की श्रद्धा की होड़ में कोई भी हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता मानने की ढिठाई नहीं कर सकता।"

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि आचार्य किशोरी दास वाजपेयी इस चिंतन पर किस प्रकार आ सके थे। उनके साथियों और विद्वानों द्वारा इस प्रश्न के कई उत्तर दिए जा सकेंगे, लेकिन जो बात अधिक सटीक है वह उनके हिन्दी भाषी के रूप में जीने की है। डा० अम्बा प्रसाद सुमन ने अपनी पुस्तिका 'आचार्य किशोरी दास वाजपेयी और हिन्दी व्याकरण' में एक बहुत महत्व पूर्ण बात कही है। उन्होंने आचार्य वाजपेयी के बचपन के बारे में लिखा है—"बालक वाजपेयी ने निर्धनता के झंझावात से पीड़ित हो कर अपनी जीविका चलाने के लिए 'उतरीपूरा' स्टेशन पर कचालू बेचे, अपनी बहिन की ससुराल लछिमनपुर गाँव में मेहनत मजदूरी भी की, गायें, भैंस भी चराईं। अपने गाँव राम नगर में खेत निराए और पुनः पशु भी चराए, तत्पश्चात कानपुर नगर में जा कर मकानों की पुताई करने वाले मजदूरों के साथ काम किया और वृन्दावन के मन्दिरों में पूजा पाठ से भी दिन काटे। राह गीरों को पानी भी पिलाया। संक्षेप में, ऐसे अन्य अनेक प्रकार के कठिन से कठिन, दुष्कर तथा अत्यधिक दयनीय कार्यों के द्वारा दस वर्ष का बालक वाजपेयी अपने जीवन की अत्यन्त दुरूह पर्वत श्रृंखलाएँ लांघ पाया था।" कहा जा सकता है कि इस रूप में उन्होंने हिन्दी को जी कर देखा और भोगा था। हिन्दी भाषा उनके स्वभाव में रस चुकी थी। तभी वे संस्कृत के व्यामोह से पूरी तरह हट सके थे। वे अपनी जीविका कमाने में शूद्रों और नारियों के खेमे में आ चुके थे। वे ऐसे विप्र थे जो प्लेग की महामारी में अपने माता पिता और अपनी बहिन को खो कर निपट अनाथ हो गए थे। उनका दुनिया में अपना कहलाने वाला कोई नहीं रह गया था। उनकी मनो भूमि कुछ उसी प्रकार की हो गई थी जैसी इस देश में धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टि से उपेक्षित और उत्पीड़ित शूद्रों और नारियों की रही है। इस देश में ब्राह्मणों के रूप में इतने विद्वानों, क्षत्रियों के रूप

में इतने वीरों और वैश्यों के रूप में इतने कुबेरों के होते हुए भी शूद्र और नारी अनाथ और आश्रय विहीन बन कर रहे हैं ।

भारत में किसी मनुष्य की सामाजिक विचार धारा जानने के लिए यह जान लेना पर्याप्त होता है कि उसके वर्ण व्यवस्था पर क्या विचार हैं । जहाँ तक आचार्य किशोरी दास वाजपेयी का साक्ष्य है वे अपनी पुस्तक 'संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय' में लिखते हैं—"वस्तुतः आज वर्ण व्यवस्था का नाम भर है । लाभ कुछ नहीं, हानि बहुत । सब अपने को अलग अलग समझने लगे हैं । इस अलगाव को समाप्त कर देना चाहिए । वर्ण व्यवस्था के भूत को भगाने के लिए लाल मिर्चों की धूनी भी देनी पड़े तो घबराना न चाहिए । ब्राह्मण पंडितों को चाहिए कि वर्ण व्यवस्था के हटाने में सहयोग दें ।" बाबू सम्पूर्णानन्द के 'ब्राह्मण सावधान' नामक निबन्ध पढ़ने के बाद उन्होंने लिखा था—"आगे के लोग इन निबन्धों से समझ सकेंगे कि बीसवी शताब्दी के मध्य में भी हिन्दू जाति की जात पाँत की व्यवस्था किस तरह गड़बड़ी मचा रही थी । मैं तभी से अनुभव करने लगा कि यह वर्ण व्यवस्था या जात पाँत की लकीर मिटनी चाहिए । यह साँप बन रही है ।" उन्होंने इसी पुस्तक में लिखा है—"कुछ भी हो, हमें अपनी वर्ण व्यवस्था, जात पाँत भेद तथा छूआछूत की समस्या पर पुनः विचार करना है ।" जहाँ तक उनके ब्राह्मण की बात है उनकी ओर से आचार्य वाजपेयी लिखते हैं—'हम वर्ण व्यवस्था तोड़ देने से विचलित नहीं । समाज को इसकी जरूरत नहीं तो आज तोड़ दे । टूट ही जाएगी यदि आवश्यकता नहीं । इसमें हम बाधक नहीं ।"

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी एक भिन्न सामाजिक पृष्ठ भूमि में जन्मे थे । उन्होंने यह बात अपने ढंग से कही है । ऊपर वाले कथन में वे बाह्मण ही बने रहे हैं । लेकिन यह उनकी महानता ही कही जाएगी कि उन्होंने अस्पृश्यता, जाति भेद और वर्ण व्यवस्था में अन्तर न करके डा० अम्बेदकर के समान इन तीनों को एक ही डंडे से हाँका है । उन्होंने ब्राह्मण की मेधा और त्याग की प्रशंसा की है । इसमें कुछ बुरा भी नहीं है क्योंकि ब्राह्मण भी हमारा प्यारा मनुष्य है । उसमें मनुष्य की सारी अच्छी सम्भावनाएँ विद्यमान हैं, लेकिन यह सच है कि उन्होंने वर्ण व्यवस्था का विरोध करने में कोई लाग लपेट नहीं रखी है ।

हिन्दी भाषी किसी भी भुलावे के कारण हिन्दी को संस्कृत नहीं बनने देना चाहते हैं । हिन्दी भाषा अपने एक भी शब्द और अपनी एक भी बनावट में कठिन नहीं रहना चाहती है । ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि हिन्दी भाषी लोग अपनी भाषा की लड़ाई सफलता पूर्वक ठीक ठीक लड़ लेंगे । हिन्दी ने फारसी से अपनी लड़ाई पूरी कर ली है । अंग्रेजी को इसने कानून के सैद्धान्तिक और ईमान दारी के पक्ष में हटा ही

दिया है । अब इसका संघर्ष केवल संस्कृत से रह गया है । यह दुःख की बात है कि जब हिन्दी को संस्कृत से सहयोग प्राप्त करना था, संस्कृत की अतिक्रमणता के कारण हिन्दी को संस्कृत से बचने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है ।

अन्त में कहा जाए कि हिन्दी ने संस्कृत से तथा संस्कृत के व्याकरण से अपनी मुक्ति बहुत पहले ले ली थी । लेकिन अब हिन्दी के राज भाषा बनते ही संस्कृत ने फिर इसकी आत्मा पर कब्जा कर लेने की सोच ली है । हिन्दी को यह मुक्ति पुनः प्राप्त करनी है ।

अध्याय—10

डा० रघुवीर : हिन्दी में हस्तक्षेप

डा० रघुवीर ने संस्कृत भाषा से 20 उपसर्ग, 80 प्रत्यय और 500 धातुएँ ले कर हिन्दी की शब्द ग्रहण शक्ति की मजाक उड़ानी चाही है । एक तरह से उन्होंने हिन्दी को शब्द रचना की दृष्टि से एक बांझ भाषा सिद्ध करना चाहा है । संस्कृत प्रत्ययों के लोभ में वे इस हद तक गए हैं कि जब संस्कृत में प्रत्ययों की कमी दिखाई दी तो उन्होंने संस्कृत के अनुकरण पर नए प्रत्यय खड़े कर लिए थे। संस्कृत के इन बहु चर्चित उपसर्गों और प्रत्ययों का आगे थोड़ा अध्ययन कर लिया जाना चाहिए ।

जब हम हिन्दी के लिए शब्द निर्माण की बात करते हैं तो हमें सबसे पहले हिन्दी उपसर्गों की ही बात करनी चाहिए । हिन्दी के पास उपसर्गों का बहुत बड़ा खजाना है; उसे अपने इस पूरे खजाने का लाभ उठाने का अवसर मिलना चाहिए । यहाँ हिन्दी उपसर्गों की चर्चा में संस्कृत के उपसर्गों को हटाने की बात नहीं है । केवल यह कहा जा रहा है कि संस्कृत के वे उपसर्ग जो हिन्दी ने अपना लिए हैं हर मतलब के लिए हिन्दी के अपने उपसर्ग हैं । उन्हें बार बार संस्कृत के उपसर्ग बता कर याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है। वे संस्कृत के उपसर्ग होंगे, कभी रहे होंगे, आज भी चलते होंगे, लेकिन अब वे हिन्दी के अपने उपसर्ग हैं ।

हिन्दी के उपसर्गों को संस्कृत के संबंध से इतनी सफाई से क्यों कहा जा रहा है ? उत्तर दिया जा सकता है कि ऐसा संस्कृत के सर्व ग्रासी भ्रम जाल से बचने के उद्देश्य से कहा जा रहा है । प्रकारान्तर से इसमें यह बताने का प्रयत्न किया जा रहा है कि अरबी, फारसी और अंग्रेजी के भी अनेक उपसर्ग हिन्दी के अपने हैं । अन्य भाषाओं के उपसर्ग, यदि वे हिंन्दी में प्रयोग किए जाते हैं तो हिन्दी के अपने उपसर्ग कहे जाएँग । अन्य भाषाएँ हिन्दी को यह बताने न आएँ कि हिन्दी के अपने उपसर्ग कौन से हैं । हिन्दी अरबी और फारसी भाषाओं को यह अधिकार नहीं देती है कि वे हिन्दी से यह कहें कि हिन्दी संस्कृत के उपसर्गों को अपने कोश से निकाल दे । इसी प्रकार, हिन्दी संस्कृत को यह अधिकार नहीं देती है कि वह हिन्दी से कहे कि हिन्दी अरबी और फारसी के उपसर्गों को अपने कोश से निकाल दे । जो हिन्दी की आत्मा के अनुरूप नहीं हैं, हिन्दी ने वे उपसर्ग चाहे संस्कृत के हों, चाहे अरबी और फारसी के हों, पहले ही [illegible] नहीं किए हैं । जो इसे अच्छे लगे हैं, इसने बिना संस्कृत, अरबी या फारसी

का ध्यान दिए स्वयं अपना लिए हैं। हिन्दी ने कई उपसर्ग अंग्रेजी के भी अपना लिए हैं।

हिन्दी अपने घर में दूसरों की सांस्कृतिक लड़ाई को पसन्द नहीं करती है। हिन्दी की प्रकृति किसी से लड़ने की नहीं है। यह शब्दों को स्वीकार करने की भाषा है। इसे दूसरी भाषाओं के शब्दों को नकारने में आनन्द नहीं आता है। वैसे भी, इस देश में हजारों वर्षों की ऐतिहासिक मुसीबतों के बाद हमारे पास हिन्दी भाषा की महान सम्पत्ति के सिवा बचा ही क्या है ? हम भारतीय लोग बहुत रोए और चिल्लाए हैं, लेकिन उस रोने और चिल्लाने में जो महान चीज प्राप्त कर गए हैं वह हिन्दी है। अन्य भारतीय भाषाएँ भी इसी महानता में सम्मिलित है पर हिन्दी ने इसमें विशेष दक्षता प्राप्त की है।

2

यह अच्छा होगा कि डा० रघुवीर के भाषा चिन्तन पर कुछ अधिक चर्चा कर ली जाए। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक विचार दिया है। उस विचार की मानसिकता को अच्छी तरह समझ और परख लिया जाना चाहिए।

डा० गार्गी गुप्त के सम्पादन में एक पुस्तक 'पारिभाषिक शब्दावली की विकास यात्रा' है। इसमें डा० रघुवीर का 'पारिभाषिक शब्द' शीर्षक से एक लेख संग्रहीत है। यह कुल सात पृष्ठों का लेख है लेकिन इसमें डा० रघुवीर के चिन्तन का सार रूप में सब कुछ समाहित है। इस लेख को पढ़ने के बाद इस विचार को समझने के लिए मन में कोई शंका नहीं रह जाती है।

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करते हुए डा० रघुवीर ने कहा है कि "जिन शब्दों की सीमा बांध दी जाती है वे पारिभाषिक शब्द हो जाते हैं और जिनकी सीमा नहीं बांधी जाती वे साधारण शब्द होते हैं।" इसमें यह एक मतान्तर की बात रह जाती है कि कुछ विद्वान सभी शब्दों को पारिभाषिक शब्द मानते हैं। यह जो पारिभाषिक और साधारण शब्दों का अन्तर बताया जाता है इसके पीछे बहुत गहरी मानसिकता छिपी है जो बहुत बुरी भी हो सकती है। पूछा जा सकता है—क्या भाषा में कोई भी शब्द निरर्थक होता है ? क्या कोई भी भाषा अर्थ-हीन शब्दों को ढोने का काम करेगी ? वस्तुतः हर शब्द का एक अर्थ होता है। जब किसी शब्द का कोई अर्थ होता है तो वह अर्थ निश्चित ही होता है। वह निश्चित अर्थ ही उस शब्द की परिभाषा है। फिर, किसी शब्द की परिभाषा करने का क्या लाभ है ? क्या उस परिभाषा का किसी

सामाजिक प्रयोग या मानवीय अनुभूति से कोई संबंध नहीं बनता है ? परिभाषा का उद्देश्य किसी ज्ञान को केवल व्यवस्थित करने तक सीमित है । यदि वह अर्थ बिना किसी परिभाषा के लोगों को सीधे समझ में आने लगे तो फिर उस परिभाषा की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती है ।

जिन्हें डा० रघुवीर साधारण शब्द कहते हैं, क्या वे सच में सबके लिए साधारण शब्द हैं ? क्या डा० रघुवीर हिन्दी के साधारण शब्दों को वास्तव में इस अर्थ में साधारण कह सकते हैं कि उन्हें उनका ज्ञान है ? क्या पारिभाषिक शब्दावली को जानने वाला मनुष्य साधारण शब्दावली के जानने वाले मनुष्य से भिन्न होता है ? क्या विद्वान और साधारण मनुष्य सदा अलग अलग रहने वाले जीव हैं ? क्या इनकी कभी तालमेल नहीं हो सकती ? सच यह है कि डा० रघुवीर की परम्परा को मानने वाले विद्वानों के सामने साधारण पुकारे जाने वाले शब्दों में से ऐसे अनेक शब्द रखे जा सकते हैं जिनके अर्थ उनकी परम्परा के तमाम लोगों में आज तक किसी ने नहीं जाने हैं । ऐसा अनुभव दूर का नहीं है जब साधारण कहे जाने वाले शब्दों के आधार पर रची गई कविता का अर्थ विद्वान लोग नहीं समझ पाते हैं । तब ऐसी साधारण हिन्दी को हिन्दी के विद्वान अपने लिए लैटिन और फ्रेंच कहने लगते हैं । असल में कोई भी शब्द जो नया होता है अपना अर्थ ज्ञात करवाने की समस्या लिए हुए आता है । पता नहीं, डा० रघुवीर की परम्परा के लोग गाँवों में बोले जाने वाले इन चार शब्दों—'रस्सी, कढ़ेर, नेजू और नेती' के क्या अर्थ लेते होंगे । ये चारों शब्द किन्हीं भी पारिभाषिक शब्दों से कम नहीं हैं । हो सकता है, डा० रघुवीर की परम्परा के लोगों के सामने यदि ये चारों चीजें 'रस्सी, कढ़ेर, नेजू और नेती' एक साथ मिला कर रख दी जाएँ तो वे इन्हें अलग अलग नामों से छाँट नहीं पाएँगे ।

डा० रघुवीर ने पारिभाषिक शब्दों के सरल होने की संभावना को ही मिटा दिया है। इसमें उन्होंने भारत के तत्कालीन प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू के इस विचार का कि पारिभाषिक शब्दावली सरल होनी चाहिए, यह कहते हुए विरोध किया है कि "यह बात चलेगी नहीं । पारिभाषिक शब्दावली तो कभी सरल हो ही नहीं सकती ।" उन्होंने अपने विचार क्रम को जारी रखते हुए कहा है कि "यह हो सकता है कि बच्चों को सिखाने के लिए आप भाषा सरल कर दें किन्तु पारिभाषिक शब्द सरल नहीं हो सकते ।" आगे उन्होंने व्याख्या करते हुए कहा है कि "सरल उन शब्दों को कहते हैं जो बिना पढ़े लिखे लोग, कुली, बच्चे, गाँव के लोग आदि ही समझते हैं ।"

अभी डा० रघुवीर के लेख का पहला पृष्ठ भी समाप्त नहीं हुआ था कि वे अपनी मानसिकता को पूरी तरह से उजागर कर गए हैं । वे बिना पढ़े लिखे लोगों का अपमान करना चाहते थे और इतनी जल्दी कर भी गए हैं । असल में यह भारतीय चिन्तन की हद दर्जे की गरीबी रही है कि इसमें लोगों को अनपढ़ माना और रखा

गया है। इसमें बिना पढ़े लिखे लोग, कुली, गाँव के लोग आदि सम्मिलित किए गए हैं। हम इसमें प्रयुक्त 'आदि' शब्द की अगली खोज के विस्तार में न भी पड़ें, डा० रघुवीर द्वारा किया गया ग्रामीण लोगों की भाषा का अपमान उजागर हो जाता है। इस वाक्य में यह भी एक विचित्र स्थिति है कि इन सरल शब्दों को गाँव के लोग 'ही' समझते हैं। यहाँ 'ही' शब्द पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि इन सरल शब्दों को शहरी विद्वान नहीं समझते हैं, या उनसे इनके समझने की अपेक्षा नहीं रखी जाती है। यहीं से समाज में विशिष्ट वर्ग और साधारण वर्ग का भेद स्पष्ट हो जाता है। शायद, डा० रघुवीर नए भारत की इन आशाओं और स्वप्नों को बिल्कुल नजर अन्दाज कर गए हैं कि अब इस देश में कोई नागरिक अनपढ़ नहीं रह पाएगा। अब इस देश में केन्द्र सरकार, राज्य सरकारें तथा अन्य स्वैच्छिक संस्थाएँ पुराने कलंक को धोते हुए इस पुनीत कार्य में लगी हुई हैं कि देश में कोई मनुष्य निरक्षर न रह जाए। प्रश्न है, जब इस देश में कोई भी नागरिक निरक्षर नहीं रह जाएगा, जब कुली भी पढ़े लिखे मनुष्य होंगे, जब गाँव के लोग शास्त्रों का निर्माण करने लगेंगे, तब सरल शब्दों को बोलने वाला और समझने वाला कौन रह जाएगा? क्या तब हमारी भाषा से सरल शब्द मिट जाएँगे? क्या हमारी शिक्षा के प्रसार का यही उद्देश्य है? या क्या इन सरल शब्दों के बचाव के लिए हम गाँव के लोगों को लगातार अनपढ़ रखते चले जाएँगे? आखिर डा० रघुवीर के चिन्तन की चाहत क्या है?

जटिल पारिभाषिक शब्दों के बचाव में डा० रघुवीर अपने शिष्यों और अनुयायियों को समझाते हुए कहते हैं—"जब भी आपके सामने यह बात आए, आप अपने अधिकारियों को समझाइए कि सरल भाषा करने का अर्थ होगा पारिभाषिक भाषा का पारिभाषिकपन समाप्त करना।" इस उद्धरण से एक बहुत गम्भीर बात सामने आती है। शायद डा० रघुवीर को पारिभाषिक शब्दों की इतनी चिन्ता नहीं है जितनी उनको कठिन और जटिल बनाने की चिन्ता है। इससे पता चलता है कि उनके मन में यदि कोई पारिभाषिक शब्द भूल से भी सरल बन जाए तो वे उसे नकार कर नए सिरे से जटिल बनाएँगे। यह हिन्दी भाषा के लिए बहुत भयानक मनोवृत्ति है कि किसी शब्द का पारिभाषिक होना उसकी जटिलता में ही मान लिया गया है। इसमें किसी भी पारिभाषिक शब्द के सरल बनने की भावी संभावनाओं को भी नष्ट कर दिया गया है।

यदि डा० रघुवीर के चिन्तन को समझने में कुछ और आगे बढ़ा जाए तो पता चलता है कि वे अंग्रेजी भाषा का विरोध करने में अंग्रेजी भाषा की अंग्रेजियत को पूरी तरह स्वीकार कर गए हैं। उन्होंने माना है कि "अंग्रेजी की प्रत्येक अर्थ छाया के लिए हिन्दी भाषा में भी नया शब्द होना चाहिए। यह कह कर उन्होंने हिन्दी भाषियों के सामने बहुत बड़ी मुसीबत खड़ी कर दी है कि हर अंग्रेजी शब्द के लिए हिन्दी में

एक शब्द होना चाहिए और वह नया तथा पृथक भी होना चाहिए। हिन्दी भाषी किसी तरह पहली शर्त को मान भी लें, पर यह दूसरी शर्त हिन्दी भाषा को बिलकुल पंगु बना कर छोड़ देती है। किसी भी हिन्दी भाषी का यह प्रश्न सही है कि प्रचलित शब्द प्रयोग में क्यों न लाया जाए।

डा० रघुवीर ने अपने पक्ष में दलील दी है—"अंग्रेजी के तीन शब्द हैं : पहला 'प्रीरोगेटिव', दूसरा 'राइट' और तीसरा 'प्रिविलेज'। साधारण दृष्टि से ये तीनों एक जैसें शब्द हैं, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से तीनों अलग अलग। जब अंग्रेजी में ये तीन शब्द हैं तो इनके स्थान पर हिन्दी में भी कम से कम तीन शब्द होने चाहिए।" पता नहीं, डा० रघुवीर का इस 'कम से कम' का क्या विशेष अर्थ है ? हो सकता है, वे अंग्रेजी के इन तीनों शब्दों के लिए हिन्दी में तीन से अधिक शब्द भी रखने चाहते हों। हम उनकी तीन शब्दों से आगे बढ़ने की बात को छोड़ें, केवल तीन शब्दों पर ही आ कर रह जाएँ। उन्होंने लिखा है—"जो सामान्य लोग हैं उनका तो एक शब्द से काम चल जाएगा लेकिन जो विशेषज्ञ हैं उनको तीन शब्द ही चाहिए। उनका एक शब्द से काम नहीं चलेगा।"

बिना अधिक तर्क दिए कोई भी हिन्दी भाषी कह सकता है कि डा० रघुवीर की ऊपर कही गई बात एकदम गलत है। डा० रघुवीर ने बिना कोई तर्क दिए केवल अंग्रेजी के अनुकरण पर कहा है कि अंग्रेजी के तीन शब्दों के लिए हिन्दी में अनिवार्य रूप से कम से कम तीन शब्द होने चाहिए, लेकिन हिन्दी भाषी अपनी भाषा की प्रकृति के आधार पर कह सकते हैं कि हिन्दी में अंग्रेजी के तीन शब्दों के लिए एक शब्द मे काम चल सकता है।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग ने अपनी 'अंग्रेजी-हिन्दी समेकित प्रशासन शब्दावली' में अंग्रेजी के इन तीनों शब्दों के हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। इसके अनुसार 'प्रीरोगेटिव' को 'परमाधिकार', 'राइट' को 'अधिकार' तथा 'प्रिविलेज' को 'विशेषाधिकार' कहा गया है। मैं कहना चाहता हूँ कि हिन्दी में अंग्रेजी के इन तीन शब्दों के लिए एक ही शब्द 'अधिकार' पर्याप्त है। जिस जिस मनुष्य के लिए, इसका जिस जिस परिस्थिति में जैसा प्रयोग किया जाएगा, इसका आगे वैसा अर्थ निकलता रहेगा। आगे कानूनों की बात रह जाती है कि अलग अलग लोगों के अलग अलग अधिकार होते हैं। जो राष्ट्र पति का अधिकार होता है, वह ग्राम सभा के प्रधान का अधिकार नहीं हो सकता। उन दोनों पदों के अधिकारों के क्षेत्र अलग अलग हैं। 'राष्ट्र पति का अधिकार' कहने से ही लोग समझ जाते हैं कि उस अधिकार का अर्थ क्या होता है। जिन्हें इस विषय से सम्बन्ध नहीं है, उनके लिए इसे परमाधिकार या विशेषाधिकार कहने से भी कोई लाभ नहीं है, और जिन्हें इससे कुछ वास्ता पड़ता है, वे राष्ट्र पति के अधिकार से ही पूरे अर्थ को समझ जाएँगे।

कानून के शब्दों का अर्थ किसी कानून के अन्तर्गत ही निकलता है। उसके लिए धारा और उप धारा, नियम और उप नियम होते हैं। भारतीय दंड संहिता में हत्या हत्या होती है। अलग अलग प्रकार की हत्याओं के लिए अलग अलग धाराएँ हैं। अब अर्थ की स्पष्टता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि अलग अलग धाराओं और उप धाराओं के अन्तर्गत हत्या के लिए अलग अलग शब्द दिए जाएँगे। लेकिन यदि डा० रघुवीर की बात मानी जाए तो ऐसे काम के लिए सबसे पहले हत्या शब्द को हटा कर 'वध' कहना पड़ेगा। फिर उसमें संस्कृत के उपसर्ग लगाने पड़ेंगे। डा० रघुवीर ने 20 उपसर्ग लिए हैं। यदि इन बीसों उपसर्गों का प्रयोग करना पड़े तो पहली ही खेप में बीस प्रकार के वध बन जाएँगे। फिर डा० रघुवीर की ही पद्धति के अनुसार इस प्रकार के शब्द बनते चले जाएँगे—अतिवध, अधिवध, अववध, अनुवध, अपवध, अभिवध, आवध, उतवध, उपवध, दुर्वध, निवध, परिवध, प्रतिवध, विवध, संवध, सुवध। यदि इतने प्रकार के वधों से काम न चले तो फिर अगले वध इस प्रकार बनाए जा सकते हैं—उपातिवध, उपाधिवध, उपोवध, उपाववध, उपानुवध, उपाभिवध आदि। यदि कम्पयूटर ले कर बैठा जाए तो इस पुस्तक के अगले पृष्ठों पर कई हजार प्रकार के वध मिनटों में बना कर रखे जा सकते हैं। यही हिन्दी के साथ डा० रघुवीर के सिद्धांत ने मजाक की है। एक हत्या हो गई है, अब यह काम कानून के लोगों के देखने का है कि 'हत्या' भारतीय दंड संहिता की किस धारा के अन्तर्गत हुई है। उस विशेष धारा या उप धारा के अन्तर्गत की गई हत्या के लिए उपसर्ग लगा कर नया तकनीकी नाम देने की कौन सी आवश्यकता पड़ जाती है? इससे एक हिन्दी भाषी को क्या लाभ होगा कि वह संवध हुआ है या विवध या उपवध? ऐसा करना मात्र हिन्दी भाषा को बिगाड़ कर रख देने के बराबर होगा। हिन्दी भाषी के लिए इतना कहना पर्याप्त होगा कि अमुक हत्या भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अन्तर्गत हुई है। शायद, डा० रघुवीर को अंग्रेजी भाषियों से इस बात की शिकायत रही हो कि उन्होंने 'मर्डर' के लिए पचास प्रकार के मर्डरों के भिन्न भिन्न पचास नाम क्यों नहीं दिए हैं। वे अपने 20 उपसर्गों तथा 80 प्रत्ययों को लिए बैठे हैं, पर उनका 'हत्या' के सम्बन्ध से उपयोग नहीं हो सका है।

यह कोई शब्द निर्माण नहीं है कि चाकू से की गई हत्या को 'उपवध', गंडासे से की गई हत्या को 'अनुवध', और गोली से की गई हत्या को 'अतिवध' कहा जाए। फिर 6 इंच के फलक के चाकू से की गई हत्या को 'अनुउपवध', 7 इंच के फलक के चाकू से की गई हत्या को 'उपोपवध', और 6.5 इंच के फलक के चाकू से की गई हत्या को 'अनुउपोपवध' कहा जाए। ऐसे शब्दों के निर्माण से वकील और जजों में यही बहस होती रहेगी कि यह 'अनुउपवध' हुआ या 'उपोपवध' हुआ या 'अनुउपोपवध' या 'लघु अनुउपोपवध' हुआ। यह आम भाषा के साथ मजाक ही कही जाएगी।

बात परमाधिकार, विशेषाधिकार और अधिकार की चल रही थी। हिन्दी में

ऐसा कभी नहीं हो सकता कि कोई अधिकार मात्र अधिकार रहता है। अधिकार किसी न किसी का अधिकार होता है। जब राष्ट्र पति का अधिकार अपने आप में ही परमाधिकार होता है, फिर उसे परमाधिकार कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। भारत के राष्ट्र पति ने संविधान के अनुच्छेद 78 के अनुसार अपने अधिकार का प्रयोग किया—हिन्दी भाषी के लिए इतना जानना पर्याप्त है। कम्पनी अधिनियम की धारा 251 (अ) में अंग्रेज़ी में 'प्रिविलिज्ड कम्यूनिकेशन' की बात आई है। इसका अनुवाद 'विशेषाधिकार प्राप्त संसूचना' किया गया है। यहाँ गनीमत है कि इसे 'विशेषाधिकृत संसूचना' नहीं कहा गया और बीच में 'प्राप्त' शब्द का उपयोग किया गया है। इसे सीधे 'अधिकार प्राप्त सूचना' कहा जा सकता था। इसे 'प्राधिकृत सूचना' के स्थान पर 'अधिकृत सूचना' भी कहा जा सकता था। इसमें विशेषाधिकार तथा संसूचना का अर्थ इसका संदर्भ स्वयं देता है। जब कम्पनी अधिनियम की धारा 251 (अ) की बात चल रही है तो इसका अर्थ वही होगा जो उस कानून की पुस्तक में है। उसे 'सूचना' कहें या 'संसूचना' कहें—इसका अर्थ एक ही रहना है। मात्र 'सूचना' शब्द से ही हिन्दी भाषी की संतुष्टि हो जाती है, क्योंकि जब कानून की बात चल रही है तो 'सूचना' शब्द का विशिष्ट अर्थ वही होगा जो उस पुस्तक में अपेक्षित है। समाचार पत्र की सूचना, दूर दर्शन की सूचना, रेडियों की सूचना, सरकार की सूचना—ये सभी प्रकार की सूचनाएँ हैं। इन्हें समाचार पत्र की विसूचना, दूर दर्शन की अभिसूचना, रेडियो की अनुसूचना तथा सरकार की अधिसूचना कहना हिन्दी की दृष्टि से उचित नहीं है। सबसे बुरी बात तब होगी जब इन रँग रूटी शब्दों के आधार पर यह बहस होगी कि वह 'विसूचना' थी या 'अभिसूचना' या 'अनुसूचना' या 'अधिसूचना'। फिर समाचार पत्र, दूर दर्शन, रेडियो और सरकार पीछे रह जाएँगी।

3

अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी में अनुवाद करने के काम में डा० रघुवीर से हिन्दी के अहित में एक काम और हो गया है। वे कहते हैं—"इन्सपेक्टर, यद्यपि यह एक शब्द है, लेकिन इसके तीन अंग हैं और इन तीनों अंगों के अलग अलग अर्थ हैं।" स्पष्ट है, हिन्दी के लिए यह अंग्रेजी की पिछलग्गू बनने की धारणा हो गई है। इसमें शब्दों का अनुवाद करने के बजाय उन शब्दों की उन भाषाओं में व्युत्पत्तियों के अनुवाद करने की बात ठान ली गई है। हिन्दी अपने भी ऐसे झंझटों से दूर रह कर सरल रास्ता अपनाती है लेकिन यहाँ अन्य भाषाओं की पेचीदगियाँ उसके साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। डा० रघुवीर

ने माना है कि धातु, उपसर्ग और प्रत्यय—इन तीनों के मिलन से सारे शब्द बनते हैं। इसी आधार पर वे हिन्दी के विरोध में हिन्दी की सर्वथा विपरीत धारणा पर पहुँच गए हैं कि एक शब्द में कई अंश एक साथ हो सकते हैं। उन्होंने कहा है—"यह आवश्यक नहीं कि शब्द में तीनों अंश हों। एक भी हो सकता है, दो भी हो सकते हैं, तीन भी हो सकते हैं, चार भी हो सकते हैं, और पाँच भी हो सकते हैं—लेकिन शब्द एक रहेगा।" यहाँ, एक, दो, तीन तक बात मानी भी जा सकती थी लेकिन डा० रघुवीर इसे खींच कर चार और पाँच तक भी ले गए हैं। ऐसे समय डा० रघुवीर से पूछा जा सकता है कि ठीक है, शब्द में ये अंश छह, सात और आठ भी हो सकते हैं पर उस समय वह शब्द हिन्दी भाषा का भी रहेगा या नहीं। शब्द हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप बनाने हैं या संस्कृत की प्रकृति के अनुरूप? इसलिए, इस पर प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है कि संस्कृत के आधार पर निर्मित कोई शब्द हिन्दी में चल सकेगा कि नहीं।

इस लेख में एक जगह डा० रघुवीर को हिन्दी के पक्ष में तरस आ गया लगता है। जब वे हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों के लिप्यन्तरण का विरोध करते हैं, अपने पक्ष में यह तर्क देते हैं कि हमारे शब्दों की ध्वनि में आरम्भ में 'क्क' और 'स्ट' नहीं आते हैं। अंग्रेजी के शब्दों में ये ध्वनियाँ खूब आती हैं। इसलिए अपनी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध बनावट के शब्दों को नहीं लिया जाना चाहिए।

ऊपर कही गई बात ठीक लगती है लेकिन इसका कुछ और स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए। पूछा जा सकता है कि जब वे हमारी भाषा की ध्वनि की बात कर रहे हैं तो इसमें संस्कृत की ध्वनि की बात कर रहे हैं या हिन्दी की ध्वनि की बात कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो उदाहरण दिए हैं वे हिन्दी की ध्वनि के नहीं लगते हैं। हिन्दी स्वयं संस्कृत के ऐसे शब्दों से लड़ती आ रही है जिनकी आद्य ध्वनि हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप नहीं है। अंग्रेजी के 'क्क' तथा 'स्ट' को स्वयं डा० रघुवीर ने हिन्दी के लिए नकारा है, पर संस्कृत के 'स्क', 'स्ख', 'स्त', 'स्थ', 'स्न', 'स्प', 'स्फ', 'स्म', 'श्न', श्म' और 'ष्ठ' से आरम्भ होने वाले शब्द हिन्दी के लिए क्या हैं? हिन्दी भाषी बहुत दिनों से 'स्नान' को 'अस्नान' कहते और लिखते आ रहे हैं। जब अंग्रेजी के 'स्ट' के मिटाने की बारी आती है, हिन्दी भाषियों को अवसर मिले तो वे इसका लाभ उठा कर संस्कृत की इस प्रकार की तमाम ध्वनियों से भी छुटकारा प्राप्त कर लेना चाहेंगे। हिन्दी शब्द कोशों में संस्कृत के स्कन्न, स्खदन, स्तंबक, स्तु, स्त्यान, स्त्र्याख्या, स्थाणव, स्थाप्याहरण, स्नुषाग, स्पर्शाज, स्पृहय, स्फिग्घातनक, स्मर्तव्य, श्मश्रु, प्द्यूत शब्द किसी भी अर्थ में हिन्दी शब्द कोशों की शोभा नहीं बढ़ाते हैं। ये शब्द ज्ञान मण्डल लिमिटेड बनारस, से प्रकाशित 'वृहत हिन्दी कोश' से लिए गए हैं। इसमें शब्द संख्या 1,40,300 गिनाई गई है। शब्दों की संख्या बढ़ाने के इस प्रकार के अनावश्यक प्रयत्न से कोई भाषा बढ़ती नहीं हैं बल्कि संकुचित हो कर मिट जाती है। हिन्दी में

जबर्दस्ती अन्य भाषाओं के शब्द ले कर इसे आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। कोई भी भाषा अपनी प्रकृति के अनुरूप रह कर ही आगे बढ़ सकती है।

हिन्दी में अंग्रेजी के शब्दों को स्वीकारने या न स्वीकारने में डा० रघुवीर ने अक्षर ही गिने हैं जो संस्कृत की वार्णिक परम्परा की गिनती है। उन्होंने अंग्रेजी के 'इण्डस्ट्रिलाइजेशन' में आठ अक्षरों की संख्या बताई है। उन्होंने ठीक ही कहा है कि कि इतना लम्बा शब्द हिन्दी के लिए भारी पड़ता है, इस लिए हिन्दी में नहीं अपनाया जा सकता। लेकिन हिन्दी के शब्दों में बात केवल अक्षरों की नहीं है बल्कि मात्राएँ गिनने की है। 'इण्डस्ट्रिलाइजेशन' में संस्कृत के आधार पर आठ वर्ण हो सकते हैं, परन्तु हिन्दी के हिसाब से बारह मात्राएँ होती हैं। हिन्दी इतने बड़े शब्दों को अपना कहे, इसकी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती। वास्तव में, हिन्दी भाषी के लिए संस्कृत का शब्द 'आवश्यकतानुसार' भी अंग्रेजी के 'इण्डस्ट्रिलाइजेशन' से कम छोटा नहीं है। इसमें भी संस्कृत के आठ वर्ण तथा हिन्दी की बारह मात्राएँ हैं। हिन्दी के लिए संस्कृत और अंग्रेजी के ये दोनों शब्द बनावट, उच्चारण और लिपि की दृष्टि से कठिन शब्द हैं।

डा० रघुवीर ने नए शब्दों के निर्माण के लिए एक सिद्धान्त यह रखा है कि "सामान्य रूप से मूल शब्द की लम्बाई चार अक्षर की होनी चाहिए।" उन्होंने शब्द निर्माण की एक दूसरी सीमा भी बांधी है कि "एक शब्द में दो से अधिक संयुक्त अक्षर नहीं होने चाहिए।" इसमें डा० रघुवीर से कहा जा सकता है कि संस्कृत में वे चाहे चार वर्ण के शब्द में चारों ही संयुक्ताक्षर रख लें, पर हिन्दी के मिजाज की सन्तुष्टि के लिए हिन्दी के शब्द में एक भी संयुक्ताक्षर का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। फिर, हिन्दी का कोई भी शब्द पाँच मात्राओं से अधिक का नहीं होना चाहिए। छह मात्राएँ बनते ही उसे दो शब्दों में विभाजित कर दिया जाना चाहिए।

इस लेख के अन्त की ओर जाते हुए डा० रघुवीर ने संस्कृत के सम्बन्ध में अपने मन की बात कह डाली है जो उन्हें इस लेख के प्रारम्भ में ही कह देनी चाहिए थी। उन्होंने लिखा है—"हमारी संस्कृति, भाषा और परम्परा का सम्बन्ध संस्कृत से है। जिस भाषा का सम्बन्ध हमारे जीवन, इतिहास और सभ्यता से हो, उसी प्रकार की भाषा और सभ्यता हम प्राप्त करते हैं। इसे हम 'आकर' भाषा कहते हैं। हमारी आकर भाषा संस्कृत है। बहुत से लोगों को यह बात बुरी लगती है। लेकिन जिनको यह बात बुरी लगती है वे इस देश की भाषा को नहीं जानते।" सच में देखा जाए तो डा० रघुवीर ने यह 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' वाली बात कह दी है। क्या ऐसी घोषणा करने से पहले उन्होंने भारत के शूद्रों और नारियों से कोई मंत्रणा कर ली थी? इस देश में संस्कृत भाषा कुछ हजार लोगों की शास्त्री भाषा रहती होगी। इसे इस प्रकार करोड़ों लोगों के ऊपर जबरन नहीं लाद देना चाहिए। ऐसा कह कर

डा० रघुवीर भारत के असंस्कृतज्ञों की पहचान मिटा रहे हैं। तर्कों का ऐसा सामान्यकरण तर्क की हत्या के समान है। पिछले हजार वर्षों से कोई शूद्र संस्कृत भाषा नहीं जानता लेकिन उसकी भाषा भी संस्कृत बताई जा रही है।

अपने इस लेख में डा० रघुवीर ने स्वयं यह बात स्वीकार की है कि हमारा हिन्दी जगत नए शब्दों से घबराता है। लेकिन बजाय हिन्दी भाषियों की इस घबराहट को मिटाने के उन्होंने इसे बढ़ाया ही है। उन्हें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए था कि आखिर हिन्दी भाषियों में यह घबराहट क्यों पैदा होती है। उन्हें इस कारण को जानने के बाद हिन्दी भाषियों की घबराहट का निदान प्रस्तुत करना चाहिए था। सच्ची बात यह है कि हिन्दी भाषी नए शब्दों से नहीं घबराते हैं, उन्होंने संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी के हजारों शब्द अपना लिए हैं। इसके विपरीत, उन्हें जो घबराहट हुई है वह संस्कृत के आधार पर हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध बना कर हिन्दी में चलन के लिए दिए गए डा० रघुवीर के शब्दों से है। संस्कृतज्ञों को यह बात समझनी चाहिए कि गणित के फैक्टोरियल के सिद्धान्त पर बनाए गए संस्कृत के रँगरूटी शब्दों की तुलना में हिन्दी अंग्रेजी के शब्दों को लिप्यन्तरित करके ज्यों के त्यों लेने को अधिक तैयार है।

डा० रघुवीर ने एक ही भाषा में दो भाषा के सिद्धान्त को बार बार दोहराया है। वे लिखते हैं—"भाषाएँ दो प्रकार की होती हैं—नैसर्गिक और कृत्रिम भाषा। नैसर्गिक भाषा वह है जो अपने आप निकले और स्वाभाविक रूप से जनता की भाषा हो। कृत्रिम भाषा विज्ञान की भाषा होती है। वह वैज्ञानिकों द्वारा बनाई जाती है। इसे वैज्ञानिकों और विद्वानों ने सोच सोच कर बनाया है। जो भाषा चिन्तन द्वारा बनाई जाएगी उसमें ग्रामीणता का अभाव निश्चित ही रहेगा।" इस उद्धरण के आधार पर डा० रघुवीर से पूछा जा सकता है कि उनकी इस बात का इतना ही अर्थ है या इससे भी अधिक आइस वर्ग का आठ बटा नौ उनके मन में छिपा हुआ है? सामान्य भाषा और विज्ञान की भाषा में उतना ही अन्तर होना चाहिए जितना सामान्य मनुष्य का विज्ञान से सम्बन्ध नहीं है। यदि सामान्य मनुष्य का विज्ञान से तनिक भी सम्बन्ध बनता है तो उतने भर के लिए सामान्य मनुष्य के लिए विज्ञान की भाषा भी उसकी सामान्य भाषा का अंग हो जाना चाहिए—विज्ञान की कोई भी भाषा सामान्य भाषा का विस्तार ही होना चाहिए, इससे अधिक कुछ नहीं। वह केवल परिमाणात्मक परिवर्तन की बात है और किसी गुणात्मक परिवर्तन की नहीं। यदि भाषा में गुणात्मक

परिवर्तन होता है तो वह केवल साहित्य के क्षेत्र में लक्षणा और व्यंजना की शब्द शक्तियों के आधार पर ही सकता है जब कि उनका शब्द भी अभिधा पर ही अवलम्बित रहता है। जब कि विज्ञान की भाषा केवल अभिधा की भाषा है, उसे अर्थ की दृष्टि से जटिल नहीं बनने देना चाहिए। लेकिन डा० रघुवीर जिस विज्ञान की भाषा की बात कर रहे हैं वह ग्रामीण जनता का अपमान करके अलग और सोच समझ कर जटिल बनाने की भाषा है। वैसी भाषा सामान्य जनता के लिए ही नहीं बल्कि स्वयं विज्ञान के विद्यार्थियों और विद्वानों के लिए भी जान बूझ कर जटिल हो जाती है। पता नहीं, डा० रघुवीर अपने जीवन में विज्ञान के कितने बड़े विद्यार्थी रहे थे, लेकिन संसार के सारे वैज्ञानिकों का उद्देश्य अपनी बात को अधिक सरल और स्पष्ट बना कर रखने का रहा है। फिर, विज्ञान की भाषा की बात छोड़ दी जाए, इस देश में धर्म की भाषा भी, जिसे जनता के साथ रह कर बहुत सरल होना चाहिए था, बहुत जटिल हो गई है। यहाँ की समाज व्यवस्था में सामान्य जनता को धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, कला और विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र से अलग रखा गया है। आखिर, सामान्य जनता सामान्य जनता ही बन कर क्यों रहनी है ? समाज के हर व्यक्ति को किसी विशिष्ट क्षेत्र का विशिष्ट व्यक्ति क्यों नहीं बनाया जाता ? वर्णाश्रम व्यवस्था की जाति परक समाज व्यवस्था के पक्ष धर इस प्रश्न का वही पारम्परिक उत्तर देंगे कि सामान्य मनुष्य में ज्ञान ध्यान की क्षमता नहीं होती है। यह वही समाज दर्शन है जिसने शूद्रों के रूप में अधिकांश जनता को केवल उच्च वर्णों की सेवा करना उनका धरती पर सबसे बड़ा धर्म बताया था।

डा० रघुवीर की नीयत का कंस्टिट्यूशनल असेम्बली की बहसों में पूरा पता चल जाता है। इन बहसों में उन्होंने अपनी दलील में साफ कहा है कि खड़ी बोली का हिन्दी से कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने हिन्दी में डिंगल, अवधी, ब्रज, भोजपुरी, बंगाली, पंजाबी, नेपाली तथा गुजराती भाषाओं को रखा है लेकिन खड़ी बोली को इसमें नहीं रखा है। उन्होंने खड़ी बोली को हिन्दुस्तानी कहा है। यह उनके अनुसार गाँव में बोली जाने वाली साधारण हिन्दी है। यहाँ उनके द्वारा कहे गए शब्द उद्धृत किए जा सकते हैं। उन्होंने कहा था—"इस सत्य से कोई इंकार नहीं कर सकता कि साहित्यिक उर्दू या ऊँची विकसित उर्दू में अरबी निष्ठ और फारसी निष्ठ शब्दों की बहुतायत है। दूसरी तरफ, हिन्दुस्तानी में साधारण हिन्दी को माना जा सकता है। साधारण हिन्दी गाँव में बोली जाने वाली हिन्दी है। मेरा मानना है कि साहित्यिक हिन्दी को हिन्दुस्तानी में नहीं मिलाया जा सकता।" उन्होंने कहा था—"हिन्दी की जड़ें उर्दू से ज्यादा विस्तृत हैं। ग्रियर्सन के शब्दों में उर्दू की जड़ें दिल्ली और मेरठ की बोली में हैं। ग्रियर्सन के अनुसार 52 लाख लोग हिन्दुस्तानी बोली बोलते हैं जबकि साहित्यिक हिन्दी का विस्तार बंगाल से पंजाब तक तथा नेपाल से गुजरात तक है। विश्व विद्यालयों का पाठ्य क्रम देखने से पता चलता है कि उसमें राजपुताने की डिंगल भाषा का साहित्य,

अवधी का साहित्य तथा अन्य बोलियों जैसे ब्रज और भोजपुरी का साहित्य है ।"

इस उद्धरण से यह भी पता चलता है कि आचार्य राम चन्द्र शुक्ल और डाक्टर रघुवीर में वैचारिक तार तम्य भी है । आचार्य शुक्ल गेंद फेंकते हैं और डाक्टर रघुवीर उसे पकड़ लेते हैं ।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में डिंगल, अवधी, ब्रज और भोजपुरी का साहित्य पढ़वाया है और डाक्टर रघुवीर ने उसका अपनी थीसिस के लिए उदाहरण के रूप में इस्तेमाल किया है ।

हिन्दुस्तानी पर दोहरा आक्रमण किया गया है । पहली बात हिन्दुस्तानी को हिन्दी नहीं माना गया है । हिन्दुस्तानी को हिन्दी और उर्दू दोनों से भिन्न भाषा माना गया है । अपने पक्ष में ग्रियर्सन की बात मान ली गई है कि हिन्दुस्तानी को 52 लाख लोग मातृ भाषा के रूप में बोलते हैं । फिर हिन्दुस्तानी को संविधान की आठवी अनुसूची में गिनाई गईं 15 भाषाओं में भी स्थान नहीं मिला है । हिन्दुस्तानी न संविधान में रही और न हिन्दी में रही है । जड़ मूल नाश हिन्दुस्तानी का हुआ है । यह हमारी आँखों के सामने हो रहा है कि विद्वानों और भाषा विदों के हाथ में पड़ने पर हिन्दी को इसके देश से निकाल कर विदेशी भाषा बना दिया गया है । यह तब है जब संविधान सभा में बहस इस बात की थी कि जिस भाषा को राज भाषा के रूप में अपनाया जा रहा है उसे हिन्दुस्तानी कहा जाएगा या हिन्दी । वहाँ भाषा पर झगड़ा नहीं था --भाषा सबके सामने एक थी—बस उसके नाम लेने पर अन्तर था । अन्त में इसे हिन्दुस्तानी के बजाय हिन्दी कहा गया था । इसी बात को ध्यान में रख कर संविधान के अनुच्छेद ने हिन्दी के साथ सबसे पहले हिन्दुस्तानी शब्द रखा था । वास्तव में हिन्दी के सिवा हिन्दुस्तानी कोई अलग भाषा नहीं है । इसी पर डाक्टर रघुवीर इतने बुरे बरसे हैं ।

इससे भारतीय भाषाओं के पुराने इतिहास को भी समझा जा सकता है । आज हम पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के मूल उद्गम स्रोतों को ढूँढ़ नहीं पा रहे हैं । इसका कारण यह है कि आज हम खुद हिन्दी के उद्गम को जान बूझ कर मिटा रहे हैं । यह तो हमारे संविधान का भला हो कि इसमें 'हिन्दुस्तानी' शब्द एक महत्व पूर्ण स्थिति में बचा हुआ है । यदि किसी संशोधन के द्वारा इसके अनुच्छेद 351 में से यह शब्द निकाल दिया गया तो फिर हिन्दी का उद्गम स्थान जानने वाले भावी इतिहास कारों के लाले पड़ जाएँगे ।

अलगू राय शास्त्री ने खड़ी बोली को बचाते हुए कन्स्टिट्यूशनल असेम्बली की बहसों में कहा था—"कुछ मित्र हिन्दुस्तानी और उर्दू को हिन्दी के प्रश्न से जोड़

कर देखते हैं । मैं समझ नहीं पाता हूँ कि आगरे के रहने वाले नजीर के शेर को हिन्दी से बाहर कैसे मान सकते हैं । मैं यहाँ एक उदाहरण देता हूँ—

अब्र था छाया हुआ और फ़सल थी बरसात की;
यों जमीं पहने हुए वर्दी हरी बनात की ।"

उन्होंने आगे कहा—"यहाँ पर मैं बता दूँ कि यह उनके द्वारा लिखी गई एक हिन्दी कविता भी है और यह हिन्दी की बोली और शैली का हिस्सा है ।" अलगू राय शास्त्री आगे कहते हैं—"रब का शुक्र अदा कर भाई, जिसने हमारी गाय बनाई"—यह दोहा हम सब मेरठ में किसी मौलवी द्वारा लिखी किताब में पढ़ते हैं । क्या हम इसे हिन्दी से बाहर का मानेंगे ? मैं ऐसा नहीं मानता हूँ । मौलवी या मौलाना की भाषा में ऐसे शब्द बड़े स्वाभाविक रूप से आते हैं । हमने वे सब शब्द अपनी भाषा में मिला लिए हैं । मेरा विश्वास है कि ये शब्द इस भाषा में रहेंगे । इन सब शब्दों ने हिन्दी को एक शैली दी है और हिन्दी भाषा से अलग इन्हें नहीं माना जा सकता ।"

इस लेख में डा० रघुवीर ने अँग्रेजी के 'इलैक्शन' शब्द के लिए हिन्दी का बहु प्रचलित शब्द 'चुनाव' नहीं लिया है । उन्होंने इसके लिए संस्कृत की अखिल भारतीयता का नाम ले कर एक नया शब्द 'निर्वाचन' बनाया है । उन्होंने 'चुनाव' शब्द के विरोध में लिखा है—"हिन्दी के शब्द चुनाव के स्थान पर निर्वाचन शब्द लेने पर उससे निर्वाचक अथवा निर्वाचित बन जाएगा लेकिन इसका हिन्दी में कोई एक शब्द नहीं है । इसके लिए चुनाव करने वाला अथवा चुना गया बनाना पड़ेगा और इससे अखिल भारतीय स्तर पर एक रूपता नहीं आ पाएगी ।" यदि डा० रघुवीर को इस शब्द के लिए सच में अखिल भारतीय स्तर पर एक रूपता रखने की चिन्ता थी तो वे इसे सहज रूप में 'इलैक्शन' ले सकते थे । इस समय हिन्दुस्तान का हर वयस्क नागरिक 'इलैक्शन' शब्द को अपनी भाषा का शब्द मान रहा होगा, भले ही उसकी कोई भी प्रान्तीय मातृ भाषा हो । भारत में अहिन्दी भाषियों को 'चुनाव' शब्द भी नया सीखना था और 'निर्वाचन' शब्द भी नया सीखना था । जब उन्हें एक नया शब्द सीखना ही था तो वे 'चुनाव' को भी सीख सकते थे । हो सकता है, हिन्दी के प्रभाव के कारण उनकी भाषाओं में अब तक यह 'चुनाव' शब्द पहुँच भी गया हो । लेकिन इन संभावनाओं की ओर ध्यान दिए बगैर 'चुनाव' के स्थान पर एक नया शब्द 'निर्वाचन' निर्मित कर दिया गया है । क्या डा० रघुवीर को इस बात का पता है कि एक भी हिन्दी भाषी ने उनके इस 'निर्वाचन' शब्द को ग्रहण नहीं किया है ? उन्हें 'चुनाव' की चार मात्राओं के स्थान पर 'निर्वाचन' की छह मात्राओं का शब्द भाया नहीं है । जबकि हिन्दी भाषी जनता सर्वत्र 'चुनाव' का प्रयोग करती है, क्या फिर भी डा० रघुवीर हिन्दी जनता को सामान्य जनता मान कर, एक नया, जटिल और भिन्न शब्द 'निर्वाचन' देंगे ? क्या इसमें उनका वही तर्क काम कर रहा है कि कृत्रिम भाषा

को अनिवार्य रूप से अपनी अलग पहचान भर बनाने के लिए सामान्य भाषा से भिन्न होना चाहिए ?

डा० रघुवीर 'निर्वाचन' से निर्वाचित और निर्वाचक तो बना गए हैं, लेकिन "मैं चुनाव लड़ रहा हूँ" को निर्वाचन के एक शब्द का सहारा ले कर कैसे अभिव्यक्त करेंगे ? इसमें इतना समझ लिया जाए कि हिन्दी भाषी के गले से यह निकल कर नहीं देगा कि "मैं निर्वाचन लड़ रहा हूँ।" ऐसे अटपटे प्रयोग से हिन्दी की जीनियस में हस्तक्षेप होता है। उन्होंने इस लेख के अन्त में चार चार भाषाओं में प्रयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को लेने से यह कह कर मनाही की है कि इससे हमारा अपना पन समाप्त हो जाएगा, लेकिन उनसे पूछा जा सकता है कि यहाँ वे कौन से अपने पन की बात कर रहे हैं। हिन्दी भाषा से हिन्दी के अपने शब्द 'चुनाव' को हटा कर 'निर्वाचन' बनाने में हिन्दी का कौन सा अपना पन बचा रह गया है ? फिर समझा जा सकता है कि चुनाव के बदले 'निर्वाचन' शब्द निर्वाचित और निर्वाचक शब्दों के लोभ के कारण ले लिया गया है, लेकिन उन्होंने अपनी 'ए कंप्रिहेंसिव इंग्लिश-हिन्दी डिक्शनरी' में नहर के लिए 'कुल्या' और सड़क के लिए 'रथ्या' शब्द क्यों लिए हैं? कुल्या और रथ्या से अगले शब्दों का निर्माण किस प्रकार हो सकता है ?

राम चन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' में ठीक लिखा है—"भाषा की प्रकृत्ति भी बहुत कुछ मनुष्य की प्रकृति के समान होती है। मनुष्य वही चीज खा और पचा सकता है जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। यदि वह प्रकृति विरुद्ध चीज खाने और पचाने का प्रयत्न करे तो यह निश्चय है कि या तो उसे सफलता ही न होगी या वह बीमार पड़ जाएगा। भाषा भी वही तत्व ग्रहण कर सकती है जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। उसकी प्रकृति के विरुद्ध जो तत्व होंगे वे यदि जबरदस्ती उसके शरीर में अन्तर्भुक्त किए जाएँगे तो उसका स्वरूप या शरीर विकृत हो जाएगा।" राम चन्द्र वर्मा ने साफ उदाहरण देते हुए लिखा है—'प्रनृत्यामान मयूर' की जगह 'नाचता हुआ मोर,' 'गड्डलिका प्रवाह' की जगह 'भेड़िया धँसान', 'आद्योपान्त' की जगह 'आदि से अब तक,' 'अग्रज' की जगह 'बड़े भाई', 'घ्राणेन्द्रिय' की जगह 'नाक', 'प्रस्तोता' की जगह 'प्रस्तावक' और 'आलुलायित केश' की जगह 'खुले हुए बाल' लिखना कहीं अच्छा है। औद्धत्य, औन्नत्य, याथार्थ्य, काठिन्य, ईषत्, रक्ताभ, नाति स्थूल आदि भी इसी प्रकार के शब्द और पद हैं जिनका प्रयोग नहीं या कम होना चाहिए।"

अन्त में डा० रघुवीर के दिल की बात उभर कर सामने आ ही जाती है जब वे इस लेख में लिखते हैं कि "यह धर्म का, भाषा का और संस्कृति का संघर्ष है।" यदि उनके अन्य लेखों की खोज की जाए तो शायद पता चल सकता है कि उनके लिए यह धर्म हिन्दू धर्म, भाषा संस्कृत भाषा और संस्कृति वर्णाश्रम समाज व्यवस्था की वैदिक संस्कृति है।

लेकिन हमारे संविधान के अनुच्छेद 351 में जिस संस्कृति की बात कही गई है वह भारत की सामासिक संस्कृति है तथा धर्म के नाम पर हमारा संविधान धर्म निरपेक्ष से ले कर अपने नए अर्थ में सर्व धर्म सम भाव तक है। वर्णाश्रम व्यवस्था के स्थान पर हमारा संविधान समाज वादी व्यवस्था को अपनाता है। इसलिए संविधान हिन्दी भाषा को लोगों की धार्मिक लड़ाइयाँ लड़ने का अखाड़ा बनाना नहीं चाहता है। हमारे संविधान के मूल उद्देश्य समाज वाद, लोक तन्त्र और धर्म निरपेक्षता के हैं। भारतीय जनता को संविधान की सहायता से धार्मिक प्रगति के स्थान पर सामाजिक, आर्थिक शैक्षणिक और वैज्ञानिक प्रगति करनी है।

इस अवसर पर यह भी देखा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति क्या है। यह भारतीय संस्कृति की परिभाषा निश्चित करने का उपयुक्त अवसर नहीं है लेकिन यह अवश्य बताया जा सकता है कि किसी भाषा विशेष की साम्प्रदायिक भावना भारतीय संस्कृति नहीं है। जो भारत में बच गया है, जिसे भारत के संविधान में बचाने की कोशिश की जा रही है, गौरव की दृष्टि से हमें अपने वर्तमान को उसी अतीत से जोड़ कर देखना है। जिसे हमने मिटा दिया है, या जिसे हमारा संविधान मिटाने में लगा है, हमें अपने उस प्राचीन पर गौरव करने की भूल नहीं करनी चाहिए। आज हमारा संविधान अस्पृश्यता को भारत से मिटाने में लगा है। यदि कोई पुरानी चीज अस्पृश्यता को बढ़ावा देती है तो संविधान उसको पकड़ कर दण्ड देने के लिए कृत संकल्प है। शूद्रों और नारियों को संस्कृत के श्लोको में वही बात दीखने लगती है। शूद्रों और नारियों को संस्कृत ग्रन्थ लिखने की मनाही थी। इससे प्राचीन काल में मानवता को जो नुकसान हुआ है, वह एक ओर, आज के संदर्भ में बड़ी बात यह हो गई है कि हजारों वर्षों तक संस्कृत भाषा में शूद्रों और नारियों की भागी दारी न रहने से संस्कृत का विकास एक गैर जिम्मेदार तरीके से होता गया था। शूद्रों और नारियों को अलग रख कर संस्कृत भाषा में इनके विरोध में इतने पाप कर दिए गए हैं कि अब चाहे तो शूद्र और नारी कई सौ वर्षों तक काम करके भी संस्कृत भाषा में उन पापों की काट नहीं कर पाएँगे। लम्बी समयावधि बीत जाने के कारण अब किसी मोह में शूद्रों और नारियों को संस्कृत के भीतर जा कर अपनी सामाजिक लड़ाई लड़ने की आवश्यकता नहीं रह गई है। फिर संस्कृत से बाहर रह कर शूद्रों और नारियों को अपनी समानता और स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ने में कौन सा विशेष नुकसान है? संस्कृत को छोड़ने में केवल संस्कृत ही छूटती है; हमारी मानवता नहीं छूट जाती है। संस्कृत के छूट जाने से इस देश में कोई बड़ा अनर्थ नहीं हो जाता है। संस्कृत के छूटने का अर्थ है, केवल शूद्र और नारी विरोधी भाषा छूट जाएगी। संस्कृत के पक्ष धरों की संख्या आज के भारत में भी सदा की तरह बहुत कम है। तब करोड़ों करोड़ों लोगों की हमारी भारतीय भाषाएँ तो बच जाएँगी। आखिर, संस्कृत के मालिकों ने शूद्रों और नारियों से संस्कृत भाषा छीन कर क्या करना चाहा था? ऐसा करके उन्होंने अपनी

तरफ से भारत के असंख्य जन समुदाय को कुत्तों और बिल्लियों की तरह जीने के लिए मजबूर कर दिया था । उन्होंने निर्धन लोगों से भाषा और शिक्षा की सारी प्राप्तियाँ छीन कर एक मूक भारत का निर्माण करके छोड़ दिया था । अब यदि संयोग से इतिहास के पलटा खाने से उन बेचारे शूद्रों और नारियों की भाषा किसी लायक बन गई है तो उसे बक्शा जाए ।

जब हम नए भारत में भारतीय संस्कृति की बात करते हैं वह इसी मूक भारत की वेदना गलित भाषा को उगलने की बात है । प्राचीन भारत में भी एक ही भाषा संस्कृत नहीं रही है । हमारे पास साहित्य के रूप में पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भी हैं । जब हम प्राचीन भारत की ओर जाना चाहते हैं तो इन भाषाओं को अपनाने की कोशिश कर सकते हैं । हमें पाली में रचित धम्म पद के मुकाबले में संस्कृत में रचित गीता ही अधिक क्यों भाती है ? आज वर्णाश्रम व्यवस्था का हर प्रशंसक आदमी गीता के अध्यात्म तत्व की प्रशंसा करते हुए नहीं थकता । लेकिन जब उसे स्थान स्थान पर गीता में आई वर्णाश्रम व्यवस्था की एक समाज दार्शनिक बन कर व्याख्या करनी पड़ती है तो भीख सी मांग कर खीज उठता है । ऐसे सारे दार्शनिक गीता के वर्णाश्रम सम्बंधी श्लोकों की व्याख्या करने में परेशान हो उठते हैं । उन्हें कोई परेशानी नहीं हो सकती थी यदि वे अपना समय धम्म पद की व्याख्या करने में भी लगाते । धम्म पद में उन्हें नए भारत के संविधान के सामाजिक चिन्तन के विचारों को मौलिक रूप से अगुवानी करते हुए पाठ मिल सकते हैं ।

यही मूल बात है । प्राचीन भारतीय संस्कृति पर संस्कृत का एकाधिकार नहीं है । भाषा लोगों के चिन्तन के अनुरूप चला करती है । अपनी प्राचीन भाषाओं में हमें उन भाषाओं को महत्व देना चाहिए जो आज के चिन्तन से अधिकाधिक मेल खाती हैं । रही बात संस्कृत की, अरबी फारसी तुर्की की, और अंग्रेजी की, तो, हिन्दी उनसे इस लिए प्यार नहीं करती है कि ये भाषाएँ उसे चिन्तन के रूप में अच्छी लगी थीं । सच बात यह है कि ये तीनों भाषाएँ हिन्दी पर कहर बन कर टूटी थीं । हिन्दी इन भाषाओं से इस रूप में जुड़ी है कि हिन्दी इनके घरों में दासी बन कर रही थी । हिन्दी का इन भाषाओं में से किसी के साथ भावात्मक लगाव नहीं है । इसी चिन्तन के बाद कहा जा रहा है कि हिन्दी में संस्कृत के भी, अरबी फारसी तुर्की के भी और अंग्रेजी के भी शब्द हैं । हिन्दी के लिए इन भाषाओं के शब्दों को स्वीकार करने में इससे अधिक बल नहीं है ।

इस बात को दूसरी तरह से भी कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान का प्राचीन एक तरह का नहीं रहा है । इस लिए जब भारत की प्राचीन संस्कृति से जुड़ने की बात कही जाती है तो वह वर्णाश्रम समाज व्यवस्था की संस्कृति ही नहीं है । भारत की प्राचीनता में समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोध में बौद्ध और चार्वाक मान्यताएँ

भी रही हैं। जब प्राचीनता का नाम ले कर यह नारा दिया जाता है कि 'वेदों की ओर लौटें' तो उतने ही जोर से प्राचीनता को बिना नकारे यह नारा भी दिया जा सकता है कि 'वेद विरोध की ओर लौटें।' वस्तुतः, आज हमें अर्वाचीन या प्राचीन दोनों दिशाओं में भारत की सामासिक संस्कृति की ओर लौटना है।

यदि हिन्दी सबसे निकटतम अपनी हिन्दुस्तानी के रूप, शैली और पदावली को आत्म सात नहीं कर पाई तो फिर यह भारत की सभी अन्य भाषाओं के रूप, शैली और पदावलियों को कैसे आत्म सात कर सकेगी ? यदि यह केवल संस्कृत से बँध गई तो भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति की दावे दार कैसे बन सकेगी ? इसकी एकता के लिए गाँधी जी हिन्दी और हिन्दुस्तानी में भेद नहीं मानते थे। उन्होंने दोनों को एक ही माना है। वे 'हिन्दुस्तानी' शब्द प्रयोग करने के पक्ष में थे। उन्होंने हिन्दुस्तानी के बारे में अपने विचार स्पष्ट रूप में रखे हैं। जस्टिस एकबोटे ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्र भाषा विहीन राष्ट्र' में गाँधी जी को उद्धृत किया है—"यह हिन्दुस्तानी, न ही संस्कृत प्रचुर हिन्दी होगी और न ही फारसी अधिष्ठित उर्दू ; अपितु इन दोनों का वह एक मिला जुला मधुर रूप होगा; उसमें विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों तरह का भी जरूरत के अनुसार मुक्त उपयोग होगा, अर्थात इस अनुबंध के साथ कि वे हमारी राष्ट्र भाषा में सहज और सुलभता के साथ मिल जाएँ, समरस हो जाएँ। इस तरह हमारी राष्ट्र भाषा समस्त मानवी विचारों और भावों की अभिव्यक्ति का एक समृद्ध और समर्थ माध्यम के तौर पर विकसित हो। विशुद्ध हिन्दी और खालिस उर्दू से चिपके रहना, वैचारिकता तथा देश भक्ति की भावना के खिलाफ अपराध सा होगा।" डा० मलिक मौहम्मद ने भी अपनी पुस्तक 'राज भाषा हिन्दी' में गाँधी जी को उद्धृत किया है। यह उदाहरण हिन्दी भाषा की दृष्टि से बहुत महत्व पूर्ण है। यह इस प्रकार है—'संस्कृत मयी हिन्दी बिलकुल बनावटी है और हिन्दुस्तानी बिलकुल स्वाभाविक। उसी तरह फारसी मयी उर्दू अस्वाभाविक और बनावटी है।" गाँधी जी ने अपने पत्र 'हरिजन सेवक' में इस दृष्टि को पूरी तरह स्पष्ट किया है—"सीधे सादे प्रचलित शब्दों की जगह संस्कृत शब्द रखने या तद्भव शब्दों को संस्कृत तत्सम शब्दों का रूप देने का कृत्रिम तरीका निस्सन्देह निंदनीय है।"

जहाँ तक संस्कृत की बात है, इसने इस देश की सामासिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति कभी नहीं की है। इसने प्राचीन काल में लोकायती संस्कृति को गला घोट कर मार डाला था। इसने यदि बौद्ध संस्कृति की भी अभिव्यक्ति दी है तो इस प्रकार दी है कि बौद्ध दृष्टि को ही नष्ट कर दिया है।

संस्कृत में भौगोलिक दृष्टि से प्राचीन भारतीय जन पदों के केवल नाम गिनाए गए हैं, उन जन पदों की संस्कृति को अभिव्यक्ति नहीं दी गई है। भाषा में 'काँची, कार्णाट, आन्ध्र, चेर, चोल, पाण्ड्य, कलिंग, उण्ड्र, बंग, आदि' कह कर नाम गिना देने

भर से वहाँ की संस्कृतियों को अभिव्यक्ति नहीं मिल जाती है। वास्तव में. संस्कृत में जो संस्कृति अभिव्यक्ति की गई है वह जाति वादी ब्राह्मणी संस्कृति है। इसके लिए यह बताया जाना बहुत जरूरी है कि भारत की सामासिक संस्कृति में जाति वादी ब्राह्मणी संस्कृति भी सम्मिलित है लेकिन यह नहीं कहा जाना चाहिए कि इसमें मात्र वही संस्कृति है इस लिए यदि प्राचीन काल में किसी कारण किसी विशेष संस्कृति को संस्कृत में अभिव्यक्ति नहीं मिली है तो आज हिन्दी से उसे यह अभिव्यक्ति दी जानी है। यदि संस्कृत में भारतीय संस्कृति के किसी अच्छे पक्ष का अनादर किया गया है तो नए संविधान के अनुसरण में उस संस्कृति का समुचित सम्मान किया जाना है।

हिन्दुस्तान में मुसलमान और ईसाई लोग बहुत दिनों से रह रहे हैं। संस्कृत ने कभी भी इन लोगों की संस्कृतियों को अभिव्यक्ति नहीं दी है। यह बात सच होनी चाहिए कि आज यदि केवल संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया जाए तो उससे यह पता नहीं चल सकेगा कि हिन्दुस्तान में पिछले एक हजार वर्षों से मुसलमान और तीन सौ वर्षों से ईसाई एक बड़ी संख्या में रह रहे हैं।

संस्कृत भाषा को यह सच्चाई सीखने की बहुत जरूरत है कि किसी भाषा और संस्कृति को आत्म सात करने का मतलब उसका अनुवाद करना नहीं है। संस्कृत किसी भी संस्कृति का अनुवाद करने के लिए सक्षम भाषा है, परन्तु यह जाति वादी ब्राह्मणी संस्कृति से भिन्न भारत की अन्य गैर जाति वादी संस्कृतियों को आत्म सात करने के लिए तैयार भाषा नहीं है। यह इस्लामी संस्कृति के 'पैगम्बर' को केवल एक शब्द मान कर उसका अपनी धातु, प्रत्यय और उपसर्ग ले कर अनुवाद करना चाहेगी। यह मजबूरी में पैगम्बर को 'अनु अवतार' या 'अन्ववतार' कहना चाहेगी परन्तु स्वयं पैगम्बर की प्रकृति का उसे पैगम्बर कभी नहीं कहेगी।

मैंने देखा है कि संस्कृति के कुछ विद्वान संविधान के अनुच्छेद 351 में आए हुए 'कम्पोजिट कल्चर' के शब्द से बहुत परेशान हैं। वे पूछते हैं--'कम्पोजिट कल्चर' भी कोई कल्चर होती है ? वे कहते हैं कि किसी देश की संस्कृति केवल एक हुआ करती है, कि यह कम्पोजिट शब्द जबरन गढ़ा गया शब्द है। उनकी समझ में नहीं आता कि हिन्दू और मुसलमान दोनों एक कैसे हो जाएँगे। उनके सोचने और चाहने का ढंग ही गलत है। उन्हें यह पता नहीं है कि कम्पोजिट कल्चर में हिन्दू और मुसलमानों को एक नहीं होना है बल्कि उन्हें अच्छे पड़ोसियों के नाते साथ साथ रहना है।

5

कभी कभी किसी पुस्तक का नाम करण गलत हो जाता है। डा० रघुवीर की पुस्तक 'ए कम्प्रेहेन्सिव इंग्लिश-हिन्दी डिक्शनरी आफ़ गवर्नमेन्टल ऐजुकेशनल एण्ड वर्ड्स एण्ड फ्रेजिज' के साथ ऐसा ही हुआ है। इसका नाम 'इंग्लिश- हिन्दी' की जगह 'इंग्लिश-

संस्कृत' होना चाहिए था। तभी इस पुस्तक का शीर्षक सार्थक कहा जा सकता था। इसे 'इंग्लिश-हिन्दी' डिक्शनरी लिखने में डा० रघुवीर ने अपने कोश कार जीवन का सबसे बड़ा झूठ बोला है। इसमें 520 धातुओं, 80 प्रत्ययों और 20 उपसर्गों में हर कोई संस्कृत भाषा का सदस्य है। इस पुस्तक में हिन्दी का कहीं भी जिक्र नहीं है। सच में, यह पुस्तक हिन्दी को ध्यान में रख कर लिखी ही नहीं गई है। इस कोश कार को हिन्दी भाषा की कोई चिन्ता नहीं है। यह कोश कार संस्कृत के संबंध से दुनिया भर की बातें करता है लेकिन हिन्दी के सम्बन्ध से एक बात भी नहीं करता। इसे हिन्दी की बात करने की फुर्सत तब मिलती जब इसका संस्कृत के प्रति घमण्ड छूटता।

इस पुस्तक की प्रस्तावना में डा० रघुवीर ने भारतीय शब्दावली के लिए चौदह सामान्य सिद्धान्त बनाए हैं। इनमें से दसवा यह है—"ऐसे विचारों और वस्तुओं के लिए जो पुराने समय से अस्तित्व में हैं, संस्कृत, पालि और प्राकृत के विपुल साहित्य में से पुराने नाम पहले लिए गए हैं। आधुनिक भारतीय भाषाएँ भी देखी गई हैं।" इसमें 12 वा सिद्धान्त यह है—"ध्वनि शास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक शब्द भारतीय जीनियस में फिट करके लिया गया हैं।" इसका 13वा सिद्धांत इस प्रकार है—"हमारे शब्द हिन्दी में तथा भारत की उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी तथा पश्चिमी भाषाओं में प्रयोग किए जा सकते हैं।"

ऊपर के दिए गए सिद्धान्तों से समझा जा सकता है कि इस शब्द कोश को तैयार करने में डा० रघुवीर का क्या उद्देश्य था। उन्होंने शब्द लेने के लिए आधुनिक भारतीय भाषाएँ देखी भर हैं। उन्होने अंग्रेजी मे इसके लिए 'कन्सल्ट' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार उन्होंने अपनी निर्भरता मूलतः संस्कृत पर ही रखी है। यदि संस्कृत के साथ पालि और प्राकृत का नाम लिया है तो वह बौद्ध संस्कृत या जैन संस्कृत के अर्थ में ही लिया है। दूसरे, संविधान ने अपने अनुच्छेद में हिन्दी की जीनियस की बात कही है, लेकिन डा० रघुवीर ने इसे गड़बड़ाने के लिए भारतीय जीनियस कहा है। उन्हें 'हिन्दी की जीनियस' का अर्ध वाक्य पसन्द नहीं आया—उनके लिए हिन्दी की जीनियस जैसी चीज शायद ही कोई हो। आगे उन्होंने कहा है कि उनके द्वारा दिए गए शब्द हिन्दी में प्रयोग किए जा सकते हैं। इस कहने के ढंग से ही पता चल जाता है कि ये शब्द हिन्दी को ध्यान में रख कर नहीं बनाए गए हैं। इस लिए, यदि डा० रघुवीर इस बात पर जोर देते हैं कि यह उन्होंने अंग्रेजी-हिन्दी कोश तैयार किया है तो हिन्दी भाषी उसे व्यर्थ का प्रयास करना कहेंगे। हाँ, डा० रघुवीर के इस कोश की महत्ता बढ़ती है जब इसे अंग्रेजी-संस्कृत कोश कहा जाएगा। हिन्दी भाषियों को जब किसी शब्द की आवश्यकता पड़े तो वे इस कोश को देख सकते हैं। कहने का मतलब यह है कि वे इस पर कभी आश्रित नहीं रह सकते। मेरी मान्यता में इस अंग्रेजी-संस्कृत कोश का जिसे भूल से अंग्रेजी-हिन्दी कोश नाम दे दिया गया है, अंग्रेजी-संस्कृत-हिन्दी कोश के नाम से एक और अनुवाद किया जाना चाहिए। तभी डा० रघुवीर के इस काम को हिन्दी में आँका जा सकेगा। इस समय

यह कोश हिन्दी के दरवाजे पर कूड़ा कर्कट ही पड़ा है। हिन्दी इसका उपयोग करने की स्थिति में नहीं है।

डा० रघुवीर के मन में यह भ्रम फैला हुआ रहा था कि संस्कृत सब भारतीय भाषाओं की जननी है। उन्होंने लिखा है—"संस्कृत भाषी आज के पंजाबियों, बंगालियों और शेष सभी लोगों के पूर्वज रहे हैं। शताब्दियों के रास्ते परिवर्तन होते रहे हैं और संस्कृत पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के रास्ते से आज की वर्तमान भारतीय भाषाओं तक आ गई है।" यही डा० रघुवीर के चिन्तन का मूल है। यही सबसे अधिक भ्रामक बात भी है।

डा० रघुवीर संविधान सभा में रहे थे। सब कुछ जानने के बावजूद उन्होंने संविधान को जिस रूप में समझा है वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"भारत के संविधान ने बिना किसी अपवाद के यह भी लिख दिया है कि हिन्दी के विकास के लिए जो समूचे भारत की राज भाषा है संस्कृत प्राइमरी स्रोत रहेगी। यद्यपि संविधान में ऐसा लिखा नहीं गया है लेकिन अन्य भारतीय भाषाओं के लिए भी यही सच है।" इस उद्धरण को जान लेने से पता चलता है कि उनकी नीयत हिन्दी के पक्ष की नहीं थी। संविधान ने जो प्रावधान नहीं दिया है डा० रघुवीर उसकी भी कल्पना कर बैठते हैं कि संविधान की आठवी सूची में सम्मिलित उर्दू और तमिल भी अपने शब्द संस्कृत से लेंगी और संस्कृत से शब्द लेने का मतलब है संस्कृत के उपसर्गों, धातुओं और प्रत्ययों का प्रयोग करना। इससे कोई भाषा शब्द दृष्टि से भले ही समृद्ध होती हो पर उसका कोई लाभ नहीं रह जाता जब वह भाषा की समृद्धि जनता के काम की चीज नहीं रह जाती है।

वास्तव में, संस्कृत में प्रत्यय व्यवस्था का होना स्वयं संस्कृत के लिए भी कोई अच्छी बात नहीं रही है। फिर संस्कृत के लिए यह अच्छी बात हो, कम से कम हिन्दी के लिए यह घमण्ड करने लायक चीज नहीं है। प्रत्यय अन्य भाषाओं में भी होते हैं, हिन्दी के भी अपने प्रत्यय हैं, लेकिन वे अपनी सरल प्रकृति के अनुरूप हैं। संस्कृत के प्रत्ययों ने स्वयं संस्कृत की कितनी भी सेवा की हो पर अन्ततः उन्होंने संस्कृत को एक अलोकप्रिय और मृत भाषा बना कर छोड़ा है। डा० इन्द्र चन्द शास्त्री ने भी माना है कि "वैदिक भाषा की अभिव्यंजना शक्ति और सौन्दर्य का बहुत बड़ा आधार उसकी प्रत्यय पद्धति है। किन्तु प्रत्यय जोड़ते समय धातुओं में प्रतिपादकों में जो परिवर्तन होते हैं उनके कारण यह अत्यन्त कठिन हो गई है।"

डा० रघुवीर ने हिन्दी के लिए पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का काम किया है लेकिन शब्द निर्माण में उनका उद्देश्य कुछ और रहा था। उन्हें हिन्दी की सेवा नहीं करनी थी बल्कि संस्कृत की सेवा करनी थी। उन्हें हिन्दी से प्यार नहीं था, न ही वे हिन्दी के विकास के लिए प्रतिबद्ध थे। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने हिन्दी को नकारा है,

इसका विरोध किया है, और इसे अपमानित किया है। उनका दृष्टि कोण वही रहा था जो किसी भी संस्कृत भाषा के पक्ष धर का अन्य भाषाओं के प्रति रहा करता है। उन्होंने हिन्दी में से अरबी, फारसी और अंग्रेजी को ढूँढ ढूँढ कर बाहर निकाल दिया है। लेकिन वे इसी तक सीमित नहीं रहे बल्कि उन्होंने इससे भी आगे हिन्दी में से हिन्दी को बाहर निकालने का प्रयास किया था।

डा० रघुवीर के पुनरुद्धार वादी सम्प्रदाय के विरुद्ध डा० भोला नाथ तिवारी ने निम्न पाँच बातें कही हैं :

1. हिन्दी में प्रचलित देशज, विदेशी तथा बहुत से तद्भव शब्दों का लाभ इस समुदाय ने नहीं उठाया, जबकि ये हिन्दी की सम्पत्ति हैं। उदाहरणार्थ, इसने 'दूरवीन' के स्थान पर 'दूरेक्ष', 'क्लर्क' के स्थान पर 'लिपिक' या 'चेक', के स्थान पर 'धनादेश' जैसे शब्दों पर बल दिया है।

2. शब्दों के निर्माण में इसने या तो संस्कृत के उपसर्ग-प्रत्ययों की सहायता ली या नए प्रत्यय बनाए, किन्तु हिन्दी के बहु प्रचलित उपसर्गों-प्रत्ययों (जैसे ना, बे, दार बंद, ची आदि) का पूर्णतः बहिष्कार किया है।

3. इस सम्प्रदाय ने प्राचीन साहित्य से जो शब्द लिए हैं वे आज के लिए इतने दुरूह हैं कि उन्हें सामान्यतः समझना कठिन है।

4. जो नए शब्द बनाए गए हैं उनकी रचना अंग्रेजी शब्द के उपसर्गों-प्रत्ययों को देख कर यंत्रवत कर दी गई है, बिना इन बातों पर ध्यान रखे कि वे आज की जीवित भाषा में चल भी सकते हैं या नहीं जैसे 'दिवालियापन' के लिए 'नष्टनिधि'।

5. हमारी आज की संस्कृति मिश्रित संस्कृति है, अतः हमारे शब्दों को भी उनका प्रतिनिधित्व करना चाहिए, किन्तु इस सम्प्रदाय ने मध्य काल में अरबी, फारसी, तुर्की तथा आधुनिक काल में अंग्रेजी के योग दान को नकारते हुए दो हजार वर्ष पीछे जा कर हमारी भाषा को संस्कृत के अनुरूप बनाना चाहा है तथा उसे जनता के बीच से उठा कर वेदों-शास्त्रों के संस्कृत मंडित सिंहासन पर आसीन करने का प्रयास किया है।

इन पाँच बातों के माध्यम से डा० भोला नाथ तिवारी ने इस विरोध को बहुत अच्छे ढंग से रख दिया है। इनमें उन्होंने मूल बात पकड़ ली है। इससे आगे इतना और ध्यान रखना ज़रूरी है कि डा० रघुवीर के निधन के बाद यह सम्प्रदाय समाप्त नहीं हो गया है। इस सम्प्र दाय के अनेक लोग डा० रघुवीर के काम में लगे हुए हैं। हिन्दी भाषा के भले के लिए ऐसे लोगों पर नजर रखे जाने की लगातार आवश्यकता है। हिन्दी का संस्कृत से विरोध नहीं है लेकिन जब संस्कृत हिन्दी के सर्वस्व को निगल लेना

चाहती है तो हिन्दी को अपना विरोध प्रकट करना पड़ता है। यह कोई छोटी मोटी गलती नहीं है कि हिन्दी में से हिन्दी को निकाला जाता है। यह किसी भाषा द्वारा दूसरी भाषा पर किए जाने वाले आक्रमण की चरम सीमा है। अंग्रेजी के 'आर्सेनिक' को 'संखिया' न कह कर सुश्रुत का नाम ले कर 'नेपाल्ज' कहना, 'सल्फर' को 'गंधक' न कह कर 'अभियान चिन्तामणि' का उदाहरण दे कर 'शुल्बारि' कहना, 'आक्शन' को 'नीलाम' न कह कर कौटिल्य के अर्थ शास्त्र का सहारा ले कर 'कोश विक्रय' कहना, 'आक्ट्राय' को 'चुंगी' न कह कर राज्य तरंगिणी का उल्लेख करके 'द्वारादेय' कहना, तथा 'तहसील' को 'तहसील' न कह कर अशोक के शिला लेख का प्रमाण दे कर 'भुक्ति' कहना हिन्दी के साथ परले सिरे की दुश्मनी निकालने जैसा है। यदि आज स्वयं अशोक जीवित होते तो वे अपने शिला लेख में तहसील का प्रयोग करते, कल्हण चुंगी लिखते, कौटिल्य नीलाम बताते, गन्धक और संखिया का प्रयोग किया जाता, लेकिन डा० रघुवीर ऐसा मानने को तैयार नहीं हैं। ऐसे लोगों ने भाषा विज्ञान की इस मूल भूत धारणा को भी स्वीकार नहीं किया है कि भाषा में अनेक शब्द मर जाया करते हैं। इससे बुरी बात और क्या होगी कि जो शब्द केवल ऐतिहासिक महत्व के हैं, जो प्राचीन ग्रन्थों को समझने में सहायता भर करते हैं उन्हें नए जमाने की जीवित भाषा में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया जाता है। हिन्दी भाषी संस्कृत का जितना सम्मान करना चाहते हैं डा० रघुवीर जैसे लोग अति पर पहुँच कर उनसे उतना सम्मान भी नहीं करवा पाते। ऐसी अति को देख कर हिन्दी भाषी अपने बचाव में कुछ कह सकते हैं। फिर संस्कृत वाले हिन्दी भाषियों की उसी बात को पकड़ कर बैठ जाएँगे और शोर मचा देंगे कि हिन्दी भाषी संस्कृत का सम्मान नहीं करते हैं। हिन्दी भाषी का किसी भाषा को गाली देने का उद्देश्य कतई नहीं रहा है, लेकिन हिन्दी विरोधियों को कुछ न कुछ पकड़ने के लिए चाहिए। लगता ऐसा है कि संविधान में अच्छी नीयत और सूझ बूझ से दिए गए संस्कृत के सम्मान का संस्कृत वाले दुरुपयोग करके हिन्दी से अपना पुराना सांस्कृतिक वैर निकालना चाहते हैं। इस लिए संस्कृत के झपट्टे से हर बार हिन्दी को बचाने में कोई दुर्भावना नहीं है। जिस बात से आपत्ति है वह यह है कि संस्कृत की कठिन और दुरूह शैली हिन्दी की शैली नहीं है। यदि संस्कृत पहले हिन्दुस्तानी समाज के किसानों, मजदूरों और कारीगरों के घरों में उलटे और सीधे तवों पर रोटियाँ पकाती—केवल तभी इस विषय में कुछ सोचा जा सकता था। गर्व की बात है कि हिन्दी ने ऐसा किया है।

वास्तव में ऐसा हुआ है कि पुराने जमाने में संस्कृत एक घमण्डी पट रानी रही है। इसने कभी राजा को प्यार नहीं दिया। इसने कभी राजा को प्रजा से नहीं जोड़ा। इसने राजा को राज भवन में सीमित करके रख दिया था। इस बार हिन्दी गरीब आदमी की वह लड़की है जो राजा को भा गई है। पट रानी संस्कृत इसी बात से चिढ़ गई है। संस्कृत हिन्दी को अपनी बेटी नहीं बल्कि अपनी सौत और मौत मानती है। नहीं तो क्या कोई माँ अपनी बेटी से इतना वैर रखा करती है? एक अच्छी माँ

बेटी के विवाह से सदा खुश हुआ करती है। यहाँ संस्कृत हिन्दी को हटा कर बुढ़ापे में खुद अपना दूसरा विवाह रचाना चाहती हैं। संस्कृत अपनी बेटी के विवाह में अपने साज श्रृंगार उसको दे सकती है, इससे हिन्दी खुश ही होगी, लेकिन यहाँ मुसीबत यह है कि बेटी को हटा कर संस्कृत खुद डोले में दुल्हन बन कर जाना चाहती है। जब यह बेटी को विदा कर रही है तो खुशी और गम के आँसू पोंछ कर अपने घर ही रहे लेकिन यह बेटी के साथ उसकी ससुराल जाना चाह रही है। विवाह के दिन से ही इसने उसकी ससुराल को बर्बाद करने की ठान रखी है। एक अच्छी माँ के समान अब इसे अपनी बेटी से केवल रिश्ते दारी निभानी चाहिए—कभी बेटी को अपने यहाँ बुला लिया करे और कभी बेटी के घर दो चार दिन के लिए चली जाया करे। चाहे वे भारतीय भाषाओं के प्रभाव हों या विदेशी भाषाओं के असर, अब इसकी बेटी को राज घराने में अपनी सास, ननद, जिठानी और दोरानी के साथ रहना है। और हिन्दी अकेली नहीं है बल्कि इस बार हिन्दी की दूसरी भारतीय बहनें भी इस राज घराने में ब्याही गई हैं। इन्हें वहाँ मिल जुल कर रहना है।

6

यह नहीं कहा जा सकता कि डा० रघुवीर के वर्णाश्रम व्यवस्था के बारे में कैसे विचार थे। यदि इस संबंध में उनके विचार मुझे कहीं पढ़ने को मिलते तो उन्हें समझने का मेरा काम सरल हो जाता। मुझे जो मौखिक रूप से पता चला है वह यह है कि वे लाहौर के रहने वाले थे। वहीं उनका चिंतन एक शुद्धता वादी के रूप में विकसित हुआ था।

डा० रघुवीर दो अतिवादी चिंतनों के बीच के बन कर नहीं रहे बल्कि वे उन दो अतिवादी चिंतनों में से खुद एक के हो गए थे। वे एक अतिवादी विरोध का दूसरा अतिवादी उत्तर थे। उन्हें समस्या के समाधान की नहीं पड़ी थी बल्कि विरोधियों के द्वारा उठाए गए सवालों के जवाब देने की पड़ी थी।

मैं पहले की स्पष्ट कर दूँ कि मैं क्या कहने जा रहा हूँ। मैं उदार वादी हो कर डा० रघुवीर के काम को नहीं, बल्कि उनकी मनोवृति को समझना चाह रहा हूँ। मेरा अनुमान है कि डा० रघुवीर अपने निजी हित में नहीं, बल्कि अपने वर्णगत सामाजिक स्वार्थ से जुड़े रहे हैं। सन 50 और उससे पहले के हिन्दुस्तान में ऐसा कहने वाले कई लोग रहे थे कि हिन्दी भाषा में अभिव्यक्ति की कोई क्षमता नहीं है। उन्होंने यह भी कहा होगा कि हिन्दी तो हिन्दी, संस्कृत में भी कुछ नहीं रखा है। डा० रघुवीर ने इस चुनौती

को स्वीकार किया था । उन्होंने हिन्दी का तो पक्ष नहीं लिया लेकिन संस्कृत के बारे में अपनी निश्चित धारणा बना ली थी कि इसमें सब कुछ संभव है । इसी लिए उन्होंने संस्कृत में शब्दावली का निर्माण किया था ।

डा० रघुवीर केवल एक जवाब थे जो दिया नहीं जाना चाहिए था । यह केवल एक बात की बात हुआ करती है । सामने आई हुई चुनौती को डा० रघुवीर को इसी रूप में स्वीकार करना चाहिए था । उनसे गलती यह हुई कि जिस बात का जवाब देना नहीं चाहिए था वे उसका जवाब देने बैठ गए । इस जवाब का अपना तर्क लगातार अतिवादी होते जाना था । डा० रघुवीर इस तर्क में अपने सामाजिक स्वार्थ से बचना नहीं चाहते थे । उनका यह सामाजिक स्वार्थ क्या था ?

बताया जाता है कि अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में विक्टोरियन एज में विद्वानों और जन साधारण की आपस में ठन गई थी । नीचे से सामान्य जनता का विद्वानों के ऊपर यह दबाव पड़ा कि वे अपने लेखन और व्यवहार में साधारण अंग्रेजी का इस्तेमाल करें । विद्वान लोग सीधी सादी अंग्रेजी से नाक भोंह सिकोड़ते रहे, लेकिन जब विवश हो कर उन्हें अंग्रेजी अपनानी पड़ी तो उन्होंने अंग्रेजी को ही अपने मतलब की लैटिन बना लिया था । विद्वानों ने अंग्रेजी तो अपनाई पर वह ऐसी अंग्रेजी थी जिसे केवल विद्वान ही समझ सकते थे, या शायद उसे वे भी नहीं समझते थे । विद्वानों ने अंग्रेजी में लैटिन भर ली थी । उन्हें जनता की इस मांग के सामने झुकना पड़ा कि वे अंग्रेजी को स्वीकार करें लेकिन उन्होंने अपने मन्तव्य की ऐसी अंग्रेजी बनाई कि उसे जनता में से कोई नहीं समझता था । विद्वानों ने जनता को चुनौती दे दी थी कि उस भाषा को जनता नाम की चीज का कोई हिस्सा नहीं समझ सकता था । एक प्रकार से उन विद्वानों ने अपना बदला ले लिया था ।

संस्कृत वाले भी इस समय हिन्दी भाषियों से ऐसा ही बदला लेना चाह रहे हैं । कभी इस बहाने, कभी उस बहाने, वे ऐसी हिन्दी की रचना कर रहे हैं जिसे हिन्दी भाषी जनता नहीं समझ सकती, नहीं तो कहीं शब्दावली का निर्माण किया जाया करता है । सच तो यह है कि हिन्दी को किसी शब्दावली के निर्माण की आवश्यकता नहीं है, न ही इसे किसी दूसरी भाषा की कृत्रिम और अव्यवहृत शब्दावली की आवश्यकता है । हिन्दी अपनी आत्मा में दूसरी भाषाओं की व्यावहारिक शब्दावली को अपना बनाने की क्षमता रखती है । इसे यही करने दिया जाना चाहिए ।

यह बात तय हो जानी चाहिए कि हिन्दी की समस्या शब्दावली की नहीं है । यदि किसी को डा० रघुवीर द्वारा बनाए गए शब्द कोश से पहले की संस्कृत शब्दावली का ज्ञान है तो उसे हिन्दी लिखते समय कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए । ऐसे ही, यदि किसी आदमी को फारसी के बजाय उर्दू का ज्ञान हो तो उसे भी हिन्दी शब्दावली के लिए मोहताज रहना नहीं पड़ेगा । इस समय जिस किसी को भी अंग्रेजी शब्दावली

का ज्ञान है उसे भी हिन्दी की शब्दावली के लिए मोहताज नहीं रहना चाहिए । संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी भाषाओं की शब्दावली को हिन्दी थोड़े बहुत अन्तर से अपनी शब्दावली कहती है । संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी में जितनी शुद्धता है, हिन्दी उन भाषाओं से उतना ही विद्रोह करती है, उससे अधिक नहीं । यदि कोई भाषा हिन्दी के नाम से अपना स्वार्थ साधना चाहती है तो हिन्दी उस भाषा की अनावश्यक शब्दावली से अवश्य बचती है । जहाँ तक उक्त तीनों भाषाएँ हिन्दी का स्वार्थ साधती हैं, हिन्दी उनसे परहेज नहीं रखती । हिन्दी की परेशानी केवल तब बढ़ती है जब उक्त तीनों भाषाएँ अपने अपने स्वार्थों को अपनी भाषाओं में छोड़ कर हिन्दी में साधने लगती हैं । ऐसे स्वार्थों पर रोक लगाना बहुत जरूरी है ।

यदि हिन्दी को अनुवाद की भाषा बनाया जाएगा तो यह कृत्रिम भाषा बन कर रह जाएगी । अनुवाद का नाम लेते ही इस पर अंग्रेजी और संस्कृत हावी हो जाती हैं । अनुवाद के बजाय हिन्दी की यह प्रकृति है कि यह किसी दूसरी भाषा के शब्द को स्वीकार कर लेती है। हिन्दी ने संस्कृत और फारसी की शब्दावली का हिन्दी में अनुवाद नहीं किया है बल्कि तत्सम और तद्भव रूप में उसको स्वीकार कर लिया है । हिन्दी का ऐसा ही बर्ताव अंग्रेजी से होना चाहिए । जब हिन्दी भाषी जनता अंग्रेजी के कई शब्दों को अपने घरों ओर दफ्तरों में बोलती और समझती है तो हिन्दी को उन शब्दों के कृत्रिम अनुवाद के लिए मोहताज नहीं रखना चाहिए । अनुवाद तभी हो, यह आवश्यक तथा वांछनीय केवल तभी बनता है, जब हिन्दी भाषी जनता को हिन्दी से अपरिचित विदेशी भाषाओं जैसे फ्रेंच, रूसी, जर्मनी के शब्दों को समझने की बात हो । अंग्रेजी के जो शब्द हिन्दी जनता के लिए सहज रूप से बोध गम्य हों उनका अनुवाद नहीं किया जाना चाहिए ।

चौथा भाग

अध्याय—11

हिन्दी भाषा : कठिन और सरल

1

भाषा में कठिन और सरल शब्दों की बात सापेक्षिक होती है । इसमें कुछ भी अपने आप में कठिन या सरल नहीं होता । जो कुछ भी होता है वह एक दूसरे से नप कर होता है । यदि भाषा में किसी निरपेक्ष शब्द की खोज की जाए तो ऐसी खोज की उससे कम दुर्गति नहीं होगी जो निरपेक्ष शब्द की दर्शन शास्त्र की तत्व मीमांसा में हुई है । हिन्दी भाषा इस सत्य का अपवाद नहीं है कि ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में निरपेक्ष की खोज शून्य की खोज बन कर रह जाती है ।

कठिन और सरल भाषा का प्रश्न केवल शब्दों का नहीं बलिक उनकी बुनावट का भी होता है । किसी भाषा का व्याकरण इसमें महत्व पूर्ण होता है । भाषाओं के व्याकरण अलग अलग होते हैं ।

किसी भाषा के सरल या कठिन होने के लिए एक दूसरा सन्दर्भ भी होता है । हिन्दी के संबंध में यह हिन्दी भाषियों और अहिन्दी भाषियों के दृष्टि कोण का है । क्या हिन्दी हिन्दी भाषियों के लिए कठिन है ? क्या हिन्दी अहिन्दी भाषियों के लिए कठिन है ? यदि हिन्दी हिन्दी भाषियों के लिए सरल है तो अहिन्दी भाषियों के लिए इसे कठिन कहना दूसरी बात है । फिर उसका समाधान इस समाधान से भिन्न होगा जब हिन्दी हिन्दी भाषियों के लिए कठिन हो । इस प्रकार के तर्क के आधार पर हिन्दी भाषा के कुल चार पहलू बनते हैं :

1. हिन्दी भाषियों के लिए सरल और अहिन्दी भाषियों के लिए सरल ।
2. हिन्दी भाषियों के लिए सरल और अहिन्दी भाषियों के लिए कठिन ।
3. हिन्दी भाषियों के लिए कठिन और अहिन्दी भाषियों के लिए सरल ।
4. हिन्दी भाषियों के लिए कठिन और अहिन्दी भाषियों के लिए कठिन ।

व्याकरण और शब्द की दृष्टि से हिन्दी की प्रकृति संस्कृत से अलग है । हिन्दी कम से कम हिन्दी भाषियों के लिए बिलकुल भी कठिन नहीं रहेगी यदि शब्द और व्याकरण की दृष्टि से इसके मूल स्वभाव को न छेड़ा जाए । शब्द और व्याकरण की दोनों दृष्टियों से हिन्दी में विकास होते रहना है लेकिन यह विकास बोझिल और

कठिन नहीं होगा यदि इसके मूल स्वभाव के अनुरूप होता रहेगा । हिन्दी विकास की सारी संभावनाओं से परिपूर्ण भाषा है । यह हिन्दी के स्वभाव में नही है कि यह अपने विकास को रोक कर कहीं खड़ी हो जाए ।

कोई भाषा कठिन कब होती है ? इसका कुछ भी उत्तर दिया जाए पर यह निश्चित है कि अनपढ़ और निरक्षर लोग भाषा को कठिन नहीं बनाते हैं । अनपढ़ लोगों को भाषा का जितना ज्ञान होता है वे उसका उतना स्पष्ट प्रयोग करना चाहते हैं । यदि उन्हें कोई चालाकी खेलने की आवश्यकता होती है तो वे किसी भी भाषा का प्रयोग न करके केवल मौन रह जाया करते हैं । यदि वे झूठ बोलते हैं तो उसमें भी सरल भाषा का प्रयोग करते हैं । उनके झूठ में कठिन भाषा नहीं होती है । कठिन भाषा का जन्म तब होता है जब न साफ सच बोला जाता है और न साफ झूठ बोला जाता है । सच और झूठ दो टूक हो सकते हैं, लेकिन जब सच और झूठ के बीच में कुछ बोला जाता हैं और वह बहुत बोला जाता है, वही भाषा को कठिन बनाता है । लोगों के जो मन में होता है जब उसे छिपा कर समाज में श्रेष्ठता का दम्भ भरते हुए भाषा का प्रयोग किया जाता है तो ऐसा प्रयोग उसे निश्चित रूप से कठिन बना देता है ।

भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास से एक उदाहरण दे कर बताया जा सकता है कि भाषा को किस समय कठिन होना पड़ता है । अद्वैत वेदान्त के दार्शनिक शंकराचार्य ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या मानते हैं । वे पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । वे पारमार्थिक सत्ता का व्यावहारिक सत्ता में हस्तक्षेप सहन नहीं करते । उनकी पारमार्थिक सत्ता का व्यवहार में कोई लाभ नहीं है । वे व्यावहारिक सत्ता में चार वर्णों की समाज व्यवस्था के ऊँच नीच के भेद के अनुसार लोगों के आचरण को आवश्यक मानते हैं । वे पारमार्थिक सत्ता में आत्मा और परमात्मा में अभेद मानते हैं । ये दोनों बातें एक साथ मानते हुए वे यह बताने में कठिनाई का अनुभव करते हैं कि पारमार्थिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता का आपस में क्या संबंध है । वे प्रसन्नता का अनुभव करते यदि उनसे यह प्रश्न नहीं पूछा जाता । लेकिन उनसे यह प्रश्न पूछा जाता है और उन्हें इसका उत्तर देना पड़ता है ।

उत्तर में वे यह नहीं कह सकते थे कि उन्हें इस संबंध का पता नहीं है । ऐसा कहने से उनके ज्ञान का सारा आधार ही धराशायी हो जाता । इस लिए उन्हें जो कुछ उत्तर देना था वह ईमान दारी का नहीं हो सकता था । इसके उत्तर में जिस भाषा का भी प्रयोग किया जाना था वह निश्चित रूप से कठिन भाषा होनी थी । उन्होंने इस संबंध को बताने के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है वह संस्कृत भाषा का 'अनिर्वचनीय' है । मनुष्यों में से इस शब्द का अर्थ कौन समझेगा ? जिस दार्शनिक ने इस शब्द का प्रयोग किया है उसका उद्देश्य भी यह नहीं था कि कोई इसका अर्थ समझे । वह इतिहास की उठा पटक में अपने वर्ग के निहित स्वार्थों का बचाव करना

चाह रहा था । उससे बँध कर वह सरल और स्पष्ट भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता था । जहाँ शंकराचार्य को एक साधारण मनुष्य के समान मौन हो जाना चाहिए था वहाँ शकराचार्य विद्वान बन कर 'अनिर्वचनीय' शब्द का प्रयोग करते हैं । जबकि किसी विचार शास्त्र का अन्तिम उद्देश्य जिस पर मोक्ष दर्शन की नींव खड़ी हुई है, 'अनिर्वचनीय' शब्द से परिभाषित होता है तो उस तक जाने वाला हर शब्द और व्याकरण की सारी संरचना कठिन हो जाएगी । यही कारण है कि इस दर्शन शास्त्र को समझने और समझाने में कठिन से कठिन भाषा का प्रयोग किया जाता है । ऐसी भाषा कभी सरल नहीं हो सकती । स्वर्गीय जवाहर लाल नेहरू ने इस विषय पर बहुत ध्यान दिया था । उन्होंने अपने लेख में, जो 'राज़ भाषा भारती' के 25वे अंक में छपा है, लिखा है – "मेरा विश्वास है कि लगभग दूसरी हर चीज के बनिस्वत भाषा किसी राष्ट्र के चरित्र की ज्यादा बड़ी कसौटी है । अगर भाषा शक्ति शाली और जोर दार होती है तो उसको इस्तेमाल करने वाले लोग भी वैसे ही होते हैं, अगर वह छिछली, लच्छेदार और पेचीदा है तो उसे बोलने वाली प्रजा में भी वही लक्षण देखने को मिलेंगे । बेशक, ज्यादा सच्चे ढंग से यह कहना चाहिए कि प्रजा के लक्षण उसकी भाषा में देखने को मिलते हैं क्योंकि भाषा को बनाने वाले लोग ही होते हैं । लेकिन इस बात में भी कुछ सच्चाई है कि भाषा लोगों को बनाती है । जो भाषा ठीक ठीक या यथार्थ होती है, वह लोगों को ठीक ठीक विचार करने वाले बनाती है । शब्दों या वाक्यों के अर्थ में यथार्थता और निश्चितता न होने से विचारों की गड़बड़ पैदा होती है और उसके परिणाम स्वरूप काम भी वैसा ही होता है ।"

2

हिन्दी भाषा को कठिन या सरल एक दूसरी दृष्टि से भी कहा जा सकता है । यह अलग अलग विषयों की बात है । जब एक विषय बदलता है तो उसमें यह कठिनाई उपस्थित होती है । शब्दों की यह कठिनता केवल हिन्दी में नहीं बल्कि संसार की सारी भाषाओं में विद्यमान है ।

जो मनुष्य रिक्शा चला रहा है उसके लिए रिक्शे से संबंधित सभी शब्द सरल होते हैं । इसी प्रकार जो मनुष्य कार चलाता है उसके लिए कार से संबंधित सारे शब्द सरल होते हैं । अब यदि एक रिक्शा चलाने वाला मनुष्य कार चलाने लगे तो उसके लिए कार से संबंधित अधिकांश शब्द कठिन हो जाते हैं । कठिन शब्दों की यह समस्या सीखने के अनन्तर समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार जो मनुष्य विज्ञान या कला का

कोई एक विषय पढ़ता है उस विषय के शब्द उसके लिए सरल हो जाते हैं। यदि वह व्यक्ति अपना विषय बदलना चाहे तो नए विषय के कई शब्द उसके लिए कठिन हो जाते हैं। उसे नए विषय के नए शब्द नए सिरे से सीखने पड़ते हैं। हो सकता है, उसे उस विषय में बिल्कुल आरम्भिक बातें सीखनी पड़ जाएँ। इस लिए विषय के आधार पर जब कोई भाषा कठिन हो जाती है तो उसमें कठिनाई का कोई ठोस और भाषा वैज्ञानिक आधार नहीं होता। वह बच्चे के समान हमें स्वयं सीखनी पड़ती है। गणित के विद्यार्थी को अर्थ शास्त्र के पारिभाषिक शब्द बहुत कठिन लगेंगे। इसी प्रकार अर्थ शास्त्र के विद्यार्थी को गणित के पारिभाषिक शब्द कठिन लग सकते हैं। शब्दों की ऐसी कठिनाई पर शिक्षा के द्वारा अधिकार कर लिया जाता है। पर यहाँ जिस वास्तविक कठिन भाषा की चर्चा की जा रही है वह वह भाषा है जिसमें गणित का विद्यार्थी भी गणित की भाषा न समझ पाता हो। विषय बदलने पर हर भाषा कठिन हो जाती है लेकिन एक ही विषय के सम्बन्ध में ऐसी कठिनाई पैदा नहीं होनी चाहिए। कम से कम किसी भाषा को जान बूझ कर कठिन नहीं बनाया जाना चाहिए।

हिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी के माध्यम से गणित पढ़ाया जाता है। इसमें विद्यार्थियों को लघुतम समापवर्त्य तथा महत्तम समापवर्तक के प्रश्न भी सिखाए जाते हैं। जिन बच्चों को ये प्रश्न सिखाए जाते हैं उनमें से एक भी बच्चा 'समापवर्त्य' और 'समापवर्तक' शब्द के वास्तविक अर्थ नहीं जानता है। 'समापवर्तक' सम+अप+वर्तक से मिल कर बनता है। इसमें प्रयुक्त किसी भी उपसर्ग या प्रत्यय का शाब्दिक अर्थ जानना संस्कृत के पण्डितों के लिए भी दुरूह है। लेकिन हिन्दी भाषी बच्चों को ऐसे शब्द जबरन रटवाए जाते हैं। इस पूरे शब्द समूह को जानने की कठिनाई से बचने के लिए बच्चे केवल 'लघुत्तम के सवाल' और 'महत्तम के सवाल' करना याद रखते हैं। इन शब्दों को संक्षेप में ल स प तथा म स प कहने की परम्परा भी इसी कारण चल निकली है। अंग्रेजी में लघुतम समापवर्त्य को 'लोवस्ट कामन मल्टिपल' तथा महत्तम समापवर्तक को 'हाइएस्ट कामन फैक्टर' कहा जाता है। अंग्रेजी में तीनों शब्द अलग अलग और स्पष्ट हैं। संस्कृत भाषा की दुरूह परम्परा से जुड़ने के कारण यह हिन्दी का ही दुर्भाग्य है कि इसे हर शब्द धातु में उपसर्ग और प्रत्यय लगा हुआ मिलता है। लेकिन ऐसे बने हुए शब्दों के हिन्दी भाषियों में से अर्थ कौन जानता है?

राजकीय प्रकाशन, शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश की ओर से जूनियर हाई स्कूल की कक्षा 6 के विद्यार्थियों के लिए अंक गणित की पुस्तक छपी है। इसमें अपवर्त्य, समापवर्त्य और लघुतम समापवर्त्य की परिभाषाएँ दी हुई हैं। इसमें लिखा है "—4, 8, 12, 16, 20······संख्याएँ 4 की क्रम से 1, 2, 3, 4, 5······गुनी हैं। ये संख्याएँ 4 की अपवर्त्य कहलाती हैं।" फिर लिखा है—"समापवर्त्य का अर्थ है—सर्वनिष्ठ अपवर्त्य या सब में सम्मिलित अपवर्त्य।" फिर लिखा है—"दो या दो से

अधिक संख्याओं का लघुतम समापवर्त्य वह छोटी से छोटी संख्या है जो उन दी हुई संख्याओं में से प्रत्येक में से पूरी पूरी विभाजित हो जाए।" इसमें अपवर्तक, समापवर्तक और महत्तम समापवर्तक की परिभाषाएँ भी दी हुई हैं। कहा गया है—"1, 2, 4, 8 ऐसी संख्याएँ हैं जिनसे 8 पूरा पूरा विभाजित हो जाता है। ये संख्याएँ 8 की अपवर्तक हैं। अपवर्तक का अर्थ विभाजक है।" फिर अपवर्तक की पूर्ण परिभाषा लिखी गई है—"जिन संख्याओं से कोई संख्या पूरी पूरी विभाजित हो जाती है उन संख्याओं को उस संख्या के अपवर्तक कहते हैं।" फिर समापवर्तक के बारे में लिखा है—"समापवर्तक का अर्थ है—सर्वनिष्ठ अपवर्तक।" महत्तम समापवर्तक की परिभाषा इस तरह दी है—'दो या दो से अधिक संख्याओं का महत्तम समापवर्तक वह बड़ी से बड़ी संख्या है जो उनमें से प्रत्येक को पूरा पूरा विभाजित करे।"

यह माना जा सकता है कि पारिभाषिक शब्दावली में कोई शब्द दुरूह रचना का आ सकता है। लेकिन वह केवल विचार के स्तर तक ही सीमित रहना चाहिए। प्रयत्न यह रहना चाहिए कि व्यवहार के लिए उसे सरल बनाया जाए। हो सकता है, भाषा में कोई पुराना शब्द दुरूह चल रहा हो परन्तु जब नई शब्दावली बनाने का अवसर मिल रहा है तो इसका लाभ उठा कर उस पुराने शब्द को भी हटाया जा सकता है। पारिभाषिक शब्दावली के लिए सारे पुराने दुरूह शब्दों की छँटनी कर दी जानी चाहिए।

जब शब्द का निर्माण करना अनिवार्य हो गया हो, वह शब्द कठिन से कठिन भी बनाया जा सकता है और सरल से सरल भी बनाया जा सकता है। यह शब्द निर्माण करने वाले विद्वानों की जिम्मेदारी है कि शब्द सरल बनाएँ या कठिन बनाएँ। यदि कोई विद्वान यह कहे कि वह केवल कठिन शब्द ही बना सकता है और सरल शब्द नहीं बना सकता तो भाषा का ऐसा विद्वान समाज के किसी काम का व्यक्ति नहीं है। समाज का यह अधिकार है कि वह अपने विद्वानों से समाज की आवश्यकता तथा इच्छा के अनुसार काम ले। विद्वान को यह अधिकार नहीं मिला हुआ है कि वह अपनी इच्छा की बातें समाज पर थोपे। विद्वान व्यक्ति अपने क्षेत्र का विशेषज्ञ होता है। विशेषज्ञ का काम केवल परामर्श देना होता है। वह अपना काम करे और अलग हटे। अन्य विज्ञानों की तरह भाषा विज्ञान की विद्वत्ता भी 'एप्लाइड विद्वत्ता' रहनी चाहिए। विद्वत्ता को अपने क्षेत्र की शुद्धता के नाम पर समाज के विरोध में जाने का अधिकार नहीं मिल जाना चाहिए। कोई भी विद्वत्ता समाज के कुछ निर्देशों के अनुसार काम करती है। विद्वत्ता को समाज द्वारा दिए गए उन निर्देशों के अनुसार ही काम करना चाहिए। समाज के निर्देशों से बाहर जा कर उसे अपनी नहीं चलानी चाहिए। विद्वत्ता समाज को वह देने का काम न करने लगे जो समाज ने नहीं माँगा है। दुर्भाग्य से इस देश में विद्वत्ता समाज के सिर चढ़ी हुई है। यह यहाँ तक सिर पर चढ़ी हुई है कि समाज का निरादर तक करती है। इसने समाज के भले के लिए नहीं सोचा है। यह

केवल अपने छोटे से वर्ग की स्वार्थ सिद्धि की बात सोचती चली गई है। इसने समाज की भाषा जैसी सामूहिक सम्पत्ति को भी संस्कृत के नाम से अपने घर की निजी सम्पत्ति बना लिया था।

यदि विद्वान व्यक्ति समाज को सरल शब्द रच कर नहीं दे सकता तो वह विद्वान किस बात का है ? विद्वत्ता पर ऐसा प्रश्न चिन्ह अवश्य लगना चहिए। विद्वत्ता की कोई सामाजिक कसौटी होनी चाहिए। समाज से कट कर विद्वत्ता संसार में निर्‌उद्‌देश्य घूमती है। ऐसी विद्वत्ता समाज पर हर दृष्टि से केवल बोझ बन कर रह जाती है। यदि समाज ऐसी विद्वत्ता का त्याग कर दे तो इसमें कुछ भी बुरा नहीं है। उस समय तो ऐसी विद्वत्ता को क्षमा मिलनी ही नहीं चाहिए जब यह समाज को अपनी तुलना में अनपढ़ रख कर और उसे मूर्ख बताती हुई उसका अपमान करने की धृष्टता भी करती है। ऐसी विद्वत्ता समाज के शरीर पर कैंसर का रोग है जिसे पहली अवस्था में ही नस्तर से काट दिया जाना चाहिए। किसी भी विद्वत्ता का यह दर्प सहन नहीं किया जाना चाहिए कि वह समाज को मूर्ख तक कहे। समाज के भले में वह एक काम नहीं कर सकती और उलटे समाज का अपमान करती है। इस देश में पुरानी मनो वृत्ति की विद्वत्ता ने शूद्र और नारी समाज के विरोध में ऐसा ही घोर ऐतिहासिक अपराध किया है।

3

हिन्दी सबसे सरल भाषाओं में से एक कही जाती रही है। लेकिन यह इस भाषा का सबसे बड़ा दुर्भाग्य ही होगा यदि इसे सबसे जटिल बना दिया जाए। हिन्दी का संस्कृत भाषा से वैर नहीं है। यह आज तक उसके सभी शब्दों को काट छाँट कर अपनाती रही है। यह काट छाँट हिन्दी के अपने विवेक की रही है। हिन्दी में यह भाषा का अलिखित विधान चला आ रहा है कि कोई भी शब्द चार पाँच मात्राओं से बड़ा नहीं होना चाहिए। यदि दूसरी भाषाओं के शब्द कुछ बड़े होते हैं तो यह उन्हें अपनाते समय छोटे कर लेती है। संस्कृत के सम्बन्ध से इसका व्यवहार ऐसा रहा है कि यदि उपसर्ग वाले शब्द लेगी तो उनमें से प्रत्यय निकाल देगी, यदि प्रत्यय वाले शब्द लेगी तो उनमें से उपसर्ग हटा लेगी। यह या तो शब्द को अपनी छैनी से आगे से तरास देती है या उसे पीछे से छील देती है। कभी कभी उपसर्ग और प्रत्यय—दोनों पर छैनी मार देती है। आवश्यकता बनती है तो उस शब्द का पेट चीर कर पूरा आपरेशन कर देती है। कुल मिला कर शब्द को हिन्दी के अनुरूप डील डोल में गोल और सरपट चलने वाला पहिया

बना लेती है। —अर्थात यह उसे मुख सुख की कसौटी पर खरा उतार कर परिवर्तित करती है।

संस्कृत के समासों के संबंध में डा० देवी दत्त शर्मा ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय' में हमें सच्ची बात बताई है। उन्होंने संस्कृत समास रचना की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि बताते हुए लिखा है—"यद्यपि संस्कृत अमेरिका के रेड इंडियनों की भाषा के समान समास् प्रधान भाषा नहीं, किन्तु फिर भी साहित्यिक संस्कृत में जो पूरे वाक्यों में समस्त पद दिखाई देते हैं, वह कोई अचानक विकसित होने वाली भाषाई घटना नहीं थी। यद्यपि बाण, दण्डी, सुबन्धु आदि की संस्कृत में पाई जाने वाली समास रचना भाषा की कृत्रिमता की चरम सीमा थी तथा भारोपीय परिवार की किसी अन्य भाषा में नहीं पाई जाती, पर संस्कृत में स्वतन्त्र पदों को एक समस्त पद के रूप में घटित करने की मूल प्रवृति इसकी उत्पति के आदि काल से ही अर्थात भारोपीय काल से ही विद्यमान थी।" हाँ, इतना जरूर है कि वैदिक भाषा में समास सिर पर चढ़ कर नहीं बोले थे। डा० देवी दत्त शर्मा आगे लिखते हैं —"वैदिक काल में जबकि संस्कृत बोल चाल की भाषा थी, इसके समस्त पदों के घटकों की संख्या अत्यन्त ही सीमित अर्थात दो होती थी। यहाँ तक कि तीन पदों के योग से बनने वाले समस्त पदों की संख्या भी नगण्य ही थी।"

मैं डा० देवी दत्त शर्मा के उपरोक्त दोनों कथनों में कुछ जोड़ना या घटाना नहीं चाहता हूँ। उन्होंने सही स्थिति सामने रखी है। मैं केवल समासों की इस ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि में सामाजिक पृष्ठ भूमि रखना चाहता हूँ।

जबकि संस्कृत शूद्रों के रूप में सामान्य जनों को पढ़ाई नहीं जानी थी तो उसे अनिवार्य रूप में कठिन भी बनाया जाना था। इस बात को इस प्रकार भी रखा जा सकता है कि संस्कृत भाषा पर सामान्य जनों का कोई अंकुश नहीं था। यदि किसी भाषा को सामान्य जनों के बीच रख कर विकसित न किया जाए तो वह निश्चित रूप से कठिनता की ओर चली जाएगी। इसका सामाजिक तर्क यह है कि संस्कृत को शूद्रों और नारियों से दूर रख कर दो बातें हुई हैं—एक तो सामान्य जन संस्कृत भाषा, साहित्य और सामाजिक सम्पर्क से वंचित रह गया, दूसरे संस्कृत कठिन बन गई। सीधा तर्क है—यदि संस्कृत सामान्य जनों को नहीं पढ़ाई जानी थी तो इसे कठिन होने से स्वयं पुराणों के ब्रह्मा भी नहीं बचा सकते थे। अगली बात यह है कि अब संस्कृत को सरल बनाया भी नहीं जा सकता। अन्तिम बात यह है कि हिन्दी जैसी एक बड़े विस्तार की सरल भाषा हमारे पास होने से संस्कृत को सरल बनाने की आवश्यकता भी नहीं है।

संसार की अन्य भाषाओं के बारे में इस क्षेत्र के विशिष्ट विद्वान ही कुछ कह सकते हैं, मैं केवल यह कहना चाह रहा हूँ कि संस्कृत भाषा में वाक्य रचना की सबसे

अधिक दुर्गति हुई है । यह एक अध्ययन का विषय है कि जो भाषा सबसे अधिक नियम बाधित रही हो, जिसके व्याकरण सूत्र संसार की भाषाओं की तुलना में सबसे ज्यादा हों, वह भाषा वाक्य रचना के नाम पर अपनी बनावट में खुली अराजकता बरतती है । डा० देवी दत्त शर्मा इस बारे में लिखते हैं—"वाक्य संरचना पर संस्कृत के वैयाकरणों ने बहुत ही कम विवेचन किया है । उनका प्रयास शब्द प्रयोगों के व्याख्यान पर ही अधिक रहा है । संस्कृत की आरंभिक वाक्य रचना का रूप हमें ऋग्वेद की भाषा में देखने को मिलता है । उस काल की ही वाक्य रचना में हम देखते हैं कि विभक्ति प्रधान भाषा होने के कारण इसमें स्थान तत्व का कोई विशेष महत्त्व नहीं था अर्थात उसमें वाक्यान्तर्गत पदों की अपनी कोई नियत स्थिति नहीं थी । विभक्ति प्रत्ययों के द्वारा संबंध तत्वों की अभिव्यक्ति हो जाने से किसी भी पद को वाक्य में कहीं भी रखा जा सकता था ।" यह बात डा० देवी दत्त शर्मा ने 'महाभाष्य' के सूत्र को उद्धृत करते हुए कही है । वर्तमान समय की संस्कृत भाषा के बारे में डा० शर्मा अपना साक्ष्य स्वयं देते हैं कि "संस्कृत की यह विशेषता अब भी उसमें बनी हुई है ।"

मैं संस्कृत भाषा की वाक्य रचना के संबंध में यहाँ भाषा के सामाजिक संदर्भ की कुल दो बातें रखना चाह रहा हूँ । पहली बात यह है कि वाक्य रचना की ऐसी अराजकता से भी भाषा कठिन बनती है । शूद्रों और नारियों के रूप में यदि सामान्य जन इसे पढ़ना भी चाहते तो वे इसके गोरख धंधे को थोड़े बहुत समय में समझ नहीं सकते थे । दूसरी बात यह है कि व्याकरण के इतने सारे नियमों के रहते यदि संस्कृत में वाक्य रचना के नियम भी बना दिए जाते तो यह भाषा अपनी मौत आप मर गई होती । बात यह होनी चाहिए कि यदि वाक्य रचना का कोई नियम बनाया जाता तो संस्कृत के समासों, संधियों, उपसर्गों और प्रत्ययों की महत्ता चली जाती । वाक्य रचना तथा वाक्य रचना को छोड़ कर शेष सारा व्याकरण आपस में एक दूसरे का विरोधी है । संस्कृत में या तो वाक्य रचना चलती, या समासों, सन्धियों, उपसर्गों और प्रत्ययों का राज्य चलता । दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकती थीं ।

अनुवाद में, या प्रभाव की प्रक्रिया में, एक भाषा का दूसरी भाषा में सब कुछ अँधाधुंध नहीं चलता है । संस्कृत के वार्णिक छन्द संस्कृत के वातावरण में ही चल सकते हैं । संस्कृत का तमाम श्लोक साहित्य वार्णिक छन्द में ही लिखा गया है । इसके लिए संस्कृत ने अपने व्याकरण में लोगों को छूट दे रखी है । हिन्दी की दृष्टि से वाक्य रचना में ऐसी छूट भाषा में खुली अनुशासन हीनता कही जाएगी । यह भाषा में अराजकता के बराबर होगी । हिन्दी इसे किसी भी स्थिति में सहन नहीं कर सकती ।

संस्कृत ने वाक्य रचना में कर्त्ता, कर्म और क्रिया के क्रम का कोई नियम नहीं रखा है । एक वाक्य को किसी भी प्रकार रखा जा सकता है । पहले कर्त्ता लिया जा सकता है, फिर कर्म, और फिर क्रिया । पहले कर्म लिया जा सकता है, फिर कर्त्ता, और फिर

क्रिया। किसी वाक्य में क्रिया पहले आ सकती है। हिन्दी में ऐसा करना संभव नहीं है। फिर हिन्दी में कोई शब्द, जब वह एक बार तराश लिया गया है, आगे छोटा या बड़ा नहीं किया जा सकता। उसे उसी रूप में प्रयोग किया जाएगा। लेकिन संस्कृत पहले तो शब्द को तराशने नहीं देती पर बाद में उसे हर तरह से तोड़ती मरोड़ती रहती है। हिन्दी उसे एक बार तराश कर फिर उसे बार बार नहीं छेड़ती है। संस्कृत की सन्धियाँ और संस्कृत के समास इसी लिए बने हैं ताकि शब्द के साथ तोड़ने मरोड़ने की जितनी चाहे ज्यादती कर ली जाए। स्वर सन्धि में दो लघु मिल कर भी एक गुरु होता है तथा दो गुरु मिल कर भी एक गुरु होता है। हिन्दी भाषा को ऐसा मानने में बहुत कठिनाई होती है। संस्कृत में जो शब्द चाहे जिसके साथ मिला दिया जाए इसकी कोई मनाही नहीं है। संस्कृत के शब्द आपस में ऐसे गुँथे रहते हैं कि वे हिन्दी की पटरी पर एक कदम भी नहीं चल सकते। इसी कारण, संस्कृत के हर श्लोक का अर्थ जानने के लिए पहले उसका अन्वय करना पड़ता है। इसके विपरीत, हिन्दी आरम्भ में ही अन्वय करके लिखी जाती है। इसका अर्थ जानने के लिए इसके अगले अन्वय की आवश्यकता नहीं रहती है।

संस्कृत हिन्दी की दृष्टि से वाक्य रचना के साथ बहुत बुरा सलूक करती है। किसी श्लोक का उच्चारण केवल हजार बार रटने के बाद ही हो पाता है तथा किसी भी श्लोक का अर्थ घण्टे भर तक अन्वय करने के बाद ही प्राप्त हो पाता है। फिर विद्वानों के अगले झगड़े खड़े हो जाते हैं कि मेरे -द्वारा किया गया अर्थ सही है और तुम्हारे द्वारा किया गया अर्थ गलत है। हिन्दी भाषी मनुष्य भाषा का तत्काल अर्थ समझना चाहते हैं। वे अर्थ के लिए सन्धि और समासों के नियम जान कर तथा उन्हें खोल कर, फिर वाक्य रचना का अन्वय करने तक का इन्तजार नहीं कर सकते। हिन्दी जन भाषा से भिन्न किसी विशेष प्रकार के ज्ञान की कोड भाषा नहीं है। इसमें ब्रह्म ज्ञान को भी सरल होना पड़ता है।

पुनः कहा जा सकता है कि अपने लम्बे लम्बे शब्द चलाने के लिए संस्कृत को सन्धियों, समासों, उपसर्गों, प्रत्ययों और विसर्गों की परिपाटी को एक छत्र स्थान देना पड़ा है। साथ ही, उसे वाक्य रचना में कर्ता, कर्म और क्रिया के विशेष नियम को भूलना पड़ा है। भाषा के सौन्दर्य तथा उसकी सार्थकता का इतना विपुल भंडार छोड़ कर वह लम्बे शब्दों का मोह बनाए रख सकी है। हिन्दी ऐसे लोभ में फँसी हुई भाषा नहीं है। यह अपनी सरलता और सहजता के लिए अपने ऊपर कितना भी बड़ा अनुशासन रख सकती है तथा सन्धियों, समासों, उपसर्गों, प्रत्ययों और विसर्गों के सारे मोह को पल भर में त्याग सकती है। अपनी उत्पत्ति और अपने विकास में यह ऐसा ही करती आ रही है।

संस्कृतज्ञों को ध्यान रखना चाहिए कि यह संभव नहीं है कि संस्कृत की हर चीज हिन्दी में चल सकेगी। उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह अनिवार्य भी

नहीं है कि संस्कृत की हर चीज हिन्दी में चलाई जाए। संस्कृत के वार्णिक छन्द खड़ी बोली की हिन्दी में चल ही नहीं सके हैं, वर्णाश्रम की ऊँच नीच और भेद भाव की समाज व्यवस्था के नाते संस्कृत और हिन्दी में सांस्कृतिक प्यार भी नहीं है।

4

संस्कृत हिन्दी को जैसे दुःख शब्दों के निर्माण में दे रही है वैसे ही दुःख वर्ण माला के क्षेत्र में भी दे रही है। पहली बात, हिन्दी को यही कह कर हीन और अपमानित कर दिया जाता है कि इसने संस्कृत की वर्ण माला को अपनाया है। इस पहले वार में ही इतना बड़ा कुठाराघात कर दिया जाता है कि हिन्दी के पास कुछ कहने के लिए नहीं रह जाता। इस बात को कहने वाला कोई नहीं है कि जब यह बात स्वयं सिद्ध है कि संस्कृत एक संस्कार की हुई भाषा है तो संस्कृत से पहले कोई भाषा रही होगी जिसका संस्कृत के रूप में संस्कार किया गया था। संस्कृत से पहली उस भाषा की कोई वर्ण माला भी रही होगी। हो सकता है कि हिन्दी भाषा संस्कृत के बदले, संस्कृत से भी पहली उस भाषा की वर्ण माला से जुड़ती हो। बजाय इसके कि संस्कृत अपने से पहली उस भाषा या उन भाषाओं के सामने सम्मान पूर्वक नत मस्तक रहने का विनीत कार्य करती, यह अपने से पहली भाषा की बेटी पोतियों पर बेमतलब का रोब जमाती है। इसके स्थान पर यह कहना अधिक उचित रहेगा कि संस्कृत हिन्दी से प्रभावित भाषा रही है। जब संस्कृत का निर्माण किया गया होगा तो संस्कृत ने हिन्दी भंडार से अनेक शब्द लिए होंगे। संस्कृत भाषा आदि हिन्दी भंडार की उसी एक किरण के रूप में विकसित होती रही होगी। शेष सारा शब्द भंडार हिन्दी के पास ही रहा है। उस शब्द भंडार में मजदूरों और किसानों की भाषा के शब्द थे। संस्कृत केवल पुरोहित वर्ग की जीविका का हित साधन करती चली गई। संस्कृत की पुरानी विचार धारा के लोग इस काम में माहिर रहे हैं कि विरोधी लोगों की झोंपड़ियों में आग लगा दो तथा उनके ग्रन्थों को फूँक डालो। निर्धनों की झोंपड़ियों में आग देने की परम्परा आज तक जारी है। इस लिए ऐसा भी रहा होगा कि दूसरे लोगों की वर्ण माला को मिटा दिया गया हो। इसमें कुछ भी अचरज नहीं है।

'ष' का उच्चारण किसी भी हिन्दी भाषी ने आज तक नहीं किया है। दूसरे क्षेत्रों के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ठेठ खड़ी बोली के मेरठ मंडल के स्कूलों में बच्चों को इसे अध्यापक 'पेट चिरा स' बोल कर पढ़ाते हैं। इसका कोई भी दूसरा उच्चारण नहीं किया जाता है। हिन्दी व्याकरण की पुस्तकों में इसे 'मूर्धन्य स' लिख कर बताया जाता है। वास्तव में, आज किसी हिन्दी भाषी की

हिम्मत नहीं है कि 'ष' का उच्चारण 'स' या 'श' से अन्तर करके कर सके। यदि हम हिन्दी की परम्परा में विगत अतीत की ओर देखें तो वहाँ 'ष' को 'ख' उच्चरित किया गया है।

यह मानी हुई बात है कि हिन्दी ने संस्कृत का कोई भी शब्द तत्सम रूप में नहीं अपनाया है। संस्कृत का जो भी शब्द है, वह हिन्दी में किसी न किसी रूप में तद्भव अवश्य हो गया है। शुद्ध से शुद्ध शब्द भी कहीं न कहीं तद्भव हो गया है। संस्कृत के जिस शब्द को हिन्दी में तत्सम बताया जाता है, यदि वह मात्र लिपि में तत्सम रूप में लिखा जा रहा है तो इतने भर से संस्कृतज्ञों को सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। उन्हें इस बात का जवाब देना है कि यदि वह शब्द लिपि में तत्सम रूप में लिखा जा रहा है तो क्या हिन्दी भाषियों के द्वारा उसके उच्चारण में भी कोई अन्तर नही आया है ? यदि उसके उच्चारण में अन्तर आ गया है तो फिर उसे तत्सम घोषित नहीं किया जाना चाहिए।

डा० प्रेम प्रकाश गौतम की, जिन्होंने खड़ी बोली हिन्दी गद्य के विकास पर अपना शोध कार्य किया है,—एक पुस्तक 'चिन्तन' है। इस पुस्तक में उनका 'तत्सम समझे जाने वाले कुछ शब्द' नाम से एक लेख संग्रहीत है। इस लेख में उनका दृष्टि कोण यह रहा है कि "शिष्ट तथा साहित्यिक समाज के लोगों में व्यवहृत भाषा पर उचित नियन्त्रण, उसकी शब्दगत एकरूपता की रक्षा और इस क्षेत्र की सम्भावित अराजकता रोकने के लिए आवश्यक है।" लेकिन इस लेख के आरम्भ में उन्होंने एक दूसरी बात भी मानी है। उन्होंने लिखा है—"निश्चय ही हिन्दी में प्रचलित सभी संस्कृत तत्सम शब्दों को संस्कृत के समान बोलना और लिखना संभव नहीं है।" उन्होंने स्वीकार किया है—"प्रचलित शब्दों को अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। भाषा पर तत्समता का प्रतिबंध लगाना भी उचित नहीं। तद्भव और देशज शब्द ही किसी भी जन भाषा के वास्तविक शब्द होते हैं। हिन्दी की अपनी विशिष्ट सम्पत्ति तद्भव एवं देशज शब्द और उसके निजी शब्द रूप ही हैं। निस्संदेह प्रचलन की धारा लौटाई नहीं जा सकती।" फिर भी डा० गौतम ने चाहा है कि कुछ शब्दों को यथा संभव शुद्ध रूप में लिखा जा सकता है। उन्होंने इस लेख में ऐसे शब्दों की एक सूची दी है जो हिन्दी में लिखे जा रहे हैं लेकिन संस्कृत की दृष्टि से अशुद्ध हैं।

आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने हिन्दी व्याकरण पर लिखे अपने ग्रन्थ का नाम 'हिन्दी शब्दानुशासन' रखा है। हिन्दी के इस पाणिनि का इस शीर्षक से यही मतलब है कि हिन्दी शब्दों के मामले में किसी प्रकार की अनुशासन हीनता बर्दाश्त नहीं की जाएगी। स्वयं हिन्दी भाषी जनता हिन्दी में शब्दों की इस अराजकता को नापसन्द करती है। अंतर केवल यह है कि हिन्दी में केवल हिन्दी का अनुशासन चलता है और किसी अन्य भाषा का नहीं। हिन्दी बिना नियमों की भाषा नहीं है। कोई इस मामले

शब्दों के अर्थ मजाकिया तक हो गए हैं। इन अर्थों पर दूसरी भाषा वालो का जोर नहीं चला करता। हिन्दी भाषा में 'बाम्हन भए तो क्या भए गले लपटे सूत' के लोकायती चिन्तन को रोका नहीं जा सकता। हाँ, संस्कृत भाषा में जाति वादी ब्राह्मण लोग शूद्र के विरोध में जो चाहे लिख सकते हैं—उन्होंने अपनी मन मानी में ऐसा किया भी है। जाने संस्कृत भाषियों को भाषा विज्ञान की यह छोटी सी बात समझने में कितना समय लगेगा कि ग्रीक भाषा का महान दार्शनिक 'प्लेटो' फारसी और हिन्दी में 'अफलातून' हो गया है। हिन्दी भाषी यह बात संस्कृत वालो को कितने प्यार से या कितने गुस्सेसमझाएँ कि संस्कृत के लोग संस्कृत शब्दों का संस्कृत में अपना अनुशासन बनाए रखें, पर हिन्दी वालो को हिन्दी का अनुशासन तय करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दें। हिन्दी भाषा संस्कृत से अपमानित होने पर पहले भी संस्कृत की बैसाखियों के बिना विकसित होती रही है, परन्तु आज जबकि यह पूर्ण रूप से अपने व्याकरण पर खड़ी है, सारे भारत को और विश्व को गले लगाने में इसे संस्कृत की बैसाखियों की जरूरत नहीं है। आज की विचित्र स्थिति है कि हिन्दी भाषी यह कहें या न कहें कि उन्हें संस्कृत भाषा की सहायता की आवश्यकता है परन्तु संस्कृत वाले उनकी जबरन सहायता करना चाहते हैं।

यह डाक्टर और रोगी की पुरानी बात हो गई है कि मनुष्य कह रहा है कि वह रोगी नहीं है, कि वह पूर्ण रूप से स्वस्थ है, लेकिन डाक्टर उस स्वस्थ मनुष्य को रोगी मान कर रोज बदल बदल कर नुस्खे दिए जा रहा है। शायद डाक्टर को यह विश्वास है कि वह उस स्वस्थ मनुष्य को एक दिन रोगी बना देगा। इसी बात को ध्यान में रख कर आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने अपने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में एक शीर्षक 'संस्कृत शब्दों के ग्रहण में विवेक' लिखा है। इसमें उन्होंने बताया है कि "संस्कृत के जो तद्रूप शब्द हिन्दी में चलते हैं, उनके प्रयोग की व्यवस्था यहाँ अपने ढंग से चलती है, संस्कृत व्याकरण के अनुसार नहीं।" परन्तु संस्कृत हिन्दी की कोई व्यवस्था या विवेक मानने को तैयार नहीं है। इसमें आश्चर्य की बात भी नहीं क्यों कि संस्कृतज्ञों ने कभी किसी अन्य भाषा का सम्मान करना नहीं सीखा है।

बात हिन्दी वर्ण माला की चल रही थी। 'ष' के बारे में देख लिया गया है कि इसे बच्चों को 'पेट चिरा स' कह कर सिखाया जाता है। इससे आगे कहा जा सकता है कि आज की हिन्दीं वर्ण माला में 'ङ' को 'यँ' खाली, 'ञ' को 'यँ' खाली', तथा 'ण' को 'न' खाली, बोल कर बताया जाता है। कोई अध्यापक यह नहीं बताता कि ङ, ञ तथा ण के उच्चारण क्या हैं। ङ तथा ञ को 'यँ' जैसा उच्चरित करके आगे खाली जोड़ देते हैं। संयुक्ताक्षर 'ज्ञ' को भी देखा जा सकता है। हिन्दी में 'ज्ञान' और 'विज्ञान' बहुत प्रचलित शब्द हैं। सारे हिन्दी भाषी इनका उच्चारण क्रमशः 'ग्यान' और 'विग्यान' करते हैं। लेकिन लिपि में इन्हें इस प्रकार नहीं लिखने दिया जा रहा

जाता है । इसके विपरीत, हिन्दी के शब्दों का सौन्दर्य तब बढ़ता है जब वे छोटे से छोटे बना कर लिखे जाते हैं ।

यदि विभक्तियों की बात ली जाए तो पता चलता है कि संस्कृत की परम्परा के लेखकों और प्रकाशकों ने हिन्दी की सारी विभक्तियाँ सटा कर लिखी हैं । गीता प्रेस, गोरखपुर के धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद में यह बात सर्वत्र देखी जा सकती है। इस पर काफी विवाद भी रहा है । आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "हिन्दी में विभक्तियाँ प्रकृति से हटा कर लिखी जाती हैं, कोई कोई सटा कर भी लिखते हैं ।" आगे उन्होंने हिन्दी का संस्कृत से अन्तर बताते हुए पुनः लिखा है— 'संस्कृत में विभक्तियाँ सटा कर ही लिखी जाती हैं तो लिखी जाएँ । हिन्दी तो एक स्वतन्त्र भाषा है । कोई विभक्ति सटा कर भी लिखी जाती है, हटा कर भी लिखी जाती है ।" हिन्दी का यह बुजुर्ग इस बात के लिए हर स्तर पर सचेत रहता है कि हिन्दी का संस्कृत से समानान्तर अन्तर है। उन्होंने विभक्ति से भी आगे बढ़ते हुए लिखा है कि "हिन्दी में 'विभक्ति' ही नहीं, अन्य साधारण प्रत्यय भी पृथक लिखे जाते हैं। 'शहरी' 'सावधानी' आदि में 'ई' तद्धित प्रत्यय सटा कर हैं, प्रकृति से , परन्तु 'गाड़ी छूटने ही को थी मैं पहुँच गया', और 'गाड़ी छूटने ही वाली है, जल्दी जाओ' यहाँ 'को' की ही तरह 'वाली' कृदन्त प्रत्यय भी प्रकृति से बहुत दूर है ।"

हिन्दी में अब बहुत सारी चीजें नई आ रही हैं । यह हो सकता है कि प्रचलित हिन्दी में इन नई चीजों के बारे में कोई नियम न हो । फिर नई चीजों को किस रूप में लिया जाएगा ? स्पष्ट आदेश के अभाव में क्या नई बातों को छोड़ दिया जाएगा ? उत्तर है – नहीं । हिन्दी को ऐसा बिलकुल नहीं करना है कि नई चीज को छोड़ दे । यह इसकी परम्परा में नहीं है कि यह नई चीज से घबरा जाए । न ही यह भाषा इतनी संकुचित रही है कि नई चीजों से परहेज करे । ऐसी अवस्था में इसे नया रास्ता निकाल कर बढ़ना है । फिर 'डेश' चिह्न की दृष्टि से यह नया रास्ता क्या है ? यह बात सच है कि पुरानी हिन्दी में कोई डेश चिह्न नहीं मिलता है । साथ ही, यह दिक्कत केवल लिखने की है, बोलते ससय ऐसे किसी डेश चिह्न की आवश्यकता नहीं पड़ती है ।

हिन्दी भाषा को सरल भाषा कहते हैं । यह सरलता भाषा के सभी पक्षों में देखी जाती है । लेकिन यह लिपि में किस प्रकार मापी जाती है ? उस भाषा को सरल कहा जाना चाहिए जो छोटे छोटे शब्दों में लिखी जाती है । जिस भाषा में सन्धियों की भरमार होती है वह लिखावट की दृष्टि से सरल नहीं कही जा सकती । संस्कृत भाषा इसका एक उदाहरण है । भारत में इसका दूसरा उदाहरण मलयालम भाषा है । मलयालम भाषा के वाक्यों में क्रिया के सारे टुकड़ों को एक साथ जोड़ दिया जाता है । उसमें 'जा रहा था' को 'जारहाथा' लिखा जाता है। फिर 'जा रहा था' में तीनों शब्दों

शब्दों के अर्थ मजाकिया तक हो गए हैं। इन अर्थों पर दूसरी भाषा वालो का जोर नहीं चला करता। हिन्दी भाषा में 'बाम्हन भए तो क्या भए गले लपेटे सूत' के लोकायती चिन्तन को रोका नहीं जा सकता। हाँ, संस्कृत भाषा में जाति वादी ब्राह्मण लोग शूद्र के विरोध में जो चाहे लिख सकते हैं—उन्होंने अपनी मन मानी में ऐसा किया भी है। जाने संस्कृत भाषियों को भाषा विज्ञान की यह छोटी सी बात समझने में कितना समय लगेगा कि ग्रीक भाषा का महान दार्शनिक 'प्लेटो' फारसी और हिन्दी में 'अफलातून' हो गया है। हिन्दी भाषी यह बात संस्कृत वालो को कितने प्यार से या कितने गुस्सेसमझाएँ कि संस्कृत के लोग संस्कृत शब्दों का संस्कृत में अपना अनुशासन बनाए रखें, पर हिन्दी वालो को हिन्दी का अनुशासन तय करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दें। हिन्दी भाषा संस्कृत से अपमानित होने पर पहले भी संस्कृत की बैसाखियों के बिना विकसित होती रही है, परन्तु आज जबकि यह पूर्ण रूप से अपने व्याकरण पर खड़ी है, सारे भारत को और विश्व को गले लगाने में इसे संस्कृत की बैसाखियों की जरूरत नहीं है। आज की विचित्र स्थिति है कि हिन्दी भाषी यह कहें या न कहें कि उन्हें संस्कृत भाषा की सहायता की आवश्यकता है परन्तु संस्कृत वाले उनकी जबरन सहायता करना चाहते हैं।

यह डाक्टर और रोगी की पुरानी बात हो गई है कि मनुष्य कह रहा है कि वह रोगी नहीं है, कि वह पूर्ण रूप से स्वस्थ है, लेकिन डाक्टर उस स्वस्थ मनुष्य को रोगी मान कर रोज बदल बदल कर नुस्खे दिए जा रहा है। शायद डाक्टर को यह विश्वास है कि वह उस स्वस्थ मनुष्य को एक दिन रोगी बना देगा। इसी बात को ध्यान में रख कर आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने अपने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में एक शीर्षक 'संस्कृत शब्दों के ग्रहण में विवेक' लिखा है। इसमें उन्होंने बताया है कि "संस्कृत के जो तद्रूप शब्द हिन्दी में चलते हैं, उनके प्रयोग की व्यवस्था यहाँ अपने ढंग से चलती है, संस्कृत व्याकरण के अनुसार नहीं।" परन्तु संस्कृत हिन्दी की कोई व्यवस्था या विवेक मानने को तैयार नहीं है। इसमें आश्चर्य की बात भी नहीं क्यों कि संस्कृतज्ञों ने कभी किसी अन्य भाषा का सम्मान करना नहीं सीखा है।

बात हिन्दी वर्ण माला की चल रही थी। 'ष' के बारे में देख लिया गया है कि इसे बच्चों को 'पेट चिरा स' कह कर सिखाया जाता है। इससे आगे कहा जा सकता है कि आज की हिन्दीं वर्ण माला में 'ङ' को 'यँ' खाली, 'ञ' को 'यँ' खाली', तथा 'ण' को 'न' खाली, बोल कर बताया जाता है। कोई अध्यापक यह नहीं बताता कि ङ, ञ तथा ण के उच्चारण क्या हैं। ङ तथा ञ को 'यँ' जैसा उच्चरित करके आगे खाली जोड़ देते हैं। संयुक्ताक्षर 'ज्ञ' को भी देखा जा सकता है। हिन्दी में 'ज्ञान' और 'विज्ञान' बहुत प्रचलित शब्द हैं। सारे हिन्दी भाषी इनका उच्चारण क्रमश: 'ग्यान' और 'विग्यान' करते हैं। लेकिन लिपि में इन्हें इस प्रकार नहीं लिखने दिया जा रहा

है । 'ग्य' को चिह्नित करने के लिए 'ज्ञ' लिपि दी गई है । हिन्दी भाषियों की बात अलग, आज के संस्कृतज्ञों को भी पता नहीं है कि 'ज्ञ' का वास्तविक उच्चारण क्या है । अधिक से अधिक संस्कृतज्ञ इसका उच्चारण 'ज्ञ' जैसा करते हैं पर वे ही लोग इस उच्चारण पर एक मत नहीं हैं । यह बहुत प्राचीन ध्वनि रही होगी। अब हमारे गलों में यह समाप्त हो गई है। पुराने हिन्दी भाषियों ने इसे 'ग्य' ही बोला और लिखा है, लेकिन आज के नए हिन्दी भाषी संस्कृतज्ञों की पकड़ में आए हुए हैं । ये इसे 'ग्य' बोलते हैं लेकिन 'ग्य' लिखते नहीं हैं । इससे हिन्दी शब्द कोशों को देखने में कठिनाई सामने आती है। हिन्दी शब्द कोशों में 'ज्ञ' को वर्ण क्रम में 'ग्य' के स्थान पर न रख कर 'ज्ञ' के स्थान पर रखा गया है।ऐसे ही, संयुक्ताक्षर 'क्ष' की हालत है । संस्कृत की जटिलता का जो भार स्वयं संस्कृत से नहीं संभाला जा सका वह हिन्दी से ढुलवाया जा रहा है। हिन्दी किसी भी बोझ से डरती नहीं है पर यह बोझ इसका अपना होना चाहिए । हिन्दी हर परिवर्तन के लिए तैयार है बशर्ते कि उस परिवर्तन का आधार कोई दूसरी भाषा न हो ।

5

जिसे अंग्रेजी में 'डेश' कहते हैं और जिसके लिए अंग्रेजी में —'चिन्ह है, हिन्दी के सम्बन्ध में इसमें अब कुछ तय कर लेना अच्छा रहेगा । इस समय हिन्दी में 'डेश' का इस प्रकार प्रयोग किया जा रहा है मानो हिन्दी में इसी का राज हो । इसमें भी हिन्दी को संस्कृत की परम्परा ने दुखी कर रखा है। साथ ही इस विषय में कुछ भी सोच विचार कर लेने से पहले यह जान लिया जाना चाहिए कि इस 'डेश' को लिखने या न लिखने से शब्दों के उच्चारण में कोई अन्तर नहीं पड़ता है । यह केवल लिखने पर अन्तर डालता है। यहाँ यह मान्यता भी निर्विवाद है कि हिन्दी भाषा को सरल भाषा माना गया है। इसके विपरीत, यह भी सच है कि संस्कृत एक कठिन भाषा है। यदि हिन्दी सरल भाषा है तथा संस्कृत दुरूह भाषा है तो इनकी प्रकृतियों में भी यह अन्तर दृष्टि गोचर होना चाहिए। आगे इस लेख में इस अन्तर को केवल लिखावट तक सीमित रखा जा रहा है ।

संस्कृत इस दृष्टि से भी दुरूह भाषा ठहरती है कि यह शब्दों को मिला मिला कर लिखी जाती है। इसमें विभक्तियाँ शब्दों से सटा कर लिखी जाती हैं। सन्धि का अर्थ ही शब्दों का योग है। इसमें उपसर्ग और प्रत्यय भी सटा कर लिखने की परम्परा है। शब्द जितना लम्बा हो जाता है उसका सौन्दर्य उतना ही बढ़ा हुआ माना

जाता है । इसके विपरीत, हिन्दी के शब्दों का सौन्दर्य तब बढ़ता है जब वे छोटे से छोटे बना कर लिखे जाते हैं ।

यदि विभक्तियों की बात ली जाए तो पता चलता है कि संस्कृत की परम्परा के लेखकों और प्रकाशकों ने हिन्दी की सारी विभक्तियाँ सटा कर लिखी हैं । गीता प्रेस, गोरखपुर के धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद में यह बात सर्वत्र देखी जा सकती है । इस पर काफी विवाद भी रहा है । आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "हिन्दी में विभक्तियाँ प्रकृति से हटा कर लिखी जाती हैं, कोई कोई सटा कर भी लिखते हैं ।" आगे उन्होंने हिन्दी का संस्कृत से अन्तर बताते हुए पुनः लिखा है— 'संस्कृत में विभक्तियाँ सटा कर ही लिखी जाती हैं तो लिखी जाएँ । हिन्दी तो एक स्वतन्त्र भाषा है । कोई विभक्ति सटा कर भी लिखी जाती है, हटा कर भी लिखी जाती है ।" हिन्दी का यह बुजुर्ग इस बात के लिए हर स्तर पर सचेत रहता है कि हिन्दी का संस्कृत से समानान्तर अन्तर है । उन्होंने विभक्ति से भी आगे बढ़ते हुए लिखा है कि "हिन्दी में 'विभक्ति' ही नहीं, अन्य साधारण प्रत्यय भी पृथक लिखे जाते हैं । 'शहरी' 'सावधानी' आदि में 'ई' तद्धित प्रत्यय सटा कर हैं, प्रकृति से , परन्तु 'गाड़ी छूटने ही को थी मैं पहुँच गया', और 'गाड़ी छूटने ही वाली है, जल्दी जाओ' यहाँ 'को' की ही तरह 'वाली' कृदन्त प्रत्यय भी प्रकृति से बहुत दूर है ।"

हिन्दी में अब बहुत सारी चीजें नई आ रही हैं । यह हो सकता है कि प्रचलित हिन्दी में इन नई चीजों के बारे में कोई नियम न हो । फिर नई चीजों को किस रूप में लिया जाएगा ? स्पष्ट आदेश के अभाव में क्या नई बातों को छोड़ दिया जाएगा ? उत्तर है— नहीं । हिन्दी को ऐसा बिलकुल नहीं करना है कि नई चीज को छोड़ दे । यह इसकी परम्परा में नहीं है कि यह नई चीज से घबरा जाए । न ही यह भाषा इतनी संकुचित रही है कि नई चीजों से परहेज करे । ऐसी अवस्था में इसे नया रास्ता निकाल कर बढ़ना है । फिर 'डेश' चिह्न की दृष्टि से यह नया रास्ता क्या है ? यह बात सच है कि पुरानी हिन्दी में कोई डेश चिह्न नहीं मिलता है । साथ ही, यह दिक्कत केवल लिखने की है, बोलते ससय ऐसे किसी डेश चिह्न की आवश्यकता नहीं पड़ती है ।

हिन्दी भाषा को सरल भाषा कहते हैं । यह सरलता भाषा के सभी पक्षों में देखी जाती है । लेकिन यह लिपि में किस प्रकार मापी जाती है ? उस भाषा को सरल कहा जाना चाहिए जो छोटे छोटे शब्दों में लिखी जाती है । जिस भाषा में सन्धियों की भरमार होती है वह लिखावट की दृष्टि से सरल नहीं कही जा सकती । संस्कृत भाषा इसका एक उदाहरण है । भारत में इसका दूसरा उदाहरण मलयालम भाषा है । मलयालम भाषा के वाक्यों में क्रिया के सारे टुकड़ों को एक साथ जोड़ दिया जाता है । उसमें 'जा रहा था' को 'जारहाथा' लिखा जाता है । फिर 'जा रहा था' में तीनों शब्दों

को मिलाने में सन्धि के नियमों के अनुसार परिवर्तन भी होते हैं। क्रिया के सभी अंगों को एक साथ मिला कर रखने में, उसके बाद सन्धि के अनुसार परिवर्तन किए जाने के कारण 'जा रहा था' जारहाथा' में कुछ से कुछ हो जाता है। मलयाली जनता ने इस कठिनाई से बचने के कुछ रास्ते ढूँढ निकाल रखे हैं, लेकिन वे उच्चारण भर में हैं, लिखावट में नहीं। इससे बोलने और लिखने में अन्तर भी बढ़ता चला गया है। इस कारण अन्य भाषा भाषियों के लिए मलयालम भाषा सीखनी कठिन होती है। इसके विपरीत, हिन्दी अपने सरल होने में हर शब्द को छोटा, स्पष्ट और अलग रखती है। आचार्य वाजपेयी ने कहा भी है—"हिन्दी ने अपने शब्दों की विकास पद्धति में संक्षेप, औचित्य तथा स्पष्टता का पूरा ध्यान रखा है।" हल यही है कि यदि हिन्दी हर नई बात को अपनाने में अपने इस सिद्धान्त का ध्यान रखेगी तो कठिनाई नहीं होगी।

आज की हिन्दी में कुछ लोग डेश चिह्नों की भरमार कर देते हैं। वे स्थान स्थान पर डेश चिह्न छोड़ते चले जाते हैं। दूसरे लोग यदि डेश नहीं लगाते हैं तो शब्दों को मिला कर रख देते हैं। इन दोनों प्रकार की लिखावटों से हिन्दी में अहिन्दी की गन्ध आती है। दो शब्द लिए जा सकते हैं 'उप' और 'सभापति'। कुछ लोग दोनों को एक साथ मिलाने में 'उपसभापति' लिखते हैं। दूसरे लोग इसे 'उप-सभापति' लिखते हैं। लिखने के ये दोनों तरीके हिन्दी को लिखावट में सरल नहीं रहने देते हैं। हिन्दी की सरलता को ध्यान में रखते हुए इसे 'उप सभापति' लिखना चाहिए। यदि हिन्दी की सरलता का पूरा ध्यान रखा जाए तो इसे 'उप सभा पति' लिखा जाना चाहिए। इससे अहिन्दी भाषियों को हिन्दी पढ़ाते समय अनुतान आदि के नियम पढ़ाने की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है।

हिन्दी में लिखने की यह समस्या संस्कृत, अंग्रेजी और फारसी के शब्दों के कारण बनी है। हिन्दी ने इन भाषाओं के जो शब्द आज से चालीस वर्ष पूर्व अपना लिए हैं उनमें ऐसी समस्या नहीं रह गई है। कठिनाई नए शब्दों में होती है। असल में संविधान से पहले हिन्दी ने अन्य भाषाओं के जो शब्द लिए थे, वे पूरे के पूरे, एक एक और छोटे छोटे शब्द लिए थे। लेकिन अब विशेष रूप से संस्कृत ने हिन्दी में यह झमेला खड़ा कर दिया है कि वह हिन्दी को मात्र शब्द नहीं देती, बल्कि समास, उपसर्ग और प्रत्यय का बड़ा 'शब्द समूह' देती है। हिन्दी इस सम्बन्ध में एक सामान्य नियम बना सकती है कि शब्दों को अधिक से अधिक बिना समास, उपसर्ग और प्रत्यय के मूल रूप में लिया जाए। यदि कहीं शब्द समास, उपसर्ग और प्रत्यय के साथ लेने की मजबूरी बन जाए तो आगे यह नियम बनाया जाए कि समास, उपसर्ग और प्रत्यय अधिक से अधिक खोल कर लिखे जाएँगे तथा उनमें डेश चिह्नों का कम से कम प्रयोग किया जाएगा। संस्कृत के वे उपसर्ग और प्रत्यय जिनमें सन्धि के नियम लागू नहीं होते तथा जो उपसर्ग और प्रत्यय कई मात्राओं के होते हैं तथा अपने आप में पूर्ण शब्द लगते हैं उन्हें शब्दों से हटा कर लिखा जाना चाहिए।

दबाव में आ कर आजकल यह कोशिश की जा रही है कि संस्कृत को सरल भाषा बनाया जाए। लेकिन किसी टेढ़ी चीज को कितनी सीधी बनाया जा सकता है। अन्त में उस चीज के स्वभाव की सीमा आ जाती है। उस स्वभाव के टूटते वह चीज वह नहीं रह जाती है। दो ही बातें हैं—या तो संस्कृत भाषा सरल नहीं बनाई जा सकती और यदि इसे सरल बनाने का प्रयत्न किया गया तो यह संस्कृत नहीं रह जाएगी। उदाहरण के रूप में हमारे केन्द्रीय विद्यालयों में पाँचवी कक्षा से संस्कृत अनिवार्य तौर पर पढ़ाई जाती है। उसमें यही बात रखी गई है कि संस्कृत को सरल भाषा बनाना है। लेकिन छठी कक्षा के बच्चों को जो संस्कृत पढ़ाई जा रही है वह जटिल हो गई है। इसमें 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण परिषद' को बिना कुछ सोचे समझे 'राष्ट्रीयशैक्षिकानुसन्धानप्रशिक्षणपरिषद' लिखा गया है। अवसर मिलते ही संस्कृत अपने स्वभाव से बाज नहीं आती है। संस्कृत की इस बनावट को सीखने में कोई भी बच्चा कितना समय लेगा, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सीखने में यदि कोई सच्ची कठिनाई है तो यह हिन्दी के लिंग विधान की है। इस बात को भुला कर संस्कृत के पक्ष धर शब्दावली की बात आगे रख देते हैं। इससे अहिन्दी भाषियों की वास्तविक समस्या पर ध्यान नहीं जा पाता और संस्कृत वालो की समस्या पर सारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है।

कुछ लोगों के द्वारा यह सुझाव दिया जाता है कि हिन्दी में लिंग विधान को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। कुछ कहते हैं कि अहिन्दी भाषी किसी शब्द के साथ जो भी लिंग लगा देते हैं वह शुद्ध माना जाना चाहिए।

ऊपर दिए गए सुझाव को एक सीमा तक मानना उचित है। इसका मतलब केवल यह है कि लिंग की अशुद्धियों पर अधिक ध्यान न दिया जाए। जब कोई मनुष्य दूसरी भाषाएँ सीखता है तो सीखी जाने वाली भाषाओं के लोगों को इतना उदार अवश्य होना चाहिए कि वे सीखने वालो की मजाक न उड़ाएँ। यदि हिन्दी भाषियों में उदारता के इस गुण का अभाव है, जो संस्कृत के प्रभाव के कारण हो सकता है, तो उन्हें अपने भीतर इसको पैदा करना चाहिए। लेकिन यह कहना कि हिन्दी में कोई लिंग विधान न रहे, या जो अहिन्दी भाषी तय कर दें वही लिंग विधान प्रामाणिक मान लिया जाए, ठीक नहीं है। इसमें हिन्दी भाषी लोग यही आशा रख सकते हैं कि अहिन्दी भाषी लोग हिन्दी भाषा के लिंग विधान को धीरे धीरे प्रयोग के द्वारा सीख लेंगे। यदि कोई अंग्रेजी न जानने वाला अंग्रेजी भाषा सीखते समय अंग्रेजों को यह परामर्श देना चाहे कि 'बी यू टी' 'बट' को 'बुट' बोलो तो अंग्रेज इसे मानने वाले नहीं हैं। सभी भाषाओं के अपने अपने मिजाज होते हैं।

को मिलाने में सन्धि के नियमों के अनुसार परिवर्तन भी होते हैं। क्रिया के सभी अंगों को एक साथ मिला कर रखने में, उसके बाद सन्धि के अनुसार परिवर्तन किए जाने के कारण 'जा रहा था' जारहाथा' में कुछ से कुछ हो जाता है। मलयाली जनता ने इस कठिनाई से बचने के कुछ रास्ते ढूंढ निकाल रखे हैं, लेकिन वे उच्चारण भर में हैं, लिखावट में नहीं। इससे बोलने और लिखने में अन्तर भी बढ़ता चला गया है। इस कारण अन्य भाषा भाषियों के लिए मलयालम भाषा सीखनी कठिन होती है। इसके विपरीत, हिन्दी अपने सरल होने में हर शब्द को छोटा, स्पष्ट और अलग रखती है। आचार्य वाजपेयी ने कहा भी है—"हिन्दी ने अपने शब्दों की विकास पद्धति में संक्षेप, औचित्य तथा स्पष्टता का पूरा ध्यान रखा है।" हल यही है कि यदि हिन्दी हर नई बात को अपनाने में अपने इस सिद्धान्त का ध्यान रखेगी तो कठिनाई नहीं होगी।

आज की हिन्दी में कुछ लोग डेश चिह्नों की भरमार कर देते हैं। वे स्थान स्थान पर डेश चिह्न छोड़ते चले जाते हैं। दूसरे लोग यदि डेश नहीं लगाते हैं तो शब्दों को मिला कर रख देते हैं। इन दोनों प्रकार की लिखावटों से हिन्दी में अहिन्दी की गन्ध आती है। दो शब्द लिए जा सकते हैं 'उप' और 'सभापति'। कुछ लोग दोनों को एक साथ मिलाने में 'उपसभापति' लिखते हैं। दूसरे लोग इसे 'उप-सभापति' लिखते हैं। लिखने के ये दोनों तरीके हिन्दी को लिखावट में सरल नहीं रहने देते हैं। हिन्दी की सरलता को ध्यान में रखते हुए इसे 'उप सभापति' लिखना चाहिए। यदि हिन्दी की सरलता का पूरा ध्यान रखा जाए तो इसे 'उप सभा पति' लिखा जाना चाहिए। इससे अहिन्दी भाषियों को हिन्दी पढ़ाते समय अनुतान आदि के नियम पढ़ाने की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है।

हिन्दी में लिखने की यह समस्या संस्कृत, अंग्रेजी और फारसी के शब्दों के कारण बनी है। हिन्दी ने इन भाषाओं के जो शब्द आज से चालीस वर्ष पूर्व अपना लिए हैं उनमें ऐसी समस्या नहीं रह गई है। कठिनाई नए शब्दों में होती है। असल में संविधान से पहले हिन्दी ने अन्य भाषाओं के जो शब्द लिए थे, वे पूरे के पूरे, एक एक और छोटे छोटे शब्द लिए थे। लेकिन अब विशेष रूप से संस्कृत ने हिन्दी में यह झमेला खड़ा कर दिया है कि वह हिन्दी को मात्र शब्द नहीं देती, बल्कि समास, उपसर्ग और प्रत्यय का बड़ा 'शब्द समूह' देती है। हिन्दी इस सम्बन्ध में एक सामान्य नियम बना सकती है कि शब्दों को अधिक से अधिक बिना समास, उपसर्ग और प्रत्यय के मूल रूप में लिया जाए। यदि कहीं शब्द समास, उपसर्ग और प्रत्यय के साथ लेने की मजबूरी बन जाए तो आगे यह नियम बनाया जाए कि समास, उपसर्ग और प्रत्यय अधिक से अधिक खोल कर लिखे जाएँगे तथा उनमें डेश चिह्नों का कम से कम प्रयोग किया जाएगा। संस्कृत के वे उपसर्ग और प्रत्यय जिनमें सन्धि के नियय लागू नहीं होते तथा जो उपसर्ग और प्रत्यय कई मात्राओं के होते हैं तथा अपने आप में पूर्ण शब्द लगते हैं उन्हें शब्दों से हटा कर लिखा जाना चाहिए।

दबाव में आ कर आजकल यह कोशिश की जा रही है कि संस्कृत को सरल भाषा बनाया जाए । लेकिन किसी टेढ़ी चीज को कितनी सीधी बनाया जा सकता है । अन्त में उस चीज के स्वभाव की सीमा आ जाती है । उस स्वभाव के टूटते वह चीज वह नहीं रह जाती है । दो ही बातें हैं—या तो संस्कृत भाषा सरल नहीं बनाई जा सकती और यदि इसे सरल बनाने का प्रयत्न किया गया तो यह संस्कृत नहीं रह जाएगी । उदाहरण के रूप में हमारे केन्द्रीय विद्यालयों में पाँचवी कक्षा से संस्कृत अनिवार्य तौर पर पढ़ाई जाती है । उसमें यही बात रखी गई है कि संस्कृत को सरल भाषा बनाना है। लेकिन छठी कक्षा के बच्चों को जो संस्कृत पढ़ाई जा रही है वह जटिल हो गई है । इसमें 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण परिषद' को बिना कुछ सोचे समझे 'राष्ट्रीयशैक्षिकानुसन्धानप्रशिक्षणपरिषद' लिखा गया है । अवसर मिलते ही संस्कृत अपने स्वभाव से बाज नहीं आती है । संस्कृत की इस बनावट को सीखने में कोई भी बच्चा कितना समय लेगा, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है ।

अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सीखने में यदि कोई सच्ची कठिनाई है तो यह हिन्दी के लिंग विधान की है । इस बात को भुला कर संस्कृत के पक्ष धर शब्दावली की बात आगे रख देते हैं । इससे अहिन्दी भाषियों की वास्तविक समस्या पर ध्यान नहीं जा पाता और संस्कृत वालो की समस्या पर सारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है ।

कुछ लोगों के द्वारा यह सुझाव दिया जाता है कि हिन्दी में लिंग विधान को समाप्त कर दिया जाना चाहिए । कुछ कहते हैं कि अहिन्दी भाषी किसी शब्द के साथ जो भी लिंग लगा देते हैं वह शुद्ध माना जाना चाहिए ।

ऊपर दिए गए सुझाव को एक सीमा तक मानना उचित है । इसका मतलब केवल यह है कि लिंग की अशुद्धियों पर अधिक ध्यान न दिया जाए । जब कोई मनुष्य दूसरी भाषाएँ सीखता है तो सीखी जाने वाली भाषाओं के लोगों को इतना उदार अवश्य होना चाहिए कि वे सीखने वालो की मजाक न उड़ाएँ । यदि हिन्दी भाषियों में उदारता के इस गुण का अभाव है, जो संस्कृत के प्रभाव के कारण हो सकता है, तो उन्हें अपने भीतर इसको पैदा करना चाहिए । लेकिन यह कहना कि हिन्दी में कोई लिंग विधान न रहे, या जो अहिन्दी भाषी तय कर दें वही लिंग विधान प्रामाणिक मान लिया जाए, ठीक नहीं है । इसमें हिन्दी भाषी लोग यही आशा रख सकते हैं कि अहिन्दी भाषी लोग हिन्दी भाषा के लिंग विधान को धीरे धीरे प्रयोग के द्वारा सीख लेंगे । यदि कोई अंग्रेजी न जानने वाला अंग्रेजी भाषा सीखते समय अंग्रेजों को यह परामर्श देना चाहे कि 'बी यू टी' 'बट' को 'बुट' बोलो तो अंग्रेज इसे मानने वाले नहीं हैं । सभी भाषाओं के अपने अपने मिजाज होते हैं ।

को मिलाने में सन्धि के नियमों के अनुसार परिवर्तन भी होते हैं। क्रिया के सभी अंगों को एक साथ मिला कर रखने में, उसके बाद सन्धि के अनुसार परिवर्तन किए जाने के कारण 'जा रहा था' जारहाथा' में कुछ से कुछ हो जाता है। मलयाली जनता ने इस कठिनाई से बचने के कुछ रास्ते ढूंढ निकाल रखे हैं, लेकिन वे उच्चारण भर में हैं, लिखावट में नहीं। इससे बोलने और लिखने में अन्तर भी बढ़ता चला गया है। इस कारण अन्य भाषा भाषियों के लिए मलयालम भाषा सीखनी कठिन होती है। इसके विपरीत, हिन्दी अपने सरल होने में हर शब्द को छोटा, स्पष्ट और अलग रखती है। आचार्य वाजपेयी ने कहा भी है –"हिन्दी ने अपने शब्दों की विकास पद्धति में संक्षेप, औचित्य तथा स्पष्टता का पूरा ध्यान रखा है।" हल यही है कि यदि हिन्दी हर नई बात को अपनाने में अपने इस सिद्धान्त का ध्यान रखेगी तो कठिनाई नहीं होगी।

आज की हिन्दी में कुछ लोग डेश चिह्नों की भरमार कर देते हैं। वे स्थान स्थान पर डेश चिह्न छोड़ते चले जाते हैं। दूसरे लोग यदि डेश नहीं लगाते हैं तो शब्दों को मिला कर रख देते हैं। इन दोनों प्रकार की लिखावटों से हिन्दी में अहिन्दी की गन्ध आती है। दो शब्द लिए जा सकते हैं 'उप' और 'सभापति'। कुछ लोग दोनों को एक साथ मिलाने में 'उपसभापति' लिखते हैं। दूसरे लोग इसे 'उप-सभापति' लिखते हैं। लिखने के ये दोनों तरीके हिन्दी को लिखावट में सरल नहीं रहने देते हैं। हिन्दी की सरलता को ध्यान में रखते हुए इसे 'उप सभापति' लिखना चाहिए। यदि हिन्दी की सरलता का पूरा ध्यान रखा जाए तो इसे 'उप सभा पति' लिखा जाना चाहिए। इससे अहिन्दी भाषियों को हिन्दी पढ़ाते समय अनुतान आदि के नियम पढ़ाने की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है।

हिन्दी में लिखने की यह समस्या संस्कृत, अंग्रेजी और फारसी के शब्दों के कारण बनी है। हिन्दी ने इन भाषाओं के जो शब्द आज से चालीस वर्ष पूर्व अपना लिए हैं उनमें ऐसी समस्या नहीं रह गई है। कठिनाई नए शब्दों में होती है। असल में संविधान से पहले हिन्दी ने अन्य भाषाओं के जो शब्द लिए थे, वे पूरे के पूरे, एक एक और छोटे छोटे शब्द लिए थे। लेकिन अब विशेष रूप से संस्कृत ने हिन्दी में यह झमेला खड़ा कर दिया है कि वह हिन्दी को मात्र शब्द नहीं देती, बल्कि समास, उपसर्ग और प्रत्यय का बड़ा 'शब्द समूह' देती है। हिन्दी इस सम्बन्ध में एक सामान्य नियम बना सकती है कि शब्दों को अधिक से अधिक बिना समास, उपसर्ग और प्रत्यय के मूल रूप में लिया जाए। यदि कहीं शब्द समास, उपसर्ग और प्रत्यय के साथ लेने की मजबूरी बन जाए तो आगे यह नियम बनाया जाए कि समास, उपसर्ग और प्रत्यय अधिक से अधिक खोल कर लिखे जाएँगे तथा उनमें डेश चिह्नों का कम से कम प्रयोग किया जाएगा। संस्कृत के वे उपसर्ग और प्रत्यय जिनमें सन्धि के नियय लागू नहीं होते तथा जो उपसर्ग और प्रत्यय कई मात्राओं के होते हैं तथा अपने आप में पूर्ण शब्द लगते हैं उन्हें शब्दों से हटा कर लिखा जाना चाहिए।

दबाव में आ कर आजकल यह कोशिश की जा रही है कि संस्कृत को सरल भाषा बनाया जाए। लेकिन किसी टेढ़ी चीज को कितनी सीधी बनाया जा सकता है। अन्त में उस चीज के स्वभाव की सीमा आ जाती है। उस स्वभाव के टूटते वह चीज वह नहीं रह जाती है। दो ही बातें हैं—या तो संस्कृत भाषा सरल नहीं बनाई जा सकती और यदि इसे सरल बनाने का प्रयत्न किया गया तो यह संस्कृत नहीं रह जाएगी। उदाहरण के रूप में हमारे केन्द्रीय विद्यालयों में पाँचवी कक्षा से संस्कृत अनिवार्य तौर पर पढ़ाई जाती है। उसमें यही बात रखी गई है कि संस्कृत को सरल भाषा बनाना है। लेकिन छठी कक्षा के बच्चों को जो संस्कृत पढ़ाई जा रही है वह जटिल हो गई है। इसमें 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण परिषद' को बिना कुछ सोचे समझे 'राष्ट्रीयशैक्षिकानुसन्धानप्रशिक्षणपरिषद' लिखा गया है। अवसर मिलते ही संस्कृत अपने स्वभाव से बाज नहीं आती है। संस्कृत की इस बनावट को सीखने में कोई भी बच्चा कितना समय लेगा, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सीखने में यदि कोई सच्ची कठिनाई है तो यह हिन्दी के लिंग विधान की है। इस बात को भुला कर संस्कृत के पक्ष धर शब्दावली की बात आगे रख देते हैं। इससे अहिन्दी भाषियों की वास्तविक समस्या पर ध्यान नहीं जा पाता और संस्कृत वालो की समस्या पर सारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है।

कुछ लोगों के द्वारा यह सुझाव दिया जाता है कि हिन्दी में लिंग विधान को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। कुछ कहते हैं कि अहिन्दी भाषी किसी शब्द के साथ जो भी लिंग लगा देते हैं वह शुद्ध माना जाना चाहिए।

ऊपर दिए गए सुझाव को एक सीमा तक मानना उचित हैं। इसका मतलब केवल यह है कि लिंग की अशुद्धियों पर अधिक ध्यान न दिया जाए। जब कोई मनुष्य दूसरी भाषाएँ सीखता है तो सीखी जाने वाली भाषाओं के लोगों को इतना उदार अवश्य होना चाहिए कि वे सीखने वालो की मजाक न उड़ाएँ। यदि हिन्दी भाषियों में उदारता के इस गुण का अभाव है, जो संस्कृत के प्रभाव के कारण हो सकता है, तो उन्हें अपने भीतर इसको पैदा करना चाहिए। लेकिन यह कहना कि हिन्दी में कोई लिंग विधान न रहे, या जो अहिन्दी भाषी तय कर दें वही लिंग विधान प्रामाणिक मान लिया जाए, ठीक नहीं है। इसमें हिन्दी भाषी लोग यही आशा रख सकते हैं कि अहिन्दी भाषी लोग हिन्दी भाषा के लिंग विधान को धीरे धीरे प्रयोग के द्वारा सीख लेंगे। यदि कोई अंग्रेजी न जानने वाला अंग्रेजी भाषा सीखते समय अंग्रेजों को यह परामर्श देना चाहे कि 'बी यू टी' 'बट' को 'बुट' बोलो तो अंग्रेज इसे मानने वाले नहीं हैं। सभी भाषाओं के अपने अपने मिजाज होते हैं।

दबाव में आ कर आजकल यह कोशिश की जा रही है कि संस्कृत को सरल भाषा बनाया जाए। लेकिन किसी टेढ़ी चीज को कितनी सीधी बनाया जा सकता है। अन्त में उस चीज के स्वभाव की सीमा आ जाती है। उस स्वभाव के टूटते वह चीज वह नहीं रह जाती है। दो ही बातें हैं—या तो संस्कृत भाषा सरल नहीं बनाई जा सकती और यदि इसे सरल बनाने का प्रयत्न किया गया तो यह संस्कृत नहीं रह जाएगी। उदाहरण के रूप में हमारे केन्द्रीय विद्यालयों में पाँचवी कक्षा से संस्कृत अनिवार्य तौर पर पढ़ाई जाती है। उसमें यही बात रखी गई है कि संस्कृत को सरल भाषा बनाना है। लेकिन छठी कक्षा के बच्चों को जो संस्कृत पढ़ाई जा रही है वह जटिल हो गई है। इसमें 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण परिषद' को बिना कुछ सोचे समझे 'राष्ट्रीयशैक्षिकानुसन्धानप्रशिक्षणपरिषद' लिखा गया है। अवसर मिलते ही संस्कृत अपने स्वभाव से बाज नहीं आती है। संस्कृत की इस बनावट को सीखने में कोई भी बच्चा कितना समय लेगा, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सीखने में यदि कोई सच्ची कठिनाई है तो यह हिन्दी के लिंग विधान की है। इस बात को भुला कर संस्कृत के पक्ष धर शब्दावली की बात आगे रख देते हैं। इससे अहिन्दी भाषियों की वास्तविक समस्या पर ध्यान नहीं जा पाता और संस्कृत वालो की समस्या पर सारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है।

कुछ लोगों के द्वारा यह सुझाव दिया जाता है कि हिन्दी में लिंग विधान को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। कुछ कहते हैं कि अहिन्दी भाषी किसी शब्द के साथ जो भी लिंग लगा देते हैं वह शुद्ध माना जाना चाहिए।

ऊपर दिए गए सुझाव को एक सीमा तक मानना उचित है। इसका मतलब केवल यह है कि लिंग की अशुद्धियों पर अधिक ध्यान न दिया जाए। जब कोई मनुष्य दूसरी भाषाएँ सीखता है तो सीखी जाने वाली भाषाओं के लोगों को इतना उदार अवश्य होना चाहिए कि वे सीखने वालो की मजाक न उड़ाएँ। यदि हिन्दी भाषियों में उदारता के इस गुण का अभाव है, जो संस्कृत के प्रभाव के कारण हो सकता है, तो उन्हें अपने भीतर इसको पैदा करना चाहिए। लेकिन यह कहना कि हिन्दी में कोई लिंग विधान न रहे, या जो अहिन्दी भाषी तय कर दें वही लिंग विधान प्रामाणिक मान लिया जाए, ठीक नहीं है। इसमें हिन्दी भाषी लोग यही आशा रख सकते हैं कि अहिन्दी भाषी लोग हिन्दी भाषा के लिंग विधान को धीरे धीरे प्रयोग के द्वारा सीख लेंगे। यदि कोई अंग्रेजी न जानने वाला अंग्रेजी भाषा सीखते समय अंग्रेजों को यह परामर्श देना चाहे कि 'बी यू टी' 'बट' को 'बुट' बोलो तो अंग्रेज इसे मानने वाले नहीं हैं। सभी भाषाओं के अपने अपने मिजाज होते हैं।

यह फिर कहा जाए कि खड़ी बोली के लोग हिन्दी में किसी परिवर्तन से डरते नहीं हैं। लेकिन कोई भी ऐसा परिवर्तन इसे सरल बनाने की दिशा में होना चाहिए। स्वयं मैं कई परिवर्तन सुझाना चाहता हूँ। ये सुझाव इसमें धुँआ धार प्रयोग होने वाली बिन्दियों के बारे में हैं। मेरे मत में, 'उन्होंने' के 'हो' के ऊपर बिन्दी की कोई जरूरत नहीं है। इस बिन्दी का हिन्दी भाषी उच्चारण नहीं करते हैं। यदि कोई भूले से या सायास इसका उच्चारण करते हैं, उन्हें यह उच्चारण छोड़ देना चाहिए। ऐसे ही, 'नहीं', 'उन्हें', 'मैंने', 'जिन्हें', 'माँ','में' जैसे अनेक शब्दों में से यह बिन्दी समाप्त की जा सकती है। ऐसे ही, 'सातवाँ', 'दसवाँ', 'इक्कीसवाँ', 'पचासवाँ' 'सौवाँ', 'आठवीं', 'सोलहवीं', 'तीसवीं' 'नब्बेवीं' जैसे शब्दों से भी बिन्दियाँ हटा दी जानी चाहिए। इससे अहिन्दी भाषियों को हिन्दी पढ़ने में बहुत सहायता मिलेगी। हिन्दी भाषियों के सिर से भी बड़ा बोझ उतर जाएगा। लेकिन संस्कृतज्ञों का कोई भी सुझाव ठीक ऐसे सुझाव के विपरीत मन्तव्य का होता है। वे केवल ऐसे सुझाव दे पाएँगे कि हिन्दी को अधिक दुरूह भाषा कैसे बनाया जाए।

हिन्दी में बहु वचन बनाने का भी एक तर्क है। जो स्त्री लिंग और पुल्लिंग के बहु वचन बनाए जाते हैं जैसे 'आदमियों' और 'औरतों' में उनमें भी सुधार की दृष्टि से परिवर्तन किया जा सकता है। खड़ी बोली की प्रकृति का बहु वचन 'औरत' के 'त' में 'ओ' की मात्रा लगा कर 'औरतो' बना देने से पूरा हो जाता है। इसमें कहीं भी 'तो' पर बिन्दी लगाने की आवश्यकता नहीं रहती है। न ही इस बिन्दी का उच्चारण होता है। बिन्दी हिन्दी पर एक फालतू भार ही है। सजावट की दृष्टि से भी इसकी अलग से आवश्यकता नहीं है। टंकण और मुद्रण में इस बिन्दी ने हिन्दी के सारे अक्षरों को हटा रखा है। बिन्दी के कारण वे कभी अलग छपते हैं तो कभी उनमें बिन्दी दिखाई भी नहीं देती।

बहु वचन में यह बिन्दी खड़ी बोली की अपनी प्रकृति की पहचान नहीं है। शायद यह हिन्दी पर ब्रज भाषा के प्रभाव के कारण लगाई जा रही है। परन्तु जब हिन्दी का काम बहु वचन बनाने के लिए 'ओ' से ही चल जाना है तो दूसरी भाषा का कोई भी ऐसा पुछलका लगाए रखना ठीक नहीं है।

अध्याय—12

अनुवाद में विवेक

1

जहाँ तक अनुवाद सम्बन्धी कानून की बात है इसमें कोई कमी नहीं रखी गई है। इसमें राज भाषा की नीति एकदम सही और स्पष्ट है। संविधान के अनुसार एक राज भाषा आयोग गठित किया गया था। आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के लिए राज भाषा संसदीय समिति गठित की गई थी। संसदीय समिति ने आयोग की जिन सिफारिशों को माना था उनमें शब्दावली महत्व पूर्ण थी। समिति की रिपोर्ट राष्ट्र पति को प्रस्तुत की गई थी। उसके आधार पर गृह मंत्रालय द्वारा 27 अप्रैल, 1960 को एक अधिसूचना संख्या-2860-रा० भा० निकाली गई थी। इसमें शब्दावली सम्बंन्धी निम्न चार बातें तय की गई थीं :

1. शब्दावली तैयार करने में मुख्य लक्ष्य उसकी स्पष्टता, यथार्थता और सरलता होनी चाहिए;

2. अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली अपनाई जाए, या जहाँ भी आवश्यक हो, उसका अनुकूलन कर लिया जाए;

3. सब भारतीय भाषाओं के लिए शब्दावली का विकास करते समय लक्ष्य यह होना चाहिए कि उसमें जहाँ तक हो सके अधिकतम एकरूपता हो;

4. विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सब भारतीय भाषाओं में जहाँ तक हो सके एकरूपता होनी चाहिए और शब्दावली लगभग अंग्रेजी या अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली जैसी ही होनी चाहिए।

इसमें यह भी कहा गया है कि शिक्षा मंत्रालय अब तक किए गए काम पर पुर्नविचार करे और समिति द्वारा स्वीकृत सामान्य सिद्धान्तों के अनुकूल शब्दावली का विकास करे तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में वे शब्द, जिनका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होता है, कम से कम परिवर्तन के साथ अपना लिए जाएँ अर्थात मूल शब्द वे होने चाहिए जो कि आज कल अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली में काम आते हैं। उनसे व्युत्पन्न शब्दों का जहाँ भी आवश्यक हो भारतीय करण किया जा सकता है।

शब्दावली निर्माण के इस कार्य को करने के लिए भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के अधीन वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली का एक स्थायी आयोग बैठाया गया था। इस आयोग ने अपने लिए शब्दावली निर्माण के सिद्धान्त दिए हैं। ये चौदह सिद्धान्त नीचे दिए जा रहे हैं :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को यथा संभव उनके प्रचलित अंग्रेजी रूपों में ही अपनाना चाहिए और हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुसार ही उनका लिप्यंतरण करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली के अंतर्गत निम्न लिखित उदाहरण दिए जा सकते हैं :

(क) तत्वों और यौगिकों के नाम जैसे हाइड्रोजन, कार्बन डाइ आक्साइड आदि;

(ख) तौल और माप की इकाइयाँ और भौतिक परिमाण की इकाइयाँ जैसे डाइन, कैलोरी, ऐम्पियर आदि;

(ग) ऐसे शब्द जो व्यक्तियों के नाम पर बनाए गए हैं जैसे फारेनहाइट के नाम पर फारेनहाइट तापक्रम, वोल्टा के नाम पर वोल्ट मीटर और ऐम्पियर के नाम पर ऐम्पियर आदि;

(घ) वनस्पति विज्ञान, प्राणी विज्ञान, भू विज्ञान आदि की द्विपदी नामावली;

(ङ) स्थिरांक जैसे π आदि;

(च) ऐसे अन्य शब्द जिनका आम तौर पर सारे संसार में व्यवहार हो रहा है जैसे रेडियो, पैट्रोल, रेडार, इलैक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि;

(छ) गणित और विज्ञान की अन्य शाखाओं के संख्यांक, प्रतीक, चिह्न और सूत्र, जैसे साइन, कोसाइन, टेन्जेन्ट, लॉग आदि (गणितीय संक्रियाओं में प्रयुक्त अक्षर रोमन या ग्रीक वर्ण माला के होने चाहिए।)

(2) प्रतीक, रोमन लिपि में अन्तर्राष्ट्रीय रूप में ही रखे जाएँगे परन्तु संक्षिप्त रूप नागरी और मानक रूपों में भी, विशेषत: साधारण तौल और माप में लिखे जा सकते हैं, जैसे सेन्टी मीटर का प्रतीक हिन्दी में भी ऐसे ही प्रयुक्त होगा परन्तु नागरी संक्षिप्त रूप सें० मी० हो सकता है। यह सिद्धान्त बाल साहित्य और लोक प्रिय पुस्तकों में अपनाया जाएगा, परन्तु विज्ञान और शिल्प विज्ञान की मानक पुस्तकों में केवल अन्तर्राष्ट्रीय प्रतीक, जैसे c m ही प्रयुक्त करना चाहिए।

(3) ज्यामितीय आकृतियों में भारतीय लिपियों के अक्षर प्रयुक्त किए जा सकते हैं परन्तु त्रिकोण मितीय संबंधों में केवल रोमन अथवा ग्रीक अक्षर ही प्रयुक्त करने चाहिए जैसे साइन A, कॉस B आदि।

(4) संकल्पनाओं को व्यक्त करने वाले शब्दों का सामान्यतः अनुवाद किया जाना चाहिए।

(5) हिन्दी पर्यायों का चुनाव करते समय सरलता, अर्थ की परिशुद्धता और सुबोधता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। सुधार विरोधी और विशुद्धि वादी प्रवृत्तियों से बचना चाहिए।

(6) सभी भारतीय भाषाओं के शब्दों में यथा संभव अधिकाधिक एकरूपता लाना ही इसका उद्देश्य होना चाहिए और इसके लिए ऐसे शब्द अपनाने चाहिए जो

(क) अधिक से अधिक प्रादेशिक भाषाओं में प्रयुक्त होते हों, और

(ख) संस्कृत धातुओं पर आधारित हों।

(7) ऐसे देशी शब्द जो सामान्य प्रयोग के वैज्ञानिक शब्दों के स्थान पर हमारी भाषाओं में प्रचलित हो गए हैं जैसे टेलिग्राफ, टेलिग्राम के लिए तार, कंटिनेन्ट के लिए महाद्वीप, एटम के लिए परमाणु आदि, ये सब इसी रूप में व्यवहार किए जाने चाहिए।

(8) अंग्रेजी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी आदि भाषाओं के ऐसे विदेशी शब्द जो भारतीय भाषाओं में प्रचचित हो गए हैं जैसे इंजन, मशीन, लावा, मीटर, प्रिज्म, टॉर्च आदि इसी रूप में अपनाए जाने चाहिए।

(9) अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों का देव नागरी लिपि में लिप्यंतरण इतना जटिल नहीं होना चाहिए कि उसके कारण वर्तमान देव नागरी वर्णों में नए चिह्न व प्रतीक शामिल करने की आवश्यकता पड़े। अंग्रेजी शब्दों का देव नागरी करण करते समय लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह मानक अंग्रेजी उच्चारण के अधिकाधिक अनुरूप हो और उनमें ऐसे परिवर्तन किए जाएँ जो भारत के शिक्षित वर्ग में प्रचलित हों।

(10) हिन्दी में अपनाए गए अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को, अन्यथा कारण न होने पर, पुल्लिग रूप में ही प्रयुक्त करना चाहिए।

(11) वैज्ञानिक शब्दावली में संकर शब्द जैसे आयनाइजेशन के लिए आयनीकरण,

वोल्टेज के लिए वोल्टता, रिंग स्टैण्ड के लिए वलय स्टैण्ड, सापनिफायर के लिए साबुनीकारक आदि के रूप सामान्य और प्राकृतिक भाषा शास्त्रीय क्रिया के अनुसार बनाए गए हैं और ऐसे शब्द रूपों को वैज्ञानिक शब्दावली की आवश्यकताओं यथा सुबोधता, उपयोगिता और संक्षिप्तता का ध्यान रखते हुए व्यवहार में लाना चाहिए।

(12) कठिन संधियों का यथा संभव कम से कम प्रयोग करना चाहिए और संयुक्त शब्दों के लिए दो शब्दों के बीच हाइफन लगा देना चाहिए। इससे नई शब्द रचनाओं को सरलता और शीघ्रता से समझने में सहायता मिलेगी। जहाँ तक संस्कृत पर आधारित 'आदि वृद्धि' का संबंध है, 'व्यावहारिक' 'लाक्षणिक' आदि प्रचलित संस्कृत तत्सम शब्दों में आदि वृद्धि का प्रयोग ही अपेक्षित है परन्तु नव निर्मित शब्दों में इससे बचा जा सकता है।

(13) नए अपनाए हुए शब्दों में आवश्यकतानुसार हलंत का प्रयोग करके उन्हें सही रूप में लिखना चाहिए।

(14) पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करना चाहिए, परन्तु लेन्स, पेटेन्ट आदि शब्दों का लिप्यंतरण लैंस, पेटेंट न करके लेन्स, पेटेन्ट ही करना चाहिए।

2

हिन्दी भाषा किसी एक विचार धारा को दृष्टि में रख कर विकसित नहीं की जानी है। इसके सामने भारत और पूरा विश्व है। लेकिन यदि इसमें ऐसा समझा जाने लगे कि इसके विकास में केवल एक विचार धारा के लोग हस्तक्षेप रखेंगे तो यह बुरी बात होगी। यह केवल एक शहर के पुराने विद्वानों का काम नहीं है कि हिन्दी को विकसित किया जाएगा। इस काम को करने के लिए सभी लोगों से पूछा जाना है।

जब हिन्दी राज भाषा और विश्व भाषा के रूप में विकसित की जा रही है, कुछ लोगों ने यह कहना आरम्भ कर दिया है कि हिन्दी का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं हैं जहाँ यह बोली जाती है। उनका कहना है कि किसी भी घर में खड़ी बोली वाली हिन्दी नहीं बोली जाती हैं। ऐसे विद्वानों का सीधा मतलब होता है कि आगे हिन्दी को जिस रूप में चाहे, बढ़ा लें। ऐसा करने वाले विद्वान हिन्दी को संस्कृत बना लेना चाहते हैं। वे हिन्दी की कोई निजी जीनियस मानने को तैयार नहीं हैं। उनके विरोध में विशेष तर्क इस पुस्तक में दिए जा चुके हैं।

हिन्दी स्कूलों और कालेजों में तैयार की गई भाषा नहीं है। यह संस्कृत के समान कुछ विद्वानों ने बना कर नहीं दी है। यह गाँव के खेतों और शहरों के कारखानों में काम करने वाले किसानों और मजदूरों की भाषा है। लेकिन जब शब्द निर्माण किया जाता है तो उसमें सैंकड़ों तर्क दे कर केवल संस्कृत का आधार पकड़ा जाता है। कहा जाता है कि अखिल भारतीयता के कारण संस्कृत का शब्द लिया जाता है। इसमें पहली बात यह है कि अभी तक भारतीय समाज ने प्रशासन या विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी संकल्पनाएँ नहीं ढूँढी हैं जिनका अंग्रेजी भाषा में पर्याय न मिलता हो। उलटे हमारी मूल समस्या अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करने की है। फिर हमने जो राजनीति के क्षेत्र में नए शब्द दिए हैं वे संस्कृत के नहीं हैं। जनता के आन्दोलन जन भाषा में होते हैं। इस लिए सभी नए शब्द जन भाषा से निकले हुए होते हैं। घेराव, हड़ताल, चक्का जाम, चलो चलो कलक्ट्रेट, हमारी मांगे पूरी करो, इन्कलाब जिन्दाबाद—ये सभी जन भाषा के शब्द हैं और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के हो गए हैं।

तर्क दिया जाता है कि हिन्दी भाषा अहिन्दी भाषियों को ध्यान में रख कर विकसित की जानी है। इसमें कोई आपत्ति नहीं भी हो सकती, लेकिन इस सोच के पीछे जो मूल मनोवृत्ति छिपी है उसे जान लेने पर आपत्ति होनी स्वाभाविक है। यदि इसका परिणाम यह निकलता है कि हिन्दी में प्रत्येक शब्द संस्कृत से लिया जाना है तो फिर यह तर्क ठीक नहीं माना जा सकता। हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो खड़ी बोली से निकल कर आई है। यह कहीं ऊपर से निर्मित और थोपी गई भाषा नहीं है। यह करोड़ों लोगों की मातृ भाषा है। इस लिए सबसे पहले इसे हिन्दी भाषियों को ध्यान में रख कर ही विकसित किया जाना चाहिए। यदि हिन्दी को आगे विकसित करने का अधिकार हिन्दी भाषियों से छीन लिया जाता है तो हिन्दी के नाम पर जो हिन्दी विकसित होगी वह हिन्दी नहीं होगी। इसी लिए इसे आगे बढ़ाने का काम इसकी जीनियस के अनुसार ही किया जाना चाहिए।

वास्तव में जो अहिन्दी भाषी हैं उन्हें हिन्दी भाषा कठिन नहीं लगती। उनकी जो सच्ची कठिनाई है वह दूसरे प्रकार की है। संस्कृत वाले अहिन्दी भाषियों का नाम ले कर हिन्दी भाषा को हिन्दी भाषियों के लिए कृत्रिम और कठिन बना रहे हैं। संस्कृत का व्याकरण हिन्दी का व्याकरण नहीं है, संस्कृत की शब्दावली हिन्दी की शब्दावली नहीं है, संस्कृत की संधियाँ हिन्दी की सन्धियाँ नहीं हैं, संस्कृत की समास बहुल शैली हिन्दी की शैली नहीं है। लेकिन इस बात का तनिक भी ध्यान न रख कर संस्कृत की सारी रचना शैलियाँ हिन्दी पर आँख मूंद कर थोपी जा रही हैं।

कहा जाता है कि संस्कृत में शब्द निर्माण की अदभुत क्षमता है। लेकिन यह संस्कृत की ही विशेषता कही जानी चाहिए। हिन्दी की अपनी अद्भुत क्षमता दूसरे प्रकार की है। हिन्दी शब्दों का निर्माण नहीं करती। यह दूसरी भाषाओं के शब्दों

शब्दों को मिलाने का नियम भी सीखना पड़ता है । इस शब्द को जानने में उससे अपेक्षा रखी जाती है कि वह 'अ+अ=आ' के संस्कृत की संधि के नियम की भी जानकारी रखे । यही मुख्य समस्या है । हिन्दी भाषी को ऐसे शब्दों के कारण संस्कृत के व्याकरण के नियम रटने पड़ते हैं । और चूँकि संस्कृत जन भाषा नहीं है, यह सदा से रटन्त भाषा रही है, इस लिए एक हिन्दी भाषी की मुसीबत खड़ी हो जाती है। हिन्दी भाषा सरल भाव से सीखी जाने वाली भाषा है लेकिन इसकी इस जीनियस को मिटा कर इसे भी तोते की तरह रट कर सीखने वाली भाषा बनाने का प्रयत्न किया जाता है । हिन्दी भाषी से पाणिनि के सूत्र कंठस्थ कराए जाते हैं । इससे हिन्दी सीखने में अधिक समय लगता है । इस समय को कम करने का एक मात्र उपाय यही है कि हिन्दी की जीनियस को सुरक्षित रखा जाए । हिन्दी की अपनी जीनियस विभक्तियों की है, सन्धियों की नहीं । विभक्तियों के अधिक प्रयोग से संस्कृत की सन्धियों को जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती है ।

आज अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सीखने में इस दोहरी मेहनत के कारण बहुत कठिनाई होती है । उन्हें हिन्दी की विभक्तियाँ भी सीखनी पड़ती हैं जो उन्हें सीखनी ही चाहिए, साथ ही, उन्हें संस्कृत की सन्धियों के नियम भी रटने पड़ते हैं जो उन्हें नहीं रटने चाहिए । इस प्रकार, अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सीखने में, वास्तव में एक भाषा की जगह दो भाषाएँ सीखनी पड़ती हैं । ऐसी हिन्दी सचमुच ही कठिन हिन्दी हो जाएगी ।

अंग्रेजी भाषा में 'स्थानान्तरण' के लिए 'ट्रांस्फर' शब्द है । हिन्दी भाषा के लिए 'स्थानान्तरण' की अपेक्षा 'ट्रांस्फर' शब्द अधिक सुविधा जनक है । 'बदली' शब्द और भी सरल है । लेकिन संस्कृत वाले न 'बदली' लिखने देंगे और न 'ट्रांस्फर' लिखने देंगे बल्कि हिन्दी को 'स्थानान्तरण' शब्द देंगे । इससे हिन्दी की जान मुसीबत में कर दी जाती है । 'बदली' और 'ट्रांस्फर' हिन्दी के लिए एक एक शब्द मात्र थे, लेकिन 'स्थानान्तरण' मे एक अर्थ के लिए दो शब्द 'स्थान' और 'अन्तरण' दिए गए हैं । साथ ही, एक स्वर सन्धि अलग से दी गई है । हिन्दी भाषी को बहुत अच्छा लगता है जब 'ट्रेजरी' को 'खजाना' तथा 'ट्रीटी' को 'सन्धि' कहा जाता है । इसमें हिन्दी भाषी यह नहीं देखता है कि खजाना फारसी का शब्द है या सन्धि संस्कृत का शब्द है । दोनों छोटे छोटे शब्द हैं । जबान पर आसानी से चढ़ जाते हैं । लेकिन बुरा तब लगता है अब अंग्रेजी के 'वैकेशन' को 'अवकाश' भी न कहा जा कर 'विश्रामावकाश' कहा जाता है । यह दस मात्राओं का लम्बा शब्द है । इसे हिन्दी का कोई भी कवि अपने काव्य में प्रयोग नहीं कर सकता । यह संस्कृत का विशुद्धि वादी दृष्टि कोण है । हिन्दी को इससे बचाया जाना चाहिए । 'टाइपोग्राफिकल एरर' को 'मुद्रण भूल' या 'टंकण भूल' कहा गया है । लेकिन 'मुद्रण भूल' या 'टंकण भूल' हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप नहीं हैं । संस्कृत संधि या समास की ओर जाती है । या तो

उसमें संधि होगी, नहीं तो समास बनाया जाता है। 'मुद्रण भूल' और 'टंकण भूल' भी समास की ओर गई हुई शब्द रचना है। हिन्दी की अपनी विशेषता विभक्तियों की है। यहाँ हिन्दी की विभक्तियों का खुल कर पूरा उपयोग करके इसके लिए 'मुद्रण की भूल' या 'टंकण की भूल' प्रयोग किया जाना चाहिए।

एक ओर संस्कृत हिन्दी को हिन्दी नहीं रहने दे रही है तो दूसरी ओर यह हिन्दी को संसार की अन्य भाषाओं की समृद्धि का लाभ उठाने से रोक रही है। अकेले भारत में जिस हिन्दी को विकसित होना है वह सभावना बहुत बड़ी है। ऐसी कल्पना की जा सकती है कि हिन्दी मलयालम से प्रभावित होगी, तमिल से प्रभावित होगी, तेलुगु और कन्नड़ से प्रभावित होगी। पंजाबी निष्ठ हिन्दी, गुजराती निष्ठ हिन्दी, मराठी निष्ठ हिन्दी, बंगला निष्ठ हिन्दी और असमी निष्ठ हिन्दी की बात हवा में किले बनाने वाली नहीं है। ये हमारी सच्ची और ठोस धरातल की आवश्यकताएँ हैं। लेकिन संस्कृत के कारण केवल संस्कृत निष्ठ हिन्दी की बात चल निकली है। हिन्दी को अन्य सभी भाषाओं से प्रभावित होने की एक प्रकार से मनाही हो गई है।

3

बार बार कहा जा चुका है कि संस्कृत संकुचित दृष्टि कोण की भाषा है। यदि हिन्दी पर संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव रहेगा तो यह निश्चित है कि हिन्दी पर संस्कृत की संकुचितता भी अपना असर छोड़ेगी। फिर वे पुराने श्लोक पुनर्जीवित हो उठेंगे जिनमें शूद्रों और स्त्रियों के विरुद्ध जहर उगला गया था। संस्कृत से प्रभावित कोई भी मनुष्य ढोल गँवार शूद्र पशु नारी—का महाकाव्य लिख सकता है। हिन्दी भाषियों को संस्कृत के इस रूप से बहुत डर लगता है। आज कोई कह सकता हैं कि अब संस्कृत उदार हो गई है लेकिन संस्कृत के मारे हुए यही सोचते हैं कि इसमें 'सत्तर मुस्से खाय बिलैया हज को चली' वाली कहावत चरितार्थ हो सकती है।

जब हिन्दी की मानसिकता की बात चलती है तो लोग संस्कृत की मानसिकता की बात कर बैठते हैं। वे कहते हैं कि इस देश में लोग हिन्दी भाषा का प्रयोग तब करेंगे जब वे धोती कुर्ता पहनना आरम्भ करेंगे। वे नहीं मानते कि कोट पैंट पहनने वाले लोग हिन्दी बोल सकते हैं। संस्कृत वालो की यही जिद और दुर्भावना हिन्दी भाषियों को डराए हुए है। हिन्दी की मानसिकता का यह अर्थ कदापि नहीं निकलने दिया जाना चाहिए कि लोग चोटी रखें और जनेऊ धारण करें। हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो पायजामा और शेरवानी पहनने वाले भी बोलते हैं। मेरे एक मित्र ने

बताया कि हम 'रेल' को अंग्रेजी का शब्द बताने वाले के मुँह पर थप्पड़ मारेंगे। 'रेल' हिन्दी का शब्द है। उनकी अनपढ़ बुढ़िया माँ इसी शब्द को बोलती है। इस प्रकार हिन्दी में शब्दों के प्रति कोई दुराग्रह या कट्टरता नहीं है। बस, इसे संस्कृत की अनुदार दृष्टि से बचाए रखना है। हिन्दी के द्वार संसार की सभी भाषाओं से शब्द लेने के लिए खुले हैं। हिन्दी उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण करने वालो की भाषा नहीं है। निश्चित रूप से यह उनकी भी भाषा है पर यह मात्र उन्हीं की भाषा नहीं है।

आज की हिन्दी भाषा के रूप में अंग्रेजी से बहुत प्रभावित हुई है। इसने साहित्य के क्षेत्र में भी अंग्रेजी का लाभ उठाया है। हिन्दी में अनेक साहित्यिक विधाएँ अंग्रेजी के अनुकरण पर आई हैं। साथ ही, हिन्दी ने संस्कृत की कई पुरानी विधाएँ छोड़ी हैं। अंग्रेजी ने हिन्दी को एक बड़ी सीमा तक सजावट दी है। हिन्दी के वाक्यों की रचना और विराम चिह्न अंग्रेजी से लिए गए हैं। इससे हिन्दी का तनिक भी नुकसान नहीं हुआ है। जिम्मेदार भाषाओं में ऐसे परिवर्तन होते रहने चाहिए।

जो हिन्दी का स्वभाव है, विभक्तियों के मामले में न वह संस्कृत से मेल खाता है और न वह फारसी से मेल खाता है। हिन्दी में जितनी संस्कृत की समास शैली की 'टंकण भूल' अस्वाभाविक शब्द रचना है, फारसी की 'भूल-ए-टंकण' भी उतनी ही अस्वाभाविक है। हिन्दी का अपना स्वभाव इसे 'टंकण की भूल' कहने का है।

हिन्दी में शब्द लेने के लिए कुछ नियम पहले ही बनाए जा चुके हैं, लेकिन कुछ और नए नियम इस प्रकार हो सकते हैं :

1. हिन्दी में संस्कृत से वे ही शब्द लिए जाएँ जो पाँच मात्राओं से अधिक के न हों।

2. हिन्दी में संस्कृत का वही शब्द लिया जाए जो बिना प्रत्यय या उपसर्ग का हो। शब्दों में अधिक से अधिक एक ही प्रत्यय या उपसर्ग स्वीकार किया जाए। यदि किसी शब्द में दो प्रत्यय लगाए जाते हैं तो उसे अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए।

3. समास से बना कोई भी नया शब्द न लिया जाए। यदि किसी शब्द को लेने की मजबूरी बनती है तो उसे देख भाल कर लिया जाए।

4. सन्धि से बना कोई शब्द स्वीकार न किया जाए। यदि कोई शब्द स्वीकार करना पड़ता है तो उसे हिन्दी भाषियों से बुलवा कर देखा जाए।

5. हिन्दी में संस्कृत से केवल वही शब्द लिया जाए जो सन 1950 तक के प्रामाणिक संस्कृत कोशों में है।

6. कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उभरा हुआ शब्द हिन्दी में ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाना चाहिए । यदि उसके उच्चारण या लिप्यन्तरण में असुविधा है तो उसे छोटा बना कर लिया जाए ।

7. जिस विदेशी भाषा के शब्द या अन्तर्राष्ट्रीय शब्द का हिन्दी में लिप्यन्तरण किया जाए, यह नियम बना लिया जाए, कि हिन्दी कोश के लिए उसका अनुवाद बिल्कुल नहीं किया जाएगा ।

सही रास्ता वही है जो अनुभवी लोगों ने बताया है । रमा प्रसन्न नायक भारत सरकार के राज भाषा विभाग में सचिव पद पर रह चुके हैं । यह पद भारत सरकार के हिन्दी सलाह कार का भी होता है । उन्होंने एक लेख 'सरकारी काम काज में हिन्दी' लिखा है । उन्होंने इस लेख में हिन्दी भाषा की दुरूहता के अनेक उदाहरण दिए हैं । यहाँ उनमें से एक उद्धृत किया जा सकता है—"काली चद्दर की बाल्टियाँ विनिर्माण के पश्चात तप्त निमज्जन से जस्तेदार की जाएँगी ।......सूखी खाली बाल्टी को उसके ऊपरी हिस्से को ऊपर की ओर रखते हुए पानी में सीधा दबा कर बाल्टी की क्षरणअछेद्यता के लिए परख की जाएगी ।"

डा० पी एस रावत ने चिकित्सा शास्त्र के एक कोश का निर्माण किया है । इसका नाम 'मिड लाइन मेडिकल डिक्शनरी' है। डा० पी एस रावत ने इसकी प्रस्तावना में लिखा है कि इस ग्रन्थ के निर्माण में उन्होंने भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'ग्लोसरी आफ मेडिकल साइन्सज' से शब्द लेने उचित समझे थे । लेकिन जब उनका वह ग्रन्थ जनता के बीच गया तो डाक्टरी पेशे से जुड़े हुए लोगों ने उनकी आलोचना आरम्भ कर दी। पेशे से जुड़े हुए लोगों का कहना था कि उस ग्रन्थ में प्रयोग की गई हिन्दी सामान्य जनता और स्वयं डाक्टरों के लिए समझने में बहुत कठिन थी। इसके उत्तर में डा० रावत क्या कर सकते थे ? उन्होंने इस पर बहुत सोचा । अन्त में एक निष्कर्ष पर आए कि इस ग्रंथ को सरल हिन्दी में तैयार किया जाना चाहिए जिससे इसे सामान्य जनता भी समझ सके । तभी उन्होंने 'ऐसिटम' को 'सिरका' लिखा है ।

भारत सरकार के वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग ने मानविकी तथा सामाजिक विज्ञान का वृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह प्रकाशित किया है । इस संग्रह से सुभाष चन्द्र रुपेला ने अपने लेख 'हिन्दी उपसर्ग : प्रकार्य विश्लेषण' के लिए कुछ शब्द लिए हैं । यह लेख डा० भोला नाथ तिवारी द्वारा संपादित पुस्तक 'हिन्दी भाषा की शब्द संरचना' में संग्रहीत । इन शब्दों में से आगे कुछ शब्द रखे जा रहे हैं :

अंतस्त्वक्, अतिधमन, अधः कुल्या, अध सत्वक्, अधिज्ञान, अधिवारण, अधिप्रत्यय, अधिमत, अनुक्षेत्र, अपखंड, अपगीत, अपरक्राम्य, अभिघात, अर्धपत्रक, अर्धस्वचल, अवक्रवण, आघूर्ण, उत्क्रम, उत्क्षिप्त, उद्भृत उत्तरभाव्य, तद्वचनतः, दुर्भाक्षता, दूर्वोरेखा, निर्वैतिक निर्मोचन, पर-परावर्तन, पश्चावर्तन, प्रकार्य, प्रतिक्रय, प्रतिगम, विकत्थन, विच्युति, विनाम, विवाचक, मद्योनुमान, संयोघी, संलयन, सहवर्तन, सुपण्यन्ता, स्वपीडनरति ।

इन शब्दों को देखने से पता चलता है कि इनका निर्माण करते समय हिन्दी भाषियों का तनिक भी ध्यान नहीं रखा गया है । ये किसी भी दृष्टि से हिन्दी भाषा के शब्द नहीं माने जा सकते । इनमें से प्रत्येक को कोई अर्थ दे दिया गया है तो निश्चित ही कोई अर्थ होता होगा, नहीं तो मात्र शब्द से अर्थ जानने में कोई सहायता नहीं मिलती है ।

हिन्दी भाषा को अच्छा लगता है जब संस्कृत को आधार मान कर अंग्रेजी शब्द का अनुवाद सरल रूप में दिया जाता है । 'इनकम्बश्चिबल' को 'अदह' कहने से हिन्दी भाषा का बहुत लाभ होता है । लेकिन हिन्दी भाषा की आत्मा को तब बहुत बुरा लगता है जब अंग्रेजी के 'डिमांड' शब्द को 'अभियाचना' बना कर दिया जाता है । उच्चारण की दृष्टि से हिन्दी भाषी के पास अपने सांड, भांड, रांड, काण्ड, खांड, टांड, मांड शब्द हैं । इस लिए यहाँ 'डि' को उपसर्ग मान कर लिया जा सकता था । डिमांड की रचना लघु-गुरु-लघु की है । हिन्दी में इस बनावट के हजारों शब्द हैं । इसलिए डिमांड को हिन्दी में खपाने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती थी । फिर भी डिमांड जैसे चार मात्राओं के छोटे शब्द के लिए अभियाचना वाला सात मात्राओं का शब्द दिया गया है । यह हिन्दी की आत्मा में हस्तक्षेप भी है और अन्याय भी है ।

कुछ अन्य शब्दों को देखा जा सकता है । डिजाइन के लिए अभिकल्प, एजेंट के लिए अभिकर्ता, डिक्टेटर के लिए अधिनायक, बैंकिंग के लिए अधिकोषण, अप्रोच के लिए अधिगम, चार्ज के लिए प्रभार, डिविजन के लिए प्रभाग, कैटेगरी के लिए प्रवर्ग, काउंटरसाइन के लिए प्रतिहस्ताक्षर, डेपुटेशन के लिए प्रतिनियुक्ति औररूलिंग के लिए विनिर्णय शब्द देने की कोई आवश्यकता नहीं थीं । इसी प्रकार, हिन्दी में बायलर को विष्पत्र, हीटर को तापित्र तथा इजेक्टर को निष्कासित्र कहने का औचित्य नहीं बनता है । डिस्पोजल को निपटान कह दिया, हिन्दी वाला इससे प्रसन्न होगा, लेकिन ड्राइवर, क्लर्क, रिपोर्टर, आपरेटर, डिफाल्टर और बेसिक जैसे शब्दों का भी अनुवाद किया जा रहा है— यह हिन्दी भाषी के लिए दुखदायी बात हो जाती है ।

यह भी एक भ्रम है कि तमिलनाडु या पूरे दक्षिण भारत में संस्कृत निष्ठ हिन्दी चलेगी । तमिल नाडु में जन संख्या का एक बड़ा भाग मुसल मानों का है । वे अपने

स्कूलों में उर्दू पढते हैं। ऐसे ही आन्ध्र प्रदेश में उर्दू दूसरी राज भाषा है। उर्दू के सभी जान कार बोलचाल में केवल हिन्दुस्तानी का प्रयोग करते हैं। उर्दू भाषी लोग अपने बच्चों से शायरी में बातें नहीं करते हैं। वास्तव में हर उर्दू दाँ की बोलचाल की भाषा हिन्दुस्तानी है। इस लिए दक्षिण भारत में भी उसी हिन्दी का प्रयोग किया जाना अपेक्षित है जो संविधान के अनुसार सबसे पहले हिन्दुस्तानी को अपने में आत्म सात करने के लिए संकल्प लिए हुए है। मैंने तमिल नाडु में मुसलमानों से बात की है। वे अपने 'पिता' को 'वालिद' कहते हैं।

दक्षिण भारत में संस्कृत भाषा पुरोहितों और ज्योतिषियों की भाषा है। पुरोहिताई और ज्योतिषी के कार्य पेशेवर कार्य हैं। आज इन पेशों की समाज में आवश्यकता भी नहीं है। संविधान में लिखा गया है कि जनता में वैज्ञानिक दृष्टि कोण को बढ़ावा दिया जाना है।

दक्षिण भारत में संस्कृत वैसा ही पेशा है जैसे कोई हिन्दुस्तान का मैडिकल डाक्टर रूस में जा कर अपनी प्रैक्टिस शुरू कर दे। ऐसे डाक्टर को रूस की भाषा से कुछ लेना देना नहीं है; वह जिस काम में माहिर है केवल उसी काम को करता है; पेशे के सिवा समाज में उसकी पहुँच बहुत गहरी नहीं होती।

दक्षिण भारत में पुरोहिताई और ज्योतिष के रूप में संस्कृत एक पेशे के रूप में ही पहुँची है। संस्कृत के जान कारों ने जनता को आज तक जो ज्योतिष दिया है वह गणित के ज्ञान का नहीं बल्कि पुरोहिताई से जुड़ा हुआ दान महिमा का फलित ज्योतिष है। ऐसी पुरोहिताई और ऐसा फलित ज्योतिष संविधान के वैज्ञानिक दृष्टि कोण के विरोध में भी पड़ता है।

4

पारिभाषिक शब्दों का भी एक हौवा ही है। वास्तव में परिभाषा में दो चीजें होती हैं—एक शब्द और दूसरा उसका अर्थ। यदि हम ठीक ठीक देखें तो परिभाषा का अर्थ कठिन नहीं होता है बल्कि परिभाषा का शब्द कठिन होता है।

उदाहरण के लिए हम कोई एक पारिभाषिक शब्द ले सकते हैं। उसमें अर्थ अभिव्यक्त करने के लिए परिभाषा में जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे हमें पहले से ही ज्ञात होते हैं। परिभाषा का जो नया शब्द होता है वह अपने अर्थ में पहले से ज्ञात शब्दों से ही अभिव्यक्त हो पाता है।

इस प्रकार परिभाषा में हम ज्ञात अर्थ से नए ज्ञान तक पहुँचते हैं। जो अर्थ किसी एक वैज्ञानिक या दार्शनिक ने प्राप्त कर लिया है दूसरे को वह अर्थ समझाने के लिए उसे पुरानी भाषा का ही प्रयोग करना पड़ता है । उस नए ज्ञान के लिए, जो पुरानी भाषा के शब्दों को व्याकरण में रखे जाने पर अभिव्यक्त हो जाता है, हम एक नया शब्द दे सकते हैं । अब यदि वह शब्द इतना बड़ा बना दिया जाए कि उसके उच्चारण में भी जिह्वा को कठिनाई होने लगे तो उसका अर्थ भी हमारी पकड़ से बाहर हो जाता है।

यह केवल मनोवृत्ति की बात है कि एक व्यक्ति अपने ज्ञान को दूसरों को सुलभ कराना चाहता है और दूसरा व्यक्ति अपने ज्ञान को दूसरों के लिए सुलभ कराना नहीं चाहता है । जो अपना ज्ञान दूसरों को देना चाहता है, उसे ऐसी प्रसव पीड़ा सताती है कि वह अपने ज्ञान को दूसरो को सिखा कर ही दम लेगा । जब तक उसकी बात दूसरों को समझ में न आ जाए वह अपने पढ़ाने की तकनीक बदलता रहेगा । दूसरों की समझ में न आने पर वह यह सोचेगा कि उसके पढ़ाने में कहीं कोई कमी रह गई है । उदाहरण के रूप में, सुकरात अपने ज्ञान को सब को समझाना चाहता था। उसे इसके लिए अपने जीवन की कुर्बानी भी देनी पड़ी। सुकरात चाहता था कि उसके ज्ञान को लोग एक दूसरे को अपने आप बताते जाएँ। एक दूसरा आदमी अपने ज्ञान को सब को सुलभ कराना नहीं चाहता है । उसके ज्ञान की लोगों को चोरी तक करनी पड़ती है । इसका उदाहरण द्रोणाचार्य हैं। चोरी से तीरन्दाजी सीखने पर द्रोणाचार्य एकलव्य का अँगूठा काट लेते हैं। और भारतीय समाज में अछूतों के लिए वेद का का ज्ञान देने या न देने की बात बहुत दूर की है, इस चिन्तन का व्यावहारिक परिणाम यह निकला है कि आज अछूत के बच्चे को बढ़इ गिरी भी नहीं सिखाई जाती है।

ऊपर दिए गए उदाहरणों से सुकरात और द्रोणाचार्य द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली भाषाओं का अन्तर समझा जा सकता है । सुकरात सरल से सरल भाषा का इस्तेमाल करेगा और द्रोणाचार्य कठिन से कठिन भाषा को प्रयुक्त करेगा । पारिभाषिक शब्दों का बहाने मिलने पर द्रोणाचार्य उसे कवच के रूप में प्रयोग करेगा । हिन्दुस्तान के जाति वादी नजरिए में साधारण जनता के लिए हर पारिभाषिक शब्द जटिल बनाया जाता है । यहाँ पारिभाषिक शब्द के चक्कर में पारिभाषिक शब्द का अर्थ सामान्य जनता को जानने नहीं दिया जाता है। खुदा न खास्ता यदि आज का रेडियो, टेलीविजन और कैलकुलेटर का ज्ञान हिन्दुस्तान के पुराने जाति वादी ब्राह्मणों के हाथ में पड़ जाता तो इसे ब्रह्मास्त्र बना कर ये संसार का कैसा नाश करते—कुछ कहा नहीं जा सकता । आज शहरों की गली गली में आठवी पास लड़के रेडियो टेक्नीशियन हैं। दसवी फेल का अंग्रेजी में बेपढ़ा लड़का हमारे टेली वीजन को ठीक करके चला जाता है । उसने

अखिल भारतीयता के नाम पर हिन्दी में अनुवाद की हुई किसी सरकारी या गैर सरकारी पारिभाषिक शब्दावली को नहीं पढ़ा है। मजे की बात यह है कि उसकी उम्र के लड़के संस्कृत को छोड़ कर भारत की सभी चौदह भाषाओं में टेली वीजन ठीक कर रहे हैं।

हमें पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? कहा जाता है कि परिभाषा से ज्ञान सुव्यवस्थित हो जाता है और बहुत लम्बी बात एक शब्द में जाहिर कर दी जाती है । यह तो ठीक है कि बहुत लम्बी बात एक शब्द में जाहिर कर दी जाए पर इसकी असली शर्त तो यह है कि वह सच में जाहिर होती हो। यदि वह जाहिर न हो तो उसका लाभ क्या है ? यदि शब्द ही ऐसा बना दिया गया जो जबान पर न चढ़ सके तो परिभाषा बनाने का हमारा सारा प्रयोग विफल हो जाता है । अच्छे विज्ञान, कानून और दर्शन वे ही हैं जिनमें आम भाषा के शब्द पारिभाषिक बनाए जाते हैं । अंग्रेजी में 'एक्ट' एक क्रिया है, उसी को विधि की शब्दावली में अधिनियम के लिए चुन लिया गया है । उसके लिए उन्होंने अपनी भाषा में 'अधिनियम' की तरह नया शब्द लाने की कोशिश नहीं की है । हिन्दी में यह शब्द 'एक्ट' ही चल सकता था। 'रूल' अंग्रेजी में पहले से प्रचलित शब्द था । उसे उन्होंने विधि शब्दावली में 'नियम' के अर्थ में ले लिया है। अंग्रेजी के शब्द कोशों में एक शब्द के अलग अलग विज्ञानों में अलग अलग अर्थ होते हैं । भाषा को कृत्रिम बनाने से बचाने के लिए ऐसा हिन्दी में भी किया जा सकता है।

ऊपर मुझे 'नियम' शब्द से डर नहीं है। यह हिन्दी का प्रचलित शब्द है। मुझे जिससे डर लगता है वह 'नियम' के 'अधिनियम' बनने से है । मुझे मालूम है कि इससे आगे इस आधार पर 'उपाधिनियम' 'उपाधिनियमावली' और 'उपाधिनियमावलियाधीन' भी हिन्दी के शब्द कहे जाएँगे ।

समाज को किस बात में फायदा है ? पारिभाषिक शब्द दुरूह बना कर कक्षा में बच्चों को ब्लैक बोर्ड पर पाँच घंटे तक उसकी व्याख्या करके बताना या शब्द को आसान बना कर उसे पुस्तकों में इस प्रकार लिखना कि नुक्ता बताते ही बच्चे उसे पाँच मिनट में समझ जाएँ ? अन्तर यही है कि दुरूह पारिभाषिक शब्द बना कर ज्यादा से ज्यादा लोगों को स्वामी दयानन्द की शैली के 'शूद्र वा मूर्ख' घोषित किया जाता है और आसान पारिभाषिक शब्द बना कर ज्यादा से ज्यादा लोगों को स्वामी विवेकानन्द की शैली के 'विद्वान' घोषित किया जाता है ।

हिन्दी भाषा की शब्द रचना को ले कर डा० भोला नाथ तिवारी ने एक लेख 'पारिभाषिक शब्द और उनकी संरचना' लिखा है । इसमें उन्होंने बताया है कि पारिभाषिक शब्द में बारह विशेषताएँ होनी चाहिए । उनमें से तीन विशेषताएँ आगे देखी जा सकती हैं:

(क) उच्चारण की दृष्टि से, प्रयोक्ता भाषा भाषियों के लिए पारिभाषिक शब्द को सरल होना चाहिए ।

(ख) शब्द यथासाध्य छोटा हो, ताकि बार बार प्रयोग में असुविधा न हो ।

(ग) पारिभाषिक शब्द यथासाध्य एक शब्द का होना चाहिए, एक से अधिक शब्दों का नहीं ।

पूछा जा सकता है कि क्या हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करते समय इन बातों का तनिक भी ध्यान रखा जाता है ? इसके समाधान में हिन्दी के राज भाषा बनने के बाद जो हिन्दी में अब तक हुआ है, उसे अच्छा या बुरा न कह कर एक नए सिरे से सोचने की जरूरत है । जो कुछ हुआ है, उसके पुनर्मूल्यांकन करने की गुंजाइश को आकार दिया जाना चाहिए । यह सही है कि हिन्दी के राज भाषा बनने के बाद जो लोग हिन्दी के काम से जुड़े थे, अब वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि आरंभ के पन्द्रह बीस वर्षों तक वे दिग्भ्रमित थे । उनके सामने करने को एक बहुत बड़ा काम था लेकिन वह काम नया था और बहुत अधिक था । क्योंकि उनके सामने काम करने की कोई विशेष दिशा नहीं थी, इस लिए वे लोग ऐसा काम कर गए जो आज स्वयं उन्हें अटपटा लगता है ।

हिन्दी को अंग्रेजी के साथ साथ लाने में वे दो शर्तों से बँध कर रह गए थे । एक तो हिन्दी को अनुवाद की भाषा बनना था, दूसरे हिन्दी में जो शब्द लिए जाने थे, वे मात्र संस्कृत से लिए जाने थे । वे स्वीकार करते हैं कि वे इन दो वहमों में मारे गए हैं । परन्तु पिछले पाँच दस वर्षों से अब वे इन दोनों वहमों से पार हो रहे हैं । अब वे मानते हैं कि हिन्दी को अनुवाद की भाषा बन कर नहीं रहना है बल्कि इसे अपने निजी स्वभाव की एक सहज भाषा के रूप में विकसित होना है । यह अनिवार्य नहीं है कि अनुवाद की भाषा हमेशा जटिल हो, लेकिन जब लिए जाने वाले शब्द भी हिन्दी के अपने नहीं होते थे तो इसे जटिल बन कर ही रह जाना था । ऐसी स्थिति में हिन्दी कितना भी प्रयत्न करती, पर यह सरल नहीं हो सकती थी । फिर हिन्दी जटिल न भी होती यदि लिए जाने वाले शब्द मात्र संस्कृत के होते । वास्तव में, उस समय हिन्दी को जो शब्द संस्कृत के कह कर दिए गए वे संस्कृत भाषा के भी शब्द नहीं थे । वे शब्द स्वयं संस्कृत भाषा में नहीं थे । वे दुनिया में कहीं भी नहीं थे, वे संस्कृत वालों के लिए भी अपरिचित और जटिल थे । ऐसा नहीं था कि उन नव निर्मित शब्दों को कोई संस्कृत का शब्द कार समझ सकता था ।

अंग्रेजी से अनुवाद के क्षेत्र में यह कमी रही कि अंग्रेजी के लम्बे लम्बे वाक्यों को हिन्दी में हू-ब-हू लम्बे लम्बे बनाया गया । हिन्दी का स्वभाव छोटे छोटे वाक्य बनाने का है लेकिन अंग्रेजी से अनुवाद करने में हिन्दी के स्वभाव की यह बात नहीं मानी गई ।

संस्कृत से शब्द लेने में यह बड़ी कमी रही कि शब्द केवल निर्माण करके या पुराने अप्रचलित लिए गए । यदि संस्कृत भाषा के प्रचलित शब्दों को हिन्दी में रखा जाता तो हिन्दी संस्कृत से इतनी दूर की भाषा नहीं है कि उन्हें अपने स्वभाव के अनुसार अपनाने में कोई कठिनाई होती। आज की हिन्दी ने संस्कृत के सारे गतिमान शब्दों को तद्भव बना कर अपना रखा है। पर जो शब्द स्वयं संस्कृत में मर गए हैं, आज की हिन्दी से उन्हें भी जीवित करवाने की गलत कोशिश की गई है। संस्कृतज्ञों ने यह बात पूरी तरह भुला दी है कि प्रत्येक भाषा में कुछ पुराने शब्द मर जाया करते हैं। जब हिन्दी भाषा स्वयं अपने अनेक पुराने शब्दों को छोड़ चुकी है, और इस छोड़ने का पश्चाताप नहीं करती, तो संस्कृत भाषा के वेद काल के मरे हुए शब्दों के शव हिन्दी के द्वार पर सजा कर रख देना उचित नहीं है।

अब राज भाषा के रूप में हिन्दी से जुड़े हुए लगभग सभी लोग एक स्वर से यह महसूस करते हैं कि आगे हिन्दी को अनुवाद और संस्कृत के शब्दों से कृत्रिम और बोझिल नही बनने देना चाहिए। अब उन शब्दों की काट छाँट की जाने लगी है जो संस्कृत के उपसर्गों और प्रत्ययों की भरमार के कारण अपनी बनावट में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। संस्कृत के उपसर्गों की भरमार के कारण हिन्दी को दिए गए शब्द मिलट्री के रंगरूटी जवान से एक लाइन में खड़े हुए दीखते हैं। इससे हर जवान की अपनी अलग पहचान नहीं बनती है। इसके विपरीत, एक अच्छी भाषा में हर शब्द की अपनी अलग और विशिष्ट पहचान रहनी चाहिए। शब्द की यह विशिष्ट पहचान केवल उसके अर्थ में ही नहीं होनी चाहिए बल्कि यह शब्द की बनावट में भी अपेक्षित है। संस्कृत के पेटर्न पर जो शब्द, संमृत्यु, संघूर्ण, संकोण, संचूर्ण जैसे बनाए जा सकते हैं, ये एक पक्ति में खड़े बे पहचान के सैनिक से अपनी सुबह शाम की कवायद करते दीखते हैं। फिर, जो चीजें संख्या से प्रदर्शित की जा सकती हैं उन्हें केवल संख्या से प्रदर्शित किया जाना चाहिए। यदि हर संख्या के लिए अलग शब्द दिया जाने लगे तो शब्दावली निर्माण की कोई सीमा नही रह जाएगी। यदि हर 'मृत्यु' के लिए अलग शब्द देने की विवशता आ खड़ी होगी तो फिर हिन्दी भाषी उन्हें अनुमृत्यु, अवमृत्यु, उपमृत्यु आदि कहने के बजाए मृत्यु-1, मृत्यु-2, मृत्यु-3, कह कर लिखने लगेंगे तो ज्यादा अच्छा रहेगा। जिसको गिनती की जिस मृत्यु से अर्थ ग्रहण करना है वह उसे पुकारने और लिखने लगेगा। इसमें कम से कम हिन्दी सरल तो रहेगी।

राज भाषा के स्वरूप के संबंध में यह जान लेना लाभ कारी रहेगा कि जो लोग इस काम मे जुड़े हैं उनके विचार क्या हैं। राज भाषा हिन्दी में कनिष्ठ अनुवादक अनुवाद की सबसे पहली सीढ़ी है। मुझे भारत सरकार के मंत्रालयों, विभागों और

अन्य कार्यालयों के कनिष्ठ अनुवादकों से अनेक बार बातचीत करने का अवसर प्राप्त हुआ है। एक बार इन अनुवादकों में कुछ लोग बैंकों तथा लोक उद्यमों के भी थे। अधिकांश दिल्ली क्षेत्र में कार्य करने वाले थे, पर कई अनुवादक दक्षिण के रहने वाले तथा दक्षिण में ही काम करने वाले भी थे।

एक अनुवादक के कार्यालय का नाम हिन्दी में बड़ा था। उस नाम में 'निष्कर्षण' शब्द भी आया है। अधिकांश अनुवादकों ने 'निष्कर्षण' शब्द को अटपटा बताया। कई लोगों ने हिन्दी में 'सांख्यिकीय' शब्द की आलोचना की। वे विशेष रूप से यह कह रहे थे कि बीच वाले 'य' में 'इ' की मात्रा का उच्चारण नहीं हो पाता है। वे इसे केवल 'सांख्यकी' तक सीमित रखना चाहते थे।

इन कनिष्ठ अनुवादकों की कुल संख्या 23 थी। उन्होंने 'एजेन्सी' शब्द पर चर्चा की। उनमें से एक ने बताया कि इसे प्रशासनिक शब्दावली में हिन्दी में 'अभिकरण' लिखा गया है। मैंने उनसे पूछा कि उनमें से हिन्दी में 'एजेन्सी' के लिए 'एजेन्सी' शब्द चलाने के पक्ष धर कितने लोग हैं तथा 'अभिकरण' चलाने के पक्ष में कितने लोग हैं। एजेन्सी के पक्ष में 11 लोगों ने तथा अभिकरण के पक्ष में 5 लोगों ने अपना मत जाहिर किया। उनमें से 7 लोगों ने कोई प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की। उन्होंने कुछ और शब्दों पर भी चर्चा की। उनमें से कई ने कहा कि हिन्दी भाषियों के घर में बोल चाल की भाषा में टीवी होता है, दूर दर्शन नहीं होता है। एक ने यह बात जोर दे कर कही कि विधि की भाषा आम जनता की भाषा होनी ही चाहिए। उनके उत्तर में कई दूसरे अनुवादक यह कह रहे थे कि विधि की भाषा आम जनता की भाषा कभी नहीं हो सकती। अंग्रेजी के 'सेम्पल' शब्द का हिन्दी में अनुवाद 'प्रतिदर्श' के रूप में अटपटा और अनावश्यक भी बताया गया।

मुझे भारत सरकार में और भारत सरकार के अधीन कार्यालयों के हिन्दी अधिकारियों से चर्चा करने के अवसर भी प्राप्त हुए हैं। ये भी विभिन्न मंत्रालयों, विभागों, कार्यालयों तथा भारत के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले लोग थे। एक बार इनकी संख्या 15 थी। मैंने 'एजेन्सी' शब्द पर इनकी भी राय जाननी चाही। इनमें से 13 अधिकारियों ने 'एजेन्सी' शब्द के पक्ष में अपना मत दिया, 2 ने 'अभिकरण' के पक्ष में मत दिया। जिन 2 अधिकारियों ने अभिकरण के पक्ष में मत दिया, उन्होंने यह भी कहा कि बोलते समय 'एजेन्सी' तथा लिखते समय 'अभिकरण' का प्रयोग किया जाना चाहिए। एक महिला अधिकारी ने बताया कि वे उत्तर भारत के लोगों से पत्र व्यवहार करते समय उर्दू मिश्रित हिन्दी का प्रयोग करती हैं तथा दक्षिण भारत के लोगों से पत्र व्यवहार में संस्कृत निष्ठ हिन्दी का प्रयोग करती हैं। उन्होंने एक उदाहरण दे कर बताया कि दक्षिण में 'पाणि ग्रहण' शब्द तथा उत्तर भारत में 'शादी' या 'विवाह' शब्द अधिक सरल समझे जाते हैं। इनके जवाब में एक दूसरे अधिकारी

ने बताया कि जब दक्षिण भारत के लोग पंजाब में दो वर्ष काम कर लेते हैं तो वे पंजाबी खूब बोलने लगते हैं। उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती है। उन्होंने कहा कि हिन्दी को ले कर उत्तर और दक्षिण भारत का ऐसा अन्तर नहीं है। हिन्दी सर्वत्र एक ही है। उन्होंने कहा कि दक्षिण भारत में हिन्दुस्तानी हिन्दी की फिल्में खूब चलती हैं। इनके विरोध में एक अन्य अधिकारी ने कहा कि उर्दू मिश्रित तथा संस्कृत निष्ठ हिन्दी का यह अंतर स्वयं हिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी है। उन्होंने बताया कि बिहार में, लखनऊ में, और इलाहाबाद में उर्दू मिश्रित हिन्दी का प्रयोग होता है, और राजस्थान में संस्कृत निष्ठ हिन्दी का प्रयोग होता है। इसके उत्तर में एक चौथे अधिकारी ने बताया कि मैं स्वयं राजस्थान का हूँ, मेरे राजस्थान में संस्कृत निष्ठ हिन्दी का प्रयोग नहीं होता है। उन्होंने कहा कि आम बोल चाल की हिन्दी भाषा सारे भारत में एक ही रूप में प्रचलित है। उर्दू निष्ठ तथा संस्कृत निष्ठ हिन्दी की बातें केवल दायरों की बाते हैं।

इन अधिकारियों में से कई ने 'सजा' को 'शास्ति' कहना उचित नहीं बताया। हम जहाँ बैठे विचार कर रहे थे उस 'पर्यावरण भवन' की बात भी सोची गई। उन्होंने कहा कि चूँकि हम लोग हिन्दी अधिकारी हैं, हिन्दी में विशिष्ट रूप से दक्ष हैं, हमें 'पर्यावरण' शब्द आरंभिक कठिनाइयों के बाद अब सरल लग रहा है, लेकिन आम जनता के लिए यह शब्द कठिन ही बना रहेगा। उनमें से एक ने उदाहरण दे कर बताया कि दिल्ली में एक विशेष गोल सड़क पर चलने वाली बसों का नाम 'मुद्रिका' आम जनता का शब्द बहुत जल्दी बन गया है। एक बैंक में काम करने वाले हिन्दी अधिकारी ने बताया कि व्यापारियों के मन में 'क्लीयरिंग' की तुलना में हिन्दी का 'समाशोधन' शब्द जम नहीं रहा है। उन्होंने यह भी बताया कि बैंक के लोग तथा ग्राहक दोनों हिन्दी में बनाए गए 'मांग पत्र' का उच्चारण बिना अपवाद के 'डीडी' ही करते हैं। अंग्रेजी के 'वेज फ्रीज' के हिन्दी अनुवाद 'मजदूरी कीलन' में 'कीलन' को अटपटा बताया गया। इन हिन्दी अधिकारियों में से सभी ने 'एल. सी. एम.' के लिए 'लघुत्तम' तथा 'एच. सी. एफ.' के लिए 'महत्तम' शब्द बताया। उन्होंने इसमें अनभिज्ञता प्रकट की कि लघुतम के लिए लधुतम समापवर्त्य तथा महत्तम के लिए महत्तम समापवर्तक पूरे शब्द होते हैं। उन्हें इसके लिए काफी समय दिया गया पर उनमें से यह किसी के याद नहीं आया। तब एक हिन्दी प्राध्यापक को बुलाया गया। हिन्दी प्राध्यापक ने भी बताने में भूल की। उन्होंने समापवर्त्य और समापवर्तक में कोई भेद न मान कर दोनों को एक ही बताया। तब हिन्दी अधिकारियों ने बताया कि 'समापवर्तक' जैसे शब्दों को बच्चे भी भूल जाते हैं और मास्टर भी भूल जाते हैं। ये हिन्दी में जबरन घड़े हुए शब्द हैं।

हिन्दी अधिकारियों ने यह समस्या भी उठाई कि हिन्दी भाषी प्रदेशों में अंग्रेजी के एक शब्द के लिए हिन्दी में अलग अलग शब्द है। इससे भाषा में संदेह की स्थिति बन जाती है। उन्होंने बताया कि अंग्रेजी के ब्लाक को उत्तर प्रदेश में खंड तथा बिहार

में 'प्रखंड' लिखा जाता है। उन्होंने 'मंडल' और 'परिमंडल' का भी उदाहरण दिया। एक तीसरा जोड़ा 'अंचल' और 'क्षेत्र' का बताया।

यह जानने की बहुत आवश्यकता है कि हिन्दी की प्रकृति के अनुसार शब्द कैसे लिए जाएँ। शब्दों का निर्माण संस्कृत की प्रकृति के अनुसार किया जा रहा है लेकिन शब्दों का स्वीकार हिन्दी की प्रकृति के अनुसार किया जाना चाहिए। यह हिन्दी का शब्द लेने का तरीका क्या है ? मैं यहाँ एक दो उदाहरण रख सकता हूँ।

अंग्रेजी का एक शब्द 'रिमाइन्डर' है। संस्कृत के आधार पर इसके लिए 'अनुस्मारक' शब्द बनाया गया है। हिन्दी इस शब्द के साथ क्या करे ? मेरे मत में हिन्दी इसे अपनी प्रकृति के अनुसार छोटा बनाएगी। वह इसमें से या तो कुछ आगे से घटाएगी, या पीछे से घटाएगी, या आगे और पीछे दोनों तरफ से घटाएगी। इसे 'अनुस्मा' कहा जा सकता है। इसे और भी छोटा 'नुस्मा' बनाया जा सकता है। इसे 'नुस्मार' या 'नस्मार' भी बनाया जा सकता है। मेरे मत में 'अनुस्मा', 'नुस्मा', 'नुस्मार' और 'नस्मार' शब्दों में से कोई एक अपनाया जाए तो वह हिन्दी की प्रकृति के अधिक अनुकूल रहेगा।

समस्या यह है कि हिन्दी को अपने लिंग और वचन भी बनाने हैं। यदि हम 'अनुस्मारक' शब्द को स्वीकार करें तो इसका बहु वचन 'अनुस्मारकों' होता है, जो और भी बड़ा हो जाता है। यदि हम इसे 'अनुस्मा' लें तो 'अनुस्माओं', यदि 'नुस्मा' लें तो 'नुस्माओं', और यदि 'अनुस्मार' लें तो 'अनुस्मारों' के रूप में बहु वचन हो जाते हैं। ये शब्द हिन्दी की प्रकृति की दृष्टि से अधिक संगत दीखते हैं। ऐसे ही, यदि हमें 'अनुस्मारक' का स्त्री लिंग बनाना हो तो 'अनुस्मारकी' बनेगा। इसका आगे बहु वचन 'अनुस्मारकियों' होगा। यूँ यह शब्द बड़े से बड़ा होता जाता है। यदि इसमें एक उपसर्ग या प्रत्यय और लगाना पड़ जाए तो हिन्दी के लिए भारी मुसीबत खड़ी हो जाएगी। इसके बजाय 'अनुस्मा' का 'अनुस्मी', नुस्मा, का 'नुस्मी' और 'नुस्मार' का 'नुस्मारी' स्त्री लिंग शब्द बन जाते हैं।

'डाइरेक्टरेट' के लिए इस समय संस्कृत की परिपाटी पर 'निदेशालय' शब्द बनाया गया है। यदि मुझे इस शब्द को अपनाने की स्वतंत्रता मिले तो मैं इसे 'देशाल' बनाना चाहूँगा। इसका बहु वचन 'देशालों' तथा स्त्री लिंग 'देशाली' तथा स्त्री लिंग का बहु वचन 'देशालियाँ' हिन्दी की प्रकृति के अनुसार सरलता से बनाए जा सकते हैं। कहने का अर्थ यह है कि यदि शब्द निर्माण संस्कृत की प्रकृति के अनुसार होना चाहिए तो कम से कम उसका स्वीकार हिन्दी की प्रकृति के अनुसार होना चाहिए।

अन्त में मैं कहूँ कि राम चन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' में माना है कि भाषा की प्रकृति को जानना एक कठिन काम है। उन्होंने लिखा है—"यह ज्ञान बहुत

ही थोड़े आदमियों को होता है कि 'वाणी' बहुत ही पवित्र नारी के समान है—वह अपने अंग केवल अधिकारी को दिखाती है हर किसी को नहीं। जो लोग 'वाणी' या भाषा के सब अंगों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें पहले अधिकारी बनना चाहिए। मनुष्यों अथवा पदार्थों की प्रकृति का तो बहुत कुछ अनुशीलन और विवेचन हुआ है और होता रहता है पर भाषा की प्रकृति की ओर कदाचित बहुत ही कम लोगों का ध्यान जाता है। उस प्रकृति का ठीक ठीक स्वरूप जानने के लिए ऐसे अनेक अधिकारी विद्वानों की आवश्यकता है।" उन्होंने यह भी लिखा है—"हम नहीं कह सकते कि अन्यान्य उन्नत भाषाओं में उनकी प्रकृति के विवेचन का कुछ प्रयत्न हुआ है या नहीं, और यदि हुआ है तो कैसा और कितना हुआ है। पर हिन्दी में कहीं नहीं हुआ।" उन्होंने लिखा है—"इस प्रकृति का स्वरूप हम चाहे पहचान सकें, चाहे न पहचान सकें, परन्तु वह होती अवश्य है, और कभी कभी हमें अपनी झलक दिखा जाती है। न तो हमें अभी तक उस प्रकृति की कल्पना ही हुई है और न हमने उसकी ओर ध्यान ही दिया है।"

उन्होंने अपनी इसी पुस्तक में लिखा है कि "हम विद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि वे ···हिन्दी की प्रकृति पहचानने और उसका स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न करें।" उन्होंने आशा व्यक्त की थी—"जब कुछ दिन तक बड़े बड़े विद्वान इसी प्रकार का अध्ययन और विचार करते रहेंगे, तब किसी दिन हिन्दी की सम्पूर्ण प्रकृति भी लोगों के सामने स्पष्ट रूप में आ जाएगी। यह प्रकृति और कुछ नहीं, हमारी भाषा के वे मूल तत्व हैं जिनके आधार पर वह खड़ी हुई है, चल रही है और आगे चल कर विकसित तथा उन्नत होगी।"

उन्होंने लिखा था कि "भाषा की प्रकृति उसकी संज्ञाओं, विशेषणों, विभक्तियों और क्रियाओं का कहाँ तक साथ देती और कहाँ तक उनसे प्रभावित होती है"—इससे सूचित होती है। उन्होंने इसका आगे खुलासा किया है—"भाषा की प्रकृति उसके शब्दों की बनावट, भाव व्यक्त करने की प्रणालियों, क्रियाओं और मुहावरों से प्रकट होती है। जो लोग इन सब बातों का सदा पूरा पूरा ध्यान रखते हैं, वही समझ सकते हैं कि कौन सी बात हमारी भाषा की प्रकृति के अनुकूल है और कौन सी प्रतिकूल। उनके कान इतने अभ्यस्त होते हैं कि प्रकृति विरुद्ध छोटी से छोटी बात भी उन्हें खटक जाती है। परन्तु जो लोग भाषा के पारखी नहीं होते वे आँखें बन्द करके दुनिया भर की उलूल जलूल बातें अपनी भाषा में भरने का प्रयत्न करते हैं।" आगे उन्होंने यह भी लिखा है कि "भाषा की प्रकृति का ठीक ठीक परिचय जन साधारण की बोल चाल से ही मिलता है।" उन्होंने लिखा है—"भाषा की प्रकृति पर उसके बोलने वालों की प्रकृति की बहुत कुछ छाया रहती है। यह प्रकृति उसके व्याकरण, भाव व्यंजन की प्रणालियों, मुहावरों, क्रिया प्रयोगों और तद्भव शब्दों के रूपों या बनावटों आदि में निहित रहती है।"

राम चन्द्र वर्मा ने सारी बातें ठीक कही हैं, बस मैं उसमें एक संशोधन करना चाहता हूँ कि राम चन्द्र वर्मा के लिए जो 'वाणी' बहुत ही पवित्र नारी के समान है, वह मेरी माँ है। यह मेरे स्वप्न में भी कल्पना नहीं आ सकती कि मैं उसके सब अंगों को किसी और दृष्टि से देखूँ। मैंने माँ के अंगों को झीर झीर करना नहीं चाहा है। उलटे मैंने उसे साफ और सुन्दर वस्त्र देने चाहे हैं।

उपसंहार

अध्याय—13 बिल्ली मौसी की कहानी

अध्याय—13

बिल्ली मौसी की कहानी

इस अवसर पर एक कहानी कही जा सकती है। कहानी इस प्रकार है :

एक बिल्ली थी। वह किसी जाटनी के घर चली गई। जाटनी के घर में चपटे में दूध रखा था। बिल्ली ने सोचा—थोड़ा दूध पी ही लूँ। उसने अपना मुँह चपटे में दे दिया। वह चप चप दूध पीने लगी।

जाटनी ने बिल्ली को दूध पीते हुए देख लिया। उसे बहुत गुस्सा आया। उसने बिल्ली के डंडा मारा। डंडा बिल्ली के बजाय चपटे में लग गया। चपटे का घेरा बिल्ली की गर्दन में फँस गया। बिल्ली परेशान हो गई। बिल्ली ने इधर उधर सिर मार कर वह घेरा तोड़ना चाहा पर वह उससे टूट नहीं सका।

बिल्ली ने इस मुसीबत का लाभ उठाना चाहा। उसने गले में घेरे का एक ढोंग रचा। उसे बहुत दिनों से चूहे वगैरह मिल भी नहीं रहे थे। वह गाँव में अक्सर भूखी रहा करती थी। सब उससे चौकस हो गए थे।

घेरे को गले में लिए वह रास्ते में जा रही थी। कूड़े पर मुर्गा चुग रहा था। मुर्गे ने पूछा—'मौसी री मौसी, कहाँ जा रही है? यह गले में क्या बांध लिया है?'

उसने मुर्गे से कहा कि वह हज करने जा रही है। उसने कहा कि अब मेरी बहुत उम्र बीत चुकी है। मैंने अब तक जीव हत्या करके अपने जीवन में पाप ही पाप कमाए हैं। इन पापों को उतारने के लिए हज करने जा रही हूँ। वह उस भेष में भगतनी और संत महात्मा लग रही थी।

बिल्ली ने बात बनाई—'मैंने सोचा, जब हज करने चली हूँ तो अकेली क्या चलूँ, तुझे भी साथ ले लूँ।' उसने मुर्गे से कहा—'अरे मुर्गे बेटे, चल तू भी मेरे साथ चल। तुझे भी हज करवा लाऊँ।'

बिल्ली की यह बात सुन कर मुर्गा बड़े आश्चर्य में पड़ गया। उसने सोचा—आज बिल्ली अचानक ऐसी धर्मात्मा कैसे बन गई है! यह तो बिल्ली के स्वभाव के विपरीत बात है कि वह हज करने जाएगी और मुझे भी हज तक अपने साथ ले चलेगी। उसने बिल्ली को दूर से ही जवाब दे दिया—ना मौसी, अभी मैं हज करने नहीं जा पाऊँगा।'

बिल्ली ने पूछा—'अरे क्यों बेटे, मैं तेरे साथ हूँ।'

अध्याय—13

बिल्ली मौसी की कहानी

इस अवसर पर एक कहानी कही जा सकती है। कहानी इस प्रकार है :

एक बिल्ली थी। वह किसी जाटनी के घर चली गई। जाटनी के घर में चपटे में दूध रखा था। बिल्ली ने सोचा—थोड़ा दूध पी ही लूँ। उसने अपना मुँह चपटे में दे दिया। वह चप चप दूध पीने लगी।

जाटनी ने बिल्ली को दूध पीते हुए देख लिया। उसे बहुत गुस्सा आया। उसने बिल्ली के डंडा मारा। डंडा बिल्ली के बजाय चपटे में लग गया। चपटे का घेरा बिल्ली की गर्दन में फँस गया। बिल्ली परेशान हो गई। बिल्ली ने इधर उधर सिर मार कर वह घेरा तोड़ना चाहा पर वह उससे टूट नहीं सका।

बिल्ली ने इस मुसीबत का लाभ उठाना चाहा। उसने गले में घेरे का एक ढोंग रचा। उसे बहुत दिनों से चूहे वगैरह मिल भी नहीं रहे थे। वह गाँव में अक्सर भूखी रहा करती थी। सब उससे चौकस हो गए थे।

घेरे को गले में लिए वह रास्ते में जा रही थी। कूड़े पर मुर्गा चुग रहा था। मुर्गे ने पूछा—'मौसी री मौसी, कहाँ जा रही है? यह गले में क्या बांध लिया है?'

उसने मुर्गे से कहा कि वह हज करने जा रही है। उसने कहा कि अब मेरी बहुत उम्र बीत चुकी है। मैंने अब तक जीव हत्या करके अपने जीवन में पाप ही पाप कमाए हैं। इन पापों को उतारने के लिए हज करने जा रही हूँ। वह उस भेष में भगतनी और संत महात्मा लग रही थी।

बिल्ली ने बात बनाई— 'मैंने सोचा, जब हज करने चली हूँ तो अकेली क्या चलूँ, तुझे भी साथ ले लूँ।' उसने मुर्गे से कहा—'अरे मुर्गे बेटे, चल तू भी मेरे साथ चल। तुझे भी हज करवा लाऊँ।'

बिल्ली की यह बात सुन कर मुर्गा बड़े आश्चर्य में पड़ गया। उसने सोचा—आज बिल्ली अचानक ऐसी धर्मात्मा कैसे बन गई है! यह तो बिल्ली के स्वभाव के विपरीत बात है कि वह हज करने जाएगी और मुझे भी हज तक अपने साथ ले चलेगी। उसने बिल्ली को दूर से ही जवाब दे दिया—ना मौसी, अभी मैं हज करने नहीं जा पाऊँगा।'

बिल्ली ने पूछा—'अरे क्यों बेटे, मैं तेरे साथ हूँ।'

मुर्गे ने कहा—'मौसी, सच्ची बात यह है कि मैं तेरे साथ कैसे चलूँ, तू तो मुझे खा जाएगी।'

बिल्ली ने कहा—'ना ना बेटे, अब ऐसी बात मत कर। अब मैंने सारे पुराने कुकर्म छोड़ दिए हैं। अब मैं आगे जीव हत्या बिल्कुल नहीं करूँगी। मैंने दीदार कंगन पहन लिया है। तू मेरे गले में दीदार कंगन देख।'

मुर्गे ने फिर कहा—'अरी मौसी, तूने कैसा भी दीदार कंगन पहन लिया हो, पर फिर भी तुझसे डर ही लगे है।'

बिल्ली ने कहा—'ना मुर्गे बेटे ना, अब तू डर मत। अब ऐसा वैसा कैसे हो सके है! मेरा विश्वास कर और मेरे साथ चल।'

मुर्गा अपने पंख झाड़ कर खुशी खुशी बिल्ली के साथ हो लिया।

रास्ते में एक मुँडेर की छत पर कबूतर बैठा था। बिल्ली ने उससे भी साथ चलने को कहा। कबूतर बड़े असमंजस में पड़ गया। उसने हज न जाने की बात कही। उसने आशंका में बिल्ली से वे सारी बातें कही जो बिल्ली से मुर्गे ने कही थीं। बिल्ली ने कबूतर को भी विश्वास दिलाया—'देख कबूतर बेटे, अब तो मेरे साथ मुर्गा भी हज करने जा रहा है। फिर तुझे डर कैसा? अब मैंने सब ऐल फैल छोड़ दिए हैं।' कबूतर भी बिल्ली के साथ हो लिया।

रास्ते में चूहा बिल खोद रहा था। उसने बिल्ली को दीदार कंगन में और उसके साथ मुर्गे और कबूतर को जाते देखा। उसने अचरज से पूछा—'अरी मौसी, आज गले में दीदार कंगन पहन कर और मुर्गे और कबूतर को साथ ले कर कहाँ जा रही है?'

बिल्ली ने कहा—'बस चूहे बेटा, आज तक मैंने बहुत पाप किए, तेरी बिरादरी की हत्या करती रही, मुर्गे के वंश को खाती रही, कबूतर के बच्चों को मारती रही, पर अब इन सब बातों से जी उचट गया। बहुत बुरा काम है। अब इन सारे पापों को धोने के लिए मैं गले में दीदार कंगन पहन कर हज करने चली हूँ। चल, तू भी मेरे साथ हज को चल।'

चूहे ने कहा—'मौसी, हज को तो हम भी चलते, पर तेरी पिछली बातों से डर लगे है।'

बिल्ली ने कहा—'अरे, पिछली बातों को परे फेंक। अब तो मैंने दीदार कंगन पहन लिया है। फिर मेरे साथ मुर्गा और कबूतर भी हैं।'

बिल्ली की बात मान कर चूहा भी उनके साथ हो लिया।

आगे चलते पेड़ से उतर कर गिलहरी भी उनके साथ चल दी।

आगे आगे बिल्ली जा रही थी। उसके पीछे गाँव के सारे छोटे छोटे पशु पक्षी जा रहे थे। एक अच्छा मेला था।

अचानक रास्ते में आँधी आ गई। बिल्ली ने सब से कहा कि माता के मठ में चलो। सब मठ में चले गए। बिल्ली सबको भीतर कर स्वयं मठ के द्वार पर चौकसी करती बैठ गई।

सब आँधी के उतर जाने का इंतजार करने लगे।

जब आँधी उतर गई तो बिल्ली को बड़े जोर की भूख लगी। उसने मुँह खोल कर जम्हाई ली और सारे पशु पक्षियों पर एक साथ झपट्टा मारा।

चूहे ने तब तक मठ के भीतर बिल खोद लिया था। वह उसमें घुस गया। गिलहरी तिरछी दौड़ कर पास के पेड़ पर चढ़ गई। कबूतर फटाक से ऊपर आकाश में उड़ गया। बिल्ली के हाथ मुर्गे की पूँछ आई। पूँछ उखड़वा कर मुर्गा भी भाग निकला।

पूँछ हाथ में ले कर बिल्ली ने मुर्गे से कहा—'अरे मुर्गे बेटा, अपनी पूँछ तो लेता जा।'

मुर्गे ने कहा—'ना मौसी ना, बस इसे तू ही रख। मैं लाँढा ही खा कमाऊँगा।''

कहा जाता हैं कि मुर्गे की पूँछ तभी से कटी हुई है।

सन्दर्भ साहित्य

1. अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, डा० सत्य केतु विद्यालंकार, श्री सरस्वती सदन, मसूरी, 1976.

2. अछूत, दया पवार, रूपान्तर दामोदर खडसे, राधा कृष्ण प्रकाशन, दरिया गंज, नई दिल्ली-110 002, प्रथम हिन्दी संस्करण, 1980.

3. अच्छी हिन्दी, राम चन्द्र वर्मा, साहित्य रत्न माला कार्यालय, 20 धर्म्म कूप, बनारस, आठवा संस्करण, संवत 2011.

4. अनुवाद—भाषाएँ, समस्याएँ, डा० एन० इ० विश्व नाथ अय्यर, स्वाति प्रकाशन, त्रिवेन्द्रम, प्रथम संस्करण,1986.

5. अनुवाद की व्यावहारिक्र समस्याएँ, डा० भोला नाथ तिवारी और डा० ओम प्रकाश गावा, शब्दकार, 2203. गली डकौतान, तुर्कमान गेट, दिल्ली-110 006, द्वितीय संस्करण, 1982.

6. अनुवाद सिद्धान्त की रूप रेखा, डा० सुरेश कुमार, वाणी प्रकाशन, दरिया गंज नई दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 1986.

7. अपभ्रंश : भाषा और व्याकरण, डा० शिव सहाय पाठक, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 97, मालवीय नगर, भोपाल, प्रथम संस्करण,1976.

8. अपभ्रंश साहित्य : परम्परा और प्रवृत्तियाँ, डा० राज वंश सहाय हीरा, चौखम्वा विद्या भवन, वाराणसी-1, प्रथम संस्करण, सम्वत 2027.

9. अम्बेडकर : जीवन दर्शन, डी० आर० निम, विद्या विहार, नई दिल्ली 2, प्रथम संस्करण, 1986.

10. अवधी का विकास, डा० बाबू राम सक्सेना, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहबाद, प्रथम संस्करण, 1972.

11. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, खंड: 2, भाषा और साहित्य, मुनि श्री नगराज जी, अर्हत प्रकाशन, 366-68 तोदी कार्नर, 32, इंजरा स्ट्रीट, कलकत्ता-700 001, प्रथम संस्करण, 1982.

12. आचार्य किशोरी दास वाजपेयी और हिन्दी भाषा व्याकरण, डा० अम्बा प्रसाद सुमन, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फर नगर, प्रथम संस्करण 1983.

13. आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, सम्पादक कृष्ण दत्त पालीवाल और जय सिंह नीरद, सचिन प्रकाशन, 7/34, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-2, संस्करण 1988.

14. आर्य द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता, भगवान सिंह, लिपि प्रकाशन, ई-10/4, कृष्ण नगर, दिल्ली-110 051, प्रथम संस्करण, 1973.

15. उर्दू साहित्य का इतिहास, भाग 2, गद्य खंड, मूल लेखक, डा० राम बाबू सक्सेना, अनुवादक, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1951.

16. उर्दू साहित्य का इतिहास, सैय्यद एहतिशाम हुसैन, अनजुमने-तरक्कीए-उर्दू (हिन्द), अलीगढ़, प्रथम संस्करण, 1954.

17. आर्य भाषाओं के विकास क्रम में अपभ्रंश तथा अन्य निबन्ध, डा० नरनाम सिंह 'अरुण', दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302 003, 1975.

18. ऋतम्भरा, स्टडीज इन इन्डोलोजी, आचार्य उदयवीर शास्त्री फेलिमिटेशन वोल्यूम, सोसाइटी फार इंन्डिक स्टडीज, के बी-32, कवि नगर, गाजियाबाद-201 002, 1986.

19. ए कम्प्रिहेंसिव इंग्लिश-हिन्दी डिक्शनरी आफ गवर्नमेंटल एण्ड एजुकेशनल वर्डस एण्ड फ्रेजि, डा० रघुवीरा, इण्टर नेशनल अकादमी आफ इन्डियन कल्चर, नई दिल्ली-16, 1969.

20. ए ग्रामर आफ दी हिन्दी लेंग्वेज, डा० एस एच केलाग, ओरियण्टल बुक्स रिप्रिन्ट कार्पोरेशन, 54, रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली-55, फर्स्ट इंडियन एडिशन, 1972.

21. एन्शियन्ट हिन्दू रिफ्यूजिज, पाल हाकिन्स, विकास पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, विकास हाउस, 20/14, इन्डस्ट्रियल एरिया, साहिबाबाद, जिला गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, 1979.

22. एरियोपेजिटिका, जान मिल्टन, अनुवादक, बाल कृष्ण राव, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35 फिरोज शाह रोड, नई दिल्ली-110 001, द्वितीय संस्करण, 1982

23. कन्स्टिट्यूशनल एसेम्बली डिबेट्स, भारत सरकार।

24. कमिशन आन सेन्टर-स्टेट रिलेशन्स, रिपोर्ट, पार्ट-1, भारत सरकार।

25. द कल्चरल हेरिटेज़ आफ इन्डिया, वोल्यूम v, लेंग्वेजज एण्ड लिटरेचर्स, एडिटर, सुनीति कुमार चटर्जी, द राम कृष्ण मिशन इंस्टिट्यूट आफ कल्चर, कलकत्ता, सेकन्ड एडिशन, 1978.

26. कार्यालय दीपिका, हरि बाबू कंसल, सुधांशु बंधु, ई-9/23, बंसत विहार, नई दिल्ली-110 057, प्रथम संस्करण, 1987.

27. कार्यालयीन हिन्दी, प्रभु दयाल मंढईया 'विकल,' अनुराग प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली-110 030, प्रथम संस्करण, 1987.

28. काव्य मीमांसा, राज शेखर कृत, अनुवादक, पंडित केदार नाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, द्वितीय संस्करण, 1965.

29 काशी का इतिहास, डा० मोती चन्द्र, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, हीरा बाग, गिरगाँव, बम्बई-4, प्रथम संस्करण, 1962.

30. कोरवा वार्तालाप निर्देशिका, स्वर्ण लता प्रसाद, बिहार जन जातीय कल्याण शोध संस्थान, कल्याण विभाग, बिहार सरकार, राँची, पहला संस्करण, 1985.

31. कौरवी वाक् पद्धति और लोकोक्ति कोश, संकलन एवं व्याख्या, डा० कृष्ण चन्द्र शर्मा, अमित प्रकाशन, 66, पक्का कुँआ, सुभाष द्वार, गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण, 1970.

32. खड़ी बोली का आन्दोलन, डा० शिति कंठ मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा-काशी, प्रथम संस्करण सम्वत 2013.

33. खड़ी बोली का लोक साहित्य, डा० सत्या गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1965.

34. खड़ी बोली का स्वरूप, ओंकार चन्द्र शर्मा, रूप कमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1966.

35. खड़ी बोली : स्वरूप और साहित्यिक परम्परा, ओंकार राही, लिपि प्रकाशन, ई०-10/4, कृष्ण नगर, दिल्ली-110 051, प्रथम संस्करण, सितम्बर, 1975.

36. खड़ी बोली हिन्दी का सामाजिक इतिहास, ललित मोहन अवस्थी, ओरियण्ट लौंग मैन, नई दिल्ली-1, 1977.

37. गामेल्ल भ्रास : लोक प्रचलित दोहे, डा० कृष्ण चन्द्र शर्मा, लोक दीप प्रकाशन. राम वाटिका. शिवाजी मार्ग मेरठ (उत्तर प्रदेश) प्रथम संस्करण. 1976.

38. गालिब-उग्र, गालिब के दीवान की टीका, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ।

39. द चमारस, जी डब्लू ब्रिग्स, ऐसोसिएशन प्रेस, 5 रसल स्ट्रीट, कलकत्ता, 1920.

40. चिन्तन, डा० प्रेम प्रकाश गौतम, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली-110 006. 1973.

41. छत्तीस गढ़ी का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, डा० शिव शंकर शेष, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, संस्करण 1973.

42. जैमन, कवि जोगजीत, पाण्डु लिपि, रचना काल, 1779 ई०.

43. ज्योति कलश: मेरठ जनपद का काव्य कोष, संपादक मुकुल शर्मा, मंजु प्रकाशन. 136 मंदिर लेन. छोटा बेगम बाग, मेरठ-250 001, प्रथम संस्करण.

44. डा० बाबा साहेब अम्बेडकर : जीवन दर्शन, विजय कुमार पुजारी, भारतीय बौद्ध महा सभा, दिल्ली प्रदेश, बुद्ध विहार, अम्बेडकर भवन, नई दिल्ली-110 055, द्वितीय संस्करण, 1984.

45. डा० बाबा साहेब अम्बेडकर, राईटिंग्स एण्ड स्पीचेज, वोल्यूम-3 एण्ड 4, अनपब्लिस्ड राईटिंग्स, ऐजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट आफ महाराष्ट्र, 1987.

46. दक्खिनी हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली, डा० परमानन्द पांचाल, जयश्री प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1986.

47. दक्खिनी हिन्दी : विकास और इतिहास, डा० परमानन्द पांचाल, अलंकार प्रकाशन. 666, झील, दिल्ली-51, प्रथम संस्करण 1983.

48. दि प्रोब्लम आफ साइन्टिफिक एण्ड टेकनीकल टर्मिनोलाजी इन इंडियन लेंग्वेजेज, डा० डी एस कोठारी, कमिशन फार साइन्टिफिक एण्ड टेक्नीकल टर्मिनोलाजी, मिनिस्ट्री आफ ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेंट, गवर्नमेंट आफ इंडिया, रीप्रिन्ट नवम्बर, 1986.

49. द वैदिक एज, एडिटर, आर सी मजूमदार, भारतीय विद्या भवन, बोम्वे, फिफ्थ इम्प्रेशन, 1971.

50. देल्ही एण्ड इट्स नेयबरहुड, वाई डी शर्मा, पब्लिस्ड बाई द डाइरेक्टर जनरल, आर्कोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, न्यू देल्ही, सेकन्ड एडिशन, रिप्रिन्ट, 1982.

51 देव नागरी लिपि तथा हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा तथा संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार, 1983.

52. नेपाली साहित्य का इतिहास, डा० दीना नाथ शरण, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, सम्मेलन भवन, पटना-800 003, प्रथम संस्करण, 1974.

53. परमात्म प्रकाश : योग सारश्च, योगीन्दु देव, सम्पादक, ए एन उपध्ये, प्रकाशक, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्री मद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, चतुर्थ संस्करण, 1978.

54 पारिभाषिक शब्दावली की विकास यात्रा, सम्पादक, डा० गार्गी गुप्त, भारतीय अनुवाद परिषद, 203, आशा दीप, 9 हेली रोड, नई दिल्ली-1, प्रथम संस्करण, 1986.

55. पारिभाषिक शब्दावली : कुछ समस्याएँ, डा० भोला नाथ तिवारी और महेन्द्र चतुर्वेदी, शब्दकार, 2203, गली डकौतान, तुर्कमान गेट, दिल्ली-6, प्रथम् संस्करण, 1978.

56. पालि भाषा और साहित्य, डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री, हिन्दी माध्यम कार्यान्वियन निदेशालय, दिल्ली विश्व विद्यालय, प्रथम संस्करण, 1987.

57. पालि-हिन्दी कोश, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1975.

58. प्रतिवेदन, संसदीय राज भाषा समिति, खण्ड-1, 1986, भारत सरकार।

59. प्रशासनिक अंग्रेजी-हिन्दी कोश, सम्पादक, डा० नारायण दत्त पालीवाल, तक्षशिला प्रकाशन, दरिया गंज नई दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 1986.

60. प्राकृत भाषाएँ और भारतीय संस्कृति में उनका अवदान, लेखक एस एम कत्रे, अनुवादक, डा० रमा शंकर जैतली, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-4, प्रथम संस्करण, 1972.

61. प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड-1, प्राक् गुप्त युगीन, डा० श्री राम गोयल, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-302 004, प्रथम संस्करण, 1982.

62. बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, डा० सत्येन्द्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, द्वितीय आवृत्ति, 1968.

63. ब्रज बोली साहित्य, डा० शैलेन्द्र मोहन झा, बिहार ग्रन्थ अकादमी, सम्मेलन भवन, पटना-800 003, प्रथम संस्करण, 1974.

64. ब्रज विभव, सम्पादक, गोपाल प्रसाद व्यास, दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 31 नार्थ एण्ड कम्प्लेक्स, राम कृष्ण आश्रम मार्ग, नई दिल्ली-110 001, प्रथम संस्करण, 1987.

65. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी, खण्ड-3, नाग द्रविड़ कोल और हिन्दी प्रदेश, डा० राम विलास शर्मा, राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981.

66. भारत में विवेकानन्द, स्वामी विवेकानन्द, अनुवादक, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, श्री राम कृष्ण आश्रम, नागपुर, मध्य प्रदेश, द्वितीय संस्करण, 1951.

67. भारतीय अभिलेख संग्रह, प्रारम्भिक गुप्त शासकों के अभिलेख, खण्ड-3, लेखक, जान फेथफुल फ्लीट, अनुवादक, गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-302 004, प्रथम अनूदित संस्करण, 1974.

68. भारत की आर्य भाषाएँ, डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री, भारत भारती प्रकाशन, 1 अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 1959.

69. भारतीय काव्य शास्त्र, डा० सत्य देव चौधरी, अलंकर प्रकाशन, दिल्ली-110 051, प्रथम संस्करण, 1974.

70. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 1976.

71. भारतीय भाषाएँ और शिक्षा माध्यम, 29 नवम्बर, 1983 को नई दिल्ली में आयोजित अखिल भारतीय सम्मेलन का कार्य वृत्त, सम्पादक,

भवानी दत्त पंड्या, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, 1985.

72. भाषा, त्रैमासिक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, जून, 1967.

73. भाषा और संस्कृति, डा० भोला नाथ तिवारी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1984.

74. भाषा और समाज, डा० राम विलास शर्मा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा० लिमिटेड, रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली-1, पहला संस्करण, 1961.

75. मध्य देश, डा० धीरेन्द्र वर्मा, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, प्रथम संस्करण, 1955.

76. मनुस्मृति, सरल भाषा टीका, स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती, पुस्तक मन्दिर, मथुरा.

77. महा कवि गंगा दास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डा० जगन्नाथ शर्मा, विभूति प्रकाशन, दिल्ली-110 032, प्रथम संस्करण, 1985.

78. महा यात्रा : गाथा—रैन और चन्दा, भाग-2, डा० रांगेय राघव, किताब महल प्राइवेट लिमिटेड, 56ए, जीरो रोड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण,1964.

79. मानक हिन्दी कोश, पहला खंड, प्रधान सम्पादक, राम चन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण.

80. मार्क्स वाद और राम राज्य, स्वामी कर पात्री, गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण, संवत 2023.

81. मिड लाइन मेडिकल डिक्शनरी, डा० पी० एस० रावत, बी० जैन पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, 1921, टेन्थ स्ट्रीट, चन्ना मंडी, पहाड़ गज, नई दिल्ली-110 055, प्रथम संस्करण, 1986.

82. मुगल कालीन सगुण भक्ति का सांस्कृतिक विश्लेषण, डा० रतन चन्द्र शर्मा, जयपुर पुस्तक सदन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302 003, प्रथम संस्करण, 1979.

83. यक्ष गान, के शिव राम कारंत, अनुवादक, वी वी कारंत, राधा कृष्ण प्रकाशन, 2, अन्सारी रोड, दरिया गंज, दिल्ली-110006, संस्करण, 1973.

84. राज भाषा भारती, त्रैमासिक, 25 वा अंक, राज भाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली.

85. राज भाषा हिन्दी, डा० भोला नाथ तिवारी, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1986.

86. राज भाषा हिन्दी : ओर से छोर तक, वेद प्रकाश दूबे, पुष्प प्रकाशन, 57 ए, सन्त नगर, नेहरू प्लेस के पास, नई दिल्ली-110065, प्रथम संस्करण, 1988

87. राज भाषा हिन्दी : प्रचलन और प्रसार, डा० रामेश्वर प्रसाद, अनुपम प्रकाशन, अशोक राज पथ (पटना कालेज के सामने), पटना-800 004, प्रथम संस्करण, 1988.

88. राज भाषा हिन्दी : विकास के विविध आयाम, डा० मलिक मौहमम्द, प्रवीण प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली-110 030, 1986.

89. राम चन्द्र शुक्ल, लेखक नील कान्त, लोक भारती प्रकाशन, 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1985.

90. रामायण और मनुस्मृति की होली क्यों ? सुन्दर लाल सागर, सागर प्रकाशन, 223, दरीबा, मैनपुरी, उत्तर प्रदेश-205 001, द्वितीय संस्करण, 1981.

91. राष्ट्र भाषा पर विचार, चंद्रबली पांडे, सरस्वती मन्दिर, जतनबर, बनारस, परिवर्धित संस्करण, संवत 2008.

92. राष्ट्र भाषा विहीन राष्ट्र, गोपाल राव एकबोटे, अनुवादक, खंडे राव कुलकर्णी, मेसर्स एकबोटे ब्रदर्स, 24, वीर सावरकर मार्ग, हैदराबाद, आन्ध्र प्रदेश, प्रथम आवृत्ति, 1987.

93. लघु सिद्धांत कौमुदी, आचार्य बरद राज, 'इन्दुमती' संस्कृत हिन्दी-टीकाकार और सम्पादक, पण्डित राम चन्द्र झा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस गोपाल मन्दिर लेन, पो० बा० 8, वाराणसी-1, पंचम संस्करण, 1970.

94. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, वोल्यूम 1, पार्ट-1, इन्ट्रोडक्टरी, संकलन और सम्पादन, जार्ज ए ग्रियर्सन, मोती लाल बनारसी दास, बंगला रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-110 007, रिप्रिन्ट, दिल्ली, 1973.

95. लोक जीवन के स्वर, डा० कृष्ण चन्द्र शर्मा, कुरु लोक संस्थान, राम वाटिका, शिवाजी मार्ग, मेरठ-2, संस्करण 1977.

96. लोकायत, देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, अनुवादक, ब्रज शर्मा, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण, 1982.

97. वसुधा, वसुधा विशेष, आचार्य राम चन्द्र शुक्ल अंक, सम्पादक धनंजय वर्मा, मध्य प्रदेश प्रगति शील लेखक संघ.

98. विश्व के मान चित्र पर हिन्दी, विज्ञापन और दृश्य प्रचार निदेशालय, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1983.

99. विष्णु सहस्र नाम सटीक, मुंशी नवल किशोर, कानपुर, दूसरी बार, अगस्त, 1904.

100. वृहत हिन्दी कोश, सम्पादक मंडल, कालिका प्रसाद, राज वल्लभ सहाय, मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पंचम परिवर्धित संस्करण, 1984.

101. व्यावहारिक हिन्दी व्याकरण, डा० जाल्मन दीम शित्स, अनुवादक, योगेन्द्र नागपाल, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110 006, 1985.

102. शब्द श्री, डा० कैलाश चन्द्र भाटिया, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1984.

103. शब्दायन स्मारिका, रजत जयन्ती 1986, सम्पादक प्रेम चन्द्र चन्दोला, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग, भारत सरकार, 1986.

104. शुक्ल समीक्षा, टेक चन्द शर्मा और कँवर सेन शर्मा, एस० चन्द्र एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, मई, 1962.

105. शूद्र : एक प्राचीन नाग जाति, अवन्तिका प्रसाद मरमट, मध्य प्रदेश दलित साहित्य अकादमी प्रकाशन, 79, अशोक नगर, उज्जैन, 1987.

106. शैली विज्ञान, डा० भोला नाथ तिवारी, शब्द कार, 2203. गली डकौतान, तुर्कमान गेट, दिल्ली-110 006, द्वितीय संस्करण, 1983.

107. संघीय राजभाषा के संदर्भ में पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण की समस्याएँ, डा० बलराज सिंह सिरोही, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2, प्रथम संस्करण, 1987

108. संत गंगा दास एवं कबीर : दर्शन परक तुलनात्मक अध्ययन, डा० राजेश वती, विभूति प्रकाशन, दिल्ली-110 032, प्रथम संस्करण, 1985.

109. संत रविदास और उनका काव्य, स्वामी रामानन्द शास्त्री और वीरेन्द्र पाण्डेय, श्री भारतीय रविदास सेवा संघ, रविदास आश्रम ज्वालापुर, हरिद्वार, प्रथम संस्करण, 1955.

110. संस्कृत का ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिचय, डा० देवी दत्त शर्मा, हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण, 1974.

111. संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास, डा० पी वी काणे, अनुवादक, डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1966.

112. संस्कृति का पांचवा अध्याय, पंडित किशोरी दास वाजपेयी शास्त्री, हिमालय एजेंसी, कनखल, उत्तर प्रदेश, प्रथम बार, 1956.

113. सम सामयिक प्रतिक्रियाएँ, डा० मस्त राम कपूर, लेखक मंच, 79 बी, पाकेट 3, मयूर विहार, दिल्ली-110 091, प्रथम संस्करण, 1986.

114. समेकित प्रशासन शब्दावली : अंग्रेजी-हिन्दी, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग, भारत सरकार, तृतीय संस्करण, 1986.

115. सांख्य योग (गीता का द्वितीय अध्याय), स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, सत साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट 'विपुल,' 28/16, रिज रोड, बम्बई-6, 1971.

116. सिद्धों की सन्ध्या भाषा, डा० मंगल बिहारी शरण सिन्हा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, सम्मेलन भवन, पटना-800 003, प्रथम संस्करण, 1973.

117. सिन्धु घाटी सभ्यता के सृजन कर्त्ता शूद्र और वणिक, नवल वियोगी, अनुसंधान प्रकाशन, 518 सीता नगर, लुधियाना, प्रथम संस्करण, 1981.

118. सुदामा चरित, नरोत्तम दास, सम्पादक मंडल, ओमप्रकाश सिंहल धर्म चन्द्र शर्मा, तिलक राज वडेहरा, पीताम्बर पब्लिशिंग कम्पनी, 888, ईस्ट पार्क रोड, करोल बाग नई दिल्ली-110 005, द्वितीय संस्करण, पुनर्मुद्रण, 1980.

119. सूर सागर, दूसरा खंड, सम्पादक नन्द दुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण, सम्वत 2012.

120. सेलेक्टेड वर्क्स आफ राजा राम मोहन राय, पब्लिकेशन डिवीजन, मिनिस्ट्री आफ इन्फोर्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग, गवर्नमेंट आफ इंडिया, 1977

121. स्मारिका : मय राष्ट्र मानस, सम्पादक कृष्ण चन्द्र शर्मा, प्रकाशन, कृष्ण देवी शीतल प्रसाद जैन ट्रस्ट, साकू नगर, मेरठ, 1973.

122. स्मारिका : श्री गुरु रविदास, 609 वा जयन्ती समारोह, श्री गुरु रविदास जन्मोत्सव कमेटी (रजि०) दिल्ली, श्री गुरु रविदास विश्राम धाम मन्दिर, देव नगर, नई दिल्ली-110 005, 24 फरवरी, 1986.

123. स्वांग नौटकी, डा० इन्द्र शर्मा वारिज, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, 1984.

124. हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य, दो खण्ड, भगवान सिंह, राधा कृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 2/38, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-110 002, पहला संस्करण, 1987.

125. हिन्दी कहावत कोश, सम्पादक श्री शरण, प्रेम प्रकाशन मन्दिर, 3012, बल्ली मारान, दिल्ली-110 006, प्रथम संस्करण, 1981.

126. हिन्दी के प्रयोग संबंधी आदेशों का संकलन, राज भाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार, तृतीय संस्करण, 1986.

127. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डा० नाम वर सिंह, लोक भारती प्रकाशन, पंचम परिवर्धित संस्करण, 1971.

128. हिन्दी के विकास में विदेशी विद्वानों का योग दान, डा० जोस आस्टिन, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली-110 030, प्रथम संस्करण, 1985.

129. हिन्दी गद्य का विकास, डा० प्रेम प्रकाश गौतम, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर, 1966.

130. हिन्दी ध्वनि उच्चारण, मुख्य सम्पादक, देवेन्द्र दत्त नौटियाल, पत्राचार पाठ्यक्रम विभाग, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार, पश्चिमी खंड 7, राम कृष्ण पुरम, नई दिल्ली-110 066, जून, 1988.

131. हिन्दी भाषा, डा० भोला नाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, पुनः मुद्रित द्वितीय संस्करण, 1976.

132. हिन्दी भाषा, बाबू श्याम सुन्दर दास, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग, 1957.

133. हिन्दी भाषा का इतिहास, धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, सप्तम संस्करण, 1962.

134. हिन्दी भाषा का विकासात्मक इतिहास, डा० द्वारिका प्रसाद सक्सेना, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण, 1978.

135. हिन्दी भाषा की शब्द संरचना, डा० भोला नाथ तिवारी तथा किरण बाला, साहित्य सहकार, दिल्ली-110 051, प्रथम संस्करण, 1985.

136. हिन्दी भाषा की सामाजिक भूमिका, डा० भोला नाथ तिवारी और मुकुल प्रिय दर्शिनी, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, 1982.

137. हिन्दी वर्तनी की समस्याएँ, डा० भोला नाथ तिवारी और डा० किरण बाला, शब्द कार, 2203, गली डकौतान, तुर्कमान गेट, दिल्ली-110 006, पहला संस्करण, 1980.

138. हिन्दी विश्व कोश, षष्ठ भाग, नगेन्द्र नाथ वसु, बी० आर० पब्लिशिग कारपोरेशन, दिल्ली-110 052, रिप्रिन्टिड, 1986.

139. हिन्दी विश्व कोश, खंड 4, प्रधान सम्पादक, राम प्रसाद त्रिपाठी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1964.

140. हिन्दी : व्यक्ति और विचार, सम्पादक, आत्मा राम शर्मा, भाषा विभाग, राजस्थान, जयपुर।

141. हिन्दी शब्द सागर, द्वितीय और तृतीय भाग, मूल सम्पादक, श्याम सुन्दर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

142. हिन्दी शब्द सामर्थ्य, शिव नारायण चतुर्वेदी और सुमन सिंह, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण, 1985.

143. हिन्दी शब्दानुशासन, आचार्य किशोरी दास वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, तृतीय संस्करण, संवत 2033.

144. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संशोधित परिवर्धित अठारहवा पुनर्मुद्रण, संवत 2035.

145. हिन्दी हम सब की, शिव सागर मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1986.

146. हिस्ट्री आफ द जयपुर सिटी, असीम कुमार राय, मनोहर पब्लिकेशन्स, 2 अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-110 002, फर्स्ट पब्लिश्ड, 1978.

147. द हिस्ट्री आफ बंगाल, वोल्यूम-1, हिन्दू पीरियड, एडिटड बाई आर० सी० मजूमदार, एन० वी० पब्लिकेशंस, लोहानीपुर, पटना-3, रिप्रिंटेड, 1971.

148. हिस्ट्री आफ बंगाली लिटरेचर, डा० सुकुमार सेन, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, फिरोज शाह रोड, नई दिल्ली-110 001, रिवाइज्ड थर्ड एडिशन, 1979.

149. हिस्ट्री आफ राजस्थानी लिटरेचर, डा० हीरा लाल माहेश्वरी, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1980.

150. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, एस के डे, फिरमा के एल एम प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता, सेकन्ड एडिशन, रिप्रिंट, 1976.

क्रमणिका